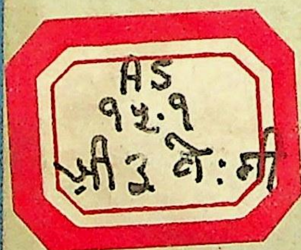
दयानन्दपीठ तृतीय पुष्प

वेद-प्रामाण्य-मीमांसा
तथा
ऋषि दयानन्द

डॉ० श्रीनिवास शास्त्री
दयानन्द प्रोफेसर
संस्कृत-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र



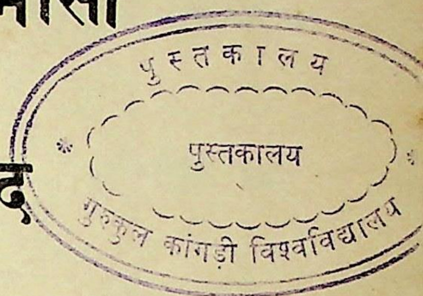


कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
१९८०-१९८१



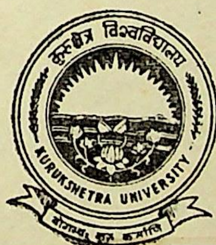
दयानन्दपीठ तृतीय पुष्प

वेद-प्रामाण्य-मीमांसा तथा ऋषि दयानन्द



डॉ० श्रीनिवास शास्त्री
दयानन्द प्रोफेसर
संस्कृत-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र







कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

१९८०-१९८१

प्रकाशक :

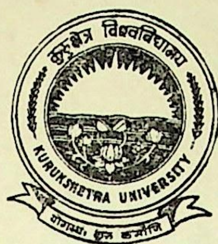
कुल-सचिव,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)।

प्रथम संस्करण : १९८०-८१

मूल्य : ५०/- (पचास रुपये)

मुद्रक :

टी० फ़िलिप,
मैनेजर,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रेस,
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)।



KURUKSHETRA UNIVERSITY
KURUKSHETRA (HARYANA)

VICE-CHANCELLOR

६ फरवरी, १९८१

प्रोफेसर श्रीनिवास शास्त्री की यह तीसरी कृति, 'वेद-प्रामाण्य-मीमांसा तथा ऋषि दयानन्द', एक ही साथ दयानन्द-पीठ की सार्थकता और शास्त्री जी की विद्वत्ता की परिचायक है। वेद-प्रामाण्य को प्रामाणिकता के सामान्य विषय का एक अङ्ग विशेष मानना ही उचित दृष्टिकोण होगा। वेद स्वतः प्रमाण हैं या नहीं इसका निर्णय वेदों को तद्-विषयक सामान्य सिद्धान्त से अलग करके नहीं किया जा सकता। वेदों को, अपने-आप में एक अलग कोटि में रखकर, स्वतः प्रमाण मानना तार्किक दृष्टि से निर्दोष नहीं होगा। मुझे विश्वास है, इस विषय में रुचि रखने वालों के लिए प्रोफेसर शास्त्री की यह कृति बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी।

विकास मिश्र

प्राक्कथन

स्वामी दयानन्द १९वीं शताब्दी के महान् वेदानुयायी विद्वान् एवं प्रचारक थे। उनके सभी ग्रन्थों में यह तथ्य सर्वत्र प्रतिध्वनित होता है। इसीलिए मनु आदि के समान उन्होंने भी वेद के अध्ययन, अध्यापन को मानव का परम धर्म उद्घोषित किया। वेदार्थ के क्षेत्र में 'अग्नि' आदि देवता-वाचक शब्दों को, रूढ़ि शब्द न मानकर, विशुद्ध रूप से यौगिक मानते हुए स्वामी जी ने उनका मौलिक एवं प्रधान अर्थ परमात्मा माना है, जिसमें वे विशेषताएँ सर्वाधिक रूप में विद्यमान हैं। सम्भवतः इसी दृष्टि से सभी वेदों का प्रतिपाद्य परमात्मा है, ऐसा कहा गया है—**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः** (श्रीमद्भगवद्गीता १५.२५)। इस रूप में, वेदार्थ के आध्यात्मिक स्वरूप को प्रधानता देते हुए, प्राचीन वैदिक परम्परा को स्वामी जी ने प्रतिष्ठित किया।

वेद को स्वतः प्रमाण माना गया है, परतः प्रमाण नहीं। अभिप्राय यह है कि वेदार्थ की पुष्टि के लिये अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः वेद उन ऋषियों के अतिबौद्धिक अनुभवों से सम्बद्ध उद्गार हैं जो अतीन्द्रिय एवं असंवेद्य तत्त्वों को अपनी आर्ष अथवा दिव्य दृष्टि से देख लेते हैं। अतः उनके वचनों को अनुमान, तर्क अथवा बुद्धि से परखा नहीं जा सकता, परखने की आवश्यकता भी नहीं।

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।
(वाक्यपदीय १.३८)

अतीन्द्रियार्थद्रष्टा होना ही ऋषियों का ऋषित्व (द्रष्टापन) है। सामान्य रूप से तो सभी द्रष्टा हैं, पर यह विशेष दृष्टि भगवान् की महती कृपा से किसी-किसी को प्राप्त होती है। ऋषियों को यह दृष्टि प्राप्त थी —

यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।
(ऋग्वेद १०.१२५.५)

इसलिये भारतीय वैदिक परम्परा वेद को स्वतः प्रमाण मानती रही है। स्वामी दयानन्द ने इस मान्यता को पुनः प्रतिष्ठित किया, प्रचारित किया।

दयानन्द-पीठ के प्रोफेसर डा० श्रीनिवास शास्त्री की विद्वत्तापूर्ण कृति **'वेद-प्रामाण्य-मीमांसा तथा ऋषि दयानन्द'** विद्वान् पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। शास्त्रीय-विवेचना के धनी डा० शास्त्री ने इस ग्रन्थ में वेदों के स्वतः प्रामाण्य का अभिप्राय, उसके विषय में विविध मत, वेद-प्रामाण्य की परम्परा और उसमें स्वामी दयानन्द का दृष्टिकोण इत्यादि विषयों को अत्यन्त विस्तार से रोचक भाषा में प्रस्तुत किया है। वेद-प्रामाण्य-विषयक मन्तव्यों के अध्ययन की दृष्टि से उनका यह महत्त्वपूर्ण योगदान है।

कपिलदेव शास्त्री
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

लेखक का निवेदन

दयानन्द-पीठ संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के 'तृतीय पुष्प' के रूप में 'वेद-प्रामाण्य-मीमांसा तथा ऋषि दयानन्द' नामक ग्रन्थ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें ११ परिच्छेद हैं। अन्त में प्रतिपाद्य विषय का उपसंहार, सहायक ग्रन्थों की सूची एवं नाम तथा विषयों की वर्णानुक्रमणिका दिये गये हैं। यहाँ संक्षेप में प्रामाण्यवाद के स्वरूप एवं विकास का निरूपण करते हुए वैदिक वाङ्मय से लेकर स्मृति, इतिहास, पुराण आदि में वेद-प्रामाण्य-विषयक सन्दर्भों पर विचार करके यह दिखलाया गया है कि अवैदिक एवं वैदिक दार्शनिक प्रस्थानों में वेद-प्रामाण्य के विषय में क्या दृष्टिकोण रक्खा गया है, पाश्चात्त्य विद्वान् किस दृष्टि से वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं और स्वामी दयानन्द ने विविध मतों की समीक्षा करते हुए किस प्रकार वेदों का स्वतः प्रामाण्य प्रतिपादित किया है। यहाँ वेद के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य के विषय में विविध विचारों को संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। विविध पक्षों की युक्तियों की समीक्षा करके ही विवेचकों को वेद के प्रामाण्य के विषय में निर्णय करना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थ के प्रस्तुतीकरण का श्रेय हरियाणा सरकार एवं कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के अधिकारी महानुभाव को ही है, जिनकी सुचारु व्यवस्था से यह प्रकाश में आ सका है। उन सभी के प्रति लेखक हृदय से आभार प्रकट करता है। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के कुलपति डा० विकास मिश्र तथा संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डा० गोपिकामोहन भट्टाचार्य के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है, साथ ही संस्कृत विभाग के कार्यवाहक अध्यक्ष डा० कपिलदेव शास्त्री के प्रति भी। इन सभी महानुभावों ने इस अनुसन्धान-कार्य में शक्तिभर योगदान करके लेखक को अनुगृहीत किया है। शोध सहायक आयुष्मती स्वर्णप्रभा तथा प्रिय दुलीचन्द शर्मा ने इस कार्य में अधिक परिश्रम किया है, प्रिय सोमप्रकाश गोयल ने टङ्कण आदि की व्यवस्था की है और विश्वविद्यालय-प्रकाशन-संस्थान के व्यवस्थापक, प्रेस के अधिकारियों तथा कर्मचारियों ने यथाशक्ति सहयोग दिया है। इन सभी का लेखक कृतज्ञ है।

यदि इस ग्रन्थ के द्वारा वेद-प्रामाण्य-विषयक मन्तव्यों के स्पष्टीकरण में कुछ सहायता मिल सकेगी तो लेखक का यह प्रयास सफल सिद्ध होगा।

श्रीनिवास शास्त्री
दयानन्द प्रोफेसर

संकेत-विवरण

अनु०	अनुच्छेद
अनु०	अनुवादक (ग्रन्थानुक्रमणिका में)
अयोध्या०	अयोध्याकाण्ड
आप०	आपस्तम्ब
आर्ष० ब्रा०	आर्षेय ब्राह्मण
ऐत०	ऐतरेय
ऋग्वेदादि०	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
कठ०	कठोपनिषद्
का०	कारिका
किष्किन्धा०	किष्किन्धाकाण्ड
ग्रन्थ प्रामाण्य०	ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
जी० च०	महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित
तु०	तुलना कीजिए
तैत्तिरीय०	तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
द० ल०	दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-सङ्ग्रह
द्र०	द्रष्टव्य
पत्र और वि०	ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन
परि०	परिच्छेद
पस्पशा०	पस्पशाह्निक महाभाष्य
पृ०	पृष्ठ
प्र० सं०	प्रथम संस्करण
बाल०	बालकाण्ड
बृहद्०	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्रा०	ब्राह्मण
मनु०	मनुस्मृति
मनो०	मनोरथनन्दिवृत्ति
महा०	महाभारत
महा०	महाभाष्य
मि०	मिलाइये
मी० सू०	मीमांसासूत्र
मुण्डको०	मुण्डकोपनिषद्
याज्ञ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
वि० (वि०सं०)	विक्रम संवत्
वै० सू०	वैशेषिक सूत्र
श्वेता०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
श्लो०	श्लोक
श्लो० वा०	श्लोकवार्त्तिक
श्रौ०	श्रौतसूत्र
स०	सम्पादक
समु०	समुल्लास
सुन्दर०	सुन्दरकाण्ड
सं०	संस्कृत
सां० का०	सांख्यकारिका

विषय-सूची

परिच्छेद १

विषय-प्रवेश

१—वेद : संज्ञा और स्वरूप

वाङ्मय में वेद शब्द का कई प्रकार का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। एक वेद शब्द क्रियावाची है जिसका अर्थ है 'जानता है' (वेद=वेत्ति=जानाति)। मन्त्र[1], ब्राह्मण[2] तथा उपनिषदों[3] में क्रियावाची 'वेद' शब्द का अनेक बार प्रयोग उपलब्ध होता है। दूसरा वेद (वेदः) शब्द नाम शब्द है, जो कहीं अन्तोदात्त मिलता है, कहीं आद्युदात्त। अन्तोदात्त जो वेद शब्द है उसका अर्थ है 'दर्भमुष्टि'। ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों आदि में इसका अनेकशः प्रयोग किया गया है।[4] जो आद्युदात्त वेद शब्द है उसका यौगिक अर्थ है ज्ञान अथवा ज्ञान का साधन। किन्तु वह किन्हीं विशेष ग्रन्थों के लिये रूढ-सा हो गया है।[5]

वेद शब्द से किन ग्रन्थों का ग्रहण होता है? इस विषय में विद्वानों का विवाद रहा है। और, वेद शब्द के किन्हीं ग्रन्थों के लिये रूढ हो जाने पर भी अन्य ग्रन्थों को वेद नाम से कह दिया जाता रहा है। कहीं वेदों का व्याख्यान होने से किसी को वेद कह दिया गया है, कहीं वेद के समान प्रामाणिक मान लिये जाने से किसी ग्रन्थ को वेद संज्ञा से अभिहित कर दिया गया है। उदाहरणार्थ, महाभारत की महनीयता एवं प्रामाणिकता को द्योतित करने के लिये उसे पञ्चम वेद शब्द से कह दिया गया है। इसी प्रकार किन्हीं अन्य ग्रन्थों को भी वेद कह दिया जाता है। वहाँ वेद शब्द का प्रयोग औपचारिक ही समझा जा सकता है।

विचारणीय यह है कि वेद शब्द किन ग्रन्थों की संज्ञा है। सूत्र ग्रन्थों में कितने ही स्थलों पर कहा गया है कि मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहते हैं।[6]

---

१. यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। ऋग्वेद, १.१६४.३९।

२. कर्माग्नि वेत्थेति यऽएतत्सर्वमग्निस्तं वेदेति। शतपथ, १०.३.३.५।

३. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। केनोपनिषत्, २.११।

४. तां वेदेनान्वविन्दन्। तै० ब्रा०, ३.३.९.१०; पत्नी वेदं प्रमुञ्चति वेदोऽसीति। कात्यायन श्रौतसूत्र, ३.८.१।

५. मि०, युधिष्ठिर मीमांसक, मीमांसा-शाबर-भाष्य, प्रथम भाग (रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, १९७७), पृ० ६८।

६. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। आपस्तम्बश्रौतसूत्र, २४.१.३१; मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदशब्दः। कौषीतकि-गृह्यसूत्र, ३.१२.२३।

सायणाचार्य आदि ने भी यही स्वीकार किया है।[१] इसी प्रकार व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन करने वालों की यह सामान्य धारणा रही है कि छन्दः शब्द से मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों का बोध होता है।[२] ब्राह्मण ग्रन्थों के भीतर आरण्यक एवं उपनिषदों की भी गणना करके अन्य विद्वान् आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों को भी वेद या श्रुति मानते हैं। शङ्कराचार्य ने उपनिषद् वाक्यों को श्रुति नाम से उद्धृत किया है।[३] सायणाचार्य ने उपनिषद् को भी वेद के अन्तर्गत स्वीकार किया है।[४] किन्हीं ने तो विधि प्रतिपाद्य (अर्थ), तर्क (न्याय-मीमांसा) और वेद के छह अङ्गों को भी वेद बतलाया है।[५] फिर भी विद्वानों का एक वर्ग मध्यकाल में भी केवल मन्त्रभाग को ही वेद मानता रहा। उस काल के सूत्रग्रन्थों से यह प्रभावित नहीं हुआ। आपस्तम्बसूत्र[६] की व्याख्या में हरदत्त मिश्र तथा धूर्तस्वामी ने बतलाया है: किन्हीं ने (केवल) मन्त्रों को ही वेद कहा है।[७] आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द ने भी यही स्वीकारा है। उन्होंने अनेक युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि वेद शब्द मन्त्रसंहिता का ही वाचक है, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि सभी वेद के व्याख्यान हैं, वेद नहीं। स्वामीजी के एतद्विषयक मन्तव्य का अन्यत्र विशद विवेचन किया जा चुका है।[८] स्वामीजी ने यह भी बतलाया है कि श्रुति, निगम तथा छन्दः आदि शब्द भी मन्त्रभाग के ही बोधक हैं।[९] इस मन्तव्य पर बहुशः विचार किया जाता रहा है। इसके पक्ष तथा विपक्ष में बहुत कुछ लिखा गया है।[१०] सामान्यतः वादी-प्रतिवादियों की दृष्टि में दो ही मत रहे हैं; एक यह कि मन्त्र, ब्राह्मण सभी वेद हैं तथा ब्राह्मण में आरण्यकों तथा उपनिषदों का भी समावेश है और दूसरा यह कि केवल मन्त्रभाग ही वेदपद का वाच्य है, अन्य अर्थ पारिभाषिक या औपचारिक हैं। यहाँ इस मन्तव्य का

---

१. यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः। तैत्तिरीयसंहिता भाष्य (आनन्दाश्रम), पृ० ७; ऋग्वेदभाष्य-भूमिका (भारतीय विद्याप्रकाशन, १९६९), पृ० ११।

२. द्र०, काशिका, छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि। ४.२.६६; तत्त्वबोधिनी एवं बालमनोरमा, सिद्धान्तकौमुदी, सूत्र १२७८।

३. द्र०, शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र, २.१.२७।

४. ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० १०८-१०९, ११३।

५. विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः, षडङ्गमेके। पार० गृह्य०, २.६. ५, ६ तथा विविध व्याख्याएँ।

६. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। आपस्तम्बश्रौतसूत्र, २४.१.३१।

७. कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम्। व्याख्या, वही, २४.१.३१।

८. द्र०, श्रीनिवास शास्त्री, वेद तथा ऋषि दयानन्द (कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, १९७९), पृ० १५-३३।

९. द्र०, ऋग्वेदादि०, वेदविषयविचार, पृ० ८९-९०।

१०. युधिष्ठिर मीमांसक, मीमांसा-शाबर-भाष्य, (प्रथम भाग), भूमिका, पृ० ६८।

विवेचन करना वाञ्छनीय नहीं है। केवल यही दिखलाना अभीष्ट है कि इस ग्रन्थ में वेद शब्द से क्या अभिप्रेत है।

जैसा कि अभी आगे दिखलाया जा रहा है, विशाल भारतीय वाङ्मय के कुछ चुने हुए सन्दर्भों के आधार पर यहाँ वेद-प्रामाण्य पर विचार किया जा रहा है। वेद आदि शब्दों का प्रयोग करके या विना शब्द-प्रयोग के ही जहाँ वेद-प्रामाण्य की चर्चा की गई है वहाँ से उपयुक्त अंश का ग्रहण कर लिया गया है। किसी वचन या विश्लेषण में वेद शब्द का क्या अर्थ अभिमत रहा होगा? इस विषय का अनुसन्धान करने का प्रयास नहीं किया गया; कहीं-कहीं यह संकेत अवश्य कर दिया गया है कि स्थल-विशेष में वेद शब्द से क्या अभिप्राय है। फलतः किन्हीं सन्दर्भों में वेद शब्द का केवल मन्त्र अर्थ अभिप्रेत हो सकता है, किन्हीं में मन्त्र-ब्राह्मण भी, कहीं अन्य अर्थ भी। वेद-प्रामाण्य का विरोध या समर्थन करने वालों ने जिस अर्थ की विवक्षा करके वेद शब्द का प्रयोग किया है, यहाँ वेद शब्द का वही अर्थ लेना वाञ्छनीय है। उनका विवक्षित अर्थ क्या है? इस विषय में पृथक् विचार करना होगा।

संक्षेप में, वेद शब्द के प्रयोग में जो स्वच्छन्द मनोवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, उसकी ओर ध्यान न देकर यहाँ यही विचार करना अभीष्ट रहा है कि वेदानुयायियों अथवा वेद-विरोधियों ने वेद-प्रामाण्य के पक्ष या विपक्ष में किस प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं तथा क्या मन्तव्य प्रकट किया है।

२—प्रामाण्य-मीमांसा

प्रामाण्य का अर्थ है—प्रमाणत्व, प्रमाणपन। सामान्य रूप से प्रमा (=यथार्थज्ञान या यथार्थ अनुभव) के साधन को प्रमाण कहा जाता है—प्रमाकरणं प्रमाणम्। किन्तु प्रामाण्य शब्द में प्रमाण का अर्थ है—यथार्थज्ञान। अतः प्रामाण्य का अर्थ होगा ज्ञान की यथार्थता।[1] मीमांसा शब्द का अर्थ है जिज्ञासा, विचार या पूजित विचार। जो दो प्रकार का ज्ञान है स्मृति और अनुभव, इस दोनों प्रकार के ज्ञान के विषय में यह विचार किया जा सकता है कि अमुक ज्ञान यथार्थ है अथवा अयथार्थ। ज्ञान के इस प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य-विषयक विचार को ही प्रामाण्य-मीमांसा कहा जा सकता है। ज्ञान का यही प्रामाण्य-अप्रामाण्य-विषयक विचार प्रामाण्यवाद कहलाता है, प्रामाण्यसम्बन्धी वादः प्रामाण्यवादः।

सामान्यतः ज्ञानों के प्रामाण्य के विषय में दो दृष्टियों से विचार किया जाता है एक उत्पत्ति की दृष्टि से, दूसरे ज्ञप्ति की दृष्टि से। किन्हीं ने कार्य की दृष्टि से भी

१. ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यम्। तर्कभाषा (साहित्य भण्डार, मेरठ, १९६६), पृ० १६९।

प्रामाण्य का विचार किया है।[१] जब उत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान के प्रामाण्य का विचार किया जाता है तो एक पक्ष कहता है कि जिन साधनों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उन्हीं साधनों से ज्ञानगत प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाया करता है। उदाहरणार्थ, कोई प्रत्यक्ष के द्वारा 'यह मेज है' इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा मेज (अर्थ) के संयोग से उत्पन्न होता है। इन्हीं साधनों के द्वारा इस ज्ञान में यथार्थता भी उत्पन्न हो जाती है। ऐसा नहीं होता कि इन साधनों से ज्ञान उत्पन्न हो जाये और फिर किसी अन्य साधन से उस ज्ञान में यथार्थता उत्पन्न होती हो। इस प्रकार जिस कारण-सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से उस ज्ञान का प्रामाण्य या अप्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाया करता है। इस मत को ही शास्त्रीय भाषा में प्रामाण्य का उत्पत्ति में स्वतस्त्व कहा जाता है।[२]

दूसरे पक्ष के अनुसार जिन साधनों से ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है, उन्हीं से उस ज्ञान का प्रामाण्य उत्पन्न नहीं होता; अपितु अन्य कारण से प्रामाण्य या अप्रामाण्य उत्पन्न होता है। 'यह मेज है' इस प्रकार का ज्ञान तो आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा अर्थ (मेज) के संयोग से हो जाया करता है, किन्तु यह ज्ञान तभी यथार्थ होगा जब द्रष्टा के नेत्र स्वच्छ होंगे, उनमें कोई विकार न होगा, देखने के लिये पर्याप्त प्रकाश आदि भी होगा। इस प्रकार इन्द्रिय की निर्मलता आदि गुण भी ज्ञान की यथार्थता के निमित्त मानने होंगे, जो ज्ञान की उत्पत्ति की सामान्य सामग्री से भिन्न ही हैं। इसी प्रकार यदि किसी के नेत्र में कामला रोग है, वह देखता है कि शंख पीला है। वहाँ ज्ञानोत्पत्ति की सामान्य सामग्री विद्यमान है; फिर भी यथार्थ-ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। क्यों? नेत्र में कामला नामक दोष के कारण। फलतः ज्ञान की यथार्थता में इन्द्रिय आदि का गुण और उसकी अयथार्थता में इन्द्रिय आदि का दोष भी कारण हुआ करते हैं। इस प्रकार के विचार को शास्त्र में प्रामाण्य या अप्रामाण्य का उत्पत्ति में परतस्त्व कहा जाता है।[३]

---

१. द्र०, (क) श्लो० वा० (श्लोकवार्त्तिक, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८), १.१.२.४८।
(ख) न्यायमञ्जरी, भाग-१ (चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७१), पृ० १५७-१५८।
(ग) न्यायकन्दली (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, १९६३), पृ० ५१९-५२९।
(घ) न्यायकुमुदचन्द्र (माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन सीरीज, बम्बई, १९३८), पृ० २०१-२०२।

२. द्र०, श्लो० वा०, १.१.२.४७।

३. द्र०, न्यायमञ्जरी, भाग-१, पृ० १५७।

ज्ञप्ति की दृष्टि से प्रामाण्य का विचार बहुत अधिक किया गया है। ज्ञप्ति का अर्थ है ज्ञान-बोध। जब यह माना जाता है कि जिस साधन से किसी ज्ञान का बोध होता है उसी साधन से उसके प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता है, तो यह मत प्रामाण्य का ज्ञप्ति में स्वतस्त्व कहलाता है। उदाहरणार्थ, मीमांसक के मत में किसी ज्ञान का ग्रहण 'ज्ञातता' नामक धर्म से अर्थापत्ति द्वारा[1] होता है। जैसे इन्द्रिय तथा मेज आदि के सन्निकर्ष के अनन्तर 'यह मेज है' इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा मेज में कोई धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है, जिसे ज्ञातता (जाना गया होना) कहते हैं, इसी से हमें 'मैंने मेज को जाना' इस प्रकार का अनुभव हुआ करता है। यह ज्ञातता नामक धर्म ज्ञान के विना नहीं रह सकता; अतः अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान का ग्रहण हो जाता है और उसी अर्थापत्ति से ज्ञान के धर्म प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। ऐसा नहीं होता कि एक कारण-सामग्री से ज्ञान का ग्रहण होने के पश्चात् किसी अन्य साधन से ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण होता हो। यही ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व है।[2] हां, मीमांसक भी ज्ञान के अप्रामाण्य को स्वतोग्राह्य नहीं मानता; अपितु परतोग्राह्य मानता है, यह आगे दिखलाया जायेगा।

दूसरे मत के अनुसार जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है, उससे भिन्न साधन के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण हुआ करता है। उदाहरणार्थ, नैयायिक के अनुसार चाक्षुष प्रत्यक्ष से 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान होता है, इस ज्ञान का 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार के मानस प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) द्वारा ग्रहण हुआ करता है; किन्तु इसी मानस प्रत्यक्ष से यह निश्चित नहीं किया जाता कि हमारा ज्ञान यथार्थ है अथवा अयथार्थ। यदि ज्ञान के पश्चात् प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को ज्ञान के अनुसार ही पदार्थ की प्राप्ति हो जाती है तो यह अनुमान कर लिया जाता है कि हमारा ज्ञान यथार्थ था। और, यदि ज्ञान के अनुसार पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती तो यह जान लिया जाता है कि ज्ञान यथार्थ नहीं था। इस प्रकार सफल प्रवृत्ति से ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है और असफल प्रवृत्ति से ज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय कर लिया जाता है।[3] जैसे किसी ने प्रत्यक्ष से जाना कि 'यह जल है'। वह जल लेने के लिये प्रवृत्त हुआ, उसे वैसा ही जल मिल गया। उसकी प्रवृत्ति सफल कही जायेगी और इस सफल प्रवृत्ति से अनुमान किया जायेगा कि उसका 'यह जल है' इस प्रकार

---

१. द्र०, पार्थसारथिमिश्र, शास्त्रदीपिका (७/२३, सकरकन्द गली, वाराणसी, १९७७), पृ० ३२-३७।
२. मि०, केशवमिश्र, तर्कभाषा, पृ० १६१……।
३. द्र०, वही, पृ० १५७ तथा आगे।

का ज्ञान यथार्थ-प्रमाण है । दूसरी ओर, यदि किसी ने चमकती बालू को जल समझ लिया । वह जल लेने के लिये वहाँ गया; किन्तु जल नहीं मिला । उसकी प्रवृत्ति असफल रही । उस असफल प्रवृत्ति से यह अनुमान किया जाता है कि उसका 'यह जल है' इस प्रकार का ज्ञान प्रमाण या यथार्थ नहीं था । परिणामतः नैयायिक के अनुसार ज्ञान का ग्रहण मानस प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) से होता है; किन्तु उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य का अनुमान सफल या असफल प्रवृत्ति के द्वारा किया जाता है । यही प्रामाण्य या अप्रामाण्य का परतोग्राह्यत्व है । जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उससे भिन्न साधन के द्वारा ज्ञानगत प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है ।[१]

ज्ञान के कार्य की दृष्टि से भी स्वतस्त्व और परतस्त्व का विचार किया गया है; किन्तु सभी ग्रन्थकारों ने इसे विशेष स्थान नहीं दिया । ज्ञान के कार्य में स्वतस्त्व का अभिप्राय यह है : जैसे घट आदि पदार्थ उत्पत्ति के लिये कारणों पर निर्भर रहा करते हैं, जब उनकी कारणों से उत्पत्ति हो जाती है तो वे जल भरा जाना आदि अपने कार्य के लिये किसी की अपेक्षा नहीं रखते । यह ठीक है कि कोई जल भरने वाला कारण होना चाहिये; किन्तु जल भरे जाने का सामर्थ्य तो घट में स्वतः ही होता है, उस सामर्थ्य को कोई दूसरा उत्पन्न नहीं करता । इसी प्रकार ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिये कारणों की अपेक्षा रखता है, अपने कार्य के लिये नहीं । ज्ञान का कार्य है—विषय को प्रकाशित करना । इस कार्य का सामर्थ्य उसमें स्वतः ही होता है, इसके लिये वह किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता । यही ज्ञान का कार्य में स्वतस्त्व कहा जाता है । श्लोकवार्त्तिक तथा उसकी टीकाओं में कार्य में स्वतस्त्व का निरूपण किया गया है[२] तथा कतिपय अन्य कृतियों में भी ।[३]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है : प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान की यथार्थता । मीमांसा कहते हैं—विचार को । अतः प्रामाण्य-मीमांसा का अभिप्राय है—कोई ज्ञान यथार्थ है या अयथार्थ एतद्विषयक विचार । प्रामाण्य-सम्बन्धी यह विचार भारतीय दर्शन में अत्यधिक विस्तार से किया गया है । इस सभी विचार को प्रामाण्य का स्वतस्त्व और परतस्त्व दो रूपों में रक्खा जा सकता है । और, यह स्वतस्त्व तथा परतस्त्व भी उत्पत्ति, ज्ञप्ति तथा कार्य की दृष्टि से हुआ करता है । यह सभी विचार प्रामाण्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है । अब देखना यह है कि भारतीय दर्शन में प्रामाण्य-सम्बन्धी विचारों का विकास कैसे हुआ ।

---

१. तस्मात् परत एव प्रामाण्यं न ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यत इति । वही, पृ० १७२ ।
२. आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत् ।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु । श्लो०वा०, १.१.२.४८ ।
३. द्र०, न्यायमञ्जरी, भाग-१, पृ० १५७-१५८; न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २०१-२०२ ।

३–प्रामाण्य-मीमांसा का विकास

भारतीय दर्शन के इतिहास के अनुशीलन से विदित होता है कि यहाँ वेद-प्रामाण्य के विवाद से ही प्रामाण्य-मीमांसा का उद्भव हुआ होगा। वेद-प्रामाण्य-विषयक समस्या का अग्रिम अनुच्छेद में निरूपण किया जायेगा। वेद की प्रामाणिकता शब्द-प्रमाण का ही एक अङ्ग है, अतः वेद-प्रामाण्य के साथ-साथ शब्द-प्रमाण की यथार्थता पर विचार किया जाने लगा; और तदनन्तर सभी प्रमाणों की प्रामाणिकता विचार का विषय बन गई। प्रामाण्य-मीमांसा के इस विकास-क्रम का जयन्तभट्ट ने निरूपण किया है। वे कहते हैं—शब्द का प्रामाण्य कैसे होता है? इस विषय में विचार करते हुए जैमिनि के अनुयायियों ने यह भूमिका बनाई कि प्रामाण्य या अप्रामाण्य स्वतः होता है या परतः; प्रथमतः सभी ज्ञानों के विषय में, यह विवेचन कर लेना चाहिये।[1]

जैसा कि आगे दिखलाया जायेगा, वेद-मन्त्रों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और निरुक्त आदि में कतिपय ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे विदित होता है कि वहाँ ऋक् इत्यादि को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है फिर भी प्रामाण्य-मीमांसा का व्यवस्थित रूप वहाँ उपलब्ध नहीं होता। दर्शन के ग्रन्थों में ही वेद-प्रामाण्य का व्यवस्थित रूप से विचार दृष्टिगोचर होता है। दर्शन के सूत्रों में कौन सबसे प्राचीन है? यह विद्वानों के विवाद का विषय है। परिणामतः किस दर्शन में प्रथमतः प्रामाण्य-मीमांसा की गई अथवा किस आचार्य ने प्रामाण्य-विचार का आरम्भ किया? यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। किन्हीं विद्वानों के अनुसार मीमांसा-सूत्र और ब्रह्म-सूत्र ही दर्शन सूत्रों में सबसे प्राचीन हैं। मीमांसा-सूत्रों में 'श्रुतिप्रमाणत्व' (श्रुतिप्रामाण्य) का अनेक बार उल्लेख हुआ है।[2] यही नहीं, वहाँ यह भी विचार किया गया है कि वेदों का प्रामाण्य क्यों माना जाये।[3] मीमांसा-सूत्रों के भाष्य, वार्त्तिक तथा टीकाओं में वेद-प्रामाण्य का विचार करते हुए ज्ञानों के स्वतः प्रामाण्य का विवेचन किया गया है और उससे भिन्न मतों की भी समीक्षा की गई है।[4] जैसा कि सभी व्याख्याकारों ने निरूपण किया है, मीमांसा के अनुसार सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं। बोधक होने मात्र से ही कोई ज्ञान

---

१. प्रमाणत्वं तु शब्दस्य कथमित्यत्र वस्तुनि।
जैमिनीयैरयं तावत्पीठबन्धो विधीयते॥
प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा सर्वविज्ञानगोचरः।
स्वतो वा परतो वेति प्रथमं प्रविविच्यताम्॥ न्यायमञ्जरी, भाग-१, पृ० १४६।

२. द्र०, ६.३.१३; ७.१.१ इत्यादि।

३. तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। मीमांसासूत्र, १.१.५।

४. श्लोकवार्त्तिक, १.१.२; शास्त्रदीपिका, १.१.२ आदि।

प्रमाण होता है।[1] अतः उत्पत्ति की अवस्था में ही ज्ञान प्रमाण होता है।[2] हाँ, यदि यह पता चलता है कि किसी ज्ञान के कारण में दोष है अथवा उसके विषय में बाधक ज्ञान हो रहा है तो यह समझ लिया जाता है कि वह ज्ञान प्रमाण नहीं, अप्रमाण है। कारण-दोष-ज्ञान या बाधक-ज्ञान से किसी ज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय होता है। इसीलिये अप्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति परतः हुआ करती है। इसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है— किसी ने देखा 'शंख पीला है', वहाँ नेत्र में कामला दोष का ज्ञान होता है। वहाँ चाक्षुष ज्ञान का कारण है नेत्र, और उसमें कामला दोष है। इस कारण-दोष के ज्ञान से निश्चय हो जाता है कि 'शंख पीला है' इस प्रकार का ज्ञान अप्रमाण है। इसी प्रकार किसी ने धुंधले प्रकाश में रस्सी को सर्प समझ लिया। प्रकाश होने पर उसे ज्ञान हुआ यह तो रस्सी है, यही बाधक ज्ञान है। यदि इसका दूसरे ज्ञान से बाध नहीं होता तो यह पहिले ज्ञान की—'यह सर्प है' इस ज्ञान की – अप्रामाणिकता का निश्चय करा देता है।[3]

मीमांसा-सूत्रों में 'प्रामाण्यं स्वतः', 'अप्रामाण्यं परतः' सिद्धान्त के संकेत देखे जाते हैं।[4] शाबर-भाष्य में इस मन्तव्य का कुछ अधिक स्पष्टीकरण किया गया है। सूत्र की व्याख्या करते हुए शबर स्वामी ने दिखलाया है कि अनपेक्ष होने से ज्ञान प्रमाण है…किन्तु जिस ज्ञान का कारण दोषयुक्त होता है अथवा जिसमें 'यह मिथ्या है', इस प्रकार का बाधक ज्ञान हो जाता है उसे अप्रमाण मान लिया जाता है।[5] कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक में, पार्थसारथि मिश्र की न्यायरत्नाकर नामक श्लोकवार्त्तिक की टीका[6] तथा शास्त्रदीपिका[7] में यह मन्तव्य अधिक स्पष्ट हो गया है। शालिकनाथ ने प्रकरणपञ्चिका[8] नामक स्वतन्त्र निबन्ध में प्रभाकर मत के अनुसार प्रामाण्यवाद का विशद निरूपण किया है। मीमांसा के इस मत का सरल एवं स्पष्ट विवेचन परवर्ती ग्रन्थ मानमेयोदय[9] आदि में देखा जा सकता है।

---

१. तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता। श्लो० वा०, १.१.२. ५३।
२. उत्पत्त्यवस्थं चैवेदं प्रमाणमिति मीयते। श्लो० वा०, १.१.२.८७।
३. द्र०, वही, १.१.२.५६-६०।
४. मीमांसासूत्र, १.१.५।
५. यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्ययः, नान्य इति। शाबर-भाष्य, १.१.५।
६. श्लोकवार्त्तिक तथा न्यायरत्नाकर, १.१.२.४७-६७।
७. शास्त्रदीपिका, १.१.२।
८. प्रकरणपञ्चिका (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६१)।
९. मानमेयोदय (अड्यार, मद्रास, १९३३)।

मीमांसा सम्प्रदाय के समान ही न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में भी अत्यन्त प्राचीन काल से वेद-प्रामाण्य-मीमांसा के संकेत दृष्टिगोचर होते हैं। वैशेषिक सूत्र है—तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।[१] इसमें प्रामाण्य शब्द का ही प्रयोग नहीं किया गया; अपितु न्या०-वै० की दृष्टि से वेद-प्रामाण्य के आधार का भी निरूपण किया गया है। न्यायसूत्रों में इस विषय का कुछ अधिक निरूपण उपलब्ध होता है। वहाँ कतिपय मन्तव्यों के समर्थन के लिये श्रुतिप्रामाण्य का भी उल्लेख किया गया है।[२] साथ ही वेद को प्रमाण न मानने वालों के मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके उसका निराकरण किया गया है।[३] और, न्याय के अनुसार वेद को क्यों प्रमाण माना जाता है, इस विषय का भी स्पष्ट निरूपण किया गया है।[४] हाँ, वैशेषिक तथा न्याय के सूत्रों में वेद-प्रामाण्य का ही विचार किया गया है, सामान्यरूप से सभी ज्ञानों के प्रामाण्य का नहीं। भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों की यही अवस्था कही जा सकती है। कालान्तर में मीमांसा सम्प्रदाय के समान न्या०-वै० में भी प्रामाण्यवाद का स्वतन्त्र विवेचन उपलब्ध होता है। वात्स्यायन भाष्य में भी इसका संकेत मिलता है।[५] भाष्य की व्याख्या के प्रसङ्ग में उद्योतकर ने इसे कुछ अधिक स्पष्ट किया है और वहीं वाचस्पति मिश्र ने एतद्विषयक न्यायमत का प्रतिपादन किया है। सम्भवतः वाचस्पति मिश्र की प्रामाण्यविषयक धारणा परवर्ती न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में सिद्धान्त रूप से स्वीकारी गई है। यह अवश्य है कि जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी में प्रामाण्यवाद का जैसा विशद विवेचन किया गया है, अन्य सम्प्रदायों के प्रामाण्य-सम्बन्धी मन्तव्यों का स्पष्ट निरूपण करते हुए जो निराकरण किया गया है, वैसा न्या०-वै० सम्प्रदाय के किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।

जहाँ तक वैशेषिक के परवर्ती ग्रन्थों का प्रश्न है, वैशेषिक के प्रामाणिक ग्रन्थ प्रशस्तपाद भाष्य में प्रामाण्यवाद का अत्यन्त संक्षिप्त रूप मिलता है। वहाँ वेद एवं स्मृति के प्रामाण्य का ही उल्लेख है। हाँ, उससे यह अवश्य विदित होता है कि वेद और स्मृति का प्रामाण्य वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा रखता है।[६] इससे न्या०-वै० के परतः प्रामाण्यवाद का संकेत मिलता है। प्रशस्तपाद भाष्य की टीकाओं में से श्रीधर की न्यायकन्दली मे प्रामाण्यवाद का स्वतन्त्र विवेचन

१. वैशेषिकसूत्र, १.१.३।
२. श्रुतिप्रामाण्याच्च। न्यायसूत्र, ३.१.३१।
३. वही, २.१.५८-६८।
४. वही, २.१.६९।
५. प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्। न्याय-भाष्य, १.१.१।
६. श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षः, तद्वचनादाम्नायप्रामाण्यम्। प्रशस्तपाद-भाष्य (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७७), पृ० ५१९-५२१।

उपलब्ध होता है। संभवतः वह वाचस्पति मिश्र आदि के विवेचन से प्रभावित है। वहाँ बतलाया गया है : अर्थ के अनुसार बोध कराना ही ज्ञान का प्रामाण्य कहलाता है,[१] यह प्रामाण्य उत्पत्ति, ज्ञप्ति तथा कार्य में हुआ करता है। वहाँ स्वतः प्रामाण्यवाद का विस्तार से निराकरण करते हुए न्या०-वै० के अनुसार परतः प्रामाण्यवाद की युक्तियुक्तता दिखलाई गई है।[२] न्या०-वै० के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में से अनेकों में भी प्रामाण्यवाद का संक्षिप्त विवेचन ही मिलता है। हाँ, गंगेश उपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि और उसकी टीका-प्रटीकाओं में प्रामाण्यवाद के विविध पक्षों का विशद विवेचन उपलब्ध होता है।

अन्य वैदिक दर्शनों के ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद की चर्चा स्वल्पमात्रा में है और विशेष रूप से उत्तर काल के ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होती है। वेदान्त को ही देखिये, ब्रह्मसूत्रों में अनेक स्थलों में श्रुति के प्रामाण्य से किसी मन्तव्य का समर्थन अवश्य किया गया है;[३] किन्तु स्वतन्त्र रूप से प्रामाण्यवाद का उल्लेख नहीं किया गया। हाँ, वहाँ वेद-प्रामाण्य के निमित्त का संकेत मिलता है, 'शास्त्रयोनित्वात्'[४] सूत्र द्वारा बादरायण वेदों को प्रमाण माने जाने के निमित्त का भी उल्लेख करते हैं। वाचस्पति मिश्र की भामती टीका में भी वेदान्त का वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी मत ही विशेष रूप में उपलब्ध होता है, वेदान्त के परवर्ती-ग्रन्थों में ही सामान्य रूप से प्रामाण्य-विषयक मन्तव्य का निरूपण किया गया है। विद्यारण्य का विवरण-प्रमेय-संग्रह और धर्मराजाध्वरीन्द्र की वेदान्त-परिभाषा आदि में वेदान्त का प्रामाण्यवाद स्पष्टतः उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से विदित होता है कि यह मन्तव्य पूर्वमीमांसा के समान ही है।

सांख्य-सम्प्रदाय पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि सांख्य-सूत्रों में प्रमा तथा प्रमाण का विवेचन है।[५] वहाँ प्रमाणों के स्वरूप का निरूपण किया गया है।[६] और, प्रमाणों का क्या-क्या कार्य है? इसकी भी चर्चा की गई है।[७] साथ ही वेदों के स्वतः प्रामाण्य का भी उल्लेख किया गया है।[८] फिर भी वहाँ

---

१. यथार्थपरिच्छेदकत्वं प्रामाण्यम्। न्यायकन्दली, पृ० ५२३।
२. वही, पृ० ५२३-५२९।
३. ब्रह्मसूत्र, १.१.११; २.३.१७, २१।
४. वही, १.१.३।
५. द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम्। सांख्यसूत्र, १.८७।
६. वही, १.८९; १.१००-१०१।
७. वही, १.१०२-१०३।
८. निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। वही, ५.५१।

सामान्य रूप से ज्ञानों के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य पर विचार नहीं किया गया। इसी प्रकार ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका या उसकी प्रसिद्ध टीकाओं में भी प्रामाण्य की सामान्य रूप से चर्चा दृष्टिगोचर नहीं होती। वाचस्पति मिश्र ने 'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु' इस कारिकांश की व्याख्या में वेद का स्वतः प्रामाण्य अवश्य दिखलाया है।[1] कहना न होगा कि सांख्य के ग्रन्थों से सांख्य सम्प्रदाय के प्रामाण्यवाद-विषयक मन्तव्य को नहीं जाना जाता; किन्तु अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर यह कहा गया है कि कोई प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को स्वतः बतलाते हैं।[2] व्याख्याकारों ने इसे सांख्य का मत कहा है विशेष रूप से सर्वदर्शन-संग्रह में इसका सांख्यमत के रूप में उल्लेख किया गया है।[3] इसका मूल स्रोत क्या है? यह अन्वेषणीय ही है।

योग सम्प्रदाय के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ योगसूत्र में तीन प्रमाणों का उल्लेख मिलता है।[4] किन्तु वहाँ प्रमाण-सामान्य का लक्षण भी नहीं किया गया, प्रामाण्य की चर्चा तो दूर की बात है। व्यास-भाष्य इतना अवश्य बतलाता है कि यथार्थ (भूतार्थ) का बोधक ज्ञान प्रमाण कहलाता है।[5] वहाँ वेद-प्रामाण्य के विषय में भी कुछ संकेत मिलता है जिसका आगे निरूपण किया जायेगा। व्यास-भाष्य की तत्त्ववैशारदी आदि व्याख्याओं में इस विषय में कुछ अधिक प्रकाश डाला गया है। फिर भी उन से यह विदित नहीं होता कि ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में योग का क्या अभिमत रहा है।

यह तो रही वेद को प्रमाण मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदायों की बात; जो दार्शनिक सम्प्रदाय वेद को प्रमाण नहीं मानते उन्होंने भी वेद-प्रामाण्य पर विचार करते हुए ही सामान्य रूप से सभी ज्ञानों की प्रामाणिकता का विवेचन किया है। चार्वाक दर्शन के मौलिक ग्रन्थ प्रायः अनुपलब्ध हैं, उसका जो विवरण आज उपलब्ध है उसमें केवल वेदों की प्रामाणिकता के विरोध में ही युक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं; सामान्य रूप में प्रामाण्य-विषयक विचार नहीं। बौद्धदर्शन का वाङ्मय प्रचुर मात्रा में आज उपलब्ध है। उससे यह विदित होता है कि प्रमाणों का व्यवस्थित विवेचन वसुबन्धु और दिङ्नाग (पञ्चम शती) से आरम्भ हुआ। दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय आज अपने मूलरूप में पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ५।

२. केचिदाहुः द्वयं स्वतः। श्लो० वा०, १.१.२.३४; तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, का० २८११; न्याय-मञ्जरी, भाग-१, पृ० १४६।

३. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः। सर्वदर्शनसंग्रह।

४. योगसूत्र, १.७।

५. भूतार्थविषयत्वात् प्रमाणस्य। योगभाष्य, १.८।

है। इसमें प्रमाणों के सन्दर्भ में ही प्रामाण्यविषयक संकेत देखे जा सकते हैं, स्वतन्त्र रूप से प्रामाण्य-निरूपण नहीं। बौद्धन्याय की विशद व्याख्या धर्मकीर्ति के ग्रन्थों में मिलती है। उन्होंने स्पष्टतः यह बतलाया है कि ज्ञान स्वप्रकाश है; किन्तु उसके प्रामाण्य का निश्चय व्यवहार से हुआ करता है।[1] प्रमाणवार्त्तिक की टीकाओं में इसे कुछ अधिक स्पष्ट किया गया है। किन्तु प्रामाण्य-सम्बन्धी विविध मतों का विश्लेषण करते हुए, विशेषकर कुमारिल भट्ट की स्थापनाओं का निराकरण करते हुए प्रामाण्यवाद का विशद विवेचन शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ में किया है।[2] तत्त्वसंग्रह के व्याख्याकार कमलशील ने तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका में प्रामाण्य-सम्बन्धी बौद्ध मत का स्पष्टतः उल्लेख किया है; तदनुसार किन्हीं ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है किन्हीं का परतः।[3] स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, अर्थक्रियाज्ञान, अभ्यासदशापन्न ज्ञान, योगी का प्रत्यक्ष और अनुमान—इन ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है। इन ज्ञानों में भ्रान्ति का कोई निमित्त नहीं रहा करता है; किन्तु इनसे भिन्न ज्ञानों में भ्रान्ति की आशङ्का हो सकती है अतः उनकी प्रामाणिकता का निश्चय व्यवहार द्वारा ही किया जाता है।

जैन दर्शन के विकास के साथ ही इसमें प्रमाणों का निरूपण उपलब्ध होता है; किन्तु अन्य दार्शनिक प्रस्थानों के समान ही प्रामाण्यवाद का निरूपण उत्तरकाल में ही किया गया है। जैनन्याय के प्रस्थापक आचार्य अकलङ्क (८ म शती) के ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद की चर्चा मिलती है। प्रामाण्यवाद-सम्बन्धी जैनमत का स्पष्ट निर्देश विद्यानन्द (८ म शती का अन्त) ने प्रमाण-परीक्षा नामक ग्रन्थ में किया है। इसके पश्चात् कई आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से प्रामाण्यवाद का निरूपण किया है। आगे चलकर प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद-सम्बन्धी विविध मतों की परीक्षा करते हुए एतद्विषयक जैनमत का भी विशद विवेचन किया है। न्यायकुमुदचन्द्र की प्राञ्जल शैली एवं स्पष्ट व्याख्या को देखकर बरबस न्यायमञ्जरी का स्मरण हो आता है। सम्भवतः परवर्ती जैनन्याय पर प्रभाचन्द्र का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है। जैनदर्शन के प्रामाण्यवाद का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट निरूपण हेमचन्द्र सूरि (१२ शती) के प्रामाण्यमीमांसा नामक ग्रन्थ में मिलता है। तदनुसार इस विषय में जैनदर्शन का मत यह है—अभ्यासदशापन्न ज्ञान, अर्थक्रिया ज्ञान तथा अनुमान का प्रामाण्य स्वतः होता है; किन्तु अनभ्यासदशा

---

१. स्वरूपस्य स्वतो गतिः। प्रामाण्यं व्यवहारेण। प्रमाणवार्त्तिक, १.६।

२. तत्त्वसंग्रह (बौद्धभारती, वाराणसी, १९६८), स्वतः प्रामाण्यपरीक्षा, का० २८१०-३१२२।

३. तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका, का० ३१२२।

के ज्ञान तथा शब्द ज्ञान आदि का प्रामाण्य परतः निश्चित किया जाता है।[१] देवसूरि (१२ शती) ने बतलाया है—वे दोनों (प्रामाण्य और अप्रामाण्य) उत्पत्ति में परतः ही हुआ करते हैं; किन्तु ज्ञप्ति में स्वतः और परतः होते हैं।[२] जैन-दर्शन की अनेकान्तवादी प्रवृत्ति के अनुसार वहाँ यह भी बतलाया गया है कि प्रत्येक ज्ञान किसी अंश मे प्रमाण तथा किसी अंश में अप्रमाण होता है। उदाहरणार्थ, जिस ज्ञान को सभी तार्किक प्रमाण मानते हैं जैसे, कलम से लिखने वाले के लिये कलम-विषयक-ज्ञान सभी की दृष्टि में प्रमाण है। किन्तु वह ज्ञान भी किसी अंश में अप्रमाण ही होता है; क्योंकि यह कलम है इस प्रकार का ज्ञान घट आदि अन्य विषयों में अथवा कलम के छोटा-बड़ा, काला-लाल आदि विषयों में तो प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार जिस ज्ञान को भ्रान्ति माना जाता है वह भी किसी अंश में प्रमाण भी होता है तथा अन्य अंश में अप्रमाण।[३] वस्तुतः जैन तार्किकों का मन्तव्य है कि प्रत्येक ज्ञान अपने रूप में प्रमाण होता है और अन्य रूप में अप्रमाण होता है।[४]

इस प्रकार ज्ञानों के प्रामाण्य के विषय में अनेक मत हैं। इस विषय में पूर्व कोटि है कि ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते हैं, जो सांख्य का मत समझा जाता है और उत्तर कोटि है ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः होते हैं, यह न्या०-वै० का मत है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के मन्तव्य इन दोनों कोटियों के मध्य में आते हैं। अपने प्रामाण्यवाद-सम्बन्धी मतों को आधार बनाकर ही उन सब ने वेदप्रामाण्य पर विचार किया है। इस प्रकार जिस प्रामाण्य-मीमांसा का वेदप्रामाण्य के आधार पर उद्भव हुआ था, वह कालान्तर में वेद-प्रामाण्य-मीमांसा का निर्देशक सूत्र बन गई है। अब देखना है कि वेद-प्रामाण्य की समस्या क्या रही है, और इस समस्या की ओर विचारकों का ध्यान किस प्रकार आकृष्ट हुआ होगा।

४—वेद-प्रामाण्य की समस्या

वेद-प्रामाण्य शब्द का अर्थ है—वेदवचन प्रमाण है, अथवा वेदोक्त अर्थ प्रमाण है। इन दोनों अर्थों में तात्पर्यतः कोई भेद नहीं है; फिर भी दोनों दृष्टियों

---

१. द्र०, प्रमाणमीमांसावृत्ति (सिंघी-जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९३९), १.१.८।

२. तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्च। प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार (यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस, वीर० सं० २४३७), १.२१।

३. द्र०, अकलङ्क, अष्टशती (निर्णयसागर, बम्बई, १९१५) का० १०१; विद्यानन्द, प्रमाण-परीक्षा (जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता)।

४. स्वरूपे सर्वमभ्रान्तं पररूपे विपर्ययः। समन्तभद्रस्वामी, आप्तमीमांसा (सनातन जैन ग्रन्थ-माला, काशी, १९०५), का० ८३।

से ही वेद-प्रामाण्य पर विचार किया जाता रहा है, यह आगे दिखलाया जायेगा। यहाँ विचारणीय यह है कि वेद के प्रामाण्य पर विचार करने की आवश्यकता क्यों पड़ी और कब वेद-प्रामाण्य की समस्या सामने आई; क्या वेद के प्रामाण्य की स्वीकृति के साथ ही इस प्रामाण्य का आधार खोजने की उत्सुकता मानव-मन में जाग उठी होगी, अथवा कालान्तर में इस प्रकार के विचार का उदय हुआ होगा। वस्तुतः मानव जाति के इतिहास में वेद को कब प्रामाणिक माना गया होगा? निरन्तर अनुसन्धानों से भी इस समस्या का सर्वग्राह्य समाधान नहीं किया जा सका है। अतः वेद-प्रामाण्य को यदि कभी सुदूर प्राचीन काल में चुनौती भी दी जाती रही होगी तो उस के प्रमाण आज विद्यमान नहीं हैं। जो कुछ प्रमाण उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर ही इस विषय में ऊहापोह किया जा सकता है।

भारतीय वाङ्मय के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि प्राचीनतम ग्रन्थों— ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों में नतमस्तक होकर वेद-प्रामाण्य स्वीकारा जाता रहा। वेदोक्त विधान का विरोध करने का अवसर नहीं आया। यदि कहीं वैमत्य भी हुआ तो वेद-वचनों के आधार पर ही अपनी वाञ्छनीय व्याख्या कर ली गई। एक ओर, ब्राह्मण–ग्रन्थों में वेद-मन्त्रों का विनियोग यज्ञ में कर दिया गया, दूसरी ओर उन्हीं के आधार पर उपनिषदों में आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान का विवेचन किया गया। यजुर्वेद के श्रेष्ठतमाय कर्मणे[1] पदों के सन्दर्भ में शतपथ में कह दिया गया— यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म[2]— यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। और, कठोपनिषद् में सभी वेदों को ओम् शब्द और उसके वाच्य ब्रह्म का प्रतिपादक बतलाया गया—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'।[3] ब्राह्मण, आरण्यकों तथा उपनिषदों में अपने मन्तव्यों के समर्थन के लिये स्थान-स्थान पर वेद-मन्त्रों को उद्धृत किया गया।[4] इस प्रकार ब्राह्मण तथा उपनिषद् आदि में वेद को प्रमाण माना गया, वेद-वचनों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया। वहाँ वेद के शब्दों तथा वाक्यों के भिन्न-भिन्न अर्थ भी किये गये; किन्तु वेद-प्रामाण्य के विषय में शङ्का नहीं की गई।

उस सुदूर प्राचीन युग में वेद की महत्ता सर्वोपरि बनी रही। पठन-पाठन में वेद का ही स्थान प्रमुख रहा। किसी लाभ या लोभ के लिये नहीं, धर्म

---

१. यजुर्वेद, १.१।
२. शतपथ ब्राह्मण, १.७.१.५।
३. कठोपनिषद्, १.२.१५।
४. तदेतदृचाभ्युक्तम्। शतपथ, १०.५.४.१८; प्रश्नोपनिषद्, १.७।

समझकर कर्त्तव्य मानकर वेद का अध्ययन किया जाता रहा, विशेषकर समाज का बुद्धि-प्रधान वर्ग वेद के अध्ययन-अध्यापन में तत्पर रहा। महाभाष्यकार पतञ्जलि बतलाते हैं कि किसी प्रयोजन का ध्यान किये विना छह अङ्गों सहित वेद का अध्ययन एवं ज्ञान करना ब्राह्मण का धर्म है।[1] वे हमें प्राचीन इतिहास का भी स्मरण कराते हैं और कहते हैं: प्राचीन काल में ऐसा होता था कि व्याकरण पढ़कर ब्राह्मण वेद का अध्ययन किया करते थे, अब वैसा नहीं रहा।[2] पतञ्जलि के समय में ही इस प्रकार के अध्ययन की परम्परा अवरुद्ध हो चली थी।

जब इससे पूर्ववर्ती युग पर दृष्टि डाली जाती है तो प्रतीत होता है कि निरुक्तकार यास्क से पूर्व ही कुछ विद्वान् ऐसे थे कि जो मन्त्रों को अनर्थक समझते थे। यास्काचार्य ने कौत्स का मत प्रस्तुत करते हुए दिखलाया है कि वह मन्त्रों को अनर्थक सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियाँ देते हैं।[3] इस विषय में कुछ विद्वानों का विचार है कि कौत्स ने यज्ञ के फल की दृष्टि से मन्त्रों को अनर्थक बतलाया था वस्तुतः वे मन्त्रों को अनर्थक बतलाकर वेद के प्रामाण्य को चुनौती देने नहीं चले थे।[4] तथ्य कुछ भी हो, कौत्स का मत वेद को प्रमाण मानते चले जाने की परम्परा में एक नवीन क्रान्ति अवश्य थी। जो शब्द या वाक्य अर्थ का बोधक ही नहीं वह प्रमाण कैसे हो सकता है? वस्तुतः वही शब्द प्रमाण होता है जो यथार्थ का बोधक होता है। यास्क ने कौत्स के मत का सबल युक्तियों से निराकरण करके 'वेदमन्त्र सार्थक हैं,' इस सिद्धान्त की स्थापना की है। इसी प्रकार मन्त्र अनर्थक हैं, यह मत पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसा-सूत्रों में प्रस्तुत किया गया है और वहीं उस का निराकरण भी किया गया है।[5] मीमांसा-सूत्रों में वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी चर्चा भी उपलब्ध होती है; यह ऊपर दिखलाया गया है।

मीमांसा-सूत्रों के समय के विषय में विद्वानों का मतभेद है अतः यह कहना कठिन है कि कालक्रम की दृष्टि से वेदप्रामाण्य का विवेचन कब प्रारम्भ हुआ होगा। मीमांसा-सूत्रों के उल्लेख से यह अवश्य अनुमान किया जा सकता है कि इन सूत्रों की रचना से पूर्व ही वेद-प्रामाण्य को चुनौती दी जाने लगी थी। यह चुनौती किसके द्वारा दी गई थी? यह अन्वेषणीय ही है। आज उपलब्ध इतिहास के आधार पर तो यह प्रतीत होता है कि प्रथमतः चार्वाक, बौद्ध और

---

१. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयः, इति। महाभाष्य (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७) पस्पशाह्निक, पृ० १९।

२. वही, पृ० ४०।

३. निरुक्त, १.१५।

४. पं० भगवद्दत्त, निरुक्तशास्त्रम् (रामलाल कपूर ट्रस्ट, २०२१ वि०), पृ० ४८।

५. मीमांसासूत्र, १.२.३१-५३।

जैन आदि मतों द्वारा वेद-प्रामाण्य को चुनौती दी गई थी। बौद्ध और जैन मतों के आविर्भाव का समय निश्चित करने का विद्वानों ने अवश्य प्रयास किया है; किन्तु चार्वाक के आविर्भाव का काल तो सर्वथा अनिर्णीत ही है। चार्वाक को ही इन वेद-विरोधी मतों में अग्रणी कहा जा सकता है। उसने वैदिक विधि-विधानों की कठोर आलोचना की है।[1] और, अनेक युक्तियों द्वारा वेद-प्रामाण्य का निराकरण किया है। इसी प्रकार बौद्ध[2] और जैन[3] मत के अनुयायियों ने भी वेद को अप्रमाण बतलाया है। इन सबके वेद-प्रामाण्य-विषयक विचारों का आगे विस्तार से निरूपण किया जायेगा।

वेद के अनुयायियों ने भी वेद-विरोधियों का पूरी शक्ति से सामना किया। वेदों की महत्ता का वर्णन किया[4] और विरोधियों को नास्तिक आदि नाम दिये।[5] वेद के विरोधियों का समाज से बहिष्कार किया गया। वेदोक्त धर्म की व्याख्या के लिये अनेक श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र एवं स्मृतिग्रन्थ लिखे गये, जिनमें वेद को ही धर्म का प्रमुख आधार बतलाया गया है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'[6]। और, वेद-विचार-धारा से पृथक् होने वालों की कठोर भर्त्सना की गई है। इससे वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी विवेचन को प्रोत्साहन मिला। फिर भी इस प्रकार के प्रयास द्वारा वेद-प्रामाण्य का सुव्यवस्थित विचार न किया जा सका।

वेद-प्रामाण्य का सुव्यवस्थित विचार दर्शन के क्षेत्र में हुआ। वस्तुतः दर्शन धर्म-शास्त्र का पूरक है, यही युक्ति और प्रमाणों के द्वारा धर्म को दृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित करता है। जैसा कि मीमांसा-भाष्य से विदित होता है, यज्ञ आदि के फल-भोक्ता के रूप में किसी नित्य आत्मा की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है।[7] दर्शन शास्त्र के भिन्न-भिन्न प्रस्थानों का उत्तरोत्तर विकास होता रहा, उसके साथ ही वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी विचार अधिकाधिक होने लगा। उदाहरणार्थ, मीमांसा-सूत्रों में वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी विचार का जो रूप मिलता है, शाबर भाष्य में वह विकसित हो गया है, कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्त्तिक में उसका अत्यधिक विस्तार हुआ है तथा श्लोकवार्त्तिक की न्यायरत्नाकर आदि विविध

---

१. द्र०, सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाक दर्शन।
२. द्र०, (क) धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, (ख) शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह आदि।
३. द्र०, (क) प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड (ख) हेमचन्द्र सूरि, प्रमाणमीमांसा, (ग) मल्लिषेण, स्याद्वादमञ्जरी आदि।
४. द्र०, श्लोकवार्त्तिक तथा न्यायमञ्जरी आदि।
५. नास्तिको वेदनिन्दकः। मनुस्मृति, २.११।
६. वही, २.६।
७. द्र०, शाबरभाष्य, १.१.५ का अन्तिम भाग।

टीकाओं में प्रतिपक्षियों के मत उद्धृत करते हुए उनका युक्ति एवं प्रमाणों से निराकरण किया गया है। साथ ही मीमांसा के मन्तव्य को स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार अन्य दर्शनों के प्रस्थानों में भी दृष्टिगोचर होता है। वेद के अनुयायी दर्शनों की ही यह अवस्था नहीं है, अपितु बौद्ध और जैन दर्शन के ग्रन्थों की भी यही अवस्था है। अन्तर इतना अवश्य है कि वेद-विरोधी प्रस्थानों में वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी युक्तियों और प्रमाणों का निराकरण करके वेद की अप्रामाणिकता दिखलाई गई है। दर्शन-जगत् के इस विवाद में वेद-प्रामाण्य के सभी पक्षों पर प्रकाश पड़ा है और वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी विचार विशद से विशदतर होते गये हैं। किञ्च, वेद-प्रामाण्य के आधारभूत मन्तव्य जो वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता या ईश्वरोक्तता आदि हैं उन पर भी विस्तार से विचार किया गया है। वेद-प्रामाण्य के प्रसङ्ग में ही सामान्यतः शब्द-प्रामाण्य और अन्य सभी प्रमाणों की प्रामाणिकता पर विचार किया जाने लगा था, यह ऊपर कहा जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि अज्ञात काल से वेदों की प्रामाणिकता नतमस्तक होकर स्वीकारी जाती रही। कालान्तर में संभवतः वैदिक विधि-विधानों की अटपटी व्याख्याओं से अथवा उनके रूढिग्रस्त हो जाने से वेदों की सर्वोपरि मान्यता को दबी हुई वाणी से नकारने का प्रयास किया गया। वेद-मन्त्रों की अनर्थकता आदि दिखलाई जाने लगी। इन सभी प्रयासों का वेद-वादियों ने दृढ़तापूर्वक विरोध किया। आगे चलकर 'वेद प्रमाण हैं अथवा नहीं' इस विषय में दर्शन के क्षेत्र में युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर विचार किया जाने लगा जो विचार उत्तरोत्तर अधिक तर्कसंगत और सुव्यवस्थित होता गया। किन्तु पूर्वपक्षी या वेद-वादी की युक्तियाँ सर्वथा बुद्धिसंगत ही रही हैं, यह समझना भी उनके समान ही पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होगा। वस्तुतः अपने-अपने मन्तव्यों के समर्थन के लिये वेद-विरोधियों या वेदानुयायियों ने ऐसी युक्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं जिनमें सम्प्रदायवाद की गन्ध विद्यमान है। एक बात और भी है, वह यह कि वेद-विरोधियों ने वेद-प्रामाण्य का निराकरण करते हुए केवल वेद को ही लक्ष्य नहीं बनाया है, अपितु वेदानुयायियों के सभी मतों एवं आचारों को वेद-विहित मान कर उनका खण्डन किया है। इसी प्रकार वेद-वादियों ने अपने विधानों की प्रामाणिकता को पुष्ट करने के लिये भले ही वेद की परिभाषा या लक्षण प्रस्तुत किया हो; किन्तु विरोधियों की युक्तियों का निराकरण करते हुए न तो यह स्पष्ट किया है कि वेद से क्या तात्पर्य है, और न ही यह उद्घोषित किया है कि विरोधियों द्वारा खण्डित कोई मन्तव्य वेद-विहित है या नहीं। वेद पर किये गये आक्षेपों का परिहार करने के लिये ये बातें नितान्त आवश्यक थीं। इसी हेतु आधुनिक युग में वेद-प्रामाण्य के समर्थक स्वामी दयानन्द ने एक ओर तो वेद की

इयत्ता का प्रतिपादन किया और दूसरी ओर यह भी दिखलाया कि विरोधियों ने वेद का नाम लेकर जिन अटपटी बातों का खण्डन किया है वे वेद-विहित नहीं हैं। अग्रिम विवेचन में इन सभी प्रसङ्गों में विचार किया जायेगा।

५—प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

किसी भी विषय में एक निर्णय पर पहुंचने से पूर्व उसके बारे में विविध पक्षों पर विचार करना आवश्यक होता है। साधारण विषयों में भी इस प्रकार किया गया निर्णय ही अधिक युक्तिसंगत एवं बुद्धिग्राह्य हो सकता है। वेद-प्रामाण्य तो एक ऐसा विषय है जो देश और काल दोनों की दृष्टि से ही अत्यधिक विस्तृत है तथा गहन भी। सभी भारतीय विचार-परम्पराओं में इसके बारे में अपनी-अपनी दृष्टि से कुछ कहा गया है। अतः इस विषय में सुतरां विविध मन्तव्यों पर विचार करके ही किसी निर्णय पर पहुंचा जा सकता है।

जैसा कि अभी दिखलाया गया है, जब धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में विविध मत-मतान्तरों का उद्भव हुआ तो विशेष रूप से भारत में किन्हीं ने वेद का आधार लिया, इन्हें प्रमाण मानकर अपने मन्तव्यों का भी प्रचार, प्रसार किया। अन्यों ने अपने पृथक् मत की युक्तियुक्तता दिखलाई। और, जब वेदवादियों की ओर से उनके मत में शङ्का की गई, उसे वेदशास्त्र-विरुद्ध या वेद-बाह्य बतलाया गया तो उन्होंने वेद की प्रामाणिकता का ही निराकरण करने का प्रयास किया। इसके प्रत्युत्तर में वेदानुयायियों ने विविध युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर वेद की प्रामाणिकता सिद्ध की। ये वेदानुयायी तथा वेदविरोधी भी आपस में मत-भेद रखते रहे। वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करने वालों ने विविध दृष्टिकोणों से अपने विचार प्रकट किये और वेद की प्रामाणिकता का खण्डन करने वालों की भी दृष्टि भिन्न-भिन्न रही। वेद-प्रामाण्य की साधक युक्तियों में कुछ समानता भी रही, इसी प्रकार बाधक युक्तियों में भी। इस प्रकार वादी-प्रतिवादियों की वेद-प्रामाण्य-विषयक युक्ति-प्रतियुक्तियों से भारतीय वाङ्मय का भण्डार भर गया। इन सभी के एकत्र संकलन से एक विशालकाय ग्रन्थ का निर्माण किया जा सकता है। उसका एक प्रारम्भिक प्रयास ही यहाँ किया जा रहा है।

वेद-प्रामाण्य-मीमांसा सम्बन्धी इस ग्रन्थ में वेदों से लेकर आधुनिक युग तक के वेद-प्रामाण्य-विषयक वचनों एवं विचारों को दृष्टि में रक्खा गया है, वहाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वेद-प्रामाण्य के विषय में जो मन्तव्य प्रकट होता है उसका निरूपण करने का प्रयास किया गया है। यहाँ उन मन्तव्यों की समीक्षा नहीं की गई। वादी-प्रतिवादियों ने ही एक दूसरे के मन्तव्यों की पर्याप्त

आलोचना कर दी है और दोष भी दिखलाये हैं। अपने-अपने मत की महत्ता तो सभी की युक्तियों में प्रकट हो रही है। ये युक्तियाँ भी सत्यासत्य के निर्णय में हमारी सहायक हो सकती हैं। हाँ, किसी निर्णय पर पहुँचने के लिये केवल तर्क और युक्तियाँ ही हमारा संबल नहीं हो सकते। किसी विचार के उद्भावक का दृष्टिकोण तथा तत्कालीन देश, काल और समाज की परिस्थितियाँ भी देखनी होती हैं। साथ ही मानव-कल्याण और विश्वहित की भावना भी अपरिहार्य है। किन्तु बुद्धि और तर्क से काम न लेकर केवल आँख मूंदकर किसी बात को स्वीकार कर लेना उचित नहीं होता। अन्ध-परम्परा से मानव का कभी कल्याण नहीं हुआ, न भविष्य में होने की सम्भावना है। वस्तुतः उपलब्ध तथ्यों की परीक्षा करके उनके गुण-दोषों का विवेचन करके उनकी उपादेयता और हेयता पर दृष्टि रखते हुए ही किसी निर्णय पर पहुँचना वाञ्छनीय है। किसी पूर्वाग्रह के आधार पर अथवा किसी व्यक्ति के वचन पर ही निर्भर करना सत्य की खोज का मार्ग नहीं है। प्रमाण-रूप में स्वीकृत वचनों में भी यदि कहीं अटपटापन दिखलाई देता है तो ऐसे स्थलों पर वक्ता की परिस्थितियों का भी विचार करना होता है, उसके हृदय को टटोलना होता है और उन वचनों के पीछे क्या भावना है, यह देखना होता है। संक्षेप में संतुलित विवेक के आधार पर ही सत्यासत्य का निर्णय करना श्रेयस्कर है। अस्तु ॥

यहाँ वेद-प्रामाण्य-विषयक विविध मतों का निरूपण करते हुए प्रथमतः वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा वेदाङ्गों में इस विषय के संकेत खोजने का प्रयास किया गया है। फिर स्मृति, रामायण, महाभारत, पुराण, नाट्यशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, चरक, सुश्रुत आदि से एतद्विषयक सन्दर्भ चुनकर उनका विश्लेषण किया गया है। तदनन्तर भारतीय दर्शन के वेद-विरोधी एवं वेदानुयायी दर्शन-प्रस्थानों की वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी युक्ति-प्रतियुक्तियों की यथावश्यक विस्तृत व्याख्या की गई है, जिससे उनकी वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी धारणायें स्पष्ट हो सकें। वस्तुतः दर्शन के ग्रन्थों में ही इस विषय का विशद विवेचन हुआ है और वहाँ इसके विरोध में या समर्थन में सद्हेतुओं और युक्तियों के साथ-साथ हेत्वाभासों तथा पूर्वाग्रहों का भी आश्रय लिया गया है; जिन पर वादी-प्रतिवादियों का एक रोचक विवाद दृष्टिगोचर होता है। इसी संघर्ष में वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी विचार निखरे भी हैं। उनके विश्लेषण के पश्चात् आधुनिक विद्वानों के विचार दिखलाये गये हैं जिनमें पाश्चात्य और भारतीय सभी विद्वानों के दृष्टिकोणों का समावेश है। अधिकांश विद्वानों ने वेद के विषय में बहुत कुछ कहते हुए भी वेद-प्रामाण्य पर प्रत्यक्षतः बहुत कम विचार किया है। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, यह उद्घोष करने वाले स्वामी दयानन्द ने वेद-प्रामाण्य-विचार

की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है और वेदनित्यत्व आदि के प्रसङ्ग में ऋषियों एवं विद्वानों के समान ही इस विषय में अपना मन्तव्य दिखलाया है।

एक बात और, सुदीर्घ काल के वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी विचारों के विवेचन में व्यापकरूप से सभी विचारकों को स्थान देना कठिन ही नहीं, असम्भव है। फलत: कुछ गिने-चुने ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों को ही यहाँ स्थान दिया गया है। इस चयन में हमारे सीमित साधन एवं सामर्थ्य ही प्रमुख कारण कहे जा सकते हैं। विचारों के प्रस्तुतीकरण में कालक्रम का ध्यान रक्खा गया है। किन्तु भारतीय विचारकों का कालक्रम निर्धारित करना सुगम नहीं है; अत: इसमें अनेक स्थलों पर व्यतिक्रम होना सम्भव है। कहीं-कहीं विवेचन-क्रम की सुविधा से या लेखक के दृष्टिदोष से भी इसकी उपेक्षा हो सकती है।

इस प्रकार इस वेद-प्रामाण्य-मीमांसा में सभी प्रकार के विचारों की चर्चा है—विरोधी और समर्थक, प्राचीन एवं अर्वाचीन, पाश्चात्य एवं भारतीय, वेद के प्रामाण्य या अप्रामाण्य-सम्बन्धी सभी के विचारों को संक्षिप्त, किन्तु स्पष्ट रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। उनके निजि अभिप्राय को स्पष्ट करने की ओर भी दृष्टि रक्खी गई है। कतिपय सुहृदों एवं समीक्षकों का यह भी अनुरोध यदा-कदा सामने आता है कि यहाँ अपना मत भी दिखलाना आवश्यक है। कहना न होगा कि वेद के प्रामाण्य का विचार वेद के अर्थ-निर्णय पर निर्भर करता है। और, किसी वेद-मन्त्र का अर्थ केवल यही है अथवा इतना ही है, यह निश्चित करना सम्भव नहीं प्रतीत होता। जब वेद का अर्थ ही रहस्यमय है, अनन्त है तो उसके प्रामाण्य का निश्चय करना भी कैसे सम्भव हो सकता है? गूढ़ और दुरूह विषयों में कोई निर्णय करना कठिन ही नहीं, असम्भव होता है। विषयिगत आधार पर या कहिये स्वकल्पना से ही वह किया जा सकता है। उसका आधार विचारक की अपनी पहुँच या कल्पना ही होगी। यदि प्रस्तुत लेखक किसी निर्णय पर पहुँचने का प्रयास भी करे तो वह उसका ही मन्तव्य होगा जो उपलब्ध विविध मन्तव्यों की शृङ्खला में एक और कड़ी का काम करेगा। इसी हेतु विवेचकों का स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष भाव से विचार करके अपने विवेक के आधार पर ही वेद की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता के विषय में अपना मत निर्धारित करना युक्तिसंगत है।



परिच्छेद २

वैदिक वाङ्मय और वेद-प्रामाण्य

१—वैदिक वाङ्मय

वेदों के प्रामाण्य पर विचार करते हुए प्रथमतः यह देखना आवश्यक होगा कि क्या वैदिक वाङ्मय में ही कुछ ऐसे संकेत या वचन उपलब्ध होते हैं, जिनसे वेदों की प्रामाणिकता पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। वैदिक वाङ्मय सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का आधार है। केवल वैदिक विचारधारा का ही यह मूल स्रोत नहीं है, अपितु अन्य भारतीय विचारधाराओं का भी। किन्तु प्रश्न यह है कि वैदिक वाङ्मय में किन ग्रन्थों की गणना की जाये ? वैदिक शब्द 'वेद' से बना है। वेद शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ज्ञान। किन्तु यह शब्द कुछ विशेष ग्रन्थों के लिये रूढ हो गया है। इसी से ऋग्वेद आदि को वेद कहा जाता है और वेद-सम्बन्धी साहित्य को वैदिक साहित्य।

वेद कितने हैं ? और इनका प्रणयन कैसे हुआ ? यह विद्वानों के विवाद का विषय रहा है। भारतीय मनीषियों ने इस पर विस्तार से विचार किया था और आधुनिक अनुसन्धानों में भी इसके विषय में अनेक युक्तियाँ एवं प्रतियुक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन एक पृथक् प्रबन्ध में किया जायेगा। यहाँ तो यही मानकर प्रतिपाद्य विषय की ओर अग्रसर होना है कि ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये वेद हैं। इन्हें मन्त्र-संहिता नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि इनकी विविध शाखाओं का उल्लेख मिलता है, तथापि आज जो ग्रन्थ ऋग्वेद आदि के नाम से प्रचलित हैं उन्हें ही यहाँ वेद कहा गया है। ये मन्त्र-संहितायें चार हैं। इनमें सभी का अपना-अपना महत्त्व है; किन्तु समीक्षकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इनके महत्त्व पर विचार किया है। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् वेद के अध्येताओं ने अपने-अपने वेद को अधिक महत्त्व देने का प्रयास किया है। और, यज्ञ की दृष्टि से अथवा विषय-भेद की दृष्टि से भी चारों वेदों का विभाग स्वीकार किया है। आगे चलकर ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में यज्ञ-सम्बन्धी विचार अधिक बढ़ता गया है। वेद-प्रामाण्य की दृष्टि से तो सभी मन्त्र-संहिताओं पर एक रूप में ही विचार करना उचित प्रतीत होता है।

वैदिक वाङ्मय का दूसरा भाग ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। ये ब्राह्मण ग्रन्थ गद्यात्मक हैं। इनमें संक्षेप से वेदों के कर्मकाण्ड की चर्चा की गई है। कुछ आख्यानों के द्वारा भी विषय वस्तु की व्याख्या की गई है। सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ समानताएँ उपलब्ध होती हैं। फिर भी उनके अनुशीलन से विदित होता है कि उनमें अपनी-अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर इनके समय-निर्धारण का प्रयास किया गया है। सभी वेदों के पृथक्-पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थ हैं; जैसे—ऋग्वेद का ब्राह्मण ऐतरेय है, यह आठ पञ्जिकाओं में विभक्त है, प्रत्येक पञ्जिका में पाँच अध्याय हैं। ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण कौषीतकि है जिसे किन्हीं के अनुसार शाङ्खायन भी कहा जाता है। अन्यों के अनुसार शाङ्खायन ब्राह्मण इससे पृथक् है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ नाम से है। यह एक विशाल ग्रन्थ है। यह दो पाठों में उपलब्ध है—एक माध्यन्दिन शाखा और दूसरा काण्व शाखा से सम्बद्ध है। इसमें याज्ञिक विषयों के अतिरिक्त अन्य भूगोल तथा इतिहास आदि के विषय भी उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा (कृष्ण यजुर्वेद) का तैत्तिरीय ब्राह्मण प्रसिद्ध है। यह तैत्तिरीय संहिता से बहुत कम अंशों में भिन्न है। स्वयं तैत्तिरीय संहिता को कुछ विद्वान् ब्राह्मण ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते हैं।

उपलब्ध ब्राह्मण-ग्रन्थों में सामवेद सम्बन्धी ब्राह्मण सबसे अधिक हैं; जैसे—ताण्ड्य ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, मन्त्र ब्राह्मण=छान्दोग्य ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण, जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण इत्यादि। इनमें से कुछ ब्राह्मण सामवेद की भिन्न-भिन्न शाखाओं से सम्बन्ध रखते हैं। जिनमें से कुछ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं, जैसे—ताण्ड्य ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण इत्यादि। ताण्ड्य ब्राह्मण को ही पञ्चविंश, प्रौढ़ अथवा महाब्राह्मण कहा जाता है।[1] अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है। इसके दो भाग हैं। पहले में पाँच अध्याय हैं और दूसरे में छः। इसके कुछ विषय ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण से भी मिलते हैं और कुछ वैतान-श्रौत-सूत्र पर आधारित हैं। यद्यपि ब्राह्मणों का प्रतिपाद्य विषय अन्य ही है; फिर भी वहाँ वेद-प्रामाण्य के सम्बन्ध में भी कुछ संकेत देखे जा सकते हैं।

वैदिक साहित्य का तीसरा भाग आरण्यक तथा उपनिषद् माने जाते हैं। आरण्यक और उपनिषद् में ज्ञान एवं उपासनाकाण्ड का प्रतिपादन किया गया है।

---

१. द्र०, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण तथा आरण्यक (प्रणव प्रकाशन, १/१८, पंजाबी बाग, नई दिल्ली, १९७४), पृ० १९-२८।

आरण्यक शब्द से ज्ञात होता है कि इनका पठन-पाठन अरण्य (वनों) में होता था। इनमें यज्ञ आदि का प्रतीक रूप में वर्णन किया गया है। उपनिषद् (रहस्य-विद्या या गुह्य विद्या) में उपासना और ज्ञान दोनों का ही विशद विवेचन उपलब्ध होता है। ब्राह्मणों के समान ही चारों वेदों की विभिन्न शाखाओं के भिन्न-भिन्न आरण्यक और उपनिषद् हैं। इन उपनिषदों की संख्या निश्चित नहीं है। इनमें एकादश-उपनिषद् विशेष प्रचलित हैं। इसकी भाषा और प्रतिपाद्य विषय आदि के आधार पर इनमें काल-भेद स्वीकारा गया है। शङ्कराचार्य के अनुसार सभी उपनिषदों का अद्वैत-ब्रह्म में तात्पर्य है; किन्तु अन्य आचार्यों ने इनमें जीव-ब्रह्म की भिन्नता तथा जीव-ईश्वर और प्रकृति का वर्णन माना है। कुछ भी हो उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के उस मोड़ पर स्थित हैं, जहाँ से दर्शन-शास्त्र की सरिता का उद्भव होता है। भारतीय दर्शन के ये मूल स्रोत हैं। जहाँ तक वेदों की प्रामाणिकता का प्रश्न है, यहाँ भी कहीं-कहीं प्रसङ्ग से ही वेद-प्रामाण्य के संकेत दृष्टिगोचर होते हैं।

अग्रिम अनुच्छेदों में वैदिक साहित्य के इन सभी अङ्गों के आधार पर वेद-प्रामाण्य का क्रमशः विवेचन किया जा रहा है।

२–मन्त्र एवं वेद-प्रामाण्य

जैसा कि अन्यत्र विवेचन किया गया है, वेद शब्द का अभिधेय क्या है ? इस विषय में कुछ विवाद है। किन्हीं के अनुसार मन्त्र तथा ब्राह्मण वेद कहलाते हैं।[1] ब्राह्मण शब्द से यहाँ ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों सभी का ग्रहण किया गया है। अन्य विद्वानों के अनुसार केवल मन्त्र ही वेद शब्द के वाच्य हैं, ब्राह्मण नहीं। इसी आधार पर यहाँ मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् में पृथक्-पृथक् वेद-प्रामाण्य के विषय में विचार किया जा रहा है।

मन्त्रों में अनेक सन्दर्भों में यह प्रकट किया गया है कि वेद अमुक अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। उन सन्दर्भों से यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि वेद द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है उसे वहाँ मानव के लिये वाञ्छनीय समझा गया है, फलतः वेद-प्रतिपादित ज्ञान यथार्थ है तथा वेद (मन्त्र) प्रमाण हैं। कुछ सन्दर्भों पर विचार करने से इस मन्तव्य का स्पष्टीकरण होता है।

---

१. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। आा०, २४.१.३१।

ऋग्वेद में कहा गया है जो उसे नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या करेगा ?[१] इस वचन से प्रकट होता है कि ऋचाओं का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय वही (ब्रह्म) है। विविध भाष्यों का अनुशीलन करने से भी यही परिणाम निकलता है। इस मन्त्र की निरुक्त (१३.१०) में अधियज्ञ, अधिदेव और अध्यात्मपरक व्याख्या की गई है। वहाँ अधियज्ञ अर्थ में ओंकार को ही अक्षर कहा गया है।[२] यद्यपि सायण भाष्य के अनुसार इस मन्त्र से ब्रह्माद्वैतवाद का संकेत मिलता है तथापि अद्वैत भावना से पृथक् रहकर यहाँ सायण का अभिमत अर्थ यह प्रतीत होता है—ऋग् (=साङ्ग वेद) के विषय नित्य (=अक्षर) उत्कृष्ट (= परमे) व्योम के सदृश ब्रह्म में सब कुछ स्थित है, उसी परमात्मा का आश्रय लेकर समस्त देव विद्यमान हैं; अर्थात् कहे गये लक्षण वाली वस्तु में ही ऋक् से उपलक्षित अङ्गों सहित समस्त वेदों का तात्पर्य है।[३] जो मनुष्य समस्त वेदों के तात्पर्य का विषय होने वाली[४] उस वस्तु को नहीं जानता वह ऋग् आदि शब्द-जाल से क्या करेगा ? भाव यह है कि ज्ञान के साधन वेद के द्वारा जानने योग्य जो वस्तु है, उसे न जानकर व्यक्ति वेद से क्या करेगा ? यदि वेद से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता तो समस्त वेद व्यर्थ ही होगा।[५]

सायण ने इस मन्त्र का कई प्रकार से अर्थ दिखलाया है। उन सभी अर्थों से यह प्रकट होता है कि वेद प्रतिपादित वस्तु को जो जान लेते हैं उनका ही वेद-ज्ञान सफल होता है। ऐसे ज्ञाता ही सम्यक् स्थित होते हैं।[६] इससे ध्वनित होता है कि वेद का प्रयोजन है वस्तुतत्त्व का बोध कराना। इसलिये वेद-ज्ञान की यथार्थता है और वेद प्रमाण है।

ऋषि दयानन्द केवल वेदार्थ-ज्ञान को ही जीवन का लक्ष्य नहीं मानते, अपितु वेद के अनुकूल आचरण को ही मानव-जीवन का परम कर्त्तव्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'यस्तन्न वेद' इत्यादि का अभिप्राय है—जो उसको नहीं जानता, सब के उपकार के लिये दी गई ईश्वराज्ञा में भली-भांति नहीं वर्तता वह

---

१. यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। ऋग्वेद, १.१६४.३९।

२. द्र०, दुर्गाचार्य, ऋज्वर्था, निरुक्त, १३.१०।

३. उक्तलक्षणे वस्तुनि ऋगुपलक्षिताः सर्वे साङ्गाः वेदाः पर्यवसिता इत्यर्थः। सायण, ऋग्वेद-भाष्य, १.१६४.३९।

४. कृत्स्नवेदतात्पर्यप्रतिपाद्यं यद्वस्तु। वही, १.१६४.३९।

५. वेदनसाधननेन वेदेन वेद्यम् अविदित्वा किं साधयतीत्यर्थः। प्रयोजनाभावात् सर्वस्यापि वेदस्य नैष्फल्यात्, इति भावः। वही, १.१६४.३९।

६. त इमे समासते ते एव इमे ज्ञातारः समासते सम्यक् तिष्ठन्ति। वही, १.१६४.३९।

पढ़ी गई भी ऋचा से क्या करेगा ? यह कभी भी वेदार्थ के विज्ञान से उत्पन्न किसी फल को प्राप्त नहीं करता, यह अर्थ है।[1]

'यो जागार तमृचः कामयन्ते'[2], एवं 'अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते'[3] इन मन्त्रों में यह बतलाया गया है कि जो जागता है उसकी ऋचाएँ और साम कामना करते हैं तथा जो अग्नि के समान जागता है, पुरुषार्थी है; उसी की ऋचाएँ तथा साम कामना करते हैं। इन मन्त्रों से वेदप्रतिपादित ज्ञान पर और वेद के प्रामाण्य पर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। फिर भी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इतना स्पष्टतः विदित होता है कि ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर वेद को जीवनोपयोगी विविध ज्ञानों का बोधक बताया गया है। कर्त्तव्यों का बोधक होने से ही उसकी प्रामाणिकता भी कही जा सकती है।

यजुर्वेद में 'वेदोऽसि' इत्यादि मन्त्र[4] आया है। उवट तथा महीधर ने इस मन्त्र का विनियोग वेद नामक (=कुशमुष्टिविशेष) पदार्थ के मोचन में किया है। यद्यपि महीधर ने 'वेदः' का अर्थ ज्ञान का साधन अथवा ऋग्वेदादिरूप वेद भी किया है तथापि उससे वेदों की बोधकता या यथार्थबोधकता के विषय में कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। स्वामी दयानन्द ने 'वेदः' शब्द के जगदीश्वर अथवा ऋग्वेदादि वेद दो अर्थ किये हैं। ऋग्वेद आदि को वेद इसलिये कहा जाता है; क्योंकि वह ज्ञान का साधन है।[5] इस मन्त्र में स्थित 'देवा गातुविदः' पदों के अन्वयार्थ में उन्होंने कहा है—हे देवों, आप जिस वेद से सब विद्याओं को जानते हैं।[6] भावार्थ में उन्होंने यह भी बतलाया है—वेदविज्ञान एवं वेदोक्त विधान के अनुरूप कार्य किये विना मनुष्यों को कभी सुख नहीं हो सकता। वेदविद्या के द्वारा सबके साक्षी ईश्वर देव को सर्वव्यापक मानकर सदा धर्म का अनुष्ठान करो।[7]

---

१. यः खलु तं न जानाति। सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्तते, स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति। नैवायं कदाचित् वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः। ऋग्वेदादि०, पठन०, पृ० ३५९-३६०।

२. यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥ ऋग्वेद, ५.४४.१४।

३. अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥ वही, ५.४४.१५।

४. वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत इमं देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः॥ यजुर्वेद, २.२१।

५. विदन्ति येन स ऋग्वेदादिर्वा। यजुर्वेदभाष्य, २.२१।

६. हे गातुविदो देवा भवन्तो येन वेदेन सर्वा विद्या विदन्ति। वही, २.२१।

७. वही, सं०, २.२१।

'ऋक्सामाभ्याम्' इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्र[१] के भाष्य में उवट ने ऋक् तथा साम को यज्ञरूपी समुद्र के संतरण के लिये प्लव (=छोटी नौका) बतलाया है, किन्तु यजुर्वेद को धन की पुष्टि का निमित्त।[२] इसके आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि वेद—यज्ञ आदि कर्म के साधन के साथ-साथ समृद्धि के भी साधन हैं। किन्तु कैसे? इसका वर्णन यहाँ नहीं किया गया। स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र के भाष्य में ऋक् एवं साम शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई है। तदनुसार जिससे पदार्थों की स्तुति करते हैं वह ऋग्वेद है, जिससे सान्त्वना प्राप्त करते हैं अथवा कर्म की समाप्ति करते हुए फल प्राप्त करते हैं वह साम है। इसी मन्त्र के भाष्य में यह भी कहा है कि यजुर्वेद के मन्त्रों में उक्त कर्मों के द्वारा धन की पुष्टि एवं अन्न के द्वारा हम सुखी होवें। भावार्थ में इस भाव को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार 'ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः'[३] इत्यादि मन्त्र के भाष्य में स्वामीजी ने बतलाया है कि ऋक् और सामवेद के अध्ययन के पश्चात् शिल्प-क्रिया सिद्ध होती है। उवट तथा महीधर ने इस मन्त्र के भाष्य में यज्ञ की प्रक्रिया की ओर भी संकेत किया है।

'ऋचो नामास्मि'[४] इत्यादि मन्त्र के भाष्य में उवट तथा महीधर ने केवल यह दिखलाया है कि इस मन्त्र का यज्ञ में विनियोग नहीं होता, इसके द्वारा यजमान अपने आत्मा के साथ तीनों वेदों के तादात्म्य की भावना करता है। आत्मा के वेदत्रय से तादात्म्य करने का क्या अभिप्राय है? यह उन भाष्यों से स्पष्ट नहीं होता। स्वामी दयानन्द के भाष्य में दिये गये भावार्थ से इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जो मनुष्य ऋग्वेद को पढ़ता है वह ऋग्वेदी इत्यादि कहलाता है। किञ्च, "जो वेदवित् हों वे अग्निहोत्रादि यज्ञों से सब मनुष्यों के हित को सिद्ध करें"[५]। "यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहाः"[६] इत्यादि मन्त्र के उवट तथा महीधर कृत भाष्य से इस विषय में अधिक सूचना नहीं मिलती; किन्तु स्वामी दयानन्द के भाष्य से विदित होता है कि यजुर्वेद में उक्त विद्याओं के द्वारा अनेक व्यवहारों का ज्ञान, पदार्थ-गुणों का ज्ञान तथा स्तुतियाँ आदि प्राप्त होती हैं। स्वामीजी भावार्थ में बतलाते हैं कि "कोई भी मनुष्य वेदाभ्यास के विना सम्पूर्ण साङ्गोपाङ्ग वेद-विद्याओं को प्राप्त होने योग्य नहीं होता।"[७]

---

१. ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम। यजुर्वेद, ४.१।
२. उवटभाष्य, यजुर्वेद, ४.१।
३. वही, ४.९।
४. ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि। वही, १८.६७।
५. यजुर्वेदभाष्य, १८.६७।
६. यजुर्वेद, १९.२८।
७. यजुर्वेदभाष्य, १९.२८।

उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है : यजुर्वेद के विविध मन्त्रों में यह संकेत किया गया है कि इनसे नाना प्रकार के ज्ञानों की प्राप्ति होती है। भाष्यकारों ने इन ज्ञानों में से अनेकों का नामतः निर्देश किया है। इससे यह स्पष्ट है कि वेद विविध ज्ञानों का बोधक है। फलतः उसे प्रमाण मानना होगा। हाँ, उसका प्रामाण्य किस आधार पर है, यह उपर्युक्त मन्त्रों के आधार पर नहीं कहा जा सकता। फिर भी यजुर्वेद में कुछ सन्दर्भ ऐसे हैं जिनसे प्रकट होता है कि वेद उस परम पुरुष से उत्पन्न हुए।[1] कुछ भाष्यकारों ने यहाँ यज्ञ शब्द का अर्थ पुरुषमेध नामक यज्ञ किया है।[2] अन्य भाष्यकारों ने यज्ञ शब्द का अर्थ पूजनीय परमात्मा किया है।[3] इस मन्त्र की व्याख्या अन्यत्र की जायेगी। यहाँ तो इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि परमात्मा से उत्पन्न होने के कारण वेद प्रमाण हैं। फिर भी, इस प्रकार का अनुमान केवल भाष्यकारों के आधार पर ही किया जा सकता है।

सामवेद में भी ऋग्वेद के समान कतिपय सन्दर्भों में वेद अथवा ऋक् इत्यादि का उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ,—'स नो वेदो०'[4] इत्यादि मन्त्र में वेद शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु यहाँ इसका क्या अर्थ है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। जो मन्त्र ऋग्वेद में आए हैं और सामवेद में भी, उनमें यदि वेद की बोधकता के विषय में कुछ कहा गया है तो वह सब उपर्युक्त विवेचन के समान होगा।

अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में स्पष्टतः वेद में वर्णित विविध विज्ञानों के संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह विदित होता है कि वेद जीवनोपयोगी अनेक विषयों का बोधक है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद के 'येन देवा न वियन्ति'[5] इत्यादि मन्त्र में बतलाया गया है कि जिससे देव विरुद्ध नहीं चलते और न ही आपस में द्वेष करते हैं उस ब्रह्म (=वेद) को तुम्हारे घर में सब पुरुषों के ज्ञान के साधन रूप में हम प्रस्तुत करते हैं। यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ वेद करने पर दो बातें विदित होती हैं कि वेद से देव या विद्वान् अपने मार्ग के विरुद्ध नहीं चलते, आपस में द्वेष नहीं करते तथा यह मनुष्यों के ज्ञान का साधन है।

---

१. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। वही, ३१.७।
२. द्र०, उवट तथा महीधर, यजुर्वेदभाष्य, ३१.६।
३. द्र०, ऋषि दयानन्द, यजुर्वेदभाष्य, ३१.७।
४. स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु शन्तमः। उतास्मान्पात्वंहसः। सामवेद, १३८१।
५. येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः। अथर्ववेद, ३.३०.४।

'ऋचं साम यजामहे'[१] इस मन्त्र में बतलाया गया है कि हम उस ऋग्वेद और सामवेद का यजन करते हैं जिनके द्वारा मनुष्य कर्म करते हैं। यद्यपि यहाँ सायण भाष्य में यज्ञ-परक अर्थ किया गया है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र में सामान्य रूप से सभी कर्मों का साधन ऋग्वेद तथा सामवेद को बतलाया गया है। और, कर्मों के बोधक होने से ही वेद सब कर्मों के साधन हो सकते हैं। अन्य मन्त्र में तो स्पष्टतः यह बतलाया गया है—मैंने ऋग्वेद को हवि के विषय में, सामवेद को ओज के विषय में, तथा यजुर्वेद को बल के विषय में पूछ लिया है अर्थात् उनका अनुशीलन कर लिया है। इसलिये यह पूछा गया वेद मेरे कार्य में बाधा न करेगा।[२] इस मन्त्र से यह प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न वेदों में विविध विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जिसके अनुसार चलकर मार्ग में बाधा नहीं रहती।

एक मन्त्र में कहा गया है कि ब्रह्म, प्रजापति, धाता, लोक और वेद इत्यादि सभी मेरा कल्याण करें।[३] इससे यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद के अनुसार वेदों में इस प्रकार का ज्ञान है जो कि मानव के कल्याण का निमित्त हुआ करता है। एक प्रसिद्ध मन्त्र है—'स्तुता मया वरदा वेदमाता'[४] इत्यादि। इस मन्त्र में वेदमाता शब्द के अर्थ में मत-भेद है। एक अर्थ है—ऋग्वेदादि की माता; अर्थात् सार रूप होने से माता के समान प्रधान होने वाली सावित्री या गायत्री। दूसरा अर्थ है—वेद ही माता; अर्थात् माता के समान हितकारी होने से वेद को माता कहा गया है। इस शब्द का अर्थ गायत्री लिया जाये या ऋग्वेदादि वेद लिया जाये, दोनों ही अर्थों में इस मन्त्र से वेद की महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। तदनुसार वेदमाता पावमानी है—पापों से रहित करने वाली है, द्विजों के आयु आदि—फलों को देने वाली है। इस प्रकार के कथन से यह सिद्ध होता है कि वेद ऐसे ज्ञान से भरे हैं जो ज्ञान मानव को बुराइयों से मुक्त करता है, उत्तम आयु आदि प्रदान करता है। इस ज्ञान की महिमा के बखान से यह सूचित होता है कि वेद प्रमाण मानने योग्य हैं।

वेद-मन्त्रों के आधार पर वेद-प्रामाण्य पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि यहाँ मन्त्रों को विविध पदार्थों का बोधक बतलाया गया है। वेद-

---

१. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते। वही, ७.५४.१।

२. ऋचं साम यदप्राक्ष हविरोजो यजुर्बलम्।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते। वही, ७.५४.२।

३. ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्तऋषयोऽग्नयः।
तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनम् ······। वही, १९.९.१२।

४. स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। वही, १९.७१.१।

प्रतिपादित ब्रह्म को अवश्य जानने योग्य कहा गया है। वेदोक्त कर्म को कर्त्तव्य रूप में निरूपित किया गया है तथा उस यज्ञरूप शक्ति से वेदों की उत्पत्ति दिखलाई गई है। इन तथ्यों के आधार पर यह माना जा सकता है कि मन्त्रों में वेद की प्रामाणिकता की ओर बहुशः संकेतमात्र किये गये हैं। वेद-प्रामाण्य का व्यवस्थित विवेचन तो दर्शन-शास्त्र का कार्य है जो उत्तरकाल की देन है।

३. ब्राह्मण ग्रन्थ तथा वेद-प्रामाण्य

ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद-विषयक विविध तथ्य उपलब्ध होते हैं। उनके कुछ सन्दर्भों से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वेद-प्रामाण्य के विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों का क्या मन्तव्य है। ब्राह्मण ग्रन्थों के भाष्यकारों ने तो वेद-प्रामाण्य का व्यवस्थित वर्णन भी किया है; जैसे—ऐतरेय ब्राह्मण का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने प्रारम्भ में ही विशद रूप में वेद-प्रामाण्य का विवेचन दिया है।[1] फिर भी प्रस्तुत प्रबन्ध में विशेषरूप से ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों से ही किसी परिणाम पर पहुँचने का प्रयत्न किया जा रहा है।

ऐतरेय ब्राह्मण[2] में तथा गोपथ ब्राह्मण[3] आदि में भी एक वाक्य बार-बार दृष्टिगोचर होता है। वह है—एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाण-मृगभिवदति, इति। निरुक्त में स्वल्प से अन्तर के साथ इस वचन को ब्राह्मण के नाम से उद्धृत किया गया है।[4] इसका सामान्य अर्थ है—यह निश्चय ही यज्ञ की पूर्णता है जो रूप से पूर्णता होती है तथा किये जाते हुए कर्म का ऋक् (अथवा यजुः) वर्णन करती है। निरुक्त में मन्त्रों की अर्थवत्ता सिद्ध करते हुए यह वचन उद्धृत किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के सायणभाष्य से भी ज्ञात होता है कि यहाँ मन्त्रों की सार्थकता प्रकट की गई है।[5] इस प्रकार के कथनों से यह स्पष्ट ही है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद-मन्त्रों को सार्थक माना गया है। जब वे मन्त्र यज्ञादि कर्मों के बोधक हैं तो मीमांसक की रीति से प्रमाण ही हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ ऐसे वचन भी मिलते हैं जिनका अर्थ क्या है? यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। एक स्थल पर कहा गया है—अथवा ऋक् और साम इन्द्र के दो अश्व हैं।[6] इसी प्रकार 'सद्यो ह जातो वृषभः

१. ऐतरेय ब्राह्मण-भाष्य (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९३१)।
२. वही, पृ० २४, ६७, ७६, १२३, १४९ इत्यादि।
३. गोपथ०, २.२.६; २.४.२।
४. निरुक्त, १.१६।
५. द्र०, सायणाचार्य, ऐतरेय ब्राह्मण-भाष्य, पृ० २२-२४।
६. ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी। ऐत० (अ० ८), पृ० २३६।

कनीन:'[१] इत्यादि सूक्त[२] के विषय में कहा गया है कि यह सूक्त स्वर्ग्य है। इस सूक्त के द्वारा देवों ने स्वर्गलोक को जीत लिया। इस कथन का अभिप्राय भी विचारणीय ही है। किन्तु इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि वेद के किन्हीं सूक्तों या मन्त्रों में इस प्रकार का ज्ञान या शक्ति विद्यमान है जिसके आधार पर देवों ने स्वर्गलोक में विजय प्राप्त की। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण के वचनों से केवल इतना प्रतीत होता है कि वेद उन विविध अर्थों के बोधक हैं जिनके द्वारा मानव का हित होता है। फिर भी यहाँ वेद की प्रामाणिकता के विषय में स्पष्ट कुछ नहीं मिलता।

ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्यकारों ने कहीं-कहीं वेद-प्रामाण्य की चर्चा की है; जैसे—सायणाचार्य अपने भाष्य की अवतरणिका में बतलाते हैं कि बोधक होने से वेद की प्रामाणिकता स्वत: सिद्ध है। यद्यपि पौरुषेय वाक्य भी बोधक होते हैं फिर भी उनका आधार भ्रान्ति भी हो सकता है। इसलिये वे अपने मूल की प्रामाणिकता से ही प्रमाण माने जा सकते हैं। वेद तो किसी मूल प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता वह नित्य है, उसमें कर्तृदोष की शङ्का भी नहीं उठ सकती।[३] सायणाचार्य के इस कथन में मीमांसक की दृष्टि से वेद का प्रामाण्य प्रतिपादित किया गया है। यहाँ उन्होंने मीमांसा का सूत्र भी उद्धृत किया है।[४] किन्तु इसके आगे शङ्का का समाधान करते हुए उन्होंने वेदान्त के समान वेद को ब्रह्म का कार्य बतलाया है तथा कहा है—ब्रह्म के निर्दोष होने से वेद में कर्त्ता के दोषों की सम्भावना नहीं होती; इसलिये उसी प्रकार (मीमांसा के समान ही) वेदों का प्रामाण्य स्वत: सिद्ध है। सायणाचार्य के इस विवेचन में परवर्ती मीमांसक तथा वेदान्ती के मन्तव्य का सार निहित है; किन्तु इससे ऐतरेय ब्राह्मण के मत का बोध नहीं होता।

सायण-भाष्य तथा अन्य भाष्यों में भी कुछ ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वेद सत्य के प्रतिपादक हैं। जैसे—'ऋतसत्' शब्द की व्याख्या करते हुए सायण ने कहा है—ऋत का अर्थ है सत्य वचन अर्थात् वेद वाक्य।[५]

---

१. ऋग्वेद, ३.४८.१।
२. ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का ४८वां सूक्त जिसमें पाँच मन्त्र हैं।
३. द्र०, ऐतरेय ब्राह्मण-भाष्य, अवतरणिका, पृ० २।
४. तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। मीमांसासूत्र, १.१.५।
५. ऋतं सत्यवदनं वेदवाक्यम्। ऐत०, १८. ६, (पृ० ४६५)।

शतपथ ब्राह्मण में वेदों का यज्ञों में उपयोग दिखलाया गया है; जैसे—साम के बिना यज्ञ नहीं होता।[१] इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि यज्ञ द्वारा ऋचाओं से, यजुर्मन्त्रों से……देवताओं को प्रसन्न करके……उन तक पहुँच जाता है।[२] अन्य स्थल पर ऋक्, यजु तथा साम से समिधाधान तथा आहुति-प्रदान का उल्लेख किया गया है।[३] और, कहा गया है कि इन तीन वेदों से यज्ञ करते हैं; पहले यजुः से, फिर ऋक् से और फिर साम से।[४] इन सन्दर्भों से यह विदित होता है कि वेद को यज्ञ का साधन माना गया है। किन्तु वेद किस रूप में यज्ञ के साधन हैं? यज्ञ के प्रसङ्ग में उनके कोई विशेष अर्थ होते हैं या नहीं? यह यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया।

एक स्थल पर बतलाया गया है कि इस (यजुः) की सहायता से दुष्ट राक्षसों को मारकर भयहीन तथा क्लेश-रहित घर में शान्ति प्राप्त करता है।[५] यह भी कहा गया है—(i) आशीर्वाद सम्बन्धी यजुर्वेद के मन्त्र बहुत से हैं,[६] (ii) समृद्ध वह होता है जो ज्ञानी और वेदपाठी होता है,[७] (iii) यह यजुः राक्षस को मारने वाली स्तुति (ब्रह्म) है,[८] (iv) साम दुष्ट राक्षसों का नाशक है[९], (v) इस लोक को ऋक् से जीतता है, अन्तरिक्ष को यजुः से तथा द्युलोक को साम से[१०]। इसी प्रकार देवों ने इन विद्याओं से अपनी कामनाओं का दोहन किया, तब उन्होंने सबसे अधिक यजुर्विद्या से ही कामों को दुहा।[११] जो इस यज्ञ को यथाविधि ऋक् से, यजुः से और साम की रीति से जानते हों, जो निपुण हों वे इस यज्ञ में सहायता करें।[१२] और भी, स्नातक होकर भिक्षा न करे, इस प्रसङ्ग में यह भी कहा गया है कि जो इस बात को जानता है, इस पर आचरण करता है, सब वेद उसी में प्रविष्ट हो जाते हैं।[१३] पाँच महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ का

---

१. नासामा यज्ञोऽस्तीति। शत०, १.४.१.१।
२. वही, १.६.३.८।
३. वही, २.१.४.६, १०, १६, ३०।
४. वही, ५.५.५.५।
५. द्र०, वही, ३.३.३.१६।
६. द्र०, बह्वी वै यजुःष्वाशीः। वही, ३.५.२.११।
७. यो वै ज्ञातोऽनूचानः स समृद्धः। वही, ३.६.१.२६।
८. एतद् वै यजुर्ब्रह्म रक्षोहा। वही, ४.१.१.२०।
९. साम हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता। वही, ४.४.५.६।
१०. वही, ४.६.७.२।
११. वही, ४.६.७.१४।
१२. वही, ५.१.१.१०।
१३. वही, ११.३.३.७।

वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ है, और स्वाध्याय का फल इतना अधिक है जितना कि बड़ी से बड़ी दक्षिणा द्वारा प्राप्त होता है ।[1]

इसी सन्दर्भ में ऋचाओं को ब्रह्मयज्ञ में दूध की आहुति, यजुः को आज्य की आहुति, साम को सोम की आहुति आदि कहा गया है । साथ ही यह भी दिखलाया गया है कि जो इनके रहस्य को जानकर इन आहुतियों से देवों को तृप्त करता है, तृप्त होकर देव योग-क्षेम के द्वारा उसे तृप्त करते हैं । इस सन्दर्भ में स्पष्टतः तो यह नहीं बतलाया गया कि ऋग्वेदादि के मन्त्रों का क्या अर्थ एवं उपयोग है; तथापि इनके रहस्य को जानने का महत्त्व दिखलाया गया है और इनसे देवों की तृप्ति होती है, यह भी दिखलाया गया है ।[2]

एक अन्य स्थल पर यह भी कहा गया है कि ऋक् से 'होता' का कार्य किया जाता है, यजुः से 'अध्वर्यु' का, साम से 'उद्गीथ' का और त्रयी विद्या से 'ब्रह्मा' का ।[3] इसी प्रकार इस त्रयी विद्या से ऋत्विज्-कृत्य हुआ करता है, यह भी कहा गया है ।[4] एक सन्दर्भ में ऋग्वेद को भर्ग, यजुर्वेद को मह, सामवेद को यश कहा गया है ।[5]

उपर्युक्त सन्दर्भों से केवल यह विदित होता है कि विविध यज्ञों तथा अन्य कार्यों में वेद की महत्ता स्वीकार की गई थी । इससे यह स्पष्ट है कि शतपथ में वेदों की प्रामाणिकता दिखलाई गई है । कुछ सन्दर्भ ऐसे भी उपलब्ध होते हैं जिनमें स्पष्ट रूप से शतपथ में वेद को प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है ; जैसे, एक स्थल पर अपने प्रतिपाद्य विषय का विश्लेषण करते हुए 'तदेतदृचाभ्युक्तम्'—(यह ऋचा ने भी कहा है), इस प्रकार वेद-वचन को उद्धृत करते हुए अपने कथन का समर्थन किया गया है ।[6] जैसा कि विद्वानों से छिपा नहीं है, शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग बृहदारण्यकोपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है । वहाँ कई सन्दर्भों में वेद-प्रामाण्य की स्वीकृति का उल्लेख मिलता है, जिसका अग्रिम अनुच्छेद में निरूपण किया जा रहा है ।

सामवेदीय ब्राह्मणों में कतिपय प्रसङ्ग ऐसे मिलते हैं जिनमें वेदों के प्रामाण्य के सम्बन्ध में कुछ संकेत खोजे जा सकते हैं । एक स्थल में कहा गया

१. वही, ११.५.६.३ ।
२. वही, ११.५.६. ४-८ ।
३. वही, ११.५.८.७ ।
४. त्रय्या विद्ययाऽऽर्त्विज्यं कृतं भवति । वही, १२.३.३.२ ।
५. वही, १२.३.४.९ ।
६. वही, १०.५.४.१८ ।

है—'साम वा असौ लोक ऋगयम्'[1] इत्यादि। यहाँ भाष्यकारों के अनुसार 'असौ लोकः' का अर्थ है—स्वर्ग लोक और 'अयं' का अर्थ है—यह लोक। इन शब्दों की व्याख्या में सायण भाष्य में कहा गया है कि सामवेद स्वर्ग में स्थिति का साधन है और ऋग्वेद इस लोक में प्रतिष्ठा का हेतु है।[2] ब्राह्मणकार ने ऐसा क्यों है? इसका हेतु नहीं दिखलाया है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि जो पशु की कामना करे या जो प्रतिष्ठा की कामना करे वह इस साम से स्तुति करे। उससे वह पशुओं को प्राप्त कर लेता है, प्रतिष्ठित होता है।[3] दूसरे स्थल पर 'त्रैशोक' नामक ब्रह्मसाम का प्रयोग शोक-नाश के लिये दिखलाया गया है;[4] और, प्रतिष्ठा की कामना के लिये भी 'काण्व' नामक ब्रह्मसाम का प्रयोग बतलाया गया है।[5] 'क्षत्रसाम' आदि के द्वारा स्तुति के भी कुछ फल दिखलाए गये हैं।[6] इसी प्रकार 'ब्रह्मसाम' की स्तुति के भी।[7]

एक स्थल पर सामान्य रूप से साम की स्तुति करते हुए बतलाया गया है कि साम स्वर्ग-प्राप्ति के लिये उपयोगी होता है। इससे स्तुति करता हुआ स्वर्ग-लोक से प्रच्युत नहीं होता।[8] इसी प्रकार का भाव अन्य कई स्थलों पर प्रकट किया गया है।[9] एक स्थल पर साम को 'सत्याशीः' (सच्चा आशीर्वाद, अथवा सच्चे फल की प्राप्ति का निमित्त) कहा गया है।[10] अन्य स्थल पर 'गौबूक्ति', 'आश्व-सूक्ति' इन दोनों सामों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि इन दोनों सामों के द्वारा विशेष पाप का नाश कर दिया।[11] इसी प्रकार कुछ सामों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है जो इस प्रकार जानता हुआ इन सामों के द्वारा स्तुति करता है वह इन लोकों के लिये समस्त कामनाओं की पूर्ति कर लेता है।[12] इत्यादि।

सामविधान नामक ब्राह्मण में वेद-प्रामाण्य के विषय में कुछ उपलब्ध नहीं होता। अन्य सामवेद सम्बन्धी ब्राह्मणों में भी कुछ ऐसे सन्दर्भ दृष्टिगोचर होते हैं

---

१. ताण्ड्यमहाब्राह्मण (चौखम्बा, बनारस, १९३५), ४.३.५।
२. स्वर्गस्थितिसाधनं साम अस्मिन् लोके प्रतिष्ठाहेतुः ऋगिति। सायणभाष्य, वही, ४.३.६।
३. वही, ८.१.६।
४. वही, ८.१.८-९।
५. वही, ८.२.१।
६. वही, ९.२.१५।
७. द्र०, वही, ९.५; ९.६; १०.४; ११.५ इत्यादि।
८. सामाऽऽर्येयवत् स्वर्गाय युज्यते स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते तुष्टुवानः। वही, ११.५.२२।
९. द्र०, वही, ११.९.६; १२.११.११; १४.१०.५।
१०. वही, ११.१०.१०; १३.१२.७; १५.५.१३।
११. वही, १९.४.१०।
१२. सर्वानिमान् लोकान् कामान् दुग्धे य एवं विद्वानेतैस्सामभिः स्तुते। वही, २१.२.६।

जिनसे अप्रत्यक्ष रूप में वेद-प्रामाण्य का संकेत मात्र मिलता है। उदाहरणार्थ, आर्षेयब्राह्मण में कहा गया है—सत्यसाम स्वर्गलोक का द्वार उद्घाटित करता है, देवों का वास-स्थान है और वेदों का सम्पोषक है।[1] इसी प्रकार अन्य साम का नाम ग्रहण करके उसका महत्त्व दिखलाया गया है। देवताध्याय ब्राह्मण में 'ऋक्' को माता एवं 'साम' को पिता कहा गया है।[2] षड्विंश ब्राह्मण में बतलाया गया है कि वहाँ किया गया सामगान अत्यधिक पुष्टि को प्राप्त होता है और उसके पश्चात् यजमान भी पुष्टियुक्त हो जाता है।[3] जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में कहा गया है—(क) प्रजापति ने तीन वेदों से इसे जीत लिया,[4] (ख) इसी प्रकार इस वेद से यज्ञ करता है, इस वेद से यज्ञ कराता है।[5] (ग) देवों ने स्वर्गलोक की कामना की, वे प्रजापति के पास गये, प्रजापति ने उनसे कहा कि विना ऋक् के ही साम के द्वारा स्वर्गलोक को जाओ।[6] (घ) प्रजापति ने साम से इसे जीत लिया।[7] (ङ) जो यह पवित्र करता है, वही प्रजापति है, वही साम है।[8] (च) जो साम की श्री को जानता हुआ साम से ऋत्विक् का कार्य (आर्त्विज्यं) करता है वह श्रीमान् हो जाता है। इसी प्रकार जो साम की प्रतिष्ठा आदि को जानकर साम से ऋत्विक् आदि का कार्य करता है वह प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है।[9]

जैमिनीय ब्राह्मण में बतलाया गया है —(i) साम देवों का अन्न है[10], (ii) वसिष्ठ ने इन सामों को देखा, उनसे स्तुति की और तब बहुत सी प्रजा और पशुओं से युक्त हो गया,[11] (iii) सुमित्र ने स्वर्गलोक में आरोहण की कामना की, उसने साम का दर्शन किया और उससे स्तुति की और स्वर्गलोक को प्राप्त हो गया···यह साम स्वर्ग-प्राप्ति का हेतु है।[12] (iv) प्रजापति ने प्रजाओं की

---

१. सत्यसाम स्वर्गस्य वा लोकस्य द्वारविवरणं देवानां वोक: तस्य वा वेदस्याप्यायनम्। आर्षेय ब्राह्मण, १.१.१२; जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण, १.१.३।
२. ऋग्वै माता साम पिता। देवताध्यायब्राह्मण, १.२३।
३. साम भूयांसं पोषं पुष्यति। षड्विंश ब्राह्मण, ३.१.१६; ४.१.१४ इत्यादि।
४. प्रजापतिर्वा इदं त्रयेण वेदेनाजयत्···अन्ये देवा अनेन वेदेन यक्ष्यन्ते। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, १.२.१.१; १.२.१.२।
५. वही, १.२.१.१३।
६. वही, १.४.१.३।
७. वही, १.४.२.७।
८. स योऽयं पवते स एष एव प्रजापति:। तद्वेव साम। वही, १.११:२. ३।
९. वही, १.११.५. २-६।
१०. जैमिनीय ब्राह्मण, १.७१।
११. वही, १.१५०।
१२. वही, १.१६३, १६४।

सृष्टि की। उनमें इन ऋचाओं से ही प्राणों को धारण कराया...ये ऋचाएँ आयुर्वर्द्धक हैं। इनसे स्तुति करता हुआ समस्त आयु को प्राप्त होता है।[1] (v) जिस कामना से इस साम के द्वारा स्तुति करता है वही कामना इससे पूर्ण हो जाती है।[2] जो कोई श्री की=लक्ष्मी या राज्य की कामना करता है वह उसको प्राप्त कर लेता है। (vi) सौमेध साम के विषय में कहा गया है कि असुरों को मारकर देव अपने आप को अपवित्र, अमेध्य मानने लगे। उन्होंने कामना की कि हम पवित्र और मेध्य हो जायें। उन्होंने इस साम का दर्शन किया। इससे स्तुति की। तब पवित्र और मेध्य हो गए।[3] (vii) ये साम पाप को नष्ट करने वाले हैं[4], कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं।[5] (viii) साम से स्तुति करके स्वर्गलोक को प्राप्त होते हैं।[6] (ix) सामविशेष राज्य-प्राप्ति का साधन है।[7] (x) ये साम वीरोत्पत्ति के निमित्त हैं।[8] (xi) जो इन ऋचाओं से स्तुति करता है वह शत्रु और पापयुक्त राक्षस को नष्ट कर देता है।[9] (xii) साम पितृदेवताक भी होते हैं; अर्थात् उनके प्रतिपाद्य विषय पितृगण होते हैं।[10]

गोपथ ब्राह्मण में वेदों की उत्पत्ति तथा प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में बहुत से तथ्य उपलब्ध होते हैं। वहाँ यह भी दिखलाया गया है कि चारों वेदों के बहुत से मन्त्र, कल्प तथा ब्राह्मण समान हैं; किन्तु सभी वेद अपने-अपने कर्म में व्यवस्थित हैं।[11] वह व्यवस्था किस प्रकार है? यह बतलाते हुए कहा गया है कि ऋग्वेदादि के स्थान पृथक् हैं, देवता पृथक् हैं, इनके आध्यात्मिक अर्थ भी पृथक्-पृथक् हैं। इनमें विशेष-विशेष छन्दों का महत्त्व है। इसी प्रकार इनके प्रभाव भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ; ऋचाओं को जाननेवाला पृथिवी को जान लेता है, यजुः को जाननेवाला महान् अन्तरिक्ष को, साम को जाननेवाला द्युलोक को और जो अथर्ववेद का ज्ञाता है, वह समस्त लोकों को जान लेता है।[12]

---

१. वही, १.१६६।
२. वही, १.२१४, २२१, २२५; ३.७६, ८२,६५, १२८, १८३, १९० इत्यादि।
३. वही, १.२२७।
४. अपहतपाप्मानि सामानि। वही, २.३३१।
५. सामानि कामानाम् पूर्णानि। वही, २.३३१।
६. वही, २.४१८; ३.७७, १९५, २१६, २४९, २५५, २७७ इत्यादि।
७. वही, ३.१५।
८. वही, ३.१९, २६४ इत्यादि।
९. वही, ३.१७०।
१०. वही, ३.३३।
११. एवं व्यवस्थिता वेदाः सर्व एव स्वकर्मसु। गोपथ ब्राह्मण, पूर्व भाग, ५.२५.४।
१२. ऋचो विद्वान् पृथिवीं वेद सम्प्रति यजूंषि विद्वान् बृहदन्तरिक्षम्। दिवं वेद सामगो यो विपश्चित् सर्वान् लोकान् यद्भृग्वङ्गिरोवित्। वही, ५.२५.१३।

इस सन्दर्भ के उपसंहार रूप में कहा गया है—इस त्रयीविद्या से त्रिविष्टप, त्रिदिव, तथा उत्तम स्वर्ग (नाक) को प्राप्त होता है। इनसे परे महान् ब्रह्मलोक है जहाँ अथर्ववेदी जनों की गति है।[1]

इस प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भिन्न-भिन्न वेदों के ज्ञान से होने वाले फल का वर्णन किया गया है जिससे विदित होता है कि मनुष्यों को वेदों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

उपर्युक्त सन्दर्भों में ऋक्, यजु:, या सामादि को किन्हीं प्रयोजनों की सिद्धि का निमित्त दिखलाया गया है। ये किसी विशेष अर्थ को प्रकट करते हुए ही भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की सिद्धि में हेतु हो सकते हैं। अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि ऋक् और सामादि विशेष कर्त्तव्यों के बोधक हैं। यह तभी सम्भव है जब उन्हें प्रमाण माना जाये। फलतः उपर्युक्त सन्दर्भों से अप्रत्यक्ष रूप में वेद की प्रामाणिकता सूचित होती है। स्पष्ट रूप से वेद-प्रामाण्य का विचार तो परवर्ती दर्शन ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है।

४—उपनिषद् तथा वेद-प्रामाण्य

उपनिषद् भी ब्राह्मणों के समान मन्त्रोक्त अर्थ का विशदीकरण करते हैं। ये मन्त्रों के व्याख्यान करने वाले हैं, मन्त्रों द्वारा प्रतिपादित अर्थ को विस्तरशः प्रस्तुत करने वाले हैं। शङ्कराचार्य जैसे उपनिषद् के भाष्यकारों ने भी यह स्पष्टतः स्वीकार किया है। प्रश्नोपनिषद् के भाष्य के आरम्भ में वे कहते हैं—मन्त्रोक्त अर्थ का विस्तारपूर्वक पुनः कथन करने वाले इस ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है।[2] विविध आख्यायिकाओं के द्वारा आत्मविद्या का प्रतिपादन करते हुए ये उपनिषद् स्थान-स्थान पर मन्त्रों को प्रमाण रूप में उद्धृत भी करते हैं। उदाहरणार्थ, प्राण ही वैश्वानर है, वही विश्वरूप होता है, वही अग्नि है इत्यादि बतलाकर प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि यही ऋचा द्वारा भी उक्त है[3] और इसी अभिप्राय को प्रकट करने वाला एक मन्त्र उद्धृत किया गया है।[4] अन्य प्रसङ्गों में भी स्वोक्त अर्थ के समर्थन के लिये

---

१. त्रिविष्टपन्त्रिदिवन्नाकमुत्तमं तमेतया त्रय्या विद्ययेति। अतः उत्तरे ब्रह्मलोका महान्तोऽथर्वणामङ्गिरसाञ्च सा गतिरथ···। वही, ५.२५.१५।

२. मन्त्रोक्तार्थस्य विस्तरानुवादीदं ब्राह्मणमारभ्यते। श्रीशङ्कराचार्यग्रन्थावली (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४), प्रथम भाग, पृ० ३९३।

३. तदेतदृचाभ्युक्तम्। प्रश्नोपनिषद्, १.७; वही, पृ० ३९५।

४. वही, १.८, पृ० ३९५। इस मन्त्र का संदर्भ ज्ञात नहीं हो सका है।

'तदेतौ श्लोकौ भवतः'[1], 'तदेष श्लोकः'[2] इत्यादि कहा गया है। ऐसे प्रसङ्गों में भी ऋषि ने श्लोक शब्द से मन्त्र को ही अभिहित किया है, यह आचार्य शङ्कर बतलाते हैं।[3]

मन्त्रों को प्रमाण रूप में उद्धृत करने से यह स्पष्ट ही है कि उपनिषद् के ऋषि मन्त्रों को प्रमाण मानते हैं। इससे यह भी प्रकट होता है कि उनकी दृष्टि में मन्त्र अर्थ के प्रकाशक हैं। यही नहीं प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ऋग्, यजुः तथा सामवेद के द्वारा मेधावी जन तीनों लोकों को जान लेते हैं।[4] इसके भाष्य में शङ्कराचार्य लिखते हैं—ऋचाओं के द्वारा इस लोक को जो मर्त्यलोक कहलाता है, यजुर्मन्त्रों द्वारा अन्तरिक्ष लोक को जो सोम द्वारा अधिष्ठित है और साममन्त्रों द्वारा तृतीय लोक अर्थात् ब्रह्मलोक को कवि (=मेधावी) जन विद्वज्जन ही जानते हैं, अविद्वान् नहीं।[5]

शङ्कराचार्य की इस व्याख्या से विदित होता है कि ऋग्, यजुः और साम के मन्त्रों द्वारा तीनों लोकों के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि बोधक होने से वेद प्रमाण हैं।

वस्तुतः उपनिषदों में स्पष्टतः कहीं वेद-प्रामाण्य का विवेचन नहीं किया गया है। अन्य सन्दर्भों से भी यही ज्ञात होता है कि वेद विविध अर्थों के बोधक हैं। केनोपनिषद् में ब्रह्मविद्या का उपदेश करके वेद तथा वेद के अङ्गों को ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा कहा गया है।[6] इसके भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं—यहाँ प्रतिष्ठा का अर्थ है पाद=चरण। जिस प्रकार पदों से पुरुष स्थित होता है उसी प्रकार उन (वेद तथा वेदाङ्ग) के होने पर ही ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित होती है। वेद चार हैं और शिक्षा आदि उनके अङ्ग हैं। कर्म और ज्ञान के प्रकाशक होने से वेदों को (ब्रह्मविद्या की) प्रतिष्ठा कहा गया है और वेदों की रक्षा का निमित्त होने के कारण वेदाङ्गों को।[7] इस भाष्य में भी वेद की अर्थबोधकता का ही प्रतिपादन किया गया है। कठोपनिषद् में समस्त वेदों को 'ओम्' शब्द तथा इसके वाच्य ब्रह्म का प्रतिपादक कहा गया है।[8]

---

१. वही, ५.५, पृ० ४१३।
२. वही, ६.५, पृ० ४२२।
३. तदेतौ अस्मिन् यथोक्तार्थप्रकाशकौ श्लोकौ-मन्त्रौ भवतः। शाङ्करभाष्य, वही, ५.५, पृ० ५१४।
४. ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। वही, ५.७, पृ० ४१५।
५. वही, ५.७, पृ० ४१५।
६. प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि। केनोपनिषद्, ४.८।
७. शाङ्करभाष्य, वही, ४.८।
८. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। कठ०, १.२.१५।

तैत्तिरीयोपनिषत् में प्राणमय पुरुष का अन्तरात्मा मनोमय पुरुष को कहा गया है। मन वह अन्तःकरण है जो संकल्प आदि करता है उसे पुरुष के रूप में मानकर मनोमय पुरुष कह दिया गया है। मन में आभ्यन्तर ज्ञान या इन्द्रियभिन्न ज्ञान का प्रथम सोपान होता है और बुद्धि या विज्ञानमय पुरुष (कोश) में ज्ञान परिनिष्ठित हो जाता है। इस मनोमय कोश का पुरुष के रूप में वर्णन करते हुए यजुः को इसका सिर, ऋक् को दक्षिण पक्ष, साम को उत्तर पक्ष तथा अथर्व को पुच्छ तथा आधार कहा गया है।[1] इस रूपक का अभिप्राय कुछ गूढ़ प्रतीत होता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस सन्दर्भ में चारों वेदों को पूर्ण ज्ञान का आधार माना गया है।

छान्दोग्योपनिषद् के आरम्भ में कहा गया है 'ॐ' यह अक्षर है, परमात्मा का नाम है, उद्गीथ है, इसकी उपासना करे। उद्गीथ (ओंकार) की उपासना क्यों करे? इसका समर्थन करते हुए अग्रिम वाक्य में बतलाया गया है--पुरुष का सार वाक् (वाणी) है, वाणी का सार ऋक् है, ऋक् का सार साम है और साम का सार उद्गीथ या ओंकार है।[2] यहाँ ऋग्वेद को वाणी का सार कहा गया है, अन्य स्थल पर, इसी उपनिषद् में, बतलाया गया है कि वाक् ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद को प्रकट करती है (विज्ञापयति)[3]। इसी उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि विज्ञान से ऋग्वेद को जानता है; यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद को भी जानता है।[4] इन सन्दर्भों से केवल यही विदित होता है कि चारों वेदों को वाणी द्वारा प्रकट किया जाता है और विज्ञान द्वारा जाना जाता है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वेद सार्थक हैं। किन्तु वे कैसे प्रमाण हैं? यह प्रश्न बना ही रहता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में वाणी तथा आत्मा (मन) के द्वारा ही ऋग्, यजुः, साम तथा छन्दस् की रचना बतलाई गई है।[5] और, वहाँ वाक् को ही ऋग्वेद बतलाया गया है।[6] एक अन्य स्थल पर सम्राट् जनक प्रश्न करते हैं—हे याज्ञवल्क्य,

---

१. अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।...तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः।...अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तैत्तिरीय०, २.३।

२. पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग् रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः। छान्दो०, १.१.२।

३. वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्। वही, ७.२.१।

४. वही, ७.७.१।

५. बृहद्०, १.२.५।

६. वागेवर्ग्वेदः। वही, १.५.५।

प्रज्ञता किसे कहते हैं ? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—सम्राट् वाक् को ही प्रज्ञता कहते हैं; क्योंकि वाक् के द्वारा ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान होता है।[1] इन स्थलों पर भी छान्दोग्योपनिषद् के उपर्युक्त सन्दर्भों के साथ समानता दिखलाई देती है । इसी उपनिषद् में एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि उस ब्रह्म को ब्राह्मण लोग वेदानुवचन के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं ।[2] यहाँ 'वेदानुवचन' शब्द का क्या अर्थ है ? इस विषय में शङ्कराचार्य ने कई विकल्प प्रस्तुत किये हैं । कोई भी अर्थ लिया जाये, यह निश्चित है कि यहाँ वेद को ब्रह्मज्ञान का साधक बतलाया गया है अतः वेद ब्रह्म का प्रतिपादक है । बृहदारण्यक के अन्य कुछ प्रसङ्गों में भी वेद के अनुवचन[3] आदि की चर्चा की गई है, वेद के प्रादुर्भाव के विषय में भी कहा गया है ।[4] किन्तु कहीं वेद-प्रामाण्य पर विचार किया गया हो, ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'[5] इत्यादि वचन में शङ्कराचार्य के अनुसार यह बतलाया गया है–वेदत्रय से जानने योग्य आकाशकल्प ब्रह्म में समस्त देव स्थित हैं । जो उस परमात्मा को नहीं जानता वह वेद मन्त्रों से क्या करेगा ? जो उसे जानते हैं वे कृतार्थ होते हैं[6] इस वचन से स्पष्ट है कि उपनिषद् की दृष्टि में वेदों द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है ।

इसी प्रकार आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि वह आत्मस्वरूप वेद तथा गुह्य उपनिषदों में छिपा हुआ (गूढ़) है उस वेद-प्रतिपादित आत्मस्वरूप को ब्रह्मा जानता है ।[7] इसकी व्याख्या करते हुए शङ्कराचार्य कहते हैं—वह आत्मस्वरूप वेदों की गुह्य उपनिषदों में छिपा है (संवृतम्) ब्रह्मा =हिरण्यगर्भ ऐसे उस आत्मस्वरूप को जानते हैं वेद ही जिसमें प्रमाण है ।[8]

एक अन्य स्थल पर कहा गया है–मन्त्र (छन्दांसि), देवयज्ञ आदि (यज्ञ), ज्योतिष्टोम आदि (क्रतु), चान्द्रायण आदि (व्रत) और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान जिन विषयों को वेद बतलाते हैं उन सब की मायावान् ही रचना करता है[9] ।

---

१. वही, ४.१.२ ।
२. वही, ४.४.२२ ।
३. वही, ६.४.१४ तथा आगे ।
४. वही, १.२.५; ४.५.११ ।
५. श्वेता० ४.८ । 'ऋचो अक्षरे' इत्यादि ऋग्वेद का मन्त्र १.१६४.३९ है, इसकी विशदव्याख्या मन्त्र एवं वेद-प्रामाण्य अनुच्छेद में की जा चुकी है ।
६. श्वेता०, शाङ्करभाष्य ४.८ ।
७. वही, ५.६ ।
८. ब्रह्मयोनिं वेदप्रमाणकमित्यर्थः ।' वही, शाङ्करभाष्य, ५.६ ।
९. वही, ४.९ ।

इस के भाष्य में शङ्कराचार्य लिखते हैं यज्ञ आदि साध्य कर्म में और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान प्रपञ्च के विषय में वेद ही प्रमाण है।[1] इससे विदित होता है कि समस्त जगत् तथा जगत् के व्यवहारों का भी वेद द्वारा बोध होता है। इस प्रकार वेद ब्रह्म तथा जगत् सभी का बोधक है।

इन प्रसिद्ध उपनिषदों के अतिरिक्त जो अन्य उपनिषदें हैं, उनमें यह कई बार कहा गया है कि अपरा तथा परा दो विद्याएँ हैं, वहाँ अष्टादश विद्याओं में वेदों की भी गणना की गई है[2] और यह भी बतलाया गया है कि वेद तथा वेदान्तों का परब्रह्म में ही तात्पर्य है।[3]

इन सभी वचनों से यही जाना जाता है कि वेद अवश्य ही पुरुषार्थ के बोधक हैं और मीमांसा के अनुसार जो अर्थ का बोधक है वह प्रमाण होता है, यदि उसके विषय में बाधज्ञान या कारणदोष-ज्ञान नहीं होता। परिणाम-स्वरूप वेद प्रमाण हैं, यह संकेत उपलब्ध होता है। किन्तु मीमांसा के इस मन्तव्य का कब विकास हुआ है, यह निश्चित नहीं। अतः यह कहना कठिन है कि उपनिषद् के ऋषि किस रूप में तथा किस आधार पर वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करते थे।

---

१. यज्ञादिसाध्ये कर्मणि प्रपञ्चे भूतादौ च वेदा एव मानम्। वही, ४.६।

२. उपनिषत्संग्रह (मोतीलाल बनारसीदास, १९७०), रुद्रहृदयोपनिषद् २८-३०।

३. सर्ववेदवेदान्तानां नारायणपरब्रह्मण्येव तात्पर्यम्। उपनिषत्संग्रह, नारायणपूर्वतापनीयोपनिषद्, पञ्चमखण्ड, पृ० ७९।

परिच्छेद—३

वेदाङ्ग तथा वेद-प्रामाण्य

१—वेदाङ्गों का प्रयोजन

वेदों के अर्थ अत्यधिक गहन हैं। उनका बोध कराने के लिये भारतीय मनीषियों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनमें से कुछ ग्रन्थ वेद के उच्चारण आदि का बोध कराते हैं। कुछ शब्दों की बनावट तथा प्रक्रिया का बोध कराते हैं। अन्य शब्दों की निरुक्तियाँ, मन्त्रों के छन्द तथा विविध विधानों के अनुष्ठान का समय आदि निर्धारित करते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थ वेदाङ्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये ग्रन्थ वेदों के अवयव (अङ्ग) इसी लिये कहलाते हैं कि वेदों के अध्ययन में इनका अत्यधिक उपयोग है।

वेदाङ्गों का क्रम क्या है? इस विषय में विभिन्न लेखकों का मतैक्य नहीं मिलता। महाभारत में वेदाङ्गों का क्रम यह है—छन्दः, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष-शास्त्र तथा निरुक्त।[१] पाणिनीय-शिक्षा में छन्दः, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा और व्याकरण इत्यादि क्रम से इन अङ्गों का उल्लेख किया गया है और वहाँ एक रूपक द्वारा वेद को अङ्गी मानकर छन्दः को उसके चरण, कल्प को हाथ, ज्योतिष को चक्षु, निरुक्त को श्रोत्र, शिक्षा को घ्राण तथा व्याकरण को मुख कहा गया है।[२] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में क्रम है—छन्दः, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त और शिक्षा (शीक्षा)[३]। मुण्डकोपनिषद् में इन वेदाङ्गों का क्रम इस प्रकार है:—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः और ज्योतिष।[४] यहाँ इसी क्रम से इनके विषय में विचार किया जा रहा है।

इन वेदाङ्गों का क्या प्रयोजन है? संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि वेदों के सम्यक् उच्चारण तथा वेदार्थ के सम्यक् बोध के लिये इनका अध्ययन

---

१. महा० (गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१५ वि०), आश्वमेधिक पर्व, अ० ९२, पृ० ३८७।

२. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तम् श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। पाणिनीयशिक्षा, ४१, ४२।

३. छन्दः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शीक्षाच्छन्दोविचितिरिति।
आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २.४.११।

४. शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। मुण्डको०, १.१.४-५।

अनिवार्य माना गया था । सायण बतलाते हैं कि अतिगम्भीर वेद के अर्थ के बोध के लिये शिक्षा आदि, छः अङ्ग प्रवृत्त हुए हैं । वे यह भी कहते हैं कि ये छः अङ्ग अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं ।[1] उनके अनुसार कर्मकाण्ड ही अपरा विद्या है । सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर मैक्डानल जैसे आधुनिक विद्वानों ने यह कह कह दिया—'वस्तुतः वेदाङ्ग की उत्पत्ति धार्मिक आवश्यकताओं के कारण ही हुई' ।[2] इस प्रकार के मत इसी आधार पर प्रकल्पित किये गये हैं कि ऋग्वेदादि चारों अपरा विद्या के अन्तर्गत ही आते हैं, उनमें ब्रह्मज्ञान की हेतु पराविद्या नहीं है; किन्तु अनेक प्रमाणों और युक्तियों से यह स्वीकार करना अधिक उचित प्रतीत होता है कि वेदों में अपरा और परा दोनों विद्याएँ हैं । महाभारत के एक सन्दर्भ में भी यह दिखलाया गया है कि छन्दः इत्यादि वेदाङ्गों का प्रणयन अग्नि-होत्र के लिये किया गया था ।[3] किन्तु यह कथन विचारणीय ही है । ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता कि व्याकरण तथा निरुक्त जैसे शब्दों और अर्थों का विवेचन करने वाले शास्त्र भी केवल अग्निहोत्र के लिये ही रचे गए होंगे ।

तथ्य यही प्रतीत होता है कि वेदाङ्ग तो वेद के अङ्ग हैं, वेदों के ज्ञान में सहायक हैं । अतः वेदों में जो भी कुछ कहा गया है, जो भी उनका प्रतिपाद्य-विषय है उस सभी में वेदाङ्ग भी सहायक हैं । हाँ, वेदाङ्गों को वेदाध्ययन का साधन ही माना गया है । ये कभी भी साध्य नहीं हैं ।

ये सभी वेदाङ्ग वेद के विविध पक्षों को लेकर प्रवृत्त हुए हैं, इनका विश्लेषण करते हैं । अतः स्पष्ट है कि इनके कर्त्ता वेद को प्रमाण मानते थे और, वेद के अर्थ-ज्ञान को लक्ष्य समझते थे । इसके अतिरिक्त इन वेदाङ्गों के ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी अन्य संकेत भी मिलते हैं; जिनका अग्रिम अनुच्छेदों में विवेचन किया जा रहा है ।

२–शिक्षा

शिक्षा को वेदाङ्गों में प्रथम स्थान पर रक्खा गया है । वेद के अध्ययन में ही नहीं, किसी भी भाषा के पठन-पाठन में शिक्षा की महती उपयोगिता है । यह वह विद्या है जिसके द्वारा वर्णों की उच्चारण-विधि का बोध होता है । यद्यपि ध्वनि-विज्ञान भाषा-विज्ञान का कार्य है, तथापि सामान्य रूप से वर्णों का शुद्ध

१. ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० ११६ ।
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग, वैदिक युग, १९६२), पृ० २४५ ।
३. छन्दः शिक्षा च कल्पश्च तथा व्याकरणानि च ।
शास्त्रं ज्योतिर्निरुक्तं चाप्यग्निहोत्रकृते कृतम् ॥ महा०, आश्वमेधिक पर्व, अ० ९२, पृ० ३८७ ।

उच्चारण तो भाषा के प्रत्येक विद्यार्थी को सीखना होता है। वेद में तो शुद्ध उच्चारण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। उच्चारण की शुद्धता वेद के सुचारु पाठ के लिये ही अनिवार्य नहीं है, अपितु अर्थबोध में भी सहायक है। इसी हेतु जहाँ वेद के अर्थबोध की सहायता के लिये ऋषियों ने अनेकानेक प्रयत्न किये, वहाँ उच्चारण की शुद्धता के लिये भी। फलतः उच्चारण का सम्यक् बोध कराने के लिये शिक्षा को वेदाङ्गों में स्थान दिया गया है।

वेद का वह अङ्ग, जिसमें वर्ण, स्वर, मात्रा आदि के उच्चारण का प्रकार बतलाया जाता है—शिक्षा है। तैत्तिरीय-उपनिषद् में बतलाया गया है—शिक्षा की व्याख्या करेंगे। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान—यह शिक्षाध्याय कहा गया है।[1] यहाँ वर्ण का अर्थ है अकार आदि, स्वर उदात्त आदि हैं, मात्रा ह्रस्व-दीर्घ आदि हैं, बल का अर्थ है स्थान, प्रयत्न; साम का अर्थ है समता; अर्थात् उच्चारण में अति द्रुतता आदि दोषों का अभाव, सन्तान कहते हैं—संहिता को, जिसमें सन्धियाँ तथा कहीं प्रकृतिभाव भी होता है।[2] शिक्षा-शास्त्र में विविध ध्वनि-नियमों का विश्लेषण किया गया है। महाभारत में शिक्षा-ज्ञान के कतिपय यज्ञ-सम्बन्धी प्रयोजन भी बतलाये गये हैं।[3]

आज शिक्षा के नाम से अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं; जैसे भारद्वाज, व्यास, तथा वसिष्ठ के नाम से प्रचलित शिक्षाएँ और पाणिनीय-शिक्षा, याज्ञवल्क्य-शिक्षा आदि। सम्भवतः इन ग्रन्थों की रचना समय-समय पर की जाती रही होगी। इन शिक्षाओं में आपिशलि की शिक्षा (आपिशल-शिक्षा) को प्राचीन कहा जा सकता है।[4] पाणिनीय-शिक्षा आदि पर इसका प्रभाव दिखलाई देता है। आज पाणिनीय-शिक्षा के नाम से जो श्लोकात्मक शिक्षा उपलब्ध होती है उसे कतिपय विद्वान् पाणिनि की रचना नहीं मानते;[5] क्योंकि लेखक ने स्वयं ही कहा है कि मैं पाणिनि के मत के अनुसार शिक्षा का प्रवचन करता हूँ।[6] उनका यह भी कहना है कि पाणिनीय-शिक्षा सूत्र-रूप में थी, जिसका हस्तलेख स्वामी दयानन्द ने सं० १९३६ में प्रयाग से प्राप्त किया था। अन्य विद्वान् उनके कथन से सहमत नहीं हैं, जिनके मत का निराकरण करके उन्होंने यह स्थापना की है

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, १.२.१.।
२. मि०, सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० ११७-११८।
३. यूपवेद्यध्वरार्थं तु प्रोक्षणश्रपणाय तु।
   यज्ञदैवतयोगार्थं शिक्षाज्ञानं प्रकल्पितम्॥ महा०, आश्वमेधिक पर्व, अ० ९२, पृ० ३८७।
४. द्र०, शिक्षासूत्राणि (भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, २०२४ वि०), भूमिका, पृ० २-३।
५. वही, भूमिका, पृ० ५।
६. अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा। पाणिनीयशिक्षा, १।

और सूत्ररूप पाणिनीय-शिक्षा को प्रकाशित भी किया है। उनका यह भी कहना है कि इसके आधार पर चन्द्रगोमि ने शिक्षा-सूत्र लिखे और तदनन्तर श्लोकात्मक पाणिनीय-शिक्षा की रचना हुई।

इन शिक्षा-ग्रन्थों में वर्णों के उच्चारण का विश्लेषण किया गया है। वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी चर्चा बहुत कम देखी जा सकती है। श्लोकात्मक पाणिनीय-शिक्षा में एक स्थल पर लोक के साथ वेद का भी उल्लेख किया गया है।[1]

वहाँ प्रातः सवन आदि तीनों सवनों का उल्लेख है, निषाद, गान्धार आदि स्वरों का भी, और स्वर-सहित मन्त्र पाठ की प्रेरणा देते हुए यह भी कहा गया है कि ऋग्, यजुः और साम से पवित्र हुआ व्यक्ति ब्रह्मलोक में सम्मानित होता है।[2] याज्ञवल्क्य-शिक्षा में यजुर्वेद के उच्चारण तथा स्वरसंकेतन आदि के विषय में विस्तार से लिखा गया है।[3]

कुछ विद्वानों ने शिक्षा के प्रसङ्ग में वेद के प्रातिशाख्यों का भी उल्लेख किया है।[4] वेद की प्रत्येक शाखा से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ प्रातिशाख्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें वैदिक ध्वनि-नियमों का प्रतिपादन किया गया है, साथ ही सन्धि-नियम आदि का भी। प्रातिशाख्यों में उच्चारण, स्थान आदि का निरूपण करते हुए यह भी कहा गया है कि शिक्षा में विहित इन नियमों को यहाँ बतलाया जा रहा है।[5] वेद-प्रामाण्य के विषय में प्रातिशाख्यों में भी चर्चा नहीं की गई। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में इस प्रकार का उल्लेख अवश्य मिलता है कि वेद के अध्ययन से धर्म होता है, वेद के अध्यापन तथा श्रवण से भी धर्म होता है।[6] इससे इतना अवश्य विदित होता है कि ये प्रातिशाख्य वेदों की महत्ता मानते थे और उन्हें प्रमाणरूप में स्वीकार करते थे। इस प्रकार शिक्षा-ग्रन्थों में प्रत्यक्ष रूप से वेद-प्रामाण्य का विचार नहीं मिलता।

३—कल्प और वेद-प्रामाण्य

वेद के छः अङ्गों में कल्प का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—याज्ञिक लोग वेद के विना भी कल्पों के द्वारा कर्मों का अनुष्ठान कर लेते हैं। किन्तु कोई भी कल्पों के विना केवल मन्त्र ब्राह्मण मात्र

१. यथोक्तं लोकवेदयोः। पाणिनीयशिक्षा, १।
२. वही, ७-१२, ५५।
३. द्र०, याज्ञवल्क्यशिक्षा।
४. द्र०, मैक्डानल, संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २४६-२४७।
५. द्र०, वाजसनेयिप्रातिशाख्य, १.२९।
६. वेदस्याध्ययनाद्धर्मः। सम्प्रदानात्तथाश्रुते। वही, ८.३७।

से भली-भाँति कर्म नहीं कर सकता।[1] यह माना जाता है कि मन्त्र एवं ब्राह्मणों में जिन कर्मों का विधान किया गया है, कालान्तर में उनका समझना कठिन हो गया; इसीलिये ऋषियों ने अनुग्रह-बुद्धि से कल्पसूत्रों की रचना की। इन ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से यह दिखलाया गया है कि अर्थवादों से युक्त विधिभागों में कितना अंश विधि का है, कितना अर्थवाद है और विधि का तात्पर्य किस अंश में है।

सभी वेदों की विविध शाखाओं का आश्रय लेकर कल्प ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है। वेद-विहित कर्मों का क्रमशः निरूपण करने वाले कल्प हैं।[2] कल्प की व्युत्पत्ति है—कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र[3]—जिसमें यज्ञ के प्रयोगों का समर्थन किया जाता है। यहाँ शास्त्रीय विषय को व्यवस्थित रूप में संक्षिप्त शैली में प्रस्तुत किया गया है। इन ग्रन्थों की रचना सूत्र-शैली में की गई है। सूत्र का अर्थ है—ऐसा संक्षिप्त वाक्य जिसमें विशाल अर्थ निहित होता है। जैसा कि विन्टरनिट्स ने कहा है—इस प्रकार की रचनाओं में लेखक का उद्देश्य यथासम्भव थोड़े से शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ को प्रकट करना होता है।[4] इस सूत्रात्मक शैली की कुछ कटु आलोचना भी की जाती है, फिर भी इसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। ये कल्प ग्रन्थ कई प्रकार के हैं; जैसे (१) श्रौतसूत्र, (२) गृह्यसूत्र, (३) धर्मसूत्र और (४) शुल्वसूत्र। सभी प्रकार के सूत्रग्रन्थ वेद की भिन्न-भिन्न शाखाओं से सम्बन्ध रखते हैं। इन सभी का पृथक्-पृथक् वर्णन करना उपयुक्त होगा।

(क) **श्रौतसूत्र**—सभी श्रौतसूत्रों में यज्ञ के विधि-विधानों का विवेचन किया गया है। उनके रचनाकाल के विषय में विद्वानों का विवाद है। वे भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा प्रणीत हैं। अतः उनकी सूत्र-शैली में भी भेद दिखलाई देता है।

संक्षेप में भिन्न-भिन्न वेदों के श्रौतसूत्र इस प्रकार हैं:—

ऋग्वेद १. आश्वलायन श्रौतसूत्र
२. शांखायन श्रौतसूत्र

---

१. वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः।
न तु कल्पैर्विना केचिन्मन्त्रब्राह्मणमात्रकात्॥
२. कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्॥ ऋग्वेदप्रातिशाख्य, वर्गद्वयवृत्ति, पृ० १३।
३. सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० ११६॥
४. It is the task of the author of such a work to say as much as possible in as few words as possible. History of Indian literature, p. 235.

यजुर्वेद (शुक्ल)	१. कात्यायन श्रौतसूत्र
कृष्ण (तैत्तिरीय शाखा)	१. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
	२. बौधायन श्रौतसूत्र
	३. सत्याषाढ (हिरण्यकेशिन्) श्रौतसूत्र
	४. भारद्वाज श्रौतसूत्र
	५. वैखानस श्रौतसूत्र
कृष्ण (मैत्रायणीय शाखा)	१. मानव श्रौतसूत्र
	२. वाराह श्रौतसूत्र
सामवेद	
(कौथुमशाखा)	१. लाट्यायन श्रौतसूत्र
(राणायणीय शाखा)	१. द्राह्यायण श्रौतसूत्र
	२. मसक अथवा आर्षेय श्रौतसूत्र
अथर्ववेद	
	१. वैतान श्रौतसूत्र
	२. कौशिक श्रौतसूत्र

इन श्रौतसूत्रों के अतिरिक्त अन्य श्रौतसूत्र भी उपलब्ध होते हैं। किन्हीं के सन्दर्भ मात्र ही मिलते हैं और किन्हीं सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में विवाद भी हैं। उन सबका विवेचन करना यहाँ वाञ्छनीय नहीं है। यहाँ तो श्रौतसूत्रों के आधार पर वेद-प्रामाण्य का विवेचन करना ही अभीष्ट है।

श्रौतसूत्रों में मन्त्रों की प्रतीक रखते हुए विविध विधियों का निरूपण किया गया है। इससे यह स्पष्ट ही है कि श्रौतसूत्रकारों की दृष्टि में मन्त्र प्रमाण हैं; किन्तु कर्मविशेष में विनियोग के लिये ही मन्त्र प्रमाण हों, ऐसी बात नहीं, अपितु इन आचार्यों की दृष्टि में वेदों का अर्थज्ञान करना भी यज्ञों के लिये आवश्यक है। वैतान श्रौतसूत्र के आरम्भ में कहा गया है— ब्रह्म-वेद को जानने वाला (ब्रह्मवेदवित्) ब्रह्मा विधि के अनुसार वाणी में संयत होकर होमकर्म में दक्षिण की ओर विधिवत् बैठता है।[1] यहाँ ब्रह्मवेदवित् कहने से यह प्रकट होता है कि ब्रह्मा केवल अथर्ववेद का विनियोग ही नहीं जानता, अपितु उसके विषय में भली-भाँति ज्ञान रखता है। इसी प्रकार यहाँ बतलाया गया है कि चारों ऋत्विज (होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा) क्रमशः ऋग्, यजुः, साम और

---

१. वैतानश्रौतसूत्र, १.१.१।

अथर्ववेद के ज्ञाता होते हैं[1] और यह भी बतलाया गया है कि कर्म के देवता, हवि, और दक्षिणा को यजुर्वेद से जानना चाहिए।[2] वैदिक विधानों के आधार पर किन्हीं कर्मों को विशेष फल की कामना का साधन बतलाया गया है; जैसे – स्वर्ग की कामना वाले को अग्निहोत्र करना होता है[3], इत्यादि।

आश्वलायन श्रौतसूत्र में ऋग्वेद के यज्ञ-सम्बन्धी कतिपय प्रयोगों की व्याख्या की गई है। सूत्रकार इसी प्रकार की प्रतिज्ञा[4] करके विविध-विधियों का विश्लेषण करता है। यहाँ विविध अवसरों पर गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय में भिन्न-भिन्न वेदों के द्वारा विधि के अनुष्ठान का विधान किया गया है।[5] इससे यह तो स्पष्ट ही है कि वेद को प्रमाण मानकर यहाँ विविध प्रकार के वैदिक कर्मों का विश्लेषण हुआ है, साथ ही कतिपय कर्मों के अनुष्ठान में देवता के निर्णय पर भी विचार किया गया है।[6] इसके अतिरिक्त वेद के आधार पर कुछ विशेष जनों के कर्त्तव्यों की ओर भी संकेत किया गया है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण के लिये भात का उपहार देवे, यह बतलाते हुए कहा गया है कि तपस्वी ब्राह्मण को देवे।[7] इससे विदित होता है कि तपस्वी ब्राह्मण ही यज्ञ के उपहार का अधिकारी है। इसी प्रकार कहा गया है कि ऋत और सत्य शील वाला सोमसुत् सदा होम करे।[8] इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ऋत मन में होता है, सत्य वाणी में होता है, यही दोनों में भेद है। ऋत में सत्य प्रतिष्ठित होता है। मन से मनन करके ही वाणी से सत्य बोला जाता है। इसी लिये यहाँ ऋत और सत्य को पृथक्-पृथक् कहा गया है।[9] यदि सूत्रकार ने यह सब वेद के आधार पर कहा है तो यह समझा जाता है कि सूत्रकार की दृष्टि में केवल यज्ञों का विधान ही वेदों में नहीं है, अपितु जीवन के विविध सत्याचरणों का भी विधान है और उन सभी के विषय में वेद प्रमाण है।

वेद की प्रामाणिकता को प्रकट करते हुए कात्यायन श्रौतसूत्र में कहा गया है—वेदोक्त सभी कर्म फलजनक होते हैं।[10] इसी सन्दर्भ में आगे दिखलाया गया

---

१. वही, ३.१.२।
२. देवताहविर्दक्षिणा यजुर्वेदात्। वही, १.१.८।
३. अग्निहोत्रं स्वर्गकामस्य। वही, ८.५.८।
४. अथैतस्य समाम्नायस्य विताने योगापत्तिं वक्ष्यामः। आश्वलायन-श्रौतसूत्र, १.१.१।
५. वही, १.१२.३३-३७।
६. वही, २.१३.२१-३३।
७. तपस्विने ब्राह्मणायेतरं कालं भक्तमुपहरेत्। वही, २.१.४।
८. ऋतसत्यशीलः सोमसुत्सदा जुहुयात्। वही, २.१.५।
९. सिद्धान्तिभाष्य, वही, २.१.५।
१०. फलयुक्तानि कर्माणि। कात्यायन-श्रौतसूत्र, १.१.२।

है कि नित्य कर्म यदि पूर्णरूप से न किया जाये तो भी फलोत्पत्ति हो जाती है।[१] किन्तु काम्यकर्म का अङ्गों सहित अनुष्ठान करने से ही फल की प्राप्ति होती है, श्रुति द्वारा यही लक्षित किया गया है।[२] अन्य स्थल पर श्रुति के अनर्थक होने की शङ्का करके उसका समाधान किया गया है।[३] एक स्थल पर बतलाया गया है कि एक प्रायश्चित्त से दोष का नाश हो जाने पर भी दूसरा प्रायश्चित्त व्यर्थ नहीं हो जाता; क्योंकि ऐसा श्रुति द्वारा प्रतिपादित नहीं किया गया।[४] इस प्रकार के सन्दर्भों से यह स्पष्ट ही है कि कात्यायन वेदों की प्रामाणिकता पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं।

किन्हीं स्थलों पर उन्होंने किसी कर्म का विधान दिखलाकर परवर्ती लेखकों के समान श्रुति को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं कि दर्शपूर्णमास से यजन करके अन्य याग करना चाहिये; क्योंकि ऐसा श्रुति से विदित होता है।[५] इसी प्रकार यज्ञ में दीक्षित हुए क्षत्रिय और वैश्य को भी 'दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः' (दीक्षित हुआ यह ब्राह्मण है) यही कहना चाहिये; क्योंकि ऐसा श्रुति का विधान है।[६]

आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र में प्रतिज्ञा की गई है कि अब दर्शपूर्णमास की व्याख्या करेंगे[७] इससे यह तो स्पष्ट ही है कि आपस्तम्ब में वेद-विहित कर्मों के विषय में विवेचन किया गया है; अतः यह वेद को प्रमाण मानकर ही प्रवृत्त हुआ है। स्थल-स्थल पर भिन्न-भिन्न मन्त्रों का कर्म में विनियोग दिखलाया गया है। इससे भी प्रतीत होता है कि सूत्रकार यहाँ वेद के प्रमाण से ही यज्ञ कर्म का विश्लेषण कर रहा है। इसके अतिरिक्त किन्हीं प्रसङ्गों में वेद या उसकी किसी शाखा को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ, यजमान के कर्म की व्याख्या[८] में वाजसनेयक को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार कुछ अन्य स्थलों पर भी।[९] किन्हीं सन्दर्भों में अनुष्ठान का भेद दिखलाते हुए

---

१. वही, १.२.१८।
२. वही, १.२.२१।
३. वही, १.८.५-६।
४. वही, १.८.१२।
५. दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वाऽन्येन यजेतेति श्रुतेः। वही, ७.१.१।
६. वही, ७.४.१२।
७. अथातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्यामः। आपस्तम्बश्रौतसूत्र (धूर्तस्वामिभाष्य, ऑरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५५), १.१.१.१, पृ० १।
८. वही, ४.१.१.५, पृ० १७३।
९. द्र०, वही, ६.७.२७.१, पृ० ३६८; ७.८.२८.१, पृ० ४६५।

विविध ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी प्रमाणरूप में दिखलाया गया है ; जैसे : अग्न्याधेय के प्रसङ्ग में पैङ्गायनि ब्राह्मण[1] तथा बह्वृच ब्राह्मण[2] के मत दिखलाये गये हैं। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी बह्वृच ब्राह्मण आदि का नामोल्लेख किया गया है।[3] किन्हीं प्रसङ्गों में तो स्पष्टतः ही यह कहा गया है कि वचन से[4] अथवा उपदेश से[5] ऐसा माना जाता है।

भारद्वाज श्रौतसूत्र में भी आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के समान ही वेद के आधार पर दर्शपूर्णमास आदि की व्याख्या की गई है। इसके किन्हीं प्रसङ्गों में कहा गया है कि कुछ अनुष्ठान ऋग् मन्त्रों से, यजुर् मन्त्रों से अथवा साम मन्त्रों से किये जाते हैं।[6] एक स्थल पर कहा गया है कि ऋक् और साम सरस्वती के उत्स (आदि स्रोत) हैं।[7] यद्यपि इस कथन का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार की दृष्टि में ऋक् और साम को विद्याओं (सरस्वती) का स्रोत कहा गया है। यदि ऐसा स्वीकार किया जाता है तो वेद विविध ज्ञानों के बोधक हैं, अत प्रमाण हैं ही।

वैखानस श्रौतसूत्र भी यज्ञों की व्याख्या करने के लिये प्रवृत्त हुआ है। प्रत्येक परिच्छेद में किसी विशेष कर्म का विवेचन आरम्भ किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रथम परिच्छेद के आरम्भ में कहा गया है—अथाग्न्याधेयम्[8], फिर भिन्न-भिन्न यजुर् मन्त्रों के द्वारा विविध कर्मों के अनुष्ठान का वर्णन किया गया है।

कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा के वाराह श्रौतसूत्र में बतलाया गया है कि चारों ऋत्विज् किस प्रकार वेदों द्वारा अपने-अपने कर्म का अनुष्ठान करते हैं।[9] यहां विविध वेद-मन्त्रों के द्वारा भिन्न-भिन्न कर्मों के करने का भी वर्णन

---

१. द्र०, वही, ५.४.१४.१८, पृ० २६०।

२. वही, ५.४.१५.१, पृ० २६०।

३. द्र०, वही, ६.४.१५.१६, पृ० ३४६।

४. वही, ६.५.१६.२, पृ० ३४७।

५. वही, ४.४.१४.१९; पृ० २२४।

६. द्र०, भारद्वाज श्रौतसूत्र (वैदिक-संशोधन-मंडल, पूना, १९६४), ३.१५.५, पृ० ३८।

७. ऋक्सामे वै सारस्वतावुत्सौ। वही, ९.१३.१, पृ० १२८।

८. वैखानस श्रौतसूत्र (बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता, १९४१), १.१, पृ० १।

९. अध्वर्युर्यजुर्वेदेन करोत्यृग्वेदेन होता सामवेदेनोद्गाता सर्वैर्ब्रह्मा। वाराह श्रौतसूत्र (मेहरचन्द लच्छमनदास, दिल्ली—६, १९७१) १.१.६।

किया गया है।[1] इसी प्रकार कर्मों के अनुष्ठान में वेद-मन्त्रों का विनियोग दिखलाया गया है और यथावसर सामगान[2] का भी उल्लेख किया गया है।

सामवेद-सम्बन्धी तीनों श्रौतसूत्रों में भी यज्ञ की विधियों का विचार किया गया है। ये श्रौतसूत्र सामवेद की विविध शाखाओं से सम्बन्ध रखते हैं तथा पञ्चविंश ब्राह्मण से भी इनका सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, मसक या आर्षेय श्रौतसूत्र में पञ्चविंश ब्राह्मण की पद्धति पर सोमयज्ञ-विषयक प्रार्थनाएँ संगृहीत हैं। लाट्यायन श्रौतसूत्र में अग्निष्टोम इत्यादि का विचार किया गया है। यहाँ भिन्न-भिन्न कर्मों में वेद-मन्त्रों का विनियोग भी दिखलाया गया है; जैसे, 'रसोऽसि वानस्पत्यो रसं मयि धेहीति मधुमन्थस्य पिबेदिति गौतमः'। इस मन्त्र से मधुमन्थ[3] का अंश पान करे यह गौतमाचार्य मानते हैं।[4] इसी प्रकार यहाँ अनेक स्थलों पर सामगान का निर्देश किया गया है।[5] और, यजुर्वेद के जप का भी अनेक अवसरों पर उल्लेख किया गया है।[6]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट ही है कि सभी श्रौतसूत्र वैदिक यज्ञों का विश्लेषण करते हैं। भिन्न-भिन्न अनुष्ठानों में मन्त्रों का विनियोग दिखलाते हैं। ये पूर्ण रूप से वैदिक कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में ही तत्पर हैं। अतः इन सूत्रकारों की दृष्टि में वेद ही परम प्रमाण है, इसमें तो सन्देह नहीं; किन्तु वेद-प्रामाण्य किस आधार पर माना गया है, एतद्विषयक विचार यहाँ उपलब्ध नहीं होता।

(ख) **गृह्यसूत्र**—जहाँ तक गृह्यसूत्रों का प्रश्न है, गृह्यसूत्रों में श्रौतसूत्रों की अपेक्षा छोटे यज्ञों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इनमें गृहस्थ-सम्बन्धी विविध संस्कारों का भी वर्णन है। ये सूत्र-ग्रन्थ वेद को प्रमाण मानकर चले हैं, यह इसी से विदित होता है कि स्थान-स्थान पर वैदिक मन्त्रों का विनियोग दिखलाया गया है। गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त अनेक मन्त्र संहिताओं के हैं। गृह्यसूत्र भी श्रौतसूत्रों के समान बहुत से हैं, इनका विभिन्न वेदों से सम्बन्ध है। जैसे—

ऋग्वेद	१. आश्वलायन गृह्यसूत्र
	२. शांखायन गृह्यसूत्र
	३. कौषीतकि गृह्यसूत्र

---

१. उच्चैर्ऋग्वेदसामवेदाभ्यामुपांशु यजुषोच्चैः संप्रैषैः। वही, १.१.७।
२. वही, १.१.३७; २.७.३१, ३२; ४.३.२४,२५।
३. मधुना लोडिताः सक्तवो मधुमन्थः। लाट्यायन श्रौतसूत्र (अग्निष्टोमान्त भाग, चौखम्बा, बनारस, १९३२, सरला व्याख्या), पृ० १०।
४. वही, १.१.७।
५. वही, १.५.८. तथा व्याख्या १.६.६-८, ११ इत्यादि।
६. वही, व्याख्या १.१.२१-२४।

किन्हीं के मत में शांखायन और कौषीतकि दोनों एक ही हैं।

यजुर्वेद (शुक्ल) १. पारस्कर गृह्यसूत्र

यजुर्वेद (कृष्ण)

(तैत्तिरीय शाखा) १. बौधायन गृह्यसूत्र
२. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
३. हिरण्यकेशिन् गृह्यसूत्र
४. भारद्वाज गृह्यसूत्र

हिरण्यकेशिन् गृह्यसूत्र को सत्याषाढ गृह्यसूत्र भी कहते हैं।

(मैत्रायणीय शाखा) १. मानव गृह्यसूत्र
२. काठक गृह्यसूत्र

काठक गृह्यसूत्र को लौगाक्षि गृह्यसूत्र भी कहते हैं।

सामवेद १. गोभिल गृह्यसूत्र
२. खदिर गृह्यसूत्र
३. जैमिनीय गृह्यसूत्र

अथर्ववेद १. कौशिक गृह्यसूत्र

आश्वलायन गृह्यसूत्र के आरम्भ में प्रतिज्ञा की गई है कि वैतानिक कर्मों का निरूपण कर दिया गया है, अब गृह्यकर्मों को कहेंगे।[1] इस कथन से गृह्यसूत्रों का श्रौतसूत्रों से सम्बन्ध प्रकट होता है। इस सूत्र में वेदाध्ययन को कर्त्तव्य के रूप में बोधित किया गया है—आचार्य के अधीन रहकर वेद पढ़ो।[2] इसी प्रकार अन्य कई प्रसङ्गों में वेदों के अध्ययन का कर्त्तव्य रूप में विधान किया गया है।[3] एक स्थल पर प्रार्थना की गई है कि मैं वेद के निधि का रक्षक होऊँ।[4] कहीं-कहीं ऋचाओं को प्रमाण रूप में भी उद्धृत किया गया है।[5]

---

१. उक्तानि वैतानिकानि। गृह्याणि वक्ष्यामः। आश्वलायन गृह्यसूत्र (ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९७६), १.१.१।
२. आचार्याधीनो वेदमधीष्व इति। वही, १.२२.२।
३. वही, १.२२.३; ३.३.१; ३.५.१२ इत्यादि।
४. वेदस्य निधिपो भूयासम्। वही, १.२२.१९।
५. तदुक्तमृग्भ्याम्। वही, १.२३.५।

शांखायन गृह्यसूत्र में पाकयज्ञों का विवेचन आरम्भ किया गया है।[1] पाकयज्ञ शब्द छोटे यज्ञों के लिये प्रयुक्त हुआ है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में बतलाया गया है कि लौकिक जीवन से सम्बद्ध कर्मों के लिये पाकयज्ञ शब्द का प्रयोग होता है।[2] आपस्तम्ब गृह्यसूत्र की वृत्ति में हरदत्त मिश्र ने कहा है कि यहाँ पाक शब्द अल्प अर्थ का वाचक है।[3] विवाह आदि के अवसर पर किए जाने वाले सभी यज्ञों का नाम पाकयज्ञ है।[4] शांखायन गृह्यसूत्र में वेद को प्रमाण मानते हुए अनेक कर्मों का विवेचन किया गया है। कितने ही मन्त्रों का भिन्न-भिन्न कर्मों में विनियोग दिखलाया गया है।[5] यहाँ जातमात्र शिशु से भी वेद का सम्बन्ध दिखलाया गया है और कहा गया है कि ऋग्वेदादि सभी वेदों को तुझ में धारण करता हूँ।[6] इसी प्रकार आचार्य वेदों के आधिपत्य के लिये ब्रह्मचारी को विश्वदेवों के प्रति देने का संकल्प करता है।[7] और, ब्रह्मचारी एक, दो, तीन या सभी वेदों को पढ़ता है।[8] कई स्थलों पर वेदों के द्वारा विविध कर्मों के अनुष्ठान का निर्देश किया गया है; जैसे, उपाकरण के प्रसङ्ग में कहा गया है कि (१) वेद की प्रत्येक ऋचा से होम करे,[9] (२) वेद आदि का स्वस्तिवाचन करके उपाकरण करे।[10] इसके अतिरिक्त कतिपय प्रसङ्गों में वेदज्ञानी ब्राह्मणों के समीप स्थित होने का निर्देश भी किया गया है; जैसे, (क) श्राद्ध कर्म में कम से कम तीन विषम संख्या वाले वेदज्ञानी ब्राह्मणों के पास पिता के समान बैठ कर पितरों को दान करे,[11] (ख) आभ्युदयिक श्राद्धकर्म में समसंख्या वाले वेदज्ञानी ब्राह्मणों के पास बैठकर अनुष्ठान करे।[12]

पारस्कर गृह्यसूत्र शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। इसमें जीवन के विविध संस्कारों और दर्शपूर्णमास आदि यागों का भी विधान किया गया है। स्थान-स्थान पर वेदमन्त्रों के द्वारा विविध कार्यों को करने का विधान है।

---

१. अथातः पाकयज्ञान् व्याख्यास्यामः। शांखायन गृह्यसूत्र (मुन्शीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, १९६०), १.१.१।
२. लौकिकानां पाकयज्ञशब्दः। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १.२.६।
३. अनाकुला-वृत्ति, वही, १.२.६।
४. वही, १.२.६।
५. शांखायन गृह्यसूत्र, १.१६. ३-८।
६. वही, १.२४.२,८।
७. वही, २.३.१।
८. वही, २.१०.७।
९. वही, ४.५.३।
१०. वही, ४.५.१२।
११. वही, ४.१.२।
१२. वही, ४.४.४।

उदाहरणार्थ, प्रथम काण्ड की चतुर्थ कण्डिका में 'समञ्जन्तु विश्वे देवाः'[1] अघोर-चक्षुः'[2] इत्यादि तथा अष्टम कण्डिका में 'आपो हि ष्ठा' आदि[3] ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा विवाह की विधियों का विधान किया गया है। इसी प्रकार अग्नि की प्रदक्षिणा के अवसर पर प्रथम काण्ड की सप्तम कण्डिका में 'तुभ्यमग्रे पर्यवहन्'[4] इत्यादि अथर्ववेद के मन्त्रों का भी विनियोग दिखलाया गया है। विवाह-संस्कार के प्रसङ्ग में ही वर के द्वारा कहलाया गया है—मैं सामवेद हूँ, तुम ऋक् स्वरूप हो।[5] अध्ययन के प्रसङ्ग में भी, प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिये समय निर्धारित किया गया है।[6] इसी प्रकार यह कहा गया है कि जो वेद को समाप्त करके स्नातक होता है, वह विद्या-स्नातक कहलाता है[7]। और, वेदाध्ययन समाप्त करके समावर्त्तन संस्कार का भी वर्णन किया गया है। इसी प्रसङ्ग में यह भी बतलाया गया है कि वेद शब्द से क्या तात्पर्य है।[8] कुछ स्थलों पर मन्त्र-जप का भी विधान दिखलाया गया है।[9]

कृष्णयजुर्वेद के बौधायन गृह्यसूत्र को गृह्यसूत्रों में प्रथम गिना जाता है।[10] इस गृह्यसूत्र के साथ परिभाषा, गृह्यशेष तथा पितृमेध-सूत्र भी जुड़े हुए हैं, इन सभी में विविध प्रकार के गृह्ययज्ञों का वर्णन है। यहाँ अनेक स्थलों पर वैदिक मन्त्रों का कर्म के अनुष्ठान में विनियोग दिखलाया गया है।[11] किन्हीं स्थलों पर मन्त्रों के जप का भी विधान किया गया है।[12] और, सामगान आदि का भी निरूपण किया गया है।[13] वैदिक कर्मों के प्रयोग का भी उल्लेख किया गया है।[14] इसके अतिरिक्त वेदाध्ययन का भी प्रसङ्ग आया है।[15] अन्य स्थल

---

१. ऋग्वेद, १०.८५.४७।
२. वही, १०.८५.४४।
३. वही, १०.९.१।
४. अथर्ववेद, १४.२.१।
५. पारस्कर गृह्यसूत्र (भारतीय-विद्या-प्रकाशन, वाराणसी, १९७३), १.६.३।
६. वही, २.५.१३-१५।
७. वही, २.५.३३।
८. वही, २.६.५।
९. वही, २.११.१२।
१०. द्र०, बौधायन गृह्यसूत्र (गवर्नमेण्ट ऑरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर, १९०४), उपोद्घात, पृ० १।
११. वही, ३.१.८, २२, ३४, ४७; ३.३.११; ३.५.६,७।
१२. गृह्यशेष सूत्र, १.१४.७; १.१५.५।
१३. वही, ४.२.८, ९, ११।
१४. परिभाषा, १.१.१४; १.३.९।
१५. वेदमधीत्य स्नास्यन्नित्युक्तं समावर्तनम्। बौधायन गृह्यसूत्र, २.६.१; परिभाषा प्रथम प्रश्न के अन्त में, पृ० १५०।

पर वेदपारग (वेद के पारङ्गत) विद्वानों का उल्लेख है;[१] चतुर्वेद, त्रिवेद आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।[२] एक स्थल पर कहा गया है कि ओंकार के ज़प से व्यक्ति को सब मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं, समस्त वेदों का अध्ययन पूर्ण हो जाता है।[३]

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में आचार से प्राप्त कर्मों का विवेचन किया गया है।[४] व्याख्याकारों का कथन है कि शिष्टों के आचार द्वारा श्रुतियों का भी अनुमान कर लिया जाता है; अतः इस प्रकार के गृह्यसूत्रों में जिस कर्मकाण्ड का विधान है वह वेद-प्रतिपादित माना जाता है।[५] यह गृह्यसूत्र अनेक कर्मों के अनुष्ठान में मन्त्रों का विनियोग दिखलाता है।[६] किन्हीं स्थलों पर यजुर्-मन्त्रों के जप का भी निर्देश करता है।[७] इसके अतिरिक्त यहाँ वेदाध्ययन को अनिवार्य कर्त्तव्य के रूप में दिखलाया गया है।[८]

मैत्रायणीय शाखा के गृह्यसूत्रों में काठक गृह्यसूत्र अन्यतम है। इसमें विविध व्रतों एवं संस्कारों का विवेचन किया गया है। उसी प्रसङ्ग में कुछ ऐसे भी सन्दर्भ आये हैं जिनसे अप्रत्यक्षतः वेद-प्रामाण्य के विषय में कुछ प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ, ब्रह्मचारी के लिये सावित्री या गायत्री का जप करने का विधान है।[९] इसी प्रकार मन्त्रों द्वारा कुछ कर्म करने का भी विधान किया गया है।[१०] एक, दो या तीन अथवा सभी वेदों के अध्ययन का विधान किया गया है।[११] इस वेदाध्ययन विधि का विस्तार से वर्णन भी किया गया है।[१२] वस्तुतः ब्रह्मचारी के लिये वेदाध्ययन के व्रत को ही व्रत बतलाया गया है।[१३] यही नहीं,

---

१. गृह्यशेष, १.२०.४; ३.१८.१।
२. वही, २.७.८।
३. वही, ३.१.३।
४. अथ कर्माण्याचाराद्यानि गृह्यन्ते। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र (चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७१), १.१.१।
५. वही, श्री सुदर्शनाचार्य तात्पर्य-दर्शन-व्याख्या, १.१.१, पृ० ४।
६. द्र०, वही, २.४.५, ८; २.६.११; ३.८.६; ४.१०.५; ५.१२.५,८ इत्यादि।
७. द्र०, वही, २.६.११; ५.१३.८ इत्यादि।
८. द्र०, वही, ५.१२.१।
९. काठक गृह्यसूत्र (दयानन्द महाविद्यालय, संस्कृत ग्रन्थमाला लाहौर, १९२२), १.१.२८।
१०. द्र०, वही, ४.१.७-१९।
११. अधीते हैतेषां वेदानामेकं द्वौ त्रीन्सर्वान् वा। वही, ४.१.२४।
१२. वही, ४.२.१-४।
१३. यद्वेदव्रतं तदत्र व्रतम्। वही, ४.३.८।

कतिपय स्थलों पर श्रुति का प्रमाण देते हुए किन्हीं कर्मों का विधान भी किया गया है ; जैसे—(१) ब्रह्मवर्चस की कामना वाला सूर्य के अस्त होने से पहले ग्राम से निकलकर आठ हरी समिधायें लावे, यह श्रुति है;[1] (२) इसलिये शोभन-वस्त्र धारण करना चाहिये, यह श्रुति है;[2] (३) विद्वान् जिसका उपनयन करता है वह इन वेदों में से एक, दो, तीन या सभी का अध्ययन करता है।[3]

सामवेद के गोभिल आदि गृह्यसूत्रों में भी जीवन के संस्कारों, गृहस्थ की विशिष्ट विधियों और कुछ अन्य गृह्यकर्मों का निरूपण किया गया है।[4] ब्रह्मचारी के वेदाध्ययन का कई स्थलों पर उल्लेख है।[5] यहाँ भी किन्हीं कार्यों के अनुष्ठान में मन्त्रों का विनियोग दिखलाया गया है।[6] किन्हीं यज्ञों का भी विधान किया गया है; जैसे दर्शपूर्णमास आदि का।[7] इसी प्रकार ऋचा या यजुर्-मन्त्र के जप का विधान किया गया है।[8] कई स्थलों पर सामगान का भी विधान है।[9]

इस प्रकार के विश्लेषण से यह विदित होता है : गृह्यसूत्र वेदों के आधार पर प्रवृत्त हुए हैं। जो कहीं आचार से प्राप्त विधियों का विधान यहाँ दिखलाया गया है, वहाँ भी शिष्टाचार द्वारा श्रुति का अनुमान कर लिया जाता है। इन सूत्रों में वेद को विविध ज्ञान का साधन माना गया है, वेदाध्ययन की महत्ता स्वीकारी गई है, वेदमन्त्रों के जप और सामगान आदि का भी विधान दिखलाया गया है, कितने ही सन्दर्भों में वेद को प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया गया है। फलतः इन सूत्रकारों की दृष्टि में वेद प्रमाण ही हैं।

(ग) **धर्मसूत्र**—धर्मसूत्र वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्व अङ्ग हैं। श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों के समान धर्मसूत्र भी वेदों की भिन्न-भिन्न शाखा से सम्बन्ध रखते हैं। यह अवश्य है कि कितनी ही शाखाओं के पृथक् धर्मसूत्र उपलब्ध

---

१. वही, १.१.२६।
२. तस्माच्छोभनं वासो भर्तव्यमिति श्रुतिः। वही, १.३.१०।
३. वही, ४.१.२४।
४. अयातो गृह्यकर्माण्युपदेक्ष्यामः। गोभिल गृह्यसूत्र (शास्त्रप्रकाशभवन, मधुरापुर, विद्दपुर बाजार, मुजफ्फरपुर, १९३४), १.१.१।
५. वही, १.१.७; ३.४.१-४।
६. वही, १.१.११; १.८.११-१४।
७. वही, १.५.१।
८. ऋचं यजुर्वा जपेत्। वही, १.६.१५-२० तथा २.९.२१-२४; ३.३.३२; ३.९.१७।
९. वही, प्रपाठक १ के अन्त में—महावामदेव्यगान; प्रपाठक ३, खण्ड २, महानाम्नीसाम।

नहीं होते हैं। कुछ धर्मसूत्र ऐसे हैं जो उसी नाम के ऋषि द्वारा प्रणीत श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र के समान किसी विशिष्ट वेद की शाखा से सम्बन्ध रखते हैं।

प्रायः धर्मसूत्रों को श्रौतसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों का परवर्ती माना जाता है। इन धर्मसूत्रों में मुख्य रूप से धर्म का वर्णन किया गया है। ये धर्म विशेषतः सामाजिक धर्म हैं। अतः वर्णाश्रम-व्यवस्था का वर्णन धर्मसूत्रों में विशेष रूप से उपलब्ध होता है। सभी वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्यों एवं आचारों का यहाँ निरूपण किया गया है। इसीलिये कहीं-कहीं ; जैसे विवाह, स्नातक का जीवन इत्यादि के प्रसङ्ग में इनके वर्ण्य-विषय गृह्यसूत्रों के समान हो गये हैं। यद्यपि स्मृतियों में भी धर्म का प्रतिपादन किया गया है और प्रायः उन सभी विषयों का वर्णन है जो धर्मसूत्रों में मिलते हैं; तथापि ये धर्मसूत्र स्मृतियों से भिन्न हैं। हाँ, धर्मशास्त्र में स्मृतियों के समान इनकी भी गणना की जाती है।

धर्मसूत्रों में गौतम धर्मसूत्र को सबसे प्राचीन माना जाता है। अन्य धर्मसूत्रों में भी इसका उल्लेख मिलता है। यह धर्मसूत्र सामवेद से सम्बन्ध रखता है। इसके पश्चात् बौधायन धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, हिरण्यकेशिन् धर्मसूत्र, वशिष्ठ धर्मसूत्र, विष्णु धर्मसूत्र, हारीत धर्मसूत्र, शङ्ख-लिखित धर्मसूत्र आदि उपलब्ध हैं, जो भिन्न-भिन्न वेद-शाखाओं से सम्बन्ध रखते हैं। अन्य धर्मसूत्रों के भी उल्लेख मिलते हैं, जिन में धर्म का या उसके किसी अङ्ग का वर्णन किया गया है।[१]

इन धर्मसूत्रों में वेद-प्रामाण्य-विषयक कुछ सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, गौतम धर्मसूत्र में वेदों को धर्म का मूल कहा गया है।[२] यहाँ मूल शब्द का अर्थ प्रमाण है। अतः सूत्र का आशय है कि वेद धर्म में प्रमाण है।[३] इसी प्रसंग में यह भी बतलाया गया है कि यदि कहीं श्रुति और स्मृति का विरोध हो तो वहाँ श्रुति को ही प्रमाण मानना चाहिये।[४] केवल वेद को ही नहीं बल्कि वेदज्ञानियों को भी प्रमाण माना गया है।[५] और, सामान्य-जन के लिये ही नहीं, राजा के व्यवहार के लिये भी वेद के विधान को प्रमाण माना गया है।[६] इसी प्रकार दण्डविधान में भी वेद-ज्ञानियों के वचन को मानने का निर्देश किया गया है।[७]

---

१. द्र०, आपस्तम्ब धर्मसूत्र (चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६९), प्रस्तावना।
२. वेदो धर्ममूलम्। गौतम धर्मसूत्र (चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६६), १.१.१।
३. द्र०, हरदत्तकृत-मिताक्षरावृत्ति, वही, १.१.१।
४. द्र०, गौतम धर्मसूत्र, १.१.५।
५. वही, १.९.६२।
६. वही, २.२.१९।
७. वही, २.३.४९।

और, जिस विषय में किसी नियम का विधान नहीं किया गया उसमें दशावरों की परिषद् के कथनानुसार कार्य करें, यह कह दिया गया है। इस परिषद् में चारों वेदों के पारङ्गत चार विद्वान् भी होते हैं।[1] यदि यह दशावर-परिषद् पूर्ण न हो तो वेदज्ञानी जो कहे उसे माने।[2]

गौतम धर्मसूत्र में वेदों के अध्ययन का विधान किया गया है।[3] यहाँ श्रोत्रिय और वेद-पारङ्गत विद्वानों को दान देने की प्रशंसा की गई है।[4] श्रोत्रिय शब्द का अर्थ है—ऐसा व्यक्ति जिसने वेद का अध्ययन किया है।[5] प्रायश्चित्त के प्रकरण में भी संहिताओं के पाठ का विधान है और संहिता-पाठ को पवित्र करने वाला बतलाया गया है।[6] यही नहीं, वेद का अध्ययन-अध्यापन न करने वाले और इस पर प्रायश्चित्त भी न करने वाले पिता तक को त्याज्य बतलाया गया है।[7] इसी प्रकार ब्रह्मघ्न अर्थात् अधीत वेद का प्रमाद आदि से त्याग कर देने वाले व्यक्ति को उपपातकियों में गिना गया है।[8] और, वेदों में पूर्णता की प्रशंसा भी की गई है।[9]

इस प्रकार गौतम धर्मसूत्र में अनेक रूपों में वेद और वेदज्ञों की प्रामाणिकता दिखलाई गई है।

बौधायन धर्मसूत्र, जो कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्ध रखता है, वेद के धर्म का व्याख्यान करने के लिये प्रवृत्त हुआ है।[10] यहाँ यह भी दिखलाया गया है कि धर्म के विषय में वेद ही प्रमुख प्रमाण है, स्मृति का स्थान दूसरा है।[11] इससे यह प्रकट होता है कि सूत्रकार की दृष्टि में वेद का प्रामाण्य स्मृति की अपेक्षा बलवान् है। आगे यह भी कहा गया है कि वेदाध्ययन करने वाले तथा वेदार्थ का प्रत्यक्ष करने वाले शिष्टों का वचन भी प्रमाण होता है।[12] इससे वेदों के स्वतः प्रामाण्य पर प्रकाश पड़ता है।

---

१. वही, ३.१०.४७।
२. वही, ३.१०.४८।
३. वही, १.२.५१-५३।
४. वही, १.५.१८।
५. मिताक्षरावृत्ति, वही, १.५.१८।
६. गौतम धर्मसूत्र, ३.१ १२।
७. वही, ३.२.१।
८. वही, ३.३.११।
९. वही, ३.८.२४।
१०. उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्, तस्याऽनु व्याख्यास्यामः। बौधायन धर्मसूत्र (चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७२), १.१.१.१-२, पृ० १।
११. वही, १.१.१.३, पृ० १।
१२. द्र०, वही, १.१.१.६, पृ० ३।

बौधायन ने वेदाध्ययन का निर्देश किया है ।[१] यह भी बतलाया है कि वेदाध्ययन के बिना कोई शूद्र के समान ही है ।[२] और, वेदाध्ययन की उपेक्षा से उच्चकुल भी निकृष्ट हो जाते हैं ।[३] वेदाध्ययन की उपेक्षा के प्रसङ्ग में यह भी कह दिया है कि यदि कृषि कर्म वेदाध्ययन में बाधक हो तो उसे भी छोड़ देना चाहिए ।[४] सूत्रकार का कथन है कि ब्रह्मा ने वेदों की रक्षा के लिये वेदों के अध्ययन-अध्यापन आदि का कार्य ब्राह्मणों को सौंपा है ।[५] और, जो वेद को नहीं जानता, वह उस महान् परमात्मा को नहीं जानता ।[६]

बौधायन ने विविध-कर्मों में भी वेदों का महत्त्व स्वीकारा है; जैसे वे कहते हैं कि—(१) ऋचाओं, यजुर्वेद के मन्त्रों और सामों से श्राद्ध की महिमा बढ़ती है ।[७] (२) उपनिषद् तथा वेद आदि पवित्र करने वाले होते हैं।[८] ऋग्, यजुः, सामवेद का अथवा किसी एक वेद का तीन बार बिना भोजन किये पारायण करे तो वह अत्यन्त पवित्र करने वाला होता है ।[९] (३) उन्होंने ऋग् आदि के लिये आहुति देने का भी निर्देश किया है ।[१०] इसी प्रकार वेद-संहिताओं के बार-बार अध्ययन से फल-विशेष की प्राप्ति दिखलाई है ।[११] यही नहीं, सूत्रकार की दृष्टि में वेद-संहिताओं का बार-बार अध्ययन करने से विशिष्ट लोकों की प्राप्ति होती है ।[१२] सूत्रकार ने किन्हीं प्रसङ्गों में वेद को प्रमाण-रूप में भी प्रस्तुत किया है; जैसे...जन्म से ही ब्राह्मण तीन प्रकार के ऋणों से युक्त होता है : ऋषियों के लिये ब्रह्मचर्य के ऋण से, देवों के लिये यज्ञ के ऋण से, तथा पुत्रोत्पत्ति के लिये पितरों के ऋण से; इस प्रकार वेद में ऋणों का सम्बन्ध दिखलाया गया है ।[१३] इन सभी सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि बौधायन धर्मसूत्र में वेद-प्रामाण्य दिखलाया गया है ।

---

१. वही, १.१.३.१-२, पृ० १६-१७ ।
२. वही, १.१.३.७, पृ० १८ ।
३. वही, १.६.१०.२७, पृ० ७२ ।
४. वही, १.६.१०.३१, पृ० ७४ ।
५. वही, १.१०.१८.२, पृ० १२८ ।
६. वही, २.६.११.३४, पृ० २५६ ।
७. वही, २.८.१४.४, पृ० २७० ।
८. वही, ३.१०.१०.११, पृ० ३५६ ।
९. वही, ४.५.५.२९, पृ० ३९२ ।
१०. वही, ३.९.९.५, पृ० ३५२ ।
११. वही, ३.९.९.१०, पृ० ३५४ ।
१२. वही, ३.९.९.१२-१५, पृ० ३५४ ।
१३. एवमृणसंयोगं वेदो दर्शयति । वही, २.९.१६.७, पृ० २७९ ।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का कृष्ण-तैत्तिरीय-शाखा से सम्बन्ध है। यहाँ भी धर्म में वेद को प्रमाण कहा गया है।[1] हरदत्त मिश्र का कथन है कि धर्म और अधर्म में वेद ही मुख्यतः प्रमाण है और वेद स्वतः प्रमाण है।[2] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वेदों के अध्ययन का विस्तार से विचार किया गया है।[3] यहाँ स्वाध्याय के विविध नियमों का निर्देश किया गया है।[4] और, यह भी बतलाया गया है कि वेदाध्ययन का विषय छः अङ्गों सहित वेद हैं[5] और, वेद का अध्ययन न करने वाले को यज्ञ न करावे।[6] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में किन्हीं कर्मों के विषय में वेद को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है; जैसे कहा गया है कि यज्ञकर्म के समय की दक्षिणा वेद के अनुसार देनी चाहिये।[7] यही नहीं, यहाँ स्पष्टतः बतलाया गया है कि त्रि-विद्या से परिपक्व ज्ञान वाले जनों का निर्णय है कि वेद प्रमाण हैं।[8]

इस प्रकार कल्पसूत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से वेद को प्रमाण माना गया है, किन्तु वेद की प्रामाणिकता उन्होंने किस आधार पर स्वीकार की है? इसका विवेचन नहीं किया गया।

४—व्याकरण शास्त्र तथा वेद-प्रामाण्य

व्याकरण को वेद के अङ्गों में गिना गया है। यह वेद का प्रधान अङ्ग है। इसीलिये कहा जाता है 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। यद्यपि संस्कृत भाषा के अनेक व्याकरण प्रचलित हैं; तथापि पाणिनीय व्याकरण को ही वेदाङ्ग माना जाता है। अष्टाध्यायी में लौकिक संस्कृत के साथ-साथ वैदिक भाषा को भी स्थान दिया गया है। वार्त्तिककार ने अनेक स्थलों पर वैदिक प्रयोगों की ओर ध्यान दिलाया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही यह बतलाते हैं कि इस व्याकरण में लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का अनुशासन किया जा रहा है।[9] उन्होंने चारों वेदों के

---

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.१.१.३, पृ० ३।
२. उज्ज्वलावृत्ति, वही, १.१.१.३, पृ० ३-४।
३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.१.२. १२-१६, पृ० १७-१८।
४. द्र०, वही, १.४.१२.१-९, पृ० ८९—९४।
५. षडङ्गो वेदः। वही, २.४.८.१०, पृ० २६५।
६. अयाज्योऽनधीयानः। वही, २.५.१०.१०, पृ० २७३।
७. यथाश्रुति विहारे। वही, २.४.९.९ तथा उज्ज्वलावृत्ति, पृ० २६९।
८. त्रैविद्यवृद्धानां तु वेदाः प्रमाणमिति निष्ठा। वही, २.९.२३.९, पृ० ३४९।
९. केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च। महाभाष्य (मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९६७), पस्पशा०, पृ० ५-६।

सन्दर्भों को वैदिक शब्दों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।[१] उन्होंने व्याकरण के प्रयोजनों का विवेचन करते हुए यह स्पष्टतः कहा है कि वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।[२] वे यह भी बतलाते हैं कि शास्त्र भी इस विषय में कहता है—ब्राह्मण का यह अकारण धर्म है कि छः अङ्गों सहित वेद का अध्ययन करना चाहिये और उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।[३]

इससे विदित होता है कि उस काल में व्याकरण आदि वेदाङ्गों सहित वेद का अध्ययन करना ब्राह्मण होने के लिये अनिवार्य धर्म था। वेद का केवल पाठ करना ही उसका कर्त्तव्य नहीं था; अपितु वेद का ज्ञान करना, वेद के प्रतिपाद्य विषय को भली-भाँति समझना और वह भी किसी लोभ या लाभ को दृष्टि में रक्खे विना ही। उस युग के ब्राह्मण का वेदाध्ययन निष्काम कर्म था। वह परम्परा पतञ्जलि से पूर्व विद्यमान थी। किन्तु पतञ्जलि के समय में उसमें कुछ ह्रास हो चला था। इसी हेतु पतञ्जलि ने व्याकरण के प्रयोजनों का उपसंहार करते हुए बतलाया है---प्राचीन काल में ऐसा था कि संस्कार के पश्चात् ब्राह्मण व्याकरण पढ़ा करते थे...तब उनको वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था। इस समय वैसा नहीं है। वेद पढ़ कर तुरन्त ही वक्ता हो जाते हैं।[४] इससे यह स्पष्ट है कि वेदाध्ययन की परम्परा पतञ्जलि के समय में भी विद्यमान थी; किन्तु व्याकरण जैसे विषयों की कुछ उपेक्षा की जाने लगी होगी।

यह व्याकरण किसी एक वेद का ही अङ्ग नहीं है; अपितु सभी वेदों का अङ्ग है। महाभाष्यकार ने कई स्थलों पर कहा है—सब वेदों के लिये साधारण यह शास्त्र है।[५] इनमें से एक स्थल पर कैय्यट ने बताया है—यह सब वेदों का अङ्ग है इसीलिये सब वेदों के लिये साधारण 'बहुलम्' आदि शब्दों से युक्त सूत्रों की रचना की गई है। भाष्यकार ने 'सर्ववेदपारिषदम्' में वेदशब्द का ग्रहण किया है, जिससे यह प्रकट होता है कि वैदिक शब्दों का संस्कार ही इस व्याकरण का मुख्य उद्देश्य है। लौकिक शब्दों का संस्कार तो आनुषङ्गिक रूप से कर दिया

---

१. शन्नो देवीरभिष्टये (अथर्व १.६.१), इषे त्वोर्जे त्वा (यजु० १.१), अग्निमीले पुरोहितम् (ऋग्वेद १.१.१.), अग्न आयाहि वीतये (साम १.१.१.), द्र०, वही, पृ० ६।

२. रक्षार्थं-वेदानामध्येयं व्याकरणम्। वही, पृ० १५।

३. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोध्येयो ज्ञेयः, इति। वही, पृ० १६।

४. संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते, तेभ्यः... वैदिकाः शब्दाः उपदिश्यन्ते। अद्यत्वे न तथा; वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति। वही, पृ० ४०।

५. द्र०, सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। वही, खण्ड-२ (२.१.५७), पृ० ४०२ तथा खण्ड-३ (६.३.१४), पृ० ८४६।

गया है।[1] उस पर उद्योतकर यह भी कहते हैं कि वेदाङ्ग यही व्याकरण है अन्य नहीं।[2]

पाणिनीय-व्याकरण के वेदाङ्ग होने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वेद को प्रमाण मान कर चला है, तभी वैदिक शब्दों का संस्कार करता है, वेदों की रक्षा के लिये प्रयत्नशील होता है। यह केवल वेद को प्रमाण ही नहीं मानता; अपितु समाज के विद्वद्वर्ग के लिये वेदाध्ययन को धर्म बतलाता है। इसका मुख्य कार्य है—'शब्दों की साधुता का निश्चय करना'। फिर भी प्रसङ्गानुसार यहाँ 'वेद प्रमाण है', इस विषय में कुछ संकेत उपलब्ध होते हैं।

महाभाष्य में व्याकरण-सम्बन्धी किन्हीं तथ्यों को समझाने के लिये लौकिक एवं वैदिक मन्तव्यों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह सूचित होता है कि वैदिक मन्तव्यों को प्रमाण मानकर व्याकरण में भी उसी प्रकार कुछ बातें समझ लेनी चाहियें। उदाहरणार्थ :—

वार्त्तिक तथा भाष्य में बतलाया गया है कि किसी अर्थ के लिये शब्द का प्रयोग पहले से ही होता है, व्याकरणशास्त्र तो केवल धर्म का नियम करता है। वह बतलाता है कि व्याकरण की दृष्टि से साधु शब्दों का प्रयोग करने पर धर्म होता है; जैसे - लौकिक और वैदिक विषयों में भी देखा जाता है। वेद में कहा गया है—ब्राह्मण दुग्धव्रती हो, क्षत्रिय यवागूव्रती और वैश्य आमिक्षाव्रती। खाने के लिये कोई व्रत लिया जाता है। अतः ये लोग भात आदि भी ले सकते थे; किन्तु शास्त्र के द्वारा नियम किया जाता है कि इस प्रकार करने से धर्म होगा।[3]

इसी प्रकार शब्द के ज्ञान में धर्म है या प्रयोग में, इस विषय में विचार करते हुए समाधान किया गया है कि शास्त्रपूर्वक प्रयोग में अभ्युदय (कल्याण) होता है। उसी प्रकार वेद शब्द भी कहते हैं।[4] इस प्रसङ्ग में वेदशब्दों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया गया है और यह दिखलाया गया है कि वेद-शब्दों में जैसा बतलाया गया है वैसा ही व्याकरण के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये, वहाँ अग्निष्टोमयाग करने से और उसको भली-भाँति जानने से फल दिखलाया गया है। अतः शब्दों को भी शास्त्र द्वारा जानकर प्रयोग करने से कल्याण होता है,

१. सर्ववेदसाधारणं लक्षणं बहुलादिग्रहणोपेतं क्रियते। आनुषङ्गिको लौकिकशब्द-संस्कार इति वेदग्रहणं कृतम्। महा० प्रदीप, वही, खण्ड-२ (२.१.५७), पृ० ४०२।
२. वेदाङ्गत्वमस्यैवेति। उद्योत, वही (२.१.५७), पृ० ४०३।
३. द्र०, वही, पस्पशा०, पृ० ५०-५१।
४. शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन। वही, पृ० ५५।

यह समझना चाहिये ।[१] वार्त्तिक में प्रयुक्त वेद शब्द का क्या अर्थ है ? इस विषय में कैय्यट कहते हैं --वेद शब्द है जिस अर्थ का उसे वेदशब्द कहा गया है ।[२] इसकी व्याख्या करते हुए नागेशभट्ट ने बतलाया है कि यहां वेद शब्द का अर्थ है बोधक अथवा प्रमाण ।[३] इस प्रकार के सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि भाष्यकार ने अनेक शङ्काओं के समाधान के लिये लौकिक और वैदिक प्रयोगों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है । नागेशभट्ट ने तो वेद शब्द के द्वारा ही अग्निष्टोम आदि यज्ञों में 'वेद प्रमाण है,' यह स्वीकार किया है ।

'ऋलृक्' प्रत्याहार सूत्र का क्या प्रयोजन है ? यह विचार करते हुए वार्त्तिककार ने दिखलाया है— विहित (शिष्ट) और न विहित न प्रतिषिद्ध स्थलों में अनुकरण उचित होता है, जैसे लौकिक और वैदिक कार्यों में ।[४] यहाँ वैदिक कार्यों के अनुकरण का उदाहरण देते हुए महाभाष्यकार ने कहा है— जो इस प्रकार विश्वसृज्-यज्ञ करते हैं, उनका अनुकरण करते हुए उसी प्रकार कोई उन यज्ञों को करता है, वह भी कल्याण (अभ्युदय) से युक्त हो जाता है ।[५] इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि भाष्यकार की दृष्टि में वेद में विहित यज्ञ आदि अभ्युदय के साधन हैं । वेद के आधार पर ही उन यज्ञों को कर्त्तव्य माना जाता है, जिससे वेद की प्रामाणिकता सिद्ध ही है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि पाणिनीय व्याकरण की वेदाङ्गों में गणना है । यह सामान्यरूप से सभी वेदों के शब्दों पर विचार करता है । इसका वेदाङ्ग होना ही इस विषय में एक प्रबल प्रमाण है कि यहां वेद को प्रमाण माना गया है । इसके अतिरिक्त व्याकरण-सम्बन्धी कतिपय शङ्काओं का समाधान करने के लिये भाष्यकार ने लौकिक और वैदिक प्रयोगों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे वेद की प्रामाणिकता प्रकट होती है । किञ्च, महाभाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि वेदोक्त यज्ञ आदि अभ्युदय के साधन हैं, जिससे यह परिणाम निकलता है कि उन की दृष्टि में वेद प्रमाण हैं ।

भर्तृहरि ने महाभाष्य की टीका लिखी थी और व्याकरण-दर्शन का व्यवस्थित विवेचन किया था । यह विवेचन 'वाक्यपदीय' नामक ग्रन्थ में सुरक्षित

---

१. वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—यो अग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद; योऽग्निं नचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद । वही, पृ० ५५ ।

२. वेद: शब्दो यस्यार्थस्य स: वेदशब्द: । प्रदीप, वही, पृ० ५५ ।

३. वेद: शब्दइति । बोधक इत्यर्थ: । प्रमाणमित्यर्थो वा । उद्योत, वही, पृ० ५५ ।

४. अनुकरणं शिष्टाशिष्टाप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु । वही, ऋलृक्, पृ० ७४ ।

५. वेदेऽपि य एवं विश्वसृज: सत्त्राण्यध्यासते इति तेषामनुकुर्वन् तद्वत्सत्त्राण्यध्यासीत सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते । वही, पृ० ७४ ।

है। वाक्यपदीय के तीन काण्ड हैं— ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड तथा पदकाण्ड। इसके प्रथम काण्ड में शब्द प्रमाण का विशद विवेचन उपलब्ध होता है तथा वेद-प्रामाण्य सम्बन्धी भी कुछ उल्लेख मिलते हैं।

भर्तृहरि ने आगम प्रमाण की महत्ता सिद्ध की है। उन्होंने प्रत्यक्ष और अनुमान की अपेक्षा आगम को प्रबल माना है और दिखलाया है कि सभी जन अदृष्ट फलवाले अर्थों को आगम से जानते हैं।[1] इससे यह विदित होता है कि अदृष्ट फल को उत्पन्न करने वाले जो याग आदि हैं, उनमें वेद ही प्रमाण है। वे यह भी कहते हैं: अनुमान करने में चतुर जनों के द्वारा यत्नपूर्वक अनुमान द्वारा सिद्ध किया हुआ कोई अर्थ दूसरे पण्डितों के द्वारा अन्यथा ही सिद्ध कर दिया जाता है।[2] वस्तुतः अनुमान या हेतुवाद किसी अर्थ का पूर्ण निश्चय नहीं करा सकते। अविच्छिन्न रूप से जो आगम चला आ रहा है उसका अनुमानों से और हेतुओं से बाध नहीं हो सकता।[3] हां, वेद-शास्त्र का अविरोधी तर्क वेद के प्रतिपाद्य-विषय को समझने में सहायक हुआ करता है।[4] फलतः सभी प्रत्यक्षादि प्रमाण और तर्क भी वेद-शास्त्र के अर्थ-बोध में सहायक मात्र हैं।

भर्तृहरि ने 'वेद प्रमाण हैं' या 'वेद स्वतः प्रमाण हैं' इस मन्तव्य को विविध आधारों पर सिद्ध किया है; जैसे—(क) स्मृतियाँ वेद पर आश्रित हैं, (ख) धर्म का बोध वेद से होता है, (ग) शब्दब्रह्म का बोधक वेद ही है।

(क) भर्तृहरि कहते हैं: दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजनों को बतलाने वाली स्मृतियां, वेद का आश्रय लेकर कुछ चिह्नों के आधार पर वेदज्ञ जनों के द्वारा रची गई हैं।[5] ये स्मृतियाँ धर्म के निरूपण का द्वार हैं।[6] व्याकरणशास्त्र भी नित्य आगम तथा उसका अनुसरण करने वाली स्मृतियों का आश्रय लेकर लिखा गया है,[7] जो वैयाकरणों के मत में केवल लौकिक अभ्युदय का ही हेतु नहीं है; अपितु ब्रह्म-प्राप्ति का भी साधन है।[8]

---

१. सर्वोऽदृष्टफलानर्थानागमात्प्रतिपद्यते। वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड १४१।
२. वही, ३४।
३. वही, ४१।
४. वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्। वही, १३६।
५. स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः।
   तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः। वही, ७ तथा १४६।
६. वही, १३४।
७. वही, ४३।
८. तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते। वही, २२।

(ख) जैसा कि अभी ऊपर बतलाया गया है—अदृष्ट फल वाले सभी अर्थों का बोध आगम से होता है। अदृष्ट को धर्म आदि नामों से पुकारा जाता है। अथवा उस अदृष्ट की सिद्धि के लिये किये जाने वाले कर्मों को भी धर्म कहा जाता है। भर्तृहरि बतलाते हैं कि श्रुति एवं स्मृति से प्रतिपादित धर्म का लोक अतिक्रमण नहीं करता;[१] अर्थात् श्रुतिविहित धर्म शिष्टजनों के द्वारा अनुसरणीय हुआ करता है। और, यदि कोई स्वीकार करे कि स्वाभाविक विवेक के आधार पर ही मनुष्य को भले-बुरे का ज्ञान हो जाता है, अतः शास्त्र का कोई प्रयोजन नहीं है; उसके प्रति भर्तृहरि कहते हैं—ऐसा मानकर भी यदि धर्म को ज्ञान का हेतु माना जाये तो धर्म का निमित्त वेद ही है, यह स्वीकार करना पड़ेगा।[२] इस प्रकार धर्म का बोधक होने से वेद की प्रामाणिकता सिद्ध ही है।

(ग) सामान्य धर्मों का ही नहीं, आध्यात्मिक तत्त्वों का बोधक भी वेद ही है। भर्तृहरि के अनुसार वेद के अर्थवाद रूप वाक्यों का आश्रय लेकर ही एकत्ववादी या द्वैतवादियों के द्वारा अपनी कल्पनाओं से प्रकल्पित विविध-वाद मान लिये गये हैं।[३] इस कथन से विदित होता है कि भारतीय दर्शन के विविध प्रस्थान वेद के आधार पर ही विकसित हुए हैं। यही नहीं, अन्य सभी विद्याएँ जिनको ज्ञान और संस्कार का निमित्त माना जाता है, उनका भी वेद के अङ्ग और उपाङ्ग रूप में ही प्रसार हुआ है।[४] इसके साथ ही शब्दब्रह्म का वर्णन करते हुए भर्तृहरि यह भी बतलाते हैं कि इस शब्दब्रह्म की प्राप्ति का उपाय वेद ही है। यह वेद ही ब्रह्म का स्वरूप है।[५]

इस प्रकार भर्तृहरि ने विविध प्रकार से आगम का प्रामाण्य दिखलाया है। उन्होंने वेद को कई स्थलों पर अनादि, नित्य[६] तथा अकर्तृक[७] भी कहा है। इस मान्यता के आधार पर भी प्रतीत होता है कि भर्तृहरि को मीमांसक के समान नित्य होने से वेद की प्रामाणिकता अभिमत रही होगी। उनके कतिपय वाक्यों में इस प्रकार के संकेत उपलब्ध होते हैं। आधार कुछ भी हो, भर्तृहरि की दृष्टि में 'वेद प्रमाण' ही नहीं; अपितु 'स्वतः प्रमाण' हैं; 'वाक्यपदीय' के अनुशीलन से यही निश्चय होता है।

---

१. वही, १३४।
२. धर्मो ज्ञानस्य हेतुश्चेत्तस्याम्नायो निबन्धनम्। वही, १३५।
३. तस्यार्थवादरूपाणि निश्चित्य स्वविकल्पजाः।
एकत्विनां द्वैतिनां च प्रवादा बहुधा मताः। वही, ८।
४. वही, १०।
५. प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदः। वही, ५।
६. अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम्। वही, १४५।
७. वही, ४३।

५–निरुक्त तथा वेद-प्रामाण्य

यास्कीय निरुक्त का समय (पाणिनि) से भी पूर्व माना जाता है। इसमें कुछ ब्राह्मण वचनों का उल्लेख किया गया है, जिससे यह स्पष्ट है कि उन ब्राह्मणों से निरुक्त अर्वाचीन ही है। निरुक्तकार की दृष्टि में वेद यज्ञ आदि कर्मों के प्रतिपादक तो हैं ही, साथ ही मन्त्रों के आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ भी होते हैं। 'मन्त्र सार्थक हैं' यह प्रतिपादन करते हुए ब्राह्मणों का वचन उद्धृत करके निरुक्तकार ने बतलाया है 'यह निश्चय ही यज्ञ की समृद्धि है जो वह रूप से समृद्ध किया जाता है जो (यज्ञ में) किये जाते हुए कर्म को ऋग् अथवा यजुः कहता है'।[1] उससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार के अनुसार ऋचाएँ और यजुर्मन्त्र यज्ञ के विविध कर्मों को प्रकट करते हैं।

निरुक्त में यह स्थापना की गई है कि वाणी के यज्ञ और देवता पुष्प-फल होते हैं अथवा देवता और अध्यात्म पुष्प-फल होते हैं,[2] जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं—यज्ञ-परक, देवता-परक और अध्यात्म-परक। उन्होंने निरुक्त के विविध प्रसङ्गों में तीनों प्रकार के अर्थ दिखलाये हैं। यद्यपि यह माना जाता है कि निरुक्त के अर्थ विशेष रूप से अधिदैवत हैं; तथापि यहाँ कई स्थलों पर यज्ञपरक अर्थ किया गया है जैसे—निघण्टु में आये 'हिनोत' शब्द की निरुक्ति करते हुए 'हिनोता नो अध्वरम्' (निरु०, ६.२२) में यज्ञपरक अर्थ किया गया है।[3] इसी प्रकार 'चत्वारि शृङ्गा' (निरु०, १३.७) इत्यादि मन्त्रों का भी। यद्यपि निरुक्तकार ने 'अधियज्ञम्' शब्द का प्रयोग सम्भवतः एक ही स्थल (निरु०, ११.४) पर किया है। वहाँ 'सोमं मन्यते'[4] इत्यादि मन्त्र की यज्ञपरक व्याख्या करने के पश्चात् अधिदैवत व्याख्या भी की है।[5]

निरुक्तकार ने अधिदैवत शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है; जैसे—'इत्यधिदैवम्' (३.१२; १०.२६; १२.३७, ३८; १३.१०, ११; १४.१२-१६, १८,१९,२१, २३-२७), अथाधिदैवतम् (११.४) इत्यादि। इन स्थलों पर वेद मन्त्रों की अधिदैवत अर्थ में व्याख्या भी की है।

---

१. एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं, यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति। निरुक्त, १.१६।

२. अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले। देवताध्यात्मे वा। वही, १.२०।

३. हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः॥ ऋग्वेद, १०.३०.११।

४. वही, १०.८५.३।

५. निरुक्त, ११.४।

इसी प्रकार 'अथाध्यात्मम्' (३.१२; १०.२६; १२.३७, ३८; १३.१०, ११; १४.१२-१६, १८, १९, २१,२३-२७) शब्द का अनेकशः प्रयोग किया है और उन स्थलों में मन्त्रों की अध्यात्मपरक व्याख्यायें भी की हैं। इस प्रकार निरुक्त की दृष्टि में मन्त्र विविध अर्थ के बोधक हैं।

निरुक्त के कई सन्दर्भों से यह विदित होता है कि वेद में केवल यज्ञादि कर्म का ही वर्णन नहीं है; अपितु मानव के विविध कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का भी वर्णन है। निरुक्तकार ने दिखलाया है कि उपदेश (के द्वारा धर्म का बोध कराने) में श्रान्ति का अनुभव करते हुए ऋषियों ने वेद तथा वेदाङ्गों का आम्नान किया।[1] फलतः वेद धर्म के बोधक हैं। इसी प्रकार यास्क ने ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के मन्त्रों के आधार पर पुत्री के दायाद्य का विस्तार से विचार किया है।[2] इस प्रकार के अन्य सन्दर्भ भी निरुक्त में उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह स्पष्ट है कि वेदों में मानव-जीवन के विविध पक्षों का वर्णन मिलता है जो मनुष्य के लिये अनुसरणीय भी है। इसीलिये यास्क ने किसी विषय का वर्णन करके कई स्थलों पर 'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय' (३.२) इत्यादि कहा है। इसी प्रकार कई स्थलों पर 'तदभिवादिनी एषा ऋग्भवति' (२.१६; ९.४,६, २३; १०.२६, ३२ इत्यादि), 'तस्या एषापरा भवति' (२.१९; ७.१५, २०; ८.१४, १७, १८, १९; १०.२, ४, ६, ९, १५, २८, ३६; ११.९, २६, २८, ३८, ४०, ४४, ४७; १२.६, १५, १७; १४.३३ इत्यादि) भी कहा है। इससे विदित होता है कि यास्क की दृष्टि में मनुष्य के विविध कर्त्तव्यों और अधिकारों को वेद के अनेक मन्त्रों में विशद रूप से कहा गया है।

यद्यपि निरुक्तकार ने लोक, परलोक का वर्णन करते हुए यह दिखलाया है कि जो हिंसा का आश्रय लेकर, ज्ञान को त्याग कर महान् तप करते हैं या बहुत समय तक वेदोक्त कर्म करते हैं वे धूम को प्राप्त होते हैं……और फिर इस लोक को प्राप्त होते हैं;[3] तथापि उन्होंने इसी प्रकरण में आगे अक्षर ब्रह्मणस्पति को जानने की महत्ता का वर्णन किया है। इस विषय में 'न तं विदाथ'[4] इत्यादि ऋग्वेद का मन्त्र भी उद्धृत किया है। इसी प्रकार अन्य स्थल में यह स्पष्ट कहा है कि जो उस (अक्षर) को नहीं जानता वह ऋचा से क्या करेगा।[5]

१. द्र०, वही, १.२०।
२. द्र०, वही, ३.१-६।
३. वही, १४.८।
४. न तं विदाथ य इमा जजानाऽन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥ ऋग्वेद, १०.८२.७; निरुक्त, १४.१०।
५. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते। ऋग्वेद, १.१६४.३९; निरुक्त, १३.१०।

इससे यह स्पष्ट है कि निरुक्तकार की दृष्टि में केवल यज्ञादि का ही वेदों में प्रतिपादन नहीं किया गया; अपितु ब्रह्मविद्या का भी प्रतिपादन किया गया है। फिर भी इस विषय में विद्वानों का मतभेद हो सकता है, जिसके निवारण के लिये अग्रिम अनुसन्धान अपेक्षित है।

निरुक्तकार ने प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक ऋचाओं का वर्णन करते हुए दिखलाया है कि अनेक ऋचाओं में किसी देवता की स्तुति और कामना इत्यादि हुआ करती है। इसके पश्चात् वे कहते हैं कि किन्हीं ऋचाओं में स्तुति ही होती है, आशीर्वाद (कामना) नहीं, जैसे—'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' इत्यादि सूक्त में।[1] इसी प्रकार किन्हीं मन्त्रों में केवल प्रार्थना होती है; किन्हीं में शपथ और अभिशाप; किन्हीं में किसी तथ्य को प्रकट करने की इच्छा; कहीं परिदेवना; कहीं निन्दा-प्रशंसा। इस प्रकार ऋषियों ने अनेक प्रकार के अभिप्रायों से मन्त्रार्थ पर विचार किया है।[2] निरुक्तकार ने यह भी दिखलाया है कि वेदमन्त्रों में अनेक जड़ और चेतन पदार्थों का वर्णन किया गया है। कहीं-कहीं अचेतनों की भी चेतन के समान स्तुति की गई है; जैसे—अक्ष से लेकर ओषधि-पर्यन्त पदार्थों की। कहीं शिला की स्तुति है, कहीं नदी की।[3] यहाँ स्तुति शब्द का अर्थ है—गुणों का वर्णन या केवल वर्णन। 'वेदों में विविध पदार्थों का वर्णन है', ऐसा कहने से विदित होता है कि वेद अनेक पदार्थों के बोधक हैं। मन्त्रों की सार्थकता का उन्होंने बड़े विस्तार से प्रतिपादन भी किया है।[4] फलतः वे प्रमाण मानने योग्य हैं।

यास्क की किन्हीं निरुक्तियों से भी यह स्पष्ट विदित होता है कि मन्त्र किसी विशेष अर्थ को कहते हैं। 'मन्त्र' शब्द की निरुक्ति दिखलाते हुए उन्होंने कहा है—'मन्त्रा मननात्'[5] अर्थात् मनन के कारण ये मन्त्र कहलाते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य ने कहा है—मनीषी जन उनसे अध्यात्म, अधिदेव और अधियज्ञ का मनन करते हैं; इसी से ये मन्त्र कहलाते हैं। 'ऋक्' शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा गया है—'ऋगर्चनी,'[6] अर्थात् ऋक् स्तुति करने वाली है। इससे ज्ञात होता है कि ऋचाओं में अनेक पदार्थों का वर्णन किया गया है। इसी सन्दर्भ में कहा गया है—ब्रह्मा सब विद्याओं वाला होता है, सब कुछ जानने

---

१. द्र०, वही, ७.३।
२. वही, ७.३।
३. द्र०, वही, ७.७।
४. वही, १.१५-२०।
५. वही, ७.१२।
६. वही, १.८।

में समर्थ है ।[1] इस से विदित होता है कि वेदों के द्वारा ब्रह्मा समस्त विद्याओं को जानता है । अतः निरुक्तकार की दृष्टि में वेदों में सभी विद्यायें हैं ।

इसके अतिरिक्त निरुक्त के कतिपय सन्दर्भों से तो वेद की प्रामाणिकता स्पष्टतः सिद्ध होती है —'मन्त्र अनर्थक हैं' यह स्थापना करके कौत्स की ओर से अनेक युक्तियाँ दी गई हैं । इनमें एक युक्ति यह भी है कि कुछ मन्त्रों के अर्थ ऐसे होते हैं, जो संगत नहीं होते; जैसे—कोई व्यक्ति ओषधि से कहता है 'इसकी रक्षा कर'; प्रहार करता हुआ कहता है— 'हे कुठार, इसकी हिंसा न करो' ।[2] पूर्वपक्षी के इन आक्षेपों का उत्तर देते हुए निरुक्तकार ने 'वेद-मन्त्र अर्थवान् हैं' यह सिद्ध किया है और पूर्वपक्षी के आक्षेपों का निराकरण भी । उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर देते हुए निरुक्तकार कहते हैं—जो पूर्वपक्षी ने कहा है कि कुछ 'वेद मन्त्र असंगत अर्थ वाले होते हैं' वह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि उस प्रसङ्ग में वेद के वचन से अहिंसा जान ली जायेगी ।[3] इस कथन से यह प्रकट होता है कि निरुक्तकार की दृष्टि में वेदवचन प्रमाण हैं । जो वे कहते हैं, वही प्रमाण है । इसी प्रकार का भाव उन्होंने एक अन्य स्थल पर भी प्रकट किया है—वैश्वानर शब्द का क्या अर्थ है ? इसका निर्णय करते हुए कहा गया है—'आम्नायवचनादेतद् भवति'[4]; अर्थात् वेद के वचन से यह होता है । इस कथन से भी यह स्पष्ट है कि यदि मन्त्रों में कहीं विरोधाभास सा प्रतीत होता है उसका भी वेद के प्रामाण्य से निराकरण किया जा सकता है ।

निरुक्त के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यहाँ अनेक सन्दर्भों में वेद की प्रामाणिकता का बोध कराया गया है । फिर भी वेद प्रामाणिक क्यों है ? इस विषय का विवेचन नहीं किया गया । इसका स्पष्ट विवेचन तो परवर्ती दर्शन-ग्रन्थों में ही किया गया है ।

६—छन्दः

छन्दः शास्त्र वेद का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है । विन्टरनिट्स के अनुसार यह वेदों का अर्वाचीनतम अङ्ग है ।[5] छन्द की चर्चा वैदिक साहित्य में प्राचीनकाल से

१. ब्रह्मा सर्वविद्यः । सर्वं वेदितुमर्हति । वही, १.८ ।
२. वही, १.१५ ।
३. यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्ति इति । आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत । वही, १.१६ ।
४. वही, ७.२४ ।
५. प्राचीन भारतीय साहित्य, १, पृ० २२३ ।

की जाती रही है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके उल्लेख मिलते हैं।[1] शाङ्खायन श्रौतसूत्र[2] (७.२७) और ऋग्वेद प्रातिशाख्य में अन्तिम तीन पटल (१६,१७,१८) छन्द के विषय में ही हैं तथा सामवेदीय-निदान-सूत्र में भी छन्दों का विश्लेषण किया गया है। 'पिङ्गलाचार्य' ने 'पिङ्गल' नामक 'छन्दोग्रन्थ' की रचना की थी, जिसे वेदाङ्ग माना जाता है। विन्टरनिट्स के विचार से यह परवर्ती रचना है।[3] इसके पूर्वभाग में वैदिक छन्दों का विवरण दिया गया है। यह विशेष रूप से लौकिक छन्दों के लिये एक प्रामाणिक ग्रन्थ कहा जा सकता है। अनुक्रमणियों में भी वैदिक छन्दों का विवेचन किया गया है।[4] उनमें कहीं-कहीं परस्पर भेद भी प्रतीत होता है।

छन्दोज्ञान का भी वेदाध्ययन में अत्यधिक महत्त्व है। कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी में कहा गया है—जो छन्द, देवता और ऋषि इन सब को जानकर कुछ जप होमादि का अनुष्ठान करता है, वह उसका फल प्राप्त करता है।[5] यह भी कहा गया है–जो ऋषि, छन्द, देवता और ब्राह्मण आदि के ज्ञान से रहित मन्त्र द्वारा यज्ञ कराता है, अध्यापन करता है, वह स्थाणु होता है, गर्त में गिरता है, नष्ट हो जाता है, पाप-भागी होता है इसलिये प्रत्येक मन्त्र में इन्हें जानना चाहिए।[6] इस प्रकार के कथनों से यह स्पष्ट है कि छन्दःशास्त्र का वेदाध्ययन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह शास्त्र वेदाध्ययन के लिये ही प्रवृत्त हुआ है।फलतः वेद को प्रमाण ही नहीं मानता; अपितु बेदाध्ययन को एक अनिवार्य कर्त्तव्य समझता है।

पिङ्गलाचार्य का छन्दःशास्त्र जो आज उपलब्ध है उसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें से पहले तीन अध्यायों में पूर्णरूप से और चतुर्थ अध्याय के कुछ भाग में वैदिक छन्दों का विश्लेषण किया गया है। यहाँ ऋग्, यजुः, और सामवेद में प्रयुक्त होने वाले छन्दों के विविध स्वरूपों का भी विश्लेषण किया गया है। जैसे—यजुर्वेद, सामवेद और ऋग्वेद की गायत्री का पृथक्-पृथक् स्वरूप दिखलाया

---

१. (क) तस्या एतानि सप्त चतुरुत्तराणि च्छन्दांस्युपादधुः। तै० ब्रा०, १.५.१२.१।
   (ख) गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात्···त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य···जगतीभिर्वैश्यस्य। तै० ब्रा०, १.१.९. ६-७।

२. द्र०, मैक्डानल, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २४७।

३. प्राचीन भारतीय साहित्य, १, पृ० २२३।

४. द्र०, कात्यायन, सर्वानुक्रमणी, अध्याय ५।

५. वही, ४.१३।

६. यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्। आर्षे० ब्रा०, १.१।

गया है ।[१] इसके अतिरिक्त यहाँ छन्दों के देवता आदि का भी निरूपण किया गया है। फिर भी छन्द-सम्बन्धी इस ग्रन्थ में या अन्य ग्रन्थों में भी वेद के प्रामाण्य का उल्लेख नहीं किया गया । वेद का प्रामाण्य क्यों माना गया था ? इसकी तो चर्चा भी नहीं की गयी ।

७—ज्योतिष

वेदाङ्ग में ज्योतिष-शास्त्र की गणना भी की गई है । मैक्डानल[२] तथा विन्टरनिट्स[३] का विचार है कि ज्योतिषपरक वैदिक युग का कोई वेदाङ्ग आज उपलब्ध नहीं होता । आज वेदाङ्ग ज्योतिष[४] के नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध होता है उसके दो संस्करण हैं—एक यजुर्वेद-सम्बन्धी और दूसरा ऋग्वेद-सम्बन्धी । इन दोनों की पद्य संख्या भिन्न-भिन्न है । यह ग्रन्थ परतर युग की ही रचना है ।[५] इसके अतिरिक्त सूर्य-सिद्धान्त, आर्यभट्टकृत महासिद्धान्त[६] इत्यादि कुछ ज्योतिष-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जो यज्ञ आदि के समय-निर्धारण में सहायक हो सकते हैं ।

ज्योतिष-शास्त्र को वेदाङ्ग क्यों माना जाता है ? इसका क्या प्रयोजन है ? यह वेदाङ्ग ज्योतिष में संक्षेप से तथा विस्तार से बतलाया गया है । प्रथमतः कहा गया है—यज्ञकाल के ज्ञान की सिद्धि के लिये इस ज्योतिष शास्त्र का प्रवचन करता हूँ ।[७] फिर दिखलाया गया है कि यह ज्योतिष-शास्त्र वेदाङ्ग कैसे है, यह किस प्रयोजन की सिद्धि करता है—क्योंकि वेद यज्ञ के लिये प्रवृत्त हुए हैं और यज्ञों का कालक्रम से विधान किया गया है इसलिये काल का विधान, करने वाले इस ज्योतिष-शास्त्र को जो जानता है वही यज्ञों को समझ सकता है ।[८] इस कथन में किन्हीं विद्वानों का वैमत्य हो सकता है । वेद यज्ञ के लिये ही

---

१. छन्दःशास्त्र (गुरुकुल, झज्जर, रोहतक, २०४२ वि०), २.६.१६ ।
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २४६ ।
३. प्राचीन भारतीय साहित्य, १, पृ० २२३ ।
४. लगध, वेदाङ्ग ज्योतिष (संस्कृत-टीका तथा अंग्रेजी अनुवाद-सहित गवर्नमैन्ट प्रेस, मैसूर, १९३६) ।
५. द्र०, प्राचीन भारतीय साहित्य, १, पृ० २२३ ।
६. आर्यभट्ट, महासिद्धान्त (व्रजभूषणदास एण्ड को० ठठेरी बाजार, बनारस, १९१०)।
७. ज्योतिषामयनं पुण्यं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
संमतं ब्राह्मणेन्द्राणां यज्ञकालसिद्धये । वही, २ ।
८. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्व्या विहिताश्च यज्ञाः ।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् । वही, ३।

प्रवृत्त हुए हैं, केवल यज्ञों का विवेचन ही इनका प्रतिपाद्य विषय है, यह मत चिन्तनीय ही है; फिर भी सम्भवतः किसी काल में भारत के विद्वानों की ऐसी धारणा बनी हुई थी। उसी का प्रतिबिम्ब इस वचन में भी दृष्टिगोचर होता है।

यज्ञों के समय के विषय में कहीं वर्ष का उल्लेख है, कहीं ऋतु विशेष का। जैसे—तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है—वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे, ग्रीष्म में क्षत्रिय और शरद् में वैश्य।[1] इसी प्रकार कहीं मास सम्बन्धी विधियाँ बतलाई गई हैं,[2] कहीं पक्ष सम्बन्धी,[3] कहीं किसी मास की पूर्णमासी में अनुष्ठान करने योग्य विधि का विधान किया गया है[4] और कहीं प्रातःकाल और सायंकाल विषयक अग्निहोत्र आदि का विधान है। इसी प्रकार कहीं-कहीं नक्षत्रविशेष में करने योग्य अनुष्ठान का भी विधान किया गया है। इस प्रकार विविध यज्ञों के लिये काल-विशेष के ज्ञान की आवश्यकता होती है, जिसके लिये ज्योतिष-शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है। इसी हेतु ज्योतिष-शास्त्र को वेद का चक्षु कहा गया है।[5] सूर्यसिद्धान्त में ज्योतिष-शास्त्र को वेदाङ्गों में श्रेष्ठ कहा गया है और यह भी बतलाया गया है कि नक्षत्रों की गति का ज्ञान इसी से होता है।[6] इसके अतिरिक्त यहाँ वेदोत्पत्ति-विषयक कुछ संकेत मिलता है और कई स्थलों पर संख्या को सूचित करने के लिये भी वेद शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार ज्योतिष-शास्त्र वेदाध्ययन में उपयोगी है। इसी हेतु इसकी वेदाङ्गों में गणना की गई है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि वेद को प्रमाण मानकर ही यह शास्त्र प्रवृत्त हुआ है। फिर भी वेद को किस आधार पर प्रमाण माना गया था, इसका विश्लेषण यहाँ नहीं किया गया।

● ● ●

---

१. वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत...ग्रीष्मे राजन्य आदधीत.. शरदि वैश्य आदधीत। तै० ब्रा०, १.१.२. ६-७।
२. द्र०, तैत्तिरीय संहिता, ७.५.१-३।
३. वही, ७.४.८.३।
४. वही, ७.४.८.१-३।
५. ज्योतिषामयनं चक्षुः। पाणिनीय शिक्षा, ४१।
६. वेदाङ्गमग्र्यमखिलं ज्योतिषां गतिकारणम्। (सूर्यसिद्धान्त, वेङ्कटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई, १९६३ वि०), १.३; (चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७८), १.३।

परिच्छेद ४

स्मृति, इतिहास तथा पुराण आदि में वेद-प्रामाण्य

१—पृष्ठभूमि

वेदाङ्गों के पश्चात् संस्कृत-साहित्य का विविध रूपों में विकास हुआ। उस समय धर्म और आचार आदि का ही विवेचन नहीं किया गया; अपितु इतिहास, पुराण, आयुर्वेद इत्यादि शरीर-विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, नाट्यविद्या, संगीत-शास्त्र सभी विषयों का सूक्ष्म एवं गहन विश्लेषण किया जाने लगा। दार्शनिक जगत् में भी नवीन उद्भावनाएँ की गईं, जिसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। यहाँ कुछ प्रकीर्ण विषयों के ग्रन्थों में वेद-प्रामाण्य सम्बन्धी उल्लेखों का अध्ययन करना है।

इन ग्रन्थों में प्रथमतः स्मृतियों पर विचार करना होगा, जैसा कि आगे दिखलाया जा रहा है, प्रायः सभी स्मृतियाँ वेद को प्रमाण मान कर प्रवृत्त हुई हैं, उनमें वेद-प्रामाण्य का भी यत्र तत्र उल्लेख है; किन्तु वेद-प्रामाण्य के आधार का विवेचन नहीं मिलता।

धार्मिक, ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से वाल्मीकि रामायण का अत्यधिक महत्त्व स्वीकारा जाता है। इसमें भी अनेक बार वेद का विभिन्न रूपों में उल्लेख किया गया है। उन्हीं उल्लेखों से यह समझने का प्रयास करना होगा कि वेद-प्रामाण्य का रामायण में क्या स्थान है?

जहां तक महाभारत का प्रश्न है इसे पञ्चम वेद कहा जाता है। यह एक विश्वकोश है। इसमें विविध विषयों का निरूपण किया गया है। यहाँ धर्म की चर्चा है, इतिहास के प्रसङ्ग हैं, दार्शनिक विवेचन हैं और प्रायः सभी लौकिक और आध्यात्मिक विषयों का विश्लेषण मिलता है। वेद की भी यहाँ विविध रूपों में चर्चा की गई है। यहाँ वेद सम्बन्धी सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है कि उस पर एक पृथक् प्रबन्ध की रचना की जा सकती है। इसी सामग्री से कुछ चुने हुए सन्दर्भों को लेकर महाभारत के आधार पर वेद-प्रामाण्य का निरूपण आगे किया जा रहा है। इसी सन्दर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता के सम्बन्ध में भी चर्चा की जायेगी।

परवर्ती वाङ्मय में धर्म की दृष्टि से पुराणों का महत्त्व अत्यधिक माना गया है। कहीं-कहीं इनको श्रुति और स्मृति के समान आदर दिया गया है और कहीं उनसे भी बढ़कर। वेदों के सम्बन्ध में पुराणों में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है, जिस पर स्वतन्त्र रूप से अध्ययन किया जा चुका है।[1] यहाँ उन सब विषयों की चर्चा करना वाञ्छनीय नहीं है, केवल यही विवेचन करना अभिप्रेत है कि पुराणों में वेद-प्रामाण्य के विषय में क्या कहा गया है।

इस प्रकार के धार्मिक ग्रन्थों की परम्परा में कुछ अन्य रचनाएँ भी हुई हैं; जैसे— अध्यात्मरामायण और योगवासिष्ठ इत्यादि। इस प्रकार के ग्रन्थों में आख्यानों के द्वारा आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वों का विश्लेषण किया गया है। इनकी शैली रोचक एवं रमणीय है। इनमें भी यत्र तत्र वेद का उल्लेख मिलता है, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध में सभी का समावेश न तो सम्भव ही है और न वाञ्छनीय ही।

इस धार्मिक वाङ्मय के अतिरिक्त राजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद तथा नाट्यशास्त्र आदि में भी वेद के प्रसङ्ग आये हैं। यद्यपि इस प्रकार के ग्रन्थ किसी विशिष्ट विषय का विवेचन करने के लिये लिखे गये हैं; फिर भी भारतीय विचारकों की यह दृष्टि रही है कि किसी न किसी रूप में वेद का उल्लेख कर दें। कहीं अपने ग्रन्थ की वेदमूलकता दिखलाने के लिये, कहीं उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि करने के लिये और कहीं किन्हीं अन्य प्रसङ्गों में वेद का उल्लेख विद्वानों ने कर दिया है। इस प्रकार के प्रसङ्गों के आधार पर ही कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, चरक-सुश्रुत आदि में, और भरत के नाट्यशास्त्र में वेद-प्रामाण्य का विचार यहाँ किया गया है।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि उपरिलिखित ग्रन्थों के रचनाकाल के विषय में विद्वानों का मतभेद है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों को परम्परा के अनुसार अत्यन्त प्राचीन माना जाता है; किन्तु आधुनिक विद्वान् इन्हें काल-क्रम से विकसित होने वाली रचनाएँ मानते हैं और इनका मूलरूप तथा परिवर्धित रूप किस समय निष्पन्न हुआ, इस विषय में भी एकमत नहीं हैं। इसी प्रकार अर्थशास्त्र, चरक-सुश्रुत तथा नाट्शास्त्र के रचनाकाल के विषय में भी विद्वानों का मतभेद ही है। यहाँ इन सब मतभेदों की चर्चा करना उचित नहीं जान पड़ता। यहाँ जिस क्रम से इन ग्रन्थों के आधार पर वेद-प्रामाण्य का विवेचन किया जा

---

१. रामशंकर भट्टाचार्य, पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन (साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६५)।

रहा है, उस क्रम के विषय में भी सामान्य बुद्धि से ही कार्य किया गया है, काल क्रम आदि की दृष्टि से नहीं। वस्तुतः इनके आधार पर वाञ्छनीय विषय का विश्लेषण करना ही यहाँ प्रमुख उद्देश्य रहा है।

२—स्मृतियाँ तथा वेद-प्रामाण्य

स्मृतिग्रन्थों को धर्मशास्त्र कहा जाता है। मनु (२·१०) ने कहा है—'धर्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः'। अमरकोश में कहा गया है—स्मृतिस्तु धर्मसंहिता।[1] इसी प्रकार कोश का यह भी वचन है—धर्मशास्त्रं स्यात्स्मृतिः धर्मसंहिता।[2] यद्यपि वेद ही धर्म का मूल माने गये हैं; तथापि वेद के गहन विषय को समझना सभी के लिये सुगम नहीं है, इसी दृष्टि से वेद के ज्ञाता ऋषि-मुनियों ने स्मृतियों द्वारा धर्म का उपदेश किया है। भर्तृहरि बतलाते हैं—वेद के ज्ञाता विद्वानों ने वेद का आश्रय लेकर दृष्ट तथा अदृष्ट प्रयोजन वाली अनेक प्रकार की स्मृतियों का विभिन्न लक्षणों (लिङ्गों) द्वारा निर्माण किया —

स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः॥
(वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड ७)।

स्मृतियों की संख्या कितनी है ? इस विषय में विवाद रहा है, आज भी है। किन्हीं के अनुसार अष्टादश स्मृतियाँ हैं; किन्तु किन्हीं के मत में स्मृतियों की संख्या २० कही गई है।[3] भविष्यपुराण में ३६ कही गई है।[4] वहां रामायण तथा महाभारत आदि को भी स्मृति कहा गया है (अ० ४.८७-८९)। कलकत्ता की 'गुरुमण्डल' नामक संस्था ने जो मूल स्मृतियाँ प्रकाशित की हैं उनकी संख्या साठ के लगभग पहुँच चुकी है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक स्मृतियों के उल्लेख महामहोपाध्याय पी०वी० काणे ने अपने धर्मशास्त्र का इतिहास नामक ग्रन्थ में किये हैं। इस प्रकार स्मृतियों की संख्या अत्यधिक है। उनमें से कुछ ही आज उपलब्ध हैं, जिनके कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं।[5]

---

१. अमरकोश, १.६.६।
२. अभिधानचिन्तामणि, २.१६५।
३. द्र०, याज्ञ०, १.४-५।
४. मन्वादिस्मृतयो याश्च षट्त्रिंशत्परिकीर्तिताः।
५. बीस स्मृतियाँ (संस्कृति संस्थान बरेली, १९६६) प्रथम खण्ड, भूमिका, पृ० १४।
   (क) स्मृतीनां समुच्चयः (२७ स्मृतियाँ; आनन्दाश्रम, संस्कृतग्रन्थावलि, पूना)।
   (ख) बीस स्मृतियाँ, प्रथम खण्ड, द्वितीय खण्ड। (संस्कृति संस्थान बरेली, १९६६)।

स्मृतियों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादन किया गया है; फिर भी देश-भेद तथा कालभेद से उनके वर्ण्यविषय में न्यूनाधिक्य दृष्टिगोचर होता है। यहाँ धर्म का व्यापक अर्थ लिया गया है। विविध संस्कार, अध्ययन, जीविकोपार्जन, राजधर्म, वर्णाश्रम-धर्म सभी का वर्णन किया गया है। संक्षेप में, स्मृतियों के तीन वर्ण्य विषय माने जाते हैं—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त, ये सभी धर्म के अन्तर्गत हैं।

वेद के अनुकूल होने से ही स्मृतिवचन प्रमाण माना जाता है। जो स्मृति-वचन वेद के विपरीत है, वह प्रमाण नहीं होता। इसी आधार पर मनुस्मृति को स्मृतियों में अधिक महत्त्व दिया गया है—

मनुस्मृतिविरुद्धा या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते।
वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतेः॥

मनुस्मृति के पश्चात् याज्ञवल्क्य-स्मृति का स्थान समझा जाता है। हिन्दू-विधान की दृष्टि से तो याज्ञवल्क्य-स्मृति का विशेष महत्त्व रहा है। हिन्दुओं के दाय-भाग सम्बन्धी विधानों का आधार विशेष रूप से याज्ञवल्क्य-स्मृति की मिताक्षरा-टीका रही है। इन दोनों स्मृतियों के अतिरिक्त अन्य स्मृतियों का महत्त्व कम रहा है। वेद-प्रामाण्य के विषय में भी यही बात है।

मनुस्मृति के प्रारम्भिक श्लोकों के अनुशीलन से विदित होता है कि इसकी रचना मनु के शिष्य भृगु द्वारा की गई थी।[1] इसका प्रतिपाद्य-विषय मनु-प्रोक्त है; अतः यह मनुस्मृति नाम से प्रसिद्ध हुई। मनु-प्रतिपादित सभी धर्म वेद-विहित हैं —

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥[2]

इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि मनुस्मृति में वेद को ही परम प्रमाण स्वीकार किया गया है। यहां स्थान-स्थान पर यह बतलाया गया है कि श्रुति तथा स्मृति में विहित आचार ही परम धर्म है।[3] श्रुति, स्मृति द्वारा अभिहित कर्म ही कल्याणकारी होते हैं। उनसे इस लोक में कीर्ति प्राप्त होती है और परलोक में परम सुख।[4] वस्तुतः समस्त वेद धर्म का मूल है-'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (२.६)।

---

१. द्र०, मनुस्मृति (चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७०), १.५९।
२. वही, २.७।
३. आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च। वही, १.१०८।
४. वही, २.९।

जो धर्म का स्वरूप जानना चाहते हैं, उनके लिये श्रुति या वेद ही धर्म के यथार्थ ज्ञान का प्रमुख साधन है अथवा कहिये उन्हें धर्म के विषय में वेद को ही सर्वोपरि प्रमाण मानना चाहिये ।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।[1]

इससे प्रकट होता है कि वेद धर्म का बोधक है—धर्म के यथार्थ ज्ञान का साधन है तथा धर्म के बोधक जो अन्य प्रमाण हैं, जैसे स्मृति, सदाचार (श्रेष्ठ जनों का आचार) और आत्मतुष्टि[2] उनमें वेद ही प्रमुख प्रमाण हैं । यदि किसी विषय में वेद और स्मृति आदि में परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है, तो वहाँ वेद को ही प्रमाण मानना चाहिये । क्यों ? इसका उत्तर मनुस्मृति के एक श्लोक में मिलता है । वहाँ कहा गया है-- मुनिजन श्रुति का साक्षात्कार करते हैं और वे अपनी स्मृति के अनुसार उस अर्थ का स्मरण करते हैं अर्थात् उस अर्थ को स्मृति के रूप में प्रकट करते हैं । इसीलिये मुनिजन को प्रमाण माना जाता है और वे प्रमाण रूप से संसार में प्रसिद्ध हैं ।[3]

मनुस्मृति में कई स्थलों पर यह प्रकट किया गया है कि स्मृति की प्रामाणिकता वेद पर आधारित है । मनु ने जो किसी का कोई धर्म बतलाया है, वह सब वेद में कहा गया है, यह प्रतिज्ञा करके आगे कहा गया है—इस सबको पूर्णरूप से ज्ञानरूपी नेत्रों द्वारा देखकर-- समीक्षा करके—विवेकी जन (विद्वान्) वेद के प्रमाण से अपने धर्म का अनुष्ठान करें ।[4] यहाँ जो कहा गया है 'श्रुति-प्रामाण्यतः' (वेद के प्रमाण से) इससे वेदों की प्रामाणिकता स्पष्टतः प्रकट होती है । इसीलिये मनुस्मृति में स्थान-स्थान पर वेदप्रतिपादित धर्म के आचरण का उपदेश दिया गया है[5], और बतलाया है कि इसी से परम गति होती है ।[6] वेद का विरोध करने वालों की निन्दा की गई है, जैसे 'नास्तिको वेदनिन्दकः' (२.११), 'वेदनिन्दां च ·····वर्जयेत्' (४.१६३) । यही नहीं, वेदनिन्दा को सुरापान के

१. वही, २.१३ ।

२. तु०, वही, २.१२ ।

३. श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथास्मृति ।
तस्मात् प्रमाणं मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि ।। मनु०, २.१५ से आगे ।
इस श्लोक को किन्हीं विद्वानोंने प्रक्षिप्त माना है ।

४. सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ।। वही, २.८ ।

५. वही, २.२६, ३५; ४.१४, १५५ ।

६. वही, ४.१४ ।

समान पातक माना गया है।[1] वेद को धर्म में परम-प्रमाण मानकर ही यह उपदेश दिया गया है कि अनेक प्रकार की तपस्या करके, व्रत करके वेदों का अध्ययन करना चाहिये।[2] वस्तुतः वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप है :-

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ।[3]

जो द्विज वेद न पढ़कर अन्यत्र परिश्रम करता रहता है वह जीते जी ही वंशसहित शीघ्र शूद्रता को प्राप्त हो जाता है।[4] इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है कि वेद का अध्ययन न करने से मृत्यु ब्राह्मण को मारने को उत्सुक हो जाती है।[5]

यहाँ धर्म के सन्दर्भ में यह भी बतलाया गया है कि वेदों में सर्वाङ्गीण धर्म का उपदेश है। मनुस्मृति के अनुसार धर्म का स्वरूप व्यापक है; व्यक्ति और समाज के सभी कर्त्तव्य धर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। मनुस्मृति बतलाती है—वैदिक कर्म दो प्रकार का है—एक सुख और अभ्युदय का साधन प्रवृत्त-कर्म और दूसरा निःश्रेयस का साधन निवृत्त-कर्म।[6] प्रवृत्त-कर्म वह है, जो इस लोक या परलोक की किसी कामना से किया जाता है और ज्ञानपूर्वक किया गया निष्काम-कर्म निवृत्त-कर्म कहलाता है।[7] इन दोनों प्रकार के कर्मों का फल है :- प्रवृत्त-कर्म का सेवन करके व्यक्ति देवों की समानता को प्राप्त कर लेता है और निवृत्त-कर्म का सेवन करता हुआ पञ्चभूतों का अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् पुनर्जन्म से छूटकर मोक्ष प्राप्त करता है।[8]

वेद ऐहिक ज्ञान का भी साधन है, यह तथ्य इस कथन से और अधिक विशद हो जाता है—चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, और भूत, भविष्य तथा वर्तमान, यह सब वेद से ही प्रसिद्ध होते हैं।[9] इसी प्रकार वेद को मोक्ष का भी साधन कहा गया है—वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा

---

१. वही, ११.५६।
२. वही, २.१६५; ४.१४७।
३. वही, २.१६६।
४. वही, २.१६८।
५. वही, ५.४।
६. सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ।। वही, १२.८८
७. वही, १२.८९।
८. वही, १२.९०।
९. वही, १२.९७।

ग्रौर गुरुजनों की सेवा–ये मोक्ष के परम साधन हैं।[1] इनमें भी ग्रात्मज्ञान को परम श्रेष्ठ माना गया है उससे ग्रमरता प्राप्त होती है।[2] इन छः कर्मों में वैदिक कर्म इस लोक ग्रौर परलोक में सदा कल्याणकारक हैं; क्योंकि वैदिक कर्मयोग में इन सभी का भिन्न-भिन्न क्रिया-विधियों में ग्रन्तर्भाव हो जाता है।[3] वस्तुतः वेद-शास्त्र के ग्रर्थ को तत्त्वतः जानने वाला जिस किसी ग्राश्रम में रहता हुग्रा इसी लोक में ब्रह्मभाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है।[4]

इस विवेचन से विदित होता है कि मनुस्मृति के ग्रनुसार ग्रभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों का साधक ज्ञान वेदों से उपलब्ध होता है, वहाँ प्रवृत्ति ग्रौर निवृत्ति दोनों प्रकार के कर्मों का विधान किया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ग्रभीष्ट ग्रर्थ का बोधक होने से वेद प्रमाण है। किन्तु मनुस्मृति में यह स्पष्टतः कहीं कहा नहीं गया। वेद क्यों प्रमाण हैं? वेद के प्रामाण्य का ग्राधार क्या है? यह समस्या स्मृतिकार के समक्ष उपस्थित ही नहीं हुई। हाँ, ग्रन्यत्र वेदाध्ययन की प्रशंसा करते हुए उन्होंने यह भी बतलाता है कि केवल मानवजाति के लिये ही वेद ग्रर्थ का प्रकाशक नहीं है; ग्रपितु पितर, देव, तथा मनुष्यों का सनातन चक्षुः वेद ही है।[5] वेदशास्त्र ग्रशक्य है, ग्रप्रमेय है।[6] इन दोनों विशेषणों द्वारा स्मृतिकार को क्या ग्रर्थ ग्रभिप्रेत है? यह कहना कठिन है। क्या वेदशास्त्र को ग्रप्रमेय कहने से उसके स्वतः प्रामाण्य की ग्रोर संकेत किया गया है? ग्रथवा इसका ग्रन्य ही कोई ग्रभिप्राय है? इस सन्दर्भ में मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने वेद-प्रामाण्य तथा वेद की ग्रपौरुषेयता की चर्चा की है; किन्तु टीकाकार ने भी यह स्पष्ट नहीं किया कि वेद का प्रामाण्य क्यों माना गया है।

मनुस्मृति के पश्चात् याज्ञवल्क्य-स्मृति का स्थान माना जाता है। इस स्मृति का विभाजन तीन भागों में किया गया है—ग्राचाराध्याय, व्यवहाराध्याय ग्रौर प्रायश्चित्ताध्याय। यहाँ पुराण, न्याय-मीमांसा ग्रौर षड्-ग्रङ्ग-सहित वेदों को धर्म तथा विद्या का स्थान बतलाया गया है[7], ग्रौर मनुस्मृति के समान ही स्मृति ग्रादि के साथ-साथ श्रुति को भी धर्म का मूल कहा गया है।[8] ग्रौर, यह भी कि ग्रन्य

१. वही, १२.८३।
२. वही, १२.८५।
३. द्र०, वही, १२.८६, ८७।
४. वही, १२.१०२।
५. पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्। वही, १२.९४।
६. वही, १२.९४।
७. आचाराध्याय, ३।
८. वही, ७।

सब शास्त्र सनातन वेद से ही निकले हैं।[1] यही नहीं, यह भी निर्धारित किया गया है कि विविध प्रकार के यज्ञों, तपस्याओं और दान आदि शुभ कर्मों में वेदाध्ययन ही अभ्युदय का सर्वोत्कृष्ट साधन है।[2] वेदाध्ययन में तत्पर व्यक्ति को पाप छूते भी नहीं।[3] इसलिये ऋग्, यजुः और साम के अध्ययन के कतिपय विशिष्ट फलों का भी कथन किया गया है।[4] यहाँ वेदाध्ययन की ही प्रशंसा नहीं की गई; अपितु यह भी बतलाया गया है कि श्रुति तथा स्मृति द्वारा विहित धर्म का सदा भली-भाँति आचरण करना चाहिये।[5] इस सब विवेचन के आधार पर यह तो अनुमान किया जा सकता है कि स्मृतिकार की दृष्टि में वेद प्रमाण है; किन्तु वह क्यों प्रमाण है ? इसका निरूपण यहाँ नहीं किया गया है। हाँ, याज्ञवल्क्य के टीकाकारों ने कहीं-कहीं इसकी ओर संकेत अवश्य किया है। मिताक्षरा में कहा गया है—नित्यतयात्मप्रमाणभूतो वेदः; अर्थात् वेद-नित्य होने से स्वतः प्रमाण है (प्राय०. १९१)। इस कथन में मीमांसा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

इसके अतिरिक्त जो अन्य स्मृतियाँ हैं उनमें भी मनुस्मृति आदि के समान ही (क) वेद को मानव का ही नहीं, समस्त प्राणियों का चक्षुः कहा गया है—

सर्वेषामेव भूतानां वेदश्चक्षुः सनातनः।[6]
श्रुतिस्मृती च विप्राणां चक्षुषी देवनिर्मिते।[7]

(ख) वेद को न पढ़ने वाले की निन्दा करते हुए वेदाध्ययन की प्रेरणा दी गई है; जैसे—

वेदेभ्योऽन्यत्र सन्तुष्टः स विप्रः शूद्रतामियात्।
तस्मादहरहर्वेदं द्विजोऽधीयीत वाग्यतः॥[8]
वेदवेदाङ्गशास्त्राणि इतिहासानि चाभ्यसेत्॥[9]

दक्षस्मृति में वेदाभ्यास को ब्राह्मणों का परम तप कहा गया है—वेदाभ्यासो हि विप्राणां विशिष्टं तप उच्यते।[10]

---

१. निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्। वही,
२. वही, ४० तथा वीरमित्रोदय-टीका।
३. प्रायश्चित्ताध्याय, ३१०।
४. आचाराध्याय, ४१, ४२, ४३।
५. श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यक् नित्यमाचारमाचरेत्। वही, १५४।
६. बीस स्मृतियाँ प्रथम खण्ड, औशनस स्मृति, श्लोक १४९।
७. बीस स्मृतियाँ द्वितीय खण्ड, हारीत स्मृति, १.२४।
८. स्मृतीनां समुच्चयः, वेदव्यासस्मृति, ३.१२-१३।
९. वही, ३.४।
१०. वही, दक्षस्मृति, २.३३।

वसिष्ठस्मृति में तो मनुस्मृति के समान ही यह कहा गया है—जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्यत्र श्रम करता है, वह जीते जी ही वंशसहित शीघ्र शूद्रता को प्राप्त हो जाता है।[१] इसी से मिलते-जुलते विचार औशनस-स्मृति में भी प्रकट किए गए हैं।[२] कतिपय स्मृतिकारों ने यह भी प्रतिपादित किया है कि वेद को अर्थसहित ही पढ़ना चाहिये। औशनस-स्मृति में कहा गया है— द्विजश्रेष्ठ केवल वेद के पाठ से सन्तुष्ट नहीं होता। पाठमात्र से वेदाध्ययन को समाप्त कर देने वाला तो कीचड़ में फंसी गौ के समान दुःखी होता है।[३] इसीलिये वहाँ उदेपश दिया गया है कि एक वेद, दो वेद या सभी वेदों के अर्थ का अध्ययन करके द्विज को स्नातक होना चाहिये।[४] हारीत यह भी कहते हैं कि नित्य प्रति एकाग्र होकर पवित्र स्थान में वेद का अभ्यास करना चाहिये।[५]

(ग) धर्म के ज्ञान के लिये वेद को ही प्रमुख प्रमाण बतलाया गया है। गौतम कहते हैं– 'वेदो धर्ममूलम्'।[६] इस सन्दर्भ में यह भी विचार किया गया है कि वेद से उत्कृष्ट कोई शास्त्र नहीं है,[७] अतः वेद और स्मृति के विरोध में वेद को ही प्रमाण मानना चाहिये। (वेद) व्यास-स्मृति में बतलाया गया है कि जहाँ श्रुति, स्मृति और पुराणों का विरोध दिखलाई देता है, वहाँ श्रुति का विधान ही प्रमाण होता है; किन्तु स्मृति और पुराण का भेद होने पर तो स्मृति ही वरीयसी होती है –

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते।
तत्र श्रौतं प्रमाणन्तु तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा।[८]

मार्कण्डेय-स्मृति में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो व्यक्ति पुरुषकृत ग्रन्थ-प्रपञ्च को वेद के तुल्य बतलाता है, विद्वानों को उसकी उत्पत्ति में सांकर्य का अनुमान कर लेना चाहिये—

वेदेन तुल्यं वदति पौरुषं ग्रन्थजालकम्।
उत्पत्तौ तस्य सांकर्यमनुमेयं विपश्चिता।[९]

---

१. वही, वसिष्ठस्मृति, ३.३।
२. बीस स्मृतियाँ प्रथम खण्ड, औशनस-स्मृति, श्लोक १८८।
३. वही, श्लोक १८९।
४. वही, श्लोक १९४।
५. वेदं चैवाभ्यसेन्नित्यं शुचौ देशे समाहितः। वही, १.२१।
६. बीस स्मृतियाँ प्रथम खण्ड, गौतम स्मृति, पृ० १७८।
७. नास्ति वेदात् परं शास्त्रम्। वही, द्वितीय खण्ड, अत्रिस्मृति, श्लोक १५०।
८. स्मृतीनां समुच्चयः, वेदव्यासस्मृति, १.४।
९. बीस स्मृतियां द्वितीय खण्ड, मार्कण्डेय स्मृति, पृ० ५१८।

(घ) वेदोक्त कर्म के आचरण की प्रेरणा दी गई है और कहा गया है कि उसका आचरण न करने पर मनुष्य नरकगामी होता है—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
अकुर्वाणः पतत्याशु निरयानतिभीषणान् ॥[1]

संवर्त-स्मृति में विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों के द्वारा पापों की निवृत्ति होती है, यह बतलाकर आगे कहा गया है— दान, होम, जप तथा नित्य प्राणायाम के द्वारा और वेदाभ्यास से द्विजश्रेष्ठ पातकों से मुक्त हो जाता है, इस में सन्देह नहीं ।[2] वहाँ वेदों का नामनिर्देश करते हुए भी वेदाभ्यास को पापमुक्ति का साधन कहा गया है—

ऋग्वेदमभ्यसेद्यस्तु यजुः शाखामथापि वा ।
सामानि सरहस्यानि सर्वपापैः प्रमुच्येत ।[3]

जो ऋग्वेद का अभ्यास करे, यजुर्वेद की शाखा का अथवा रहस्यसहित साममन्त्रों का, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाये ।

स्मृतिकारों ने ज्ञान को मुक्ति का साधन बतलाते हुए उस ज्ञान का एकमात्र निमित्त श्रुति को ही स्वीकारा है—

ज्ञानमेव परो मार्गः श्रुतिवाक्यैकजं तु तत् ।[4]

वहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि वेदोक्त मार्ग से भिन्न मार्ग द्वारा मुक्ति प्राप्त हो जाती है, ऐसा कहना मृगतृष्णिका मात्र है—

वेदोक्तमार्गभिन्नेन यथा वै येन केनचित् ।
मुक्तोऽभूद् भवतीत्येतद्वाक्यं हि मृगतृष्णिका ॥[5]

अतः मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि श्रुति के विना कोई मुक्त नहीं हो सकता, यही सत्पुरुषों ने मार्ग बतलाया है और यही सभी श्रुतियों ने भी कहा है ।[6]

इस प्रकार प्रायः सभी स्मृतिकारों ने वेद को ज्ञान का स्रोत कहा है, प्राणियों का नेत्र बतलाया है, वेद के अनुसार आचरण करने का उपदेश दिया

१. बीस स्मृतियाँ प्रथम खण्ड, औशनस स्मृति, श्लोक १६५ ।
२. स्मृतीनां समुच्चयः, संवर्तस्मृति, श्लोक २०३ ।
३. वही, श्लोक २२६ ।
४. बीस स्मृतियाँ द्वितीय खण्ड, मार्कण्डेय स्मृति, पृ० ५१२ ।
५. वही, पृ० ५२० ।
६. वही, पृ० ५११ ।

है, और वेदाभ्यास तथा वेदानुकूल आचरण को समस्त पापों से मुक्त होने का तथा मोक्ष-लाभ का साधन भी बतलाया है। साथ ही उन्होंने स्मृति तथा पुराण आदि की अपेक्षा वेद को बलवत् प्रमाण माना है और इस सन्दर्भ में प्रमाण शब्द का प्रयोग भी किया है। फिर भी उन्होंने यह विचार नहीं किया कि वेद का यह प्रामाण्य किस आधार पर है अथवा वैदिक-विधान स्मृति के विधानों की अपेक्षा क्यों अधिक मान्य हैं। यद्यपि उन्होंने कहीं-कहीं वेद की अपौरुषेयता की ओर भी संकेत किया है[1] तथापि वहाँ अपौरुषेयता के आधार पर वेद-प्रामाण्य होता है, यह नहीं कहा गया; न ही वेद-प्रामाण्य का कोई और आधार दिखलाया गया है। कहना न होगा कि स्मृतियों में जो वेद की प्रामाणिकता स्वीकार की गई है, इसमें परम्परा का ही अधिक आश्रय लिया गया है। स्मृतियों का काल निश्चय करने का विद्वानों ने प्रयास किया है;[2] फिर भी अधिकांश स्मृतियों का समय निर्धारित करना कठिन ही है और उनके अनुशीलन से यही प्रतीत होता है कि उनकी रचना बहुत बाद में हुई होगी। जिस मनुस्मृति आदि का रचनाकाल पर्याप्त प्राचीन माना जाता है उसमें भी समय-समय पर प्रक्षेप होते रहे हैं, इस विषय में सभी विद्वान् एकमत हैं। फलतः स्मृतियों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि यहाँ परम्परागत-वेद-प्रामाण्य की धारणा का उल्लेख मात्र किया गया है, दर्शन के ग्रन्थों के समान वेद-प्रामाण्य का विवेचन नहीं किया गया।

३. वाल्मीकि रामायण और वेद-प्रामाण्य

वाल्मीकि रामायण हमारा आदि काव्य ही नहीं है; अपितु इसे इतिहास तथा धर्मशास्त्र में भी प्रमुख स्थान दिया गया है। इसमें स्थान-स्थान पर वेद का उल्लेख किया गया है। किसी दर्शनविषयक विवेचना करने वाले ग्रन्थ के समान यहाँ वेद-प्रामाण्य का निरूपण नहीं किया गया; फिर भी इसके कतिपय उल्लेखों से इस विषय में कुछ परिणाम निकाले जा सकते हैं। इस विषय में रामायण के उन्हीं उल्लेखों पर विचार करना अभीष्ट होगा, जिनमें साक्षात् रूप से वेद का नाम लेकर वेदार्थ अथवा वेद के प्रतिपाद्य विषय एवं वेद की सत्यता आदि का निर्देश किया गया है। जहाँ टीकाकारों ने वेदवाचक से भिन्न शब्दों का तात्पर्य भी वेद या वेदाध्ययन आदि किया है, जैसे वाल्मीकि रामायण की 'भूषण' नामक टीका में प्रथम श्लोक[3] में आये हुए 'तपः', 'स्वाध्याय' तथा

---

१. न कश्चिद् वेदकर्ता च वेदस्मर्ता चतुर्मुखः। वही, पाराशर स्मृति, श्लोक २१।

२. द्र०, पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ)।

३. तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्। वाल्मीकिरामायण (चौखम्बा वाराणसी, १९७७), बाल० 1.1।

'वाग्' (वाग्विदाम्) इत्यादि के अर्थ में भी 'वेद' शब्द का प्रयोग है, उन उल्लेखों पर विचार करना यहाँ अभीष्ट नहीं है।

वाल्मीकि रामायण में प्रयुक्त कतिपय शब्दों के अनुशीलन से विदित होता है कि यहाँ वेद को विविध अर्थों का प्रतिपादन करने वाला समझा गया है और वेदार्थ को जानने वाले विद्वानों को नाना कर्मकलाप के अनुष्ठान में कुशल भी। ऐसे कुछ शब्दों पर विचार करने से इस मन्तव्य का सहज ही स्पष्टीकरण हो जाता है। 'वेदपारग' शब्द को ही देखिये। वाल्मीकि रामायण में 'वेदपारगाः'[1] 'वेदपारगान्'[2] 'वेदपारगैः'[3] इत्यादि रूपों में इसका अनेकशः प्रयोग किया गया है। 'वेदपारग' शब्द का सामान्य अर्थ है—वेद के पार जाने वाला। इस अर्थ के अनुसार तो वे जन भी वेदपारग या वेदपारङ्गत कहे जायेंगे जो वेद के पाठमात्र से उसमें पारङ्गत हो जाते हैं। किन्तु रामायण की टीकाओं के अवलोकन से प्रतीत होता है कि यहाँ केवल पाठमात्र को पूरा करने वाला 'वेदपारग' नहीं कहा गया। रामायणभूषण नामक टीका के अनुसार 'वेदपार' शब्द का अर्थ है वेद के अर्थ का बोध, उसे प्राप्त करने वाले वेदपारग कहलाते हैं।[4] तत्त्वदीपिका नामक टीका के अनुसार वेद का अर्थ है अधीत (=पठित वेद) 'पार' का अर्थ है फलयुक्त अर्थ का अवबोध, उसे प्राप्त करने वाले वेदपारग कहे जाते हैं।[5] दोनों अर्थों में स्वल्प सा अन्तर प्रतीत होता है। परिणामतः 'वेदपारग' शब्द के द्वारा वेदार्थ के ज्ञान में पारङ्गत जनों का निर्देश किया गया है।

वाल्मीकि रामायण के जिन सन्दर्भों में 'वेदपारग' शब्द का प्रयोग किया गया है उनके अनुशीलन से यह भी विदित होता है कि वेद में पारङ्गत व्यक्ति यज्ञ कराने के लिये आमन्त्रित किये गये थे, वेदाध्ययन के आधार पर वे विधिपूर्वक यज्ञ कराने वाले थे।[6] किञ्च, 'वेदपारग' शब्द के विशेष्य के रूप में प्रायः

---

१. द्र०, बाल० ९.११, १४.३; अयोध्या० १५.१।

२. द्र०, बाल० ८.५, १२.६; अयोध्या० ६८.१८।

३. द्र०, बाल० १४.४९; अयोध्या० ७१.२०।

४. वेदपारं तदर्थावबोधः, तद्गच्छन्तीति वेदपारगाः। कौशिकगोविन्दराज, रामायणभूषण, बाल० १४.३।

५. वेदस्याधीतस्य पारं फलवदर्थावबोधः तद्गच्छन्तीति। महेश्वरतीर्थ, रामायणतत्त्वदीपिका, बाल० १४.३।

६. (क) विधिवद्याजकाः। बाल० १४.३।
(ख) यज्वभिः······वेदपारगैः। अयोध्या० ७१.२०।

सर्वत्र ही ब्राह्मण या विप्र आदि शब्द का प्रयोग यहाँ किया गया है।[1] यह इस तथ्य का सूचक है कि वेदार्थ में पारङ्गत ब्राह्मण यज्ञ आदि कार्य कराने के अधिकारी होते थे। परिणामतः यज्ञ आदि के यथार्थ ज्ञान के लिये वेदार्थ का सम्यक् ज्ञान आवश्यक समझा जाता था। अतः यज्ञ आदि के बोध में वेदों का प्रामाण्य ही सर्वोपरि था। किन्तु ऐसा क्यों था? इसका आधार क्या था? इस विषय का विवेचन रामायण में नहीं किया गया।

यज्ञ आदि के विधिपूर्वक अनुष्ठान के लिये ही वेदार्थ का ज्ञान अनिवार्य नहीं था; अपितु जीवन के विविध कर्त्तव्यों के ज्ञान के लिये भी यह आवश्यक समझा जाता था। वाल्मीकि मुनि की जिज्ञासा के उत्तर में जब देवर्षि नारद पुरुषोत्तम राम का परिचय देते हैं तो उन्हें 'वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः'[2]=वेद तथा वेदाङ्गों के तत्त्व को जानने वाला बतलाते हैं। अयोध्या नगरी की समृद्धि का वर्णन करते हुए उसे वेद एवं वेदाङ्ग के पारङ्गत द्विजोत्तमों के द्वारा सेवित बतलाते हैं।[3] सुन्दर-काण्ड में राम को वेद-वेदाङ्गों में निष्ठित कहा गया है।[4] इसी प्रकार राजा जनक का वर्णन करते हुए उन्हें 'वेदेषु निष्ठितम्' कहा गया है।[5] जनक यज्ञ-विधि-विधानों के ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध नहीं हैं; अपितु ब्रह्मज्ञानियों में विख्यात हैं। इससे यह प्रकट होता है कि 'वेदनिष्ठ जन ब्रह्मज्ञानी भी होते थे'। गुरु वसिष्ठ जैसे ब्रह्मर्षि के लिये भी 'वेदविदां वरः' (वेदज्ञानियों में श्रेष्ठ), यह विशेषण दिया गया है।[6] वसिष्ठ राजधर्म के वेत्ता हैं, समस्त वेदों के ज्ञाता हैं। राम के वन-गमन और महाराज दशरथ के परलोक-गमन के अनन्तर जब भरत विलाप करने लगते हैं, भरत को देखकर अन्य सभी जन भी करुण रुदन कर उठते हैं; उस समय काञ्चनमय पीठ पर आसीन होकर मुनि वसिष्ठ राजदूतों को अनुशासित करते हैं। यहाँ वसिष्ठ का विशेषण 'सर्ववेदज्ञ' दिया गया है,[7] जो साभिप्राय है। इससे यह प्रकट होता है कि राजदूतों के अनुशासन के लिये भी वेदों का ज्ञान उपयोगी होता था। इसी प्रकार अन्य राजकार्य-संचालन के लिये भी।

---

१. (क) ब्राह्मणा वेदपारगाः। बाल० ६.११।
   (ख) ब्राह्मणान् वेदपारगान्। अयोध्या० ६८.१८।
   (ग) ब्राह्मणैः वेदपारगैः। अयोध्या० ७१.२०।
२. बाल० १.१४।
३. आवृतां द्विजोत्तमैर्वेदषडङ्गपारगैः। बाल० ५.२३।
४. सुन्दर० ३५.१४।
५. बाल० १३.२१।
६. अयोध्या० ५.३।
७. स काञ्चनमयं पीठं स्वस्त्यास्तरणसंवृतम्।
   अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च॥ अयोध्या० ८१.११।

मर्यादापुरुषोत्तम राम वेदवेदाङ्गों में निष्णात थे, यजुर्वेद में दीक्षित थे[१] तथा वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ थे। जब हनुमान् अशोकवाटिका में दुःखाभिभूत सीता को राम की कुशलता का सन्देश देते हैं तो वहाँ राम के साथ कतिपय विशेषणों का प्रयोग करते हैं; उनमें एक विशेषण है—'वेदांश्च वेद' (वेदों को जानते हैं) और दूसरा विशेषण है—'वेदविदां वरः'।[२] रामायण की तत्त्वदीपिका टीका के अनुसार प्रथम विशेषण के द्वारा राम का समस्त कर्ममार्ग में पारङ्गत होना बतलाया गया है और दूसरे विशेषण के द्वारा ज्ञानमार्ग में पारङ्गत होना।[३] इस टीका की व्याख्या के आधार पर कहा जा सकता है कि कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग में वेद का प्रामाण्य स्वीकारा जाता था।

राजा लोगों के लिये वेद का ज्ञान आवश्यक था, इसी हेतु राजकुमारों के शिक्षणक्रम में भी वेद-वेदाङ्ग के ज्ञान को स्थान दिया गया था। अस्त्रविद्या के समान ही वेद-वेदाङ्ग का अध्ययन आवश्यक समझा जाता था। राम जब विद्याव्रत स्नातक हुए तब वे अङ्गों सहित वेदों का भली-भांति ज्ञान प्राप्त कर चुके थे, 'यथावत्साङ्गवेदवित्' थे।[४] इस शब्द की व्याख्या करते हुए भूषण टीका में कहा गया है—यथावत्=तत्त्वतः, साङ्गवेदवित्=साङ्गवेदार्थज्ञः; अर्थात् ठीक प्रकार से अङ्गों सहित वेद के अर्थ को जानने वाला। इससे विदित होता है कि उस समय केवल वेदपाठ ही नहीं किया जाता था; अपितु वेदार्थ का भली-भांति ज्ञान प्राप्त किया जाता था। वह इस लिये कि वेद जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मार्गदर्शक होते थे।

वेद कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग के ही दर्शक नहीं माने जाते थे, सभी व्यक्तिगत एवं सामाजिक धर्मों के विधायक समझे जाते थे। कौशल्या के प्रति किये गये पातिव्रत्य धर्म के उपदेश में कहा गया है कि यह धर्म वेद के द्वारा सुना गया है।[५] सत्य की महिमा का बखान करते हुए कहा गया है कि सत्य में धर्म प्रतिष्ठित है और सत्य ही अक्षय वेद है।[६] इसकी व्याख्या करते हुए भूषण टीका में कहा

---

१. सुन्दर० ३५.१४।

२. यो ब्राह्ममस्त्रं वेदांश्च वेद वेदविदां वरः।
स त्वां दाशरथी रामो देवि कौशलमब्रवीत्। सुन्दर० ३४.३॥

३. वेदांश्चेत्यनेन सर्वकर्ममार्गपारगत्वम्, वेदविदां वर इत्यनेन ज्ञानमार्ग-पारगत्वमुक्तम्॥
महेश्वरतीर्थ, रामायणतत्त्वदीपिका, सुन्दर० ३४.३।

४. सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्। अयोध्या० १.२०।

५. एव धर्मः स्त्रिया नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः। अयोध्या० २४.२७।

६. सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम्॥ अयोध्या० १४.७।

गया है – सत्य ही धर्म की पराकाष्ठा है और अक्षय (क्षीण न होने वाले) वेद मुख्य रूप से सत्य का ही प्रतिपादन करते हैं।[१] अन्य स्थल पर कहा गया है— "वेदाः सत्य-प्रतिष्ठानाः"[२]। रामायणभूषण तथा रामायणतत्त्वदीपिका में 'सत्य-प्रतिष्ठानाः' शब्द का अर्थ किया गया है—'सत्याधाराः' सत्य के आधार। इस विवेचन से यह विदित होता है कि धर्म के उत्कृष्ट अङ्ग सत्य का वेदों में मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है और वेद सत्य के आधार हैं। फलतः यह कहा जा सकता है कि धर्म एवं सत्य में वेद प्रमाण हैं। किन्तु उनकी प्रामाणिकता का आधार क्या है? इसका यहाँ भी संकेत नहीं मिलता।

यह तो रही सामान्य रूप से वेदविषयक धारणा। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण के कुछ स्थलों पर वेदों का नाम लेकर उनके द्वारा प्रतिपादित अर्थ की ओर संकेत किया गया है। जब ऋष्यश्रृङ्ग मुनि महाराज दशरथ को पुत्रेष्टि करने की स्वीकृति देते हैं उस अवसर पर ऋष्यश्रृङ्ग को वेदज्ञ कहा गया है।[३] भूषण टीका में इस 'वेदज्ञ' शब्द का अर्थ किया गया है—अथर्वणवेदज्ञ। अग्रिम श्लोक में ऋष्यश्रृङ्ग की उक्ति इस प्रकार है—"मैं पुत्रोत्पत्ति का कारण होने वाली तुम्हारी पुत्रेष्टि को अथर्ववेद में उक्त मन्त्रों द्वारा विधिपूर्वक सिद्ध करूँगा"।[४] इस प्रकार ऋष्यश्रृङ्ग ने मन्त्र द्वारा अवगत विधि से होम किया।[५] इस सन्दर्भ से विदित होता है कि पुत्रेष्टि आदि यागविशेषों का विधान अथर्ववेद में है।

भिन्न-भिन्न वेदों में अनेक विद्याओं का निरूपण है, यह भी वाल्मीकि रामायण के एक सन्दर्भ से विदित होता है। हनुमान् ऋष्यमूक पर्वत से जाकर राम एवं लक्ष्मण से मिलते हैं और कहते हैं—"मैं हनुमान् नामक वानर महात्मा सुग्रीव द्वारा भेजा गया हूँ, सुग्रीव आपके साथ मित्रता करने के इच्छुक हैं। सुग्रीव के हित की कामना से मैं भिक्षु-वेष में यहाँ आया हूँ।"[६] हनुमान् के वाक्कौशल को देखकर राम अत्यधिक प्रभावित होते हैं और लक्ष्मण से कहते हैं—हे लक्ष्मण, स्नेहयुक्त वाक्यज्ञ हनुमान् से मधुर वाणी में बातें करो। वस्तुतः ऋग्वेद में शिक्षित न होने वाला, यजुर्वेद को धारण न करने वाला, सामवेद को न जानने

१. भूषण टीका, वही, १४.७।
२. वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत्। अयोध्या० १०९.१४।
३. बाल० १५.१।
४. इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
   अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः॥ वही, १५.२।
५. वही, १५.३।
६. द्र०, किष्किन्धा० ३.२२-२४।

वाला इस प्रकार वार्तालाप नहीं कर सकता।[1] इस कथन से यह विदित होता है कि हनुमान् ने सभी वेदों की शिक्षा प्राप्त की थी। इसी हेतु वे विविध विद्याओं के ज्ञाता एवं वाक्कुशल हो सके थे। भूषण आदि टीकाओं में विस्तार से यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार हनुमान् के वचनों से उनका वेदों का ज्ञाता होना प्रकट होता है। भूषण टीका के सभी मत ग्राह्य भले ही न हों; फिर भी इस सन्दर्भ से यह अवश्य प्रकट होता है कि रामायण काल में राजाओं के सचिव भी वेदों के द्वारा अनेक व्यावहारिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करते थे।

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के विविध सन्दर्भों से यह विदित होता है : उस समय यज्ञ के विधि-विधानों, राजनीति, व्यवहारविद्या, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग आदि सभी प्रकार के व्यक्तिगत एवं सामाजिक कर्तव्यों के ज्ञान के लिये वेदों का आश्रय लिया जाता था। जीवन के सभी क्षेत्रों के लिये आवश्यक ज्ञान वेदों से प्राप्त होता था। किन्हीं विशिष्ट विद्याओं के लिये वेदविशेष का महत्त्व भी समझा जाता था। वेदज्ञान की प्रामाणिकता का भी अनुभव किया जाता था। किन्तु वेद को किस आधार पर प्रामाणिक माना जाता था? एतद्विषयक विचार हमें वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध नहीं हो सका। सम्भवतः विद्वत्समाज की परम्परा या वातावरण ही इसका आधार रहा होगा।

४. महाभारत और वेद-प्रामाण्य

महाभारत में वेद-विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। वहाँ वेदों की संख्या, उत्पत्ति और वेदाध्ययन का अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है। इसी प्रकार वेदपारगः (१.५.१०), वेदविदां वरः (१.५३.५; १.१.१०६), वेदवित् (१.५६.२७; १.६७.७५) इत्यादि शब्दों का बहुशः प्रयोग किया गया है। यही नहीं; अङ्गों तथा उपनिषदों सहित वेद के अध्ययन का भी उल्लेख किया गया है।[2] केवल ब्राह्मण ही वेदाध्ययन नहीं करते; अपितु क्षत्रियों तथा राजाओं के भी वेदाध्ययन की चर्चा की गई है।[3] भीष्म पितामह को 'वेदविद' कहा गया है

१. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥ वही, कि० ३.२९।

२. द्र०, (क) साङ्गोपनिषदान्वेदान्विप्राश्चाधीयते तदा। महाभारत, (गीता प्रेस, हिन्दी अनुवाद, प्रथम खण्ड) आदिपर्व, ६४.१९।
(ख) सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः। वही, ६६.६।

३. अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य चाग्नीनिष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च।
गोब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतान्तरात्मा हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति॥ महा० मूल० ३य भाग, उद्योगपर्व, ४०.२६।

(१.६७.७५); अन्य शूरों को भी 'वेदविद्' बतलाया गया है (१.६७.१०८), ययाति स्वयं कहता दिखलाई देता है कि समस्त वेद का श्रवण मैंने किया है (१.८१.१४), पाण्डव पिता की मृत्यु के उपरान्त अल्पकाल में ही वेद के विद्वान् हो जाते हैं (१.६१.६)।

महाभारत के अनुसार वेदाध्ययन अर्थज्ञान-पूर्वक करना होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थान-स्थान पर जो 'वेदपारगः', 'वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः' इत्यादि शब्दों का प्रयोग महाभारत में मिलता है, वहाँ सर्वत्र अर्थसहित वेदाध्ययन की ओर ही महाभारतकार का संकेत है। कुछ स्थलों पर स्पष्टतः 'वेदार्थ-तत्त्वज्ञः' जैसे शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] इसी हेतु यवक्रीत ने वेदज्ञान के लिये घोर तप किया था।[2] एक स्थल पर स्पष्टतः यह कहा गया है कि जो वेद के ग्रन्थ को धारण करता है, किन्तु अर्थतत्त्व को नहीं जानता उसका ग्रन्थ-धारण करना व्यर्थ ही है।[3] इसी प्रकार, जो साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन करता है; किन्तु वेद के अर्थ को नहीं जानता वह केवल भारवहन करता है—बोझा ढोता है।[4] वैशम्पायन ने अपने गुरु को वेदार्थ के जानने की इच्छा वाला—'वेदार्थान् वेत्तुकामस्य' (१२.३४९.९) कहा है। इस प्रकार के प्रसङ्गों से विदित होता है कि वेद का अध्ययन अर्थज्ञानपूर्वक ही महाभारतकार को अभिमत था।

वेदार्थ के प्रसङ्ग में महाभारत में वेद के प्रतिपाद्य विषय पर भी प्रकाश डाला गया है। किन्हीं प्रसङ्गों से विदित होता है कि वेदों का फल अग्निहोत्र आदि यज्ञ है—अग्निहोत्रफला वेदाः (२.५.११३; ५.३९.६५)। इसी प्रकार वेदाचार-विधानोक्तैर्यज्ञैः (३.१५०.२९) – वेद तथा शिष्टाचार के विधान से विहित यज्ञों के द्वारा। अन्य स्थल पर भी इसी प्रकार कहा गया है—(क) हे राजन्! जिनमें वेद विहित यज्ञ स्थित हैं।[5] (ख) और यह भी कि वेदोक्त विधान से मुझ (अग्नि) में जो हवि दिया जाता है, उससे तुम्हारे देवता और पितर तृप्त होते हैं (१.७.७)। एक स्थल पर जातवेद शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाते हुए यह प्रकट किया गया है कि वेदों का प्रादुर्भाव अग्नि के लिये ही हुआ।[6] किन्तु महाभारतकार की

---

१. स हि वेदार्थतत्त्वज्ञस्तेषां गुरुरुदारधीः। आदिपर्व, १८२.१०।
२. तपस्तेपे ततो घोरं वेदज्ञानाय। अरण्यपर्व, १३५.१६।
३. यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः। न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा॥
(महा० मूलमात्र तृतीय भाग, गीता प्रेस, २०१४ वि०) शान्तिपर्व, ३०५.१३॥
४. साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः॥ वही, ३१८.५०।
५. वेदोक्ताः पृथिवीपाल येषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः। भीष्मपर्व, ४.१२।
६. वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि। सभापर्व, ३१.४२।

दृष्टि में केवल यज्ञ ही वेदों का प्रतिपाद्य विषय नहीं है और यज्ञ शब्द का अर्थ केवल अग्निहोत्र आदि ही नहीं है; अपितु उत्तम यज्ञ तो परमात्मा है। अनुशासन-पर्व में ब्रह्मा जी नारायण से कहते हैं—अङ्गों तथा उपनिषदों सहित, रहस्यों सहित, संग्रहों सहित, ओङ्कार सहित, वषट्कार सहित सब वेद तुझे ही उत्तम यज्ञ कहते हैं।[1] वहाँ स्थान-स्थान पर वेद के प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण किया गया है, जिसका दिग्दर्शन मात्र ही यहाँ कराया जा सकता है।

महाभारत के अनुसार वेद में आयुर्विज्ञान आदि का भी संकेत है; जैसे—हे द्विजश्रेष्ठ वेदशास्त्र में यह पढ़ा गया है कि त्वक् (त्वचा) मांस और शोणित माता से उत्पन्न होते हैं (१२.३०५.६)। वेदों में पुरुष को शतायु कहा गया है (५.३७.९)। जीवन के विविध संस्कार भी वेदप्रतिपादित हैं:—तब पाण्डवों ने वेदोक्त संस्कारों को प्राप्त किया (१.१२७.१४)। भृगु ऋषि ने वेद में दृष्ट कर्म के द्वारा मुझे (अग्निदेवता को) साक्षी बनाकर विधिपूर्वक इस भार्या को प्राप्त किया है।[2] एक स्थान पर कहा गया है- पाणिग्राहक (विवाह करने वाले) व्यक्ति का ही पुत्र होता है, यह वेदों में निश्चित किया गया है।[3] वेद में कर्त्तव्य कर्मों के करने और अन्य कर्मों को छोड़ने का भी स्पष्ट विधान है—यह वेदवचन है कि कर्म करो और (अकर्म को) छोड़ दो।[4] इसी प्रकार सत्य को वेदों का रहस्य और दम को सत्य का रहस्य कहा गया है (१२.२९९.१३)। व्यासजी युधिष्ठिर से कहते हैं—वेद के प्रमाण से विहित धर्म का तुम्हें उपदेश करता हूँ।[5] देश, जाति और कुल के धर्मों को भी वेदोक्त बतलाया गया है,[6] और कहा गया है—वैदिक कर्म स्वर्ग का अनुत्तम मार्ग है।[7] इसी प्रकार अधर्म को लोक-वेद-विरुद्ध बतलाया गया है।[8] धर्म के प्रसङ्ग में ही वहाँ विविध क्रतुओं की चर्चा की गई है।[9] और, यह भी बतलाया गया है कि वेद प्रभु को विष्णु कहते हैं (६.८.२२), ये महेश्वर

---

१. वेदाः साङ्गोपनिषदः सरहस्याः ससंग्रहाः।
सोङ्काराः सवषट्काराः प्राहुस्त्वां यज्ञमुत्तमम्॥ अनुशासनपर्व, १३.१७।

२. यथेमां वेददृष्टेन कर्मणा विधिपूर्वकम्। भार्यामृषिर्भृगुः प्राप मां पुरस्कृत्य दानव॥ आदिपर्व, ५.३३।

३. वही, ९८.४-५ (भण्डारकर०, पूना, १९७१)।

४. अरण्यपर्व, २.७४।

५. वेदप्रमाणविहितं धर्मं च प्रब्रवीमि ते। शान्तिपर्व, ३४. १८।

६. वही, ५०.३५।

७ वही, ११.१३।

८. आदिपर्व, १९४.२८।

९. अरण्यपर्व, ८२.१३।

के ही रूप हैं (७.२०२.१०६)। अन्य स्थल पर व्यवहार को वेद-विषय कहा गया है या वेद-स्वरूप कहा गया है (१२.१२१.५१,५३)। यह भी बतलाया गया है कि वेदों में आत्मसिद्धि का वर्णन है।[1] एक स्थल पर तो स्पष्टतः यह कहा गया है कि वेद में सब कुछ स्थित है—वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।[2] इस प्रकार महाभारत के अनुसार वेदों में आचार, व्यवहार, यज्ञ, ब्रह्म, आयुर्विज्ञान इत्यादि सभी का निरूपण किया गया है। इसका अभिप्राय है कि इन सभी विषयों में वेद प्रमाण है।

कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी हैं, जिनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि महाभारतकार वेदों की प्रामाणिकता दिखला रहे हैं। उदाहरणार्थ—(क) वेद की महत्ता का निरूपण, (ख) वेद के अप्रामाण्यवाद की निन्दा, (ग) महाभारत को वेद-तुल्य कहना इत्यादि।

(क) वेद की महत्ता महाभारत में कई स्थलों पर वर्णित की गई है; जैसे वेदशास्त्रों का अध्ययन करने वाले पाण्डवों ने पूजा प्राप्त की। किसी से उन्हें भय नहीं प्राप्त हुआ (१.१.१२४); वेदों का धारण करना ब्राह्मण का परम धर्म है (१.११.१६)। अन्यत्र कहा गया है कि जो वेदों में विधान किया गया है, उसका आचरण करके उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त होता है।[3] शान्तिपर्व में बतलाया गया है—वेदमतों का अतिक्रमण करके शास्त्रों और आरण्यकों का अतिक्रमण करके उन्होंने इसी प्रकार सार को प्राप्त नहीं किया जिस प्रकार कदली के स्तम्भ को फाड़कर कहीं सार नहीं मिलता।[4] वेद की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वेद से उत्कृष्ट कोई शास्त्र नहीं है—नास्ति वेदात् परं शास्त्रम्।[5]

(ख) यहाँ कहा गया है कि कायर लोग वेदों को प्रमाण न मानने वाले (नास्तिक) जनों के समान संग्रामभूमि से लौट गये, ऐसे लोग नरक को प्राप्त होते हैं, पाप को भोगते हैं।[6] इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि वेदों को दूषित

---

१. आत्मसिद्धिस्तु वेदेषु प्रोच्यते। शान्तिपर्व, २३२.२८।
२. वही, २७०.४३।
३. द्र०, द्रोणपर्व, १४६.२२।
४. वेदवादानतिक्रम्य शास्त्राण्यारण्यकानि च।
विपाट्य कदलीस्तम्भं सारं ददृशिरे न ते॥ शान्तिपर्व, १९.१७।
५. अनुशासनपर्व, १०६.६५।
६. असन्तस्तु न्यवर्तन्त वेदेभ्य इव नास्तिकाः।
नरकं भजमानास्ते प्रत्यपद्यन्त किल्बिषम्॥ द्रोणपर्व, १०१.४।

करने वाले नरक गामी होते हैं (१३.२३.७२)। एक स्थल पर कहा गया है—लक्ष्मी से विहीन, अधम नास्तिक जनों के द्वारा प्रवृत्त किया गया वेदमत का विज्ञान सत्य सा भासित होने वाले अनृत के समान है।[1] वेदों की प्रामाणिकता को न मानना आत्म-नाश का निमित्त कहा गया है।[2] इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी वेदनिन्दकों की निन्दा की गई है; जैसे—कुछ श्रुति की निन्दा करते हैं, कुछ निर्बुद्धि श्रुति को दोष लगाते हैं और उसे प्रमाण नहीं मानते, वे इसी लोक में दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।[3] वेदनिन्दा को अनेक पापों के समान त्याज्य कहा गया है—नास्तिकता, वेदनिन्दा, देवों के दोष दिखलाना, द्वेष, स्तब्धता, अभिमान और तीक्ष्णता को छोड़ देवे।[4]

(ग) महाभारत की प्रामाणिकता एवं महत्त्व को प्रकट करने के लिये उसे वेद की शिक्षाओं से युक्त तथा वेद के समान और वेद नाम से कहा गया है। आरम्भ में ही महाभारत के श्रवण की इच्छा करते हुए ऋषिजन कहते हैं—चारों वेदों से युक्त, पुण्यमयी, पाप और भय को नष्ट करने वाली, अद्भुत कर्म वाले व्यास मुनि की संहिता को हम सुनना चाहते हैं।[5] महाभारत का महत्त्व दिखलाते हुए कहा गया है—यह ऋषियों द्वारा संस्तुत, पुरातन, श्रवण करने योग्य तथा सब ग्रन्थों में श्रेष्ठ है। यह वेदों के समान ही पवित्र तथा उत्तम है।[6] इसी प्रकार जो महाभारत का पाठ करता है उसे सम्पूर्ण वेदों का पारङ्गत जानना चाहिये।[7] अन्यत्र कहा गया है—यह इतिहास पवित्र है, महान् अर्थ से युक्त है तथा वेद के तुल्य है।[8] किन्हीं स्थलों पर महाभारत को 'कार्ष्ण वेद' कहा गया है।[9] कहीं-कहीं

---

१. श्रिया विहीनैरधनैर्नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम्।
वेदवादस्य विज्ञानं सत्याभासमिवानृतम्॥ शान्तिपर्व, ६०.२०।

२. वही, ७९.१९।

३. श्रुतिं केचिन्निन्दमानाः श्रुतिं दूष्यन्त्यबुद्धयः।
प्रमाणं न च कुर्वन्ति ये यान्तीहापि दुर्गतिम्॥ आश्वमेधिकपर्व, अ० ९२, पृ० ३८७।

४. नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां कुत्सनम्।
द्वेषस्तम्भोऽभिमानं च तैक्ष्ण्यं च परिवर्जयेत्॥ अनुशासनपर्व, १०४.३६।

५. वेदैश्चतुर्भिः संयुक्तां व्यासस्याद्भुतकर्मणः।
संहितां श्रोतुमिच्छामः पुण्यां पापभयापहाम्॥ आदिपर्व, १.२१।

६. इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।
श्राव्याणामुत्तमं चेदं पुराणमृषिसंस्तुतम्॥ वही, ६२.१६, ४६ इत्यादि।

७. विज्ञेयः स च वेदानां पारगो भारतं पठन्। वही, ६२.३२।

८. स्वर्गारोहण पर्व, ५.५७।

९. आदिपर्व, २.२६८; ६२.१८।

इसे चारों वेदों के समान कहा गया है ।[1] इसे सब वेदों का रहस्य भी कहा गया है ।[2] इन प्रसङ्गों से यह स्पष्ट है कि महाभारत की प्रामाणिकता और महत्त्व को दिखलाने के लिये वेदों से इसकी समता दिखलाई गई है ।

इनके अतिरिक्त किन्हीं स्थलों पर तो स्पष्ट शब्दों में वेद प्रमाण हैं, यह कहा गया है; वेदाः प्रमाणं लोकानाम्—लोकों के लिये वेद प्रमाण हैं ।[3] और वेद और शास्त्र दोनों सनातन प्रमाण हैं ।[4] यह भी कहा गया है कि—(क) जब वेद सभी विषयों में प्रमाण हैं तो धर्म के विषय में प्रमाण हैं ही[5], (ख) मनुष्य श्रुति-प्रामाण्य को देखकर ही धर्म का आचरण करते हैं[6], (ग) वेदप्रामाण्य के दर्शन से ऋषि, ब्राह्मण और देव अहिंसारूप धर्म की प्रशंसा करते हैं (१३.११४.२), (घ) श्रुतसम्पन्न ऋषिजन वेदप्रामाण्य की दृष्टि से यह कहते हैं कि अग्नि सब देवता है (१३.८५.१११) । यहाँ वेद, पुराण, इतिहास के प्रामाण्य से ब्राह्मण के महत्त्व का भी कथन किया गया है ।[7] इसी प्रकार मनु के समान यह भी कहा गया है कि धर्म की जिज्ञासा करने वालों के लिये श्रुति ही परम प्रमाण है ।[8] वेद को प्रमाण मानने वालों की स्तुति करते हुए कहा गया है—जो ब्राह्मण इतिहास तथा वेदों को प्रमाण मानते हैं, नित्य आस्तिक बुद्धि वाले होते हैं, वे अमरों के सायुज्य को प्राप्त हो जाते हैं ।[9]

इस प्रकार वेद-प्रमाण अथवा वेद-प्रामाण्य आदि शब्दों का महाभारत में बहुशः प्रयोग उपलब्ध होता है । कुछ सन्दर्भ ऐसे भी मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि महाभारतकार की दृष्टि में वेद क्यों प्रमाण हैं । एक स्थल पर बतलाया गया है कि आम्नाय वचन सत्य होता है, यह लोक का निश्चय है और आम्नायों से ही विविध अर्थों वाले वेदों का प्रसार हुआ है ।[10] इस वचन में

---

१. वही, १.२७१ ।

२. रहस्यं सर्ववेदानाम् । शान्तिपर्व, २४६.१३ ।

३. शान्तिपर्व, २७०.१ ।

४. वही, ३०५.७ ।

५. ते चेद् सर्वप्रमाणं वै प्रमाणं ह्यत्र विद्यते । वही, २६०.१० ।

६. कुर्वन्ति धर्मं मनुजाः श्रुतिप्रामाण्यदर्शनात् । वही, २६७.३३ ।

७. वही, ३४२.२० ।

८. धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः । आश्वमेधिक पर्व, अ० ९२, पृ० ३८६ ।

९. प्रमाणमितिहासं च वेदान् कुर्वन्ति ये द्विजाः ।
ते यान्त्यमरसायुज्यं नित्यमास्तिक्यबुद्धयः ॥ वही, अ० ९२, पृ० ३८७ ।

१०. आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोकसंग्रहः । आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतोमुखाः । शान्तिपर्व, २६०.९ ।

आम्नाय शब्द का अर्थ विचारणीय ही है। कोष आदि के अनुसार आम्नाय शब्द का अर्थ पवित्र परम्परा (Sacred tradition) आदि है।[१] फिर भी इतना स्पष्ट है कि सभी आम्नाय वचन सत्य माने गये हैं। इसी हेतु वेद भी सत्य या प्रमाण हैं। एक अन्य सन्दर्भ में महाभारत में कहा गया है—अपनी इच्छानुसार प्रचलित विचारों का अतिक्रमण करके यह अभिमान (स्मय) प्रचलित हो गया कि वेदवचन असत्य हैं; किन्तु वेद असत्य क्यों कहेगा?[२] इस कथन से यह विदित होता है कि उस समय कुछ लोग वेदों की प्रामाणिकता में सन्देह करने लगे होंगे, किन्तु महाभारतकार की दृष्टि में वेद में अप्रमाण या असत्य का स्थान ही नहीं। फिर भी इस कथन में वेद की प्रामाणिकता के लिये कोई हेतु नहीं दिया गया है। 'आम्नायवचनम्' इत्यादि में वेदों की प्रामाणिकता मानने का बीज अवश्य दृष्टिगोचर होता है। संभवतः यत्र तत्र जो आम्नाय की प्रामाणिकता की चर्चा दृष्टिगोचर होती है, उसमें भी इसी प्रकार की भावना निहित रही होगी।

महाभारत का एक विशिष्ट रत्न श्रीमद्‌भगवद्‌गीता है। गीता के अनेक वचनों से वेदविषयक विचार प्रकट हुए हैं। उदाहरणार्थ (१) वेदज्ञानी उस परा-शक्ति को अक्षर कहते हैं,[३] (२) भगवान् ही ऋक्, साम तथा यजुः है,[४] (३) वह वेदों में सामवेद है,[५] (४) वेद जिसके पत्र हैं, जो उसको जानता है, वही वेदवित् है,[६] (५) उसने ही प्राचीन काल में वेद और यज्ञों का विधान किया,[७] (६) सब वेदों के द्वारा भगवान् (अहम्) ही वेद्य है, वही वेदान्तों का कर्त्ता और वेदों का ज्ञाता है,[८] (७) वह पराशक्ति क्षर से परे है, अक्षर से भी उत्तम है, इसीलिये लोक और वेद में पुरुषोत्तम रूप से प्रसिद्ध है।[९]

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी हैं जिनसे यह समझ लिया जाता है कि यहाँ वेदों का तिरस्कार किया गया है। जैसे वहाँ कहा गया है (क) जो

१. Monier Williams, Sanskrit-English Dictionary.
२. अतिच्छन्दातिवादाभ्यां स्मयोऽयं समुपागतः।
   असत्यं वेदवचनं कस्माद् वेदोऽनृतं वदेत्। अनुशासनपर्व, १२०.६।
३. यदक्षरं वेदविदो वदन्ति। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, ८.११।
४. वही, ९.१७।
५. वही, १०.२२।
६. छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्। वही, १५,१।
७. वही, १७.२३।
८. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्। वही, १५.१५।
९. वही, १५.१८।

अविवेकी जन इस पुष्पित अर्थात् दिखावटी वाणी को कहते हैं, वेद के विचार में तत्पर होकर अन्य कुछ नहीं है, ऐसा भी कहते हैं, उनकी बुद्धि समाधि में स्थित नहीं होती,[१] (ख) वेद त्रिगुण के विषय में हैं, हे अर्जुन ! तुम त्रिगुणों से परे हो जाओ,[२] (ग) विश्वरूप दर्शन के सन्दर्भ में कहा गया है कि मेरा यह रूप वेदों से, तप से, दान से, तथा यज्ञों से भी नहीं देखा जा सकता ।[३]

कहना न होगा कि इस प्रकार के सन्दर्भों में केवल ज्ञान और भक्ति आदि की महत्ता का अतिशयोक्ति-पूर्ण ढंग से वर्णन करना ही ग्रन्थकार का उद्देश्य रहा है । वस्तुतः ऊपर के सन्दर्भों से यह स्पष्ट विदित होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता में वेद का प्रामाण्य स्वीकारा ही गया है । वहाँ स्पष्टतः कहा गया है—इसीलिये कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में तेरे लिये शास्त्र ही प्रमाण है । अतः शास्त्र-विधि से विहित कर्म को जानकर ही तुम्हें कर्म करना उचित है ।[४]

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि महाभारत में ऐसे अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, जिनमें वेद-प्रामाण्य की ओर संकेत किया गया है अथवा साक्षात् रूप से वेद की प्रामाणिकता दिखलाई गई है । वहाँ कुछ ऐसे भी संकेत हैं, जिनसे प्रकट होता है कि उस समय वेद-प्रामाण्य के विरोध में भी कुछ कहा जाने लगा था । महाभारतकार ने इस विषय में बहुत ही कम कहा है कि वेदों की प्रामाणिकता का आधार क्या समझा जाता था ? इसी प्रकार यह भी नहीं बतलाया कि यदि वेद की प्रामाणिकता के विरुद्ध कोई आवाज उठाई गई थी, तो उसका आधार क्या था ?

५. पुराण और वेद-प्रामाण्य

महाभारत में कहा गया है—इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्[५], इस वचन से यह विदित होता है कि इतिहास और पुराण वेद के अर्थ की स्पष्ट व्याख्या करते हैं, उसकी पुष्टि करते हैं और उसे विशदतर करते हैं । किन्तु उन

---

१. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ वही, २.४२ ।

२. त्रैगुण्यविषया वेदाः, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । वही, २.४५ ।

३. वही, ११.४८, ५३ ।

४. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ वही, १६.२४ ।

५. आदिपर्व, १.२६७ । उपपूर्वक बृंह् धातु का अर्थ वृद्धि है । कोष में उपबृंहण का अर्थ पुष्ट करना, समर्थन करना (Supporting) बतलाया गया है ।

इतिहास और पुराणों की आज किस रूप में उपलब्धि होती है, यह विवाद का विषय है।

आज पुराण नाम से जो वाङ्मय उपलब्ध है, उसे ही महाभारत ने वेदों का उपबृंहण करने वाला नहीं कहा है; क्योंकि आज के अनुसंधानों से यह विदित होता है कि उपलब्ध पुराण साहित्य परवर्ती है।[1] साथ ही वेद में जो पुराण शब्द दृष्टिगोचर होता है,[2] वह भी उपलब्ध पुराणों का वाचक नहीं हो सकता। कुछ विद्वानों का विचार है कि उपलब्ध पुराणों के मूलभूत कोई प्राचीन पुराण थे।[3] सम्भवतः उन्हें ही महाभारत में वेदों का उपबृंहक कहा गया है। यह भी स्वीकारा जाता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों अथवा उनके किन्हीं विशिष्ट अंशों का नाम ही पुराण है।[4] और, यह भी संभावना है कि वेदों के कतिपय विशिष्ट सन्दर्भों को भी पुराण शब्द से कहा गया है।[5] इस विषय की समीक्षा करना यहाँ वाञ्छनीय नहीं है। यहाँ तो यही विचार करना है कि आज पुराण नाम से जो वाङ्मय प्रसिद्ध है, उसमें वेद-प्रामाण्य विषयक क्या सामग्री उपलब्ध होती है?

वेद को प्रमाण मानने के कारण ही पुराणों में वेदोक्त आख्यानों की व्याख्यायें की गईं, वेदमत प्रस्तुत किये गये और कहीं-कहीं वेदमन्त्रों की व्याख्या भी। फिर भी वहाँ आगमों और स्मृतियों की सामग्री को भी स्थान दिया गया और कुछ बातों में उन्हें वेदों से भी अधिक बतलाया गया। इसी हेतु स्कन्द पुराण में श्रुति, स्मृति और पुराण को विद्वानों के तीन नेत्र बतलाया गया है।[6]

पुराणों में अनेक ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं, जिनके द्वारा पुराणों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये उन्हें वेदों का सार अथवा वेदों के समान कहा गया है। उदाहरणार्थ; स्कन्द पुराण में कहा गया है—पुराण वेदों की आत्मा है।[7] और, यह भी 'समस्त वेद पुराण में प्रतिष्ठित हैं, इसमें सन्देह नहीं'।[8] इसी प्रकार

---

१. द्र०, रामशंकर भट्टाचार्य, पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० ९-१२; ३२-३६।

२. द्र०, अथर्ववेद, १५.६.११-१२।

३. द्र०, पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० २३।

४. द्र०, स्वा० दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (रामलाल कपूर ट्रस्ट, १९६७), पृ० ६४।

५. द्र०, श्रीनिवास शास्त्री, वेद तथा ऋषि दयानन्द (कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, १९७९), पृ० २०-२१।

६. श्रुति-स्मृति-पुराणानि विदुषां लोचनत्रयम्। स्कन्दपुराण, रेवाखण्ड, १.१६।

७. आत्मा पुराणं वेदानाम्। स्कन्दपुराण, रेवाखण्ड, १.२२।

८. वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नाऽत्र संशयः। वही, प्रभासखण्ड, २.९०।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है—इतिहास-पुराण को पञ्चम वेद कहा जाता है।[1] नारदीय पुराण का कथन है—पुराण सब वेदार्थों के सार हैं।[2] इन वचनों से इतना स्पष्ट है कि पुराणकारों की दृष्टि में वेद की प्रामाणिकता असन्दिग्ध थी।

पुराणों में वेदों की प्रशंसा भी दृष्टिगोचर होती है। मार्कण्डेय-पुराण में कहा गया है कि त्रयी में विश्व प्रतिष्ठित है।[3] पुराण में वेद को ब्रह्म का रूप और नित्य शक्ति कहा गया है—यह ब्रह्म का सहज रूप है, नित्या एवं अविनश्वरा शक्ति है।[4] वहां वेदनिन्दा को पाप कहा गया है,[5] और वेद की निन्दा करने वालों के लिये कठोर शब्दों का प्रयोग किया गया है।[6] और यह भी—धर्म वेद-विहित है, वेद का तात्पर्य नारायण में है; अतः वेद में जो अश्रद्धा रखते हैं, उनसे भगवान् अत्यधिक दूर है।[7] इसी प्रकार वेदोक्त धर्म की प्रशंसा और महत्ता भी पुराणों में वर्णित की गई है। वहां वेदोक्त धर्म को अत्यधिक श्रेयस्कर कहा गया है।[8] और, यह भी बतलाया गया है कि स्मृतियों का धर्म भी वेदमूलक है।[9] यद्यपि पुराणों में कुछ ऐसे भी सन्दर्भ हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वहां वेदों की निन्दा की गई है। उदाहरणार्थ; पद्म-पुराण में वैदिक कर्मकाण्ड को दोषयुक्त कहा गया है।[10] कहीं-कहीं हिंसा आदि के कारण तथा ऋत्विज जनों के अनैतिक आचरणों के कारण भी वेदों की निन्दा की गई है।[11] वेद धर्म की जटिलता और पुराणधर्म की सफलता दिखलाने के लिये भी वैदिक धर्म (सुतरां वेद) की अपकृष्टता का प्रतिपादन किया गया है, यह भी कहीं-कहीं स्पष्टतः दृष्ट होता है।[12] किन्तु इस वेदनिन्दा का आधार कुछ दार्शनिक युक्तियां और कुछ साम्प्रदायिक दृष्टिकोण ही समझा जा सकता है। कहीं कहीं यह निन्दा वेद-बाह्य दृष्टियों से ही की गई है। वहां अनेक वेद-बाह्य-सम्प्रदायों की चर्चा भी मिलती है। अतः इसके आधार पर पुराणों को वेद-विरोधी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः 'पुराणों में वेद को अभ्युदय-निःश्रेयसकारक, सर्वप्राणियों

---

१. इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते। श्रीमद्भागवत, १.४.२०।
२. सर्ववेदार्थसाराणि पुराणानि। नारदीय पुराण, १.६.९७।
३. मार्कण्डेय पुराण, २९.६।
४. ब्रह्मणः सहजं रूपं नित्यैषा शक्तिरव्यया। कूर्मपुराण, १.२.२७-२८।
५. वामनपुराण, ४७.४२।
६. पद्मपुराण, २.६८.४।
७. बृहन्नारदीय पुराण, (चौखम्बा, अमर भारती, वाराणसी, १८७५), ४.१७।
८. कूर्मपुराण, २.२४.१५।
९. स्मृतयश्च श्रुतेरर्थं गृहीत्वैव च निर्गताः। देवीभागवत पुराण, ७.३९.१७।
१०. पद्मपुराण, ४.३५.३०।
११. द्र०, श्रीमद्भागवत, ११.२१.३०, ३२-३४; ६.३.२५ इत्यादि।
१२. रामशंकर भट्टाचार्य, पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० ४६।

के लिये चक्षुः स्वरूप, धर्माधर्म में परमप्रमाण, वर्णाश्रमव्यवस्थापक, सर्वशास्त्रमूल श्रेष्ठशास्त्र इत्यादि रूप में बहुधा चित्रित किया गया है।"[1]

प्रचलित पुराणों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि इनकी रचना अथवा परिवर्द्धन आदि वेद को प्रमाण मानने वाले विद्वानों के द्वारा हुए हैं। अतः यहाँ वेद की प्रामाणिकता मानी गई है। नारदीयपुराण में कहा गया है—हे मुनीश्वरों! जो वेद-वेदाङ्ग तथा शास्त्रों का सार है, इस सब को जगत् के हित के लिये मुनि ने पुराणों में कहा है।[2] यहाँ भगवान् की वेदोद्धारक रूप में स्तुति की गई है[3] और यह भी कहा गया है—जो ब्राह्मणों का हितकारी है, सब कर्मों में हितभाव रखता है, सदा वेद के विचार में तत्पर है वह उत्तमजन हमारे लिये वन्दनीय है।[4] इसी प्रकार जिसकी बुद्धि वेद के अर्थ-ग्रहण में तत्पर है, उसको भी वन्दनीय कहा गया है।[5] पुराणों में यही शिक्षा दी गई है—व्यक्ति ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये आश्रम के अनुसार वेदोक्त कर्म करे।[6] यही नहीं, उत्तम भगवद्भक्त (भागवत) वे ही हैं, जो आश्रमों के आचरण में तत्पर हैं, अतिथियों की पूजा करते हैं और वेदार्थ की व्याख्या करने वाले हैं।[7]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर तथा पुराणों में आये हुए वेदोत्पत्ति आदि के सन्दर्भों के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि पुराणों में वेदों को प्रमाण माना गया है, वेद-प्रतिपादित धर्म का कर्तव्य रूप में निर्देश किया गया है और वेद-विरोधी विचारों की निन्दा भी की गई है। किन्तु पुराणों में केवल वेदोक्त धर्म का ही वर्णन नहीं किया गया; अपितु विविध शास्त्रों, स्मृतियों तथा शिष्टाचारों का यहाँ संकलन किया गया है। फिर भी पुराणों की व्याख्याओं को वेदार्थ के समझने में सहायक समझा जाता है। पुराणों के आख्यान भी वेद के रहस्य को समझने में हमारी सहायता करते हैं। इतना अवश्य है कि पुराणों में युक्तियों द्वारा यह नहीं प्रतिपादित किया गया कि वेदों को प्रामाणिक मानने का आधार क्या था? इसके लिये हमें दर्शनशास्त्र की ओर ही देखना पड़ता है।

---

१. वही, पृ० ४३।
२. बृहन्नारदीयपुराण, १.२२।
३. वही, २.३१।
४. वही, ३.६२।
५. वही, ३.६६।
६. द्र०, वही, ३.८०।
७. आश्रमाचारनिरतास्तथैवातिथिपूजकाः।
ये च वेदार्थवक्तारस्ते वै भागवतोत्तमाः॥ वही, ५.५२।

६. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वेद-प्रामाण्य

अर्थशास्त्र में 'त्रयी' अर्थात् ऋग्, यजुः और साम को विद्याओं में गिना गया है और यह भी बतलाया गया है कि विद्याओं के द्वारा धर्म और अर्थ का बोध होता है,[१] 'त्रयी' में धर्म और अधर्म की व्यवस्था है।[२] यह त्रयी में उक्त धर्म चारों वर्णों और आश्रमों के अपने-अपने कर्तव्य की व्यवस्था करता है; अतः उपयोगी है।[३] इस प्रकार बतलाते हुए अर्थशास्त्र में त्रयी के अनुसार वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्य का विवेचन किया गया है और साथ ही यह भी कहा गया है कि अहिंसा, सत्य, शौच, ईर्ष्या एवं क्रूरता का त्याग और क्षमा सभी के सामान्य धर्म हैं।[४] वहाँ यह भी कहा गया है कि त्रयी विद्या से सुरक्षित हुआ संसार प्रसन्न रहता है, कभी पीड़ित नहीं होता।[५] इस प्रकार के सन्दर्भों से यह विदित होता है कि अर्थशास्त्र की दृष्टि में ऋग्, यजुः और साम नामक त्रयी विद्या में लोकोपयोगी समस्त ज्ञान विद्यमान है और उसके अनुसार आचरण से लोक सुखी होता है। इससे यह स्पष्ट ही है कि अर्थशास्त्र के प्रणेता की दृष्टि में वेद प्रमाण हैं।

राजा के कुछ सहायकों की नियुक्ति का निरूपण करते हुए कहा गया है कि अङ्गों सहित वेदों का ज्ञाता तथा दैवी और मानुषी विपत्तियों का अथर्ववेद के उपायों द्वारा निराकरण कर सकने वाला पुरोहित बनाना चाहिये।[६] इस कथन से विदित होता है कि वेदों में व्यवहार की सभी विद्याएँ हैं और अथर्ववेद में दैवी और मानुषी सभी आपत्तियों के निराकरण के उपाय बतलाए गए हैं। इसी प्रकार कहा गया है कि राजा तपस्वियों के कार्यों का त्रयी विद्या जानने वालों के साथ विचार करे।[७] उपनिपातों के प्रतीकार[८] का वर्णन करते हुए यह भी बतलाया गया है (i) सर्पों का भय होने पर वैद्य-लोग उसका प्रतीकार करें अथवा अथर्ववेद को जानने वाले उसका उपचार करें।[९] (ii) वेद के ज्ञाता अतिवृष्टि की शान्ति का उपाय करें।[१०] (iii) अपनी सेना को उत्साहित करते

---

१. अर्थशास्त्र, अधिकरण १, अध्याय २.१-९।
२. धर्माधर्मौ त्रय्याम्। वही, १.२.११।
३. वही, १.३.४।
४. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूयानृशंस्यं क्षमा च। वही, १.३.१३।
५. वही, १.३.१७।
६. वही, १.९.१५।
७. वही, १.१९.३७।
८. अर्थशास्त्र के उपनिपात-प्रतीकार (४.३) प्रकरण में दैवी आपत्तियों से प्रजा की रक्षा का वर्णन है।
९. द्र०, वही, ४.३.४६-४८।
१०. वही, ४.३.१५।

हुए राजा कहे कि वेदों में भी यज्ञों की दक्षिणा देने के पश्चात् 'अवभृथ' नामक स्नान के समय यजमान को इस प्रकार का आशीर्वाद देना सुना गया है :—"तुम्हारी वही गति हो, जो शूरवीरों की होती है।"[1] इस प्रसङ्ग में यहाँ दो श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं, जिनमें संग्राम में प्राण त्याग देने वाले शूरवीरों की प्रशंसा की गई है।[2] इन श्लोकों का सन्दर्भ ज्ञात नहीं हो सका है। (iv) विजय का अभिलाषी राजा अथर्ववेद के मन्त्रों से हवन करे।[3] इस प्रकार के सन्दर्भों में भी यह दिखलाया गया है कि वेदों में अनेक प्रकार का ज्ञान विद्यमान है; अथर्ववेद में राज्य-कार्य के उपयोगी अनेक विषयों का वर्णन भी है, जिसके अनुसार कार्य करके राजा राज्य का भलीभाँति पालन पोषण कर सकता है।

उपर्युक्त सन्दर्भों से केवल इतना ही विदित होता है कि विविध प्रकार के कार्य-संचालन के लिये वेदोक्त ज्ञान उपयोगी होता है और वैदिक विधानों का पालन करना राजा का परमकर्त्तव्य है। इससे वेदों की प्रामाणिकता अनायास ही प्रकट हो जाती है। किन्तु यह विचारणीय ही है कि अर्थशास्त्र में वेदों का प्रामाण्य किस आधार पर स्वीकारा गया है, क्या तत्कालीन परम्परा ही इसका आधार है अथवा इसके पीछे कुछ युक्तियाँ या तर्क भी हैं।

७—चरक, सुश्रुत में वेद-प्रामाण्य

आयुर्वेद अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है। इसकी गणना उपवेदों में की गई है। यह विज्ञान-सम्बन्धी विषय है; क्योंकि इसमें शरीर-विज्ञान ही नहीं; अपितु औषध-विज्ञान और शल्य-चिकित्सा आदि का विशद विवेचन किया गया है। चरक के सूत्रस्थान में इसे वेद नाम से कहा गया है।[4] आज आयुर्वेद के प्राचीनतम ग्रन्थों में चरक-संहिता और सुश्रुत-संहिता ही प्रसिद्ध हैं। चरक-संहिता का समय प्रथम शताब्दी समझा जाता है। सम्भवतः सुश्रुत-संहिता इससे परवर्ती है। फिर भी इन ग्रन्थों का समय निश्चित नहीं है। यद्यपि चरक तथा सुश्रुत का विषय आयुर्वेद ही है, फिर भी इनमें कुछ प्रसङ्ग ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनसे वेद के स्वरूप, संज्ञा और प्रामाण्य आदि पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। यहाँ प्रामाण्य-सम्बन्धी कुछ सन्दर्भों पर ही विचार करना है।

चरक के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि उस समय सामान्य दैनिक कार्यों में भी, मन्त्रों का उपयोग किया जाता था। भोजन के प्रसङ्ग में कहा

---

१. वही, १०.३.३२-३३।
२. वही, १०.३.३५-३६।
३. वही, १०.३.४१।
४. चरकसंहिता (दो भागों में, मोतीलाल बनारसी दास, १९७५), सूत्र-स्थान, १.४२, ४६।

गया है कि मन्त्रों से अभिमन्त्रित किये विना भोजन न करें।[१] यद्यपि यहाँ वेद-मन्त्र शब्द नहीं कहा गया; तथापि कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ वेद-मन्त्र ही किया है। इसी प्रकार गर्भिणी नारी के लिये वेदोक्त कर्म का विधान दिखलाया गया है।[२] और, मृतगर्भा के प्रसङ्ग में भी अथर्ववेदविहित मन्त्रों का उल्लेख किया गया है।[३] अन्य कई प्रसङ्गों में भी अथर्ववेदवित् ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है।[४] वेद को विविध ज्ञानों का स्रोत भी माना गया है।

यही नहीं, चरक-संहिता में स्पष्ट शब्दों में भी वेद को प्रमाण बतलाया गया है। वहाँ कहा गया है : समस्त जगत् दो प्रकार का है—सत् तथा असत्। उसकी परीक्षा चार प्रकार से होती है—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा युक्ति से।[५] इसके पश्चात् आप्तोपदेश आदि का स्वरूप दिखलाया गया है और बतलाया गया है—आप्तागम (आप्त शास्त्र) तो वेद है और जो अन्य भी कोई वेद के अर्थ के अविरुद्ध परीक्षकों के द्वारा रचित शिष्टों द्वारा स्वीकृत लोक-कल्याण में प्रवृत्त शास्त्र है, वह भी आप्तागम है।[६] इस सन्दर्भ में स्पष्ट ही वेद का प्रामाण्य स्वीकारा गया है।

सुश्रुत-संहिता में भी वेदाः[७], वेदविदः[८], वेदवादिनः[९] इत्यादि शब्दों का अनेक स्थलों में प्रयोग किया गया है। वहाँ वेदोत्पत्ति-विषयक अध्याय भी है।[१०] किन्तु, जैसा सुश्रुत के अनुशीलन से प्रतीत होता है, और टीकाकारों ने भी दिखलाया है, यहाँ 'वेद' शब्द से प्रायः आयुर्वेद का ही ग्रहण किया गया है। सुश्रुत में तन्त्रयुक्तियों का विश्लेषण करते हुए बतलाया गया है कि पूर्वापर योग को देखकर जो अर्थ निश्चित किया जाये, वही लेना चाहिये। उदाहरणार्थ—'वेदोत्पत्ति अध्याय का व्याख्यान करेंगे', ऐसा कहने पर सन्देह होता है कि किस वेद की उत्पत्ति आचार्य कहेंगे; क्योंकि ऋग्वेदादि वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं।

---

१. वही, ८.२१।
२. वही, शरीरस्थान, ८.२७।
३. वही, ८.४३।
४. वही, ८.५८; ८.६४।
५. वही, सूत्रस्थान, ११.१७।
६. तत्राऽऽप्तागमस्तावद्वेदः, यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः स चाऽऽप्तागमः। वही, ११.२७।
७. सुश्रुत-संहिता (मोतीलाल बनारसीदास, १९७५), उत्तरतन्त्र, ६५.१०, पृ० ८०७।
८. वेदविदः पुराणाः। वही, २५.१७, पृ० ६५७।
९. वही, शारीरस्थान, ५.१८, पृ० ३१९।
१०. वही, सूत्रस्थान, १, पृ० १।

'विद्विचारणे', 'विद्लृ लाभे' (इन धातुओं से वेद शब्द निष्पन्न होता है) इन धातुओं का अनेक अर्थों में प्रयोग देखा जाता है। इस अवस्था में पूर्वापर सम्बन्ध को देखकर निश्चय किया जाता है कि यह आचार्य आयुर्वेद की उत्पत्ति को कहने के इच्छुक हैं, यह अर्थ है।[1]

इसके अतिरिक्त यहाँ ऋग्, यजुः, साम, अथर्व इन चारों वेदों का उल्लेख भी किया गया है।[2] और यह भी कहा गया है कि यह आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग है।[3] इन कथनों से यह तो स्पष्ट ही है कि सुश्रुतकार की दृष्टि में वेद प्रमाण हैं, और उनकी प्रामाणिकता के आधार पर ही वे अपने ग्रन्थ की प्रामाणिकता तथा महत्त्व को प्रकट करते हैं; किन्तु यहाँ वेद-प्रामाण्य के स्वरूप एवं आधार का विवेचन नहीं किया गया। वस्तुतः आयुर्वेद पर ग्रन्थ लिखने वालों के लिये इस प्रकार का विवेचन अप्रासङ्गिक ही होता।

८—नाट्यशास्त्र तथा वेद-प्रामाण्य

नाट्यशास्त्र को पञ्चम वेद कहा गया है।[4] नाट्यशास्त्र के आरम्भ में कहा गया है कि ब्रह्मा के द्वारा उक्त नाट्यशास्त्र का प्रवचन भरत ने किया था। यह नाट्यशास्त्र वेद के तुल्य है।[5] इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि सब वेदों का अनुस्मरण करके चारों वेदों के अङ्गों से इसका निर्माण किया गया है। ऋग्वेद से पाठ्य लिया गया है, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस।[6] और, नाट्य वृत्तियाँ भी वेदों से ही ली गई हैं; जैसे—ऋग्वेद से भारती, यजुर्वेद से सात्वती, सामवेद से कैशिकी तथा अथर्ववेद से शेष वृत्ति ली गई है।[7] यह नाट्यवेद वेद तथा उपवेदों से सम्बद्ध है।[8] इसके ग्रहण,

---

१. तत्र यो ऽर्थः पूर्वापरयोगसिद्धो भवति स ग्रहीतव्यः, यथा—वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्याम इत्युक्ते सन्दिह्यते बुद्धिः—कतमस्य वेदस्योत्पत्तिं वक्ष्यतीति, यतः ऋग्वेदादयस्तुवेदाः, 'विद् विचारणे,' 'विद्लृलाभे' इत्येतयोश्च धात्वोरनेकार्थयोः प्रयोगात्, तत्र पूर्वापरयोगमुपलभ्य प्रतिपत्तिर्भवति-आयुर्वेदोत्पत्तिमयं विवक्षुरिति एष पदार्थः। वही, उत्तरतन्त्र, ६५.१०, पृ० ८०७।

२. वही, सूत्रस्थान, १६.२७, पृ० ७८।

३. वही, सूत्रस्थान, १.६, पृ० २।

४. नाट्यशास्त्रं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्। नाट्यशास्त्र (काशी, १६७१), १.१५।

५. वेदसम्मितः। वही, १.४।

६. वही, १.१६, १७।

७. वही, (घोषसंस्करण) २२.२४।

८. वही, १. १८।

धारण तथा प्रयोग में वेदों के रहस्य को जानने वाले जन ही समर्थ हैं।[१] इस प्रकार के कथनों से यह स्पष्ट विदित होता है कि नाट्यवेद के कर्त्ता की दृष्टि में वेद प्रमाण रूप में प्रसिद्ध ही थे। वेदों की प्रामाणिकता के आधार पर वे नाट्यशास्त्र की प्रामाणिकता भी सिद्ध करना चाहते थे।

नाट्यशास्त्र के किन्हीं सन्दर्भों में वेद को प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है। उदाहरणार्थ :—राजा देव के अंश से उत्पन्न होते हैं, इस विषय में बतलाया गया है कि ऐसा वेद तथा अध्यात्म शास्त्र में कहा गया है।[२] इसी प्रकार शिव को प्रणाम करते हुए उन्हें ऋग्वेद और यजुर्वेद में परिपठित कहा गया है। साथ ही उन्हें वेदमय भी बतलाया गया है।[३]

नाट्यवेद का नामकरण, उसके तत्त्वों का वेदों से ग्रहण किये जाने का वर्णन तथा उसमें स्थान-स्थान पर विविध सन्दर्भों में वेद का प्रामाण्य प्रस्तुत करना—इन सबसे यह स्पष्ट विदित होता है कि नाट्यशास्त्र के कर्त्ता की दृष्टि में वेद प्रमाण हैं, उनका प्रामाण्य सर्वसम्मत है, उसकी सिद्धि के लिये युक्तियाँ अपेक्षित नहीं हैं। सम्भवतः उस समय वेद का प्रामाण्य सामान्य जन से लेकर विद्वज्जनों तक में निर्बाध रूप से स्वीकार किया जाता था।

नाट्यशास्त्र के एक सन्दर्भ में तो स्पष्ट रूप में वेद को तीन प्रकार के प्रमाणों में से एक प्रमाण कहा गया है। मुनि ने कहा है—लोक, वेद तथा अध्यात्म यह तीन प्रकार का प्रमाण है।[४] इसी सन्दर्भ में यह भी बतलाया गया है कि वेद तथा अध्यात्म शास्त्र के पदार्थों में नाट्य-विद्या भी स्थित है।[५]

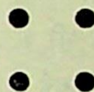
वस्तुतः नाट्यशास्त्र के युग में वेद को समस्त ज्ञान-विज्ञानों का आधार समझा जाता रहा होगा, किन्तु ऋग्वेदादि वेदों का अध्ययन कुछ विशेष वर्गों या जातियों तक ही सीमित हो गया होगा; जिससे समस्त जनता वेद के अध्ययन से वाञ्छित लाभ नहीं प्राप्त कर सकती थी। नाट्यशास्त्र में ऐसे संकेत भी उपलब्ध होते हैं कि उस समय समाज के कुछ अङ्ग वेदों के श्रवण से भी वंचित हो गए थे। वेद सभी के लिए पढ़ने योग्य न रह गया था।[६] जैसा कि अभिनवगुप्त ने संकेत

---

१. वही, १.२३।
२. देवांशजास्तु राजानो वेदाध्यात्मसु कीर्तिताः। वही, १२.२८ (घोष संस्करण १३.२८)
३. ...त्वां...वेदमयं...ऋग्यजुः परिपठितं...। वही, (घोष०) ३१.२६०।
४. लोको वेदास्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्। वही, २६.११६।
५. वही, २६.११६।
६. न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु। वही, (घोष०) १.१२।
यहाँ श्लोक १३ के पश्चात् कुछ ग्रन्थों में यह श्लोक भी है—
नेमे वेदा यतः श्राव्याः स्त्रीशूद्राद्यासु जातिषु।
वेदमन्यत्ततः स्रक्ष्ये सर्वश्राव्यं तु पञ्चमम्॥

किया है, जिनका शास्त्र में अधिकार माना जाता था उनको भी सुगमतापूर्वक वेदों के अर्थ का बोध कराने के लिए नाट्य-वेद की रचना की गई थी।[१] इस नाट्यवेद को धर्मादि चारों पुरुषार्थों का बोधक, सब कर्त्तव्य कर्मों का बोधक और समस्त शास्त्रों के अर्थों से युक्त कहा गया है।[२] इसके अन्त में नाट्यशास्त्र के महत्त्व का वर्णन करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि इसके सुनने, प्रयोग करने तथा अभिनय को देखने से मनुष्य वही गति प्राप्त कर लेता है जो वेद के ज्ञाताओं, यज्ञ-कर्त्ताओं, तथा दानशीलों को प्राप्त हुआ करती है।[३]

इस प्रकार नाट्यशास्त्रकार की दृष्टि में वेद परम प्रमाण हैं। कोई भी ज्ञान-विज्ञान कोई भी ग्रन्थ वेद के अनुकूल होने से ही प्रामाणिक होता है। और, वेद के अनुकूल ग्रन्थों के अध्ययन से वेदाध्ययन के समान फल की प्राप्ति हुआ करती है। यद्यपि नाट्यशास्त्रकार ने वेद को स्वतः प्रमाण नहीं कहा है; तथापि उनके इस विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है।



१. द्र०, अभिनवभारती, वही, १.१२।
२. वही, १.१४, १५।
३. वही, (घोष०) ३६.७८, ७९।

परिच्छेद ५.

अवैदिक दर्शनों में वेदप्रामाण्य का खण्डन

१. अवैदिक दर्शन :—सामान्य परिचय

भारतीय दर्शन की धारा विविध मार्गों में प्रवाहित होती रही है। वे मार्ग ही विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के नाम से पुकारे जाते हैं। आरम्भ में विविध विचारकों का लक्ष्य प्रायः समान ही रहा होगा। मानव को सुखी बनाना या उसके दुःखों को दूर करना ही उन्हें अभिमत रहा होगा। किन्तु देश काल और परिस्थितियों के भेद से उनके आपसी मत-भेद अधिकाधिक बढ़ते चले गये। फलतः आज जो उनका रूप उपलब्ध होता है, उसमें अत्यधिक अन्तर है। उन प्रस्थानों के भी अवान्तर भेद हो गये हैं, और भारतीय दर्शन के भेद-प्रभेदों की विपुल संख्या हो गई है। उन सभी को दो वर्गों में रक्खा जाता है आस्तिकदर्शन तथा नास्तिक-दर्शन।

आस्तिक एवं नास्तिक शब्दों से कई अर्थ समझे जाते हैं; जैसे (१) ईश्वर के मानने वाले को आस्तिक कहते हैं अन्य को नास्तिक।[1] (२) जो परलोक को मानता है वह आस्तिक है अन्य जन नास्तिक हैं।[2] वेद को प्रमाण मानने वाला आस्तिक है अन्य नास्तिक हैं।[3] इनके अतिरिक्त कतिपय आचार्यों ने अपनी अपनी दृष्टि से नास्तिक शब्द का विविध अर्थों में प्रयोग किया है, जैसे तत्त्वसंग्रह में नास्तिक शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है।[4] किञ्च, मल्लिषेण ने भूतचैतन्यवादी को ही नास्तिक कहा है।[5] ऋषि दयानन्द ने उन दार्शनिक-प्रवादों के लिये भी नास्तिक शब्द का प्रयोग किया है जो शून्य या अभाव आदि से भाव की उत्पत्ति मानते हैं।[6] इस प्रकार के अनेक प्रवादों का न्यायसूत्र में निराकरण किया गया है।[7] इनमें ईश्वरोपादानता आदि का भी उल्लेख है अतः वहाँ नास्तिक

१. द्र० वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश।
२. काशिकावृत्ति, ४.४.६०।
३. नास्तिको वेदनिन्दकः। मनु०, २.११।
४. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, का० २७८७।
५. स्याद्वादमञ्जरी, का० २०, पृ० १३२।
६. सत्यार्थप्रकाश, समु० ८, पृ० ३१९-३२०।
७. न्यायसूत्र, ४.१.१४-४३।

शब्द का अर्थ उपर्युक्त तीनों अर्थों से कुछ भिन्न मानना ही उचित प्रतीत होता है। फिर भी यह माना जा सकता है कि स्वामी जी की दृष्टि में ये सभी प्रवाद वेदविरुद्ध हैं इसीलिये इन्हें नास्तिक कहा गया है।

वस्तुतः इन दोनों शब्दों से इस प्रकार के सभी अर्थों का बोध हो सकता है, क्योंकि व्याकरण के अनुसार 'अस्ति मतिरस्य आस्तिकः, नास्ति मतिरस्य नास्तिकः,' इस प्रकार से दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति होती है।[1] फिर भी दर्शनों के वर्गीकरण में तीसरे अर्थ को ही उचित समझा जाता है। यहाँ नास्तिक का अर्थ है 'नास्तिको वेदनिन्दकः।' और, जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं वे आस्तिक कहलाते हैं। इसीलिये इन दोनों वर्गों के लिये अवैदिक तथा वैदिक-दर्शन नामों का प्रयोग अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

ये अवैदिक मत कब प्रचलित हुए ? इनके उद्भव की क्या परिस्थितियाँ थीं ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिये भारत के साँस्कृतिक इतिहास का अनुशीलन करना होगा। सामान्य रूप से यह कहा जाता है वेदों के सरल, सामञ्जस्यपूर्ण एवं व्यक्ति तथा समाज के हितकारी धर्म के स्थान पर ब्राह्मण ग्रन्थों में जटिल कर्मकाण्ड का विधान किया गया था, यज्ञों में पशुबलि आदि भी की जाने लगी थी और यज्ञों को ही स्वर्ग या परमपद की प्राप्ति का प्रमुख साधन माना जाने लगा था। इस प्रकार का कर्म-मार्ग कुछ ही जनों के अनुकूल था, अन्यों के लिये नहीं, अतः इसके विरुद्ध अनेक आन्दोलन किये जाने लगे। वैदिक कर्मकाण्ड की नृशंसता और रूढिवादिता से ऊबकर कुछ आचार्यों ने धर्म और समाज में क्रान्ति करने के लिये चार्वाक आदि मत भी चलाये।

अवैदिक दर्शनों में विशेषकर चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन का नाम लिया जाता है, यद्यपि इनके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे दार्शनिक या धार्मिक सम्प्रदाय हैं जो वेद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते अथवा वेद-प्रामाण्य तो स्वीकार करते हैं किन्तु धर्म और दर्शन की स्वच्छन्दतापूर्वक व्याख्या करते हैं। जयन्त भट्ट ने ऐसे कुछ अन्य सम्प्रदायों का भी निरूपण किया है।[2] अवैदिक दर्शनों के विविध ग्रन्थों में वेद-प्रामाण्य का निराकरण किया गया है, इसके लिये अनेक तर्क एवं युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं। यहाँ यथासम्भव यह प्रयास किया जा रहा है कि वेद-प्रामाण्य का विरोध करने वाली युक्तियों का विश्लेषण किया जाये चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय की ओर से दी गई हों।

---

१. द्र०, काशिका वृत्ति, ४.४.६०।

२. द्र०, न्यायमञ्जरी (चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी १, १९७१) भाग १, पृ० २४८।

२. चार्वाक तथा वेद-प्रामाण्य

वेदविरोधी मतों में चार्वाक अग्रगण्य है। चार्वाक सम्प्रदाय का आज कोई मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, दर्शन के ग्रन्थों में इनके मन्तव्य इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। तत्त्वोपप्लवसिंह नाम से जो एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है[1] उसमें अन्य मतों का खण्डन ही विशेष रूप में है, चार्वाक के मन्तव्यों का विश्लेषण नहीं। हाँ, अन्य स्रोतों से चार्वाक के कतिपय मन्तव्यों का वर्णन प्राप्त होता है; जैसे—महाभारत के शान्तिपर्व में भौतिकवादी चार्वाक सम्प्रदाय के कुछ मन्तव्यों का निरूपण किया गया है[2], जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी आदि ग्रन्थों में इसके विषय में कुछ सूचनाएँ दी गई हैं।[3] उत्तरवर्ती सायणमाधव ने सर्वदर्शनसंग्रह में इसके मत का व्यवस्थित विवेचन किया है; किन्तु संक्षिप्त रूप में ही है।[4] समस्त उपलब्ध सामग्री के आधार पर कुछ समय पूर्व कई शोध-प्रबन्ध भी चार्वाक पर लिखे गये हैं।[5] इन सभी स्रोतों से चार्वाक के मतों का पर्याप्त परिचय मिल सकता है। यहाँ तो यही विवेचन करना है कि उसने किस प्रकार वेद के प्रामाण्य का विरोध किया है।

(क) सर्वदर्शनसंग्रह :—

चार्वाक की घोषणा है कि तीनों वेदों के कर्ता धूर्त, भाण्ड और निशाचर हैं।[6] कैसे? धूर्त का अर्थ है—वञ्चक, प्रवञ्चना करने वाला। वञ्चकों का कार्य है—वञ्चना-पूर्ण वचनों या कार्यों द्वारा दूसरों को ठगना। वेदों में भी जर्भरी, तुर्फरी जैसे कूट वचनों का प्रयोग किया गया है और ऐसे वचनों द्वारा मानव की छलना की गई है।[7] भण्ड कहते हैं बेतुकी अश्लील बातें कहने वाले को। देखिये वेदों में भी ऐसी बातें मिलती हैं। जैसा कि महीधर आदि ने अपने भाष्यों में बतलाया है, यज्ञ में यजमान-पत्नी अश्व के शिश्न को ग्रहण करे।

---

१. जयराशिभट्ट, तत्त्वोपप्लवसिंह (गायकवाड़ ऑरियन्टल सीरीज़, बड़ौदा, १९४०)।

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अ० २१८, २२३, २२९।

३. न्यायमञ्जरी भाग १, पृ० २४७; भाग २, पृ० ३९।

४ सर्वदर्शनसंग्रह (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६८), चार्वाक दर्शन।

५. (i) दक्षिणारञ्जन शास्त्री; A short History of Indian Materialism and Hedonism (Bookland Private Ltd., Calcutta, 1959). (ii) सर्वानन्द पाठक; चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५)।

६. त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः। सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २४।

७. जर्भरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्। वही, पृ० २४।

और भी इसी प्रकार की भद्दी बातें भाण्डों ने कहीं हैं।[1] निशाचर का यौगिक अर्थ है रात्रि में विचरण करने वाला; किन्तु यह शब्द राक्षस के अर्थ में प्रसिद्ध है, जो मांस आदि खाते हैं अन्य असामाजिक कर्म करते हैं। चार्वाक का कहना है कि वेद-विधान के अनुसार जो यज्ञों में मांस-भक्षण किया जाता है वह निशाचरों का कार्य है। अतः ऐसा विधान करने वाले निशाचर ही हो सकते हैं।[2]

यज्ञ में पशुबलि करना धर्म है, इसमें हिंसा नहीं होती, 'याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति' इत्यादि कहकर याज्ञिकी हिंसा का समर्थन करने वालों के प्रति चार्वाक कहता है कि यदि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग में चला जाता है तो यजमान अपने पिता की बलि क्यों नहीं चढ़ा देता, वही स्वर्गभागी हो जायेगा।[3] इसी प्रकार मृतकश्राद्ध की भी चार्वाक ने खिल्ली उड़ाई है। यदि मरे हुए जीवों की श्राद्ध से तृप्ति हो जाती है तो यात्रा के लिये जाने वाले लोगों के लिये मार्ग का भोजन ले जाना बेकार है।[4] और, यदि मृतकों के लिये यहाँ दान करने से वे स्वर्ग में रहते हुए ही तृप्त हो जाते हैं तो अटारी पर रहने वालों के लिये नीचे ही भोजन क्यों नहीं दे दिया जाता।[5]

इसी प्रकार चार्वाकों ने परलोकवाद आदि का भी खण्डन किया है, और यज्ञ-आदि तथा श्राद्ध आदि सभी कर्मकलाप के विषय में कहा है कि यह सब ब्राह्मणों ने जीविका का उपाय बना रक्खा है।[6] वे यह घोषणा करते हैं— अग्निहोत्र, तीन वेद, तीन दण्ड, भस्म लगाना आदि कार्यों को बुद्धि-पौरुष-हीन जनों ने जीविका बना लिया है।[7]

चार्वाक के आक्षेपों का सार यह है कि वेद प्रमाण नहीं; क्योंकि :—

(१) वेदों के अनेक शब्दों तथा वाक्यों का अर्थ ही स्पष्ट नहीं।

---

१. अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम्॥ वही, पृ० २४।

२. मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्। वही, पृ० २४।

३. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥ वही, पृ० २३।

४. द्र०, वही, पृ० २३।

५. द्र०, वही, पृ० २४।

६. ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह। वही, पृ० २४।

७. अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता॥
'जीविकेति बृहस्पतिः' यह पाठान्तर है॥ वही, पृ० २२।

(२) वेदों में परलोकवाद, मृतकश्राद्ध आदि ऐसी बातों का विधान है जो युक्ति तथा तर्क से सिद्ध नहीं होतीं।

(३) वेदों में पशु-बलि आदि घृणित एवं नृशंस कार्यों का विधान किया गया है।

(४) वेदों में असामाजिक तथा अमानुषिक कार्यों का भी विधान है।

इनमें से जो पहिला आक्षेप है उसका निरुक्त आदि में अनेक स्थलों पर परिहार किया जा चुका है। अभिप्राय यह है कि वेद का अर्थ विविध वेदाङ्गों द्वारा स्पष्ट हो सकता है; जर्भरी, तुर्फरी जैसे शब्दों का भी निरुक्त में निर्वचन मिलता है।[1] अतः वेद-वचन न निरर्थक हैं और न अस्पष्ट ही हैं। जो इन्हें नहीं समझता उसी की बुद्धि का दोष है। निरुक्त में व्यंग्यपूर्वक कहा गया है—नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति[2], यह स्थाणु का अपराध नहीं कि इसको अन्धा नहीं देखता।

जीवात्मा को सिद्ध करते हुए परलोकवाद की व्याख्या करके वेदवादी दर्शनों ने ही नहीं, बौद्ध और जैन जैसे वेद-बाह्य दर्शनों ने भी चार्वाक के परलोकवाद पर किये गये आक्षेपों का परिहार करने का प्रयास किया है। जहाँ तक वेदों में पशु-बलि के विधान की बात है, वह अवश्य ही विचारणीय है। कुछ वैदिक दर्शनों के ग्रन्थों में इसका समर्थन अवश्य किया गया है, फिर भी अन्य आचार्यों ने इसके दोष दिखलाये ही हैं, जिसका यथावसर निरूपण किया जायेगा। रही वेदों में असामाजिक एवं अमानुषिक कार्यों के विधान की बात। जो लोग महीधर आदि के इस प्रकार के वेदभाष्यों को प्रमाण मानते हैं वे चाहे किन्हीं युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर इस प्रकार के कार्यों को युक्तियुक्त सिद्ध कर भी दें; किन्तु इनका औचित्य कहाँ तक है? यह विचारणीय ही रहेगा।

(ख) तत्त्वोपप्लवसिंह : -

जयराशिभट्ट कृत तत्त्वोपप्लवसिंह[3] नामक ग्रन्थ का समय ईसा की अष्टम शती निर्धारित किया गया है।[4] विश्व के तत्त्वों की यथार्थता की परीक्षा करते हुए जयराशि ने सभी प्रमाणों की आलोचना की है। उन्होंने यह निर्धारित किया है कि प्रत्यक्ष आदि का कोई निर्दोष लक्षण नहीं बन सकता और प्रमाणों से ही

---

१. जर्भरी भर्तारावित्यर्थः। तुर्फरीतू हन्तारौ। निरुक्त, १३.५।

२. वही, १.१६।

३. तत्त्वोपप्लवसिंह, गायकवाड़ ऑरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, १९४०।

४. वही, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १०।

प्रमेय की सिद्धि हुआ करती है, अतः प्रमाणों के अभाव में इस दृश्यमान जगत् की भी सिद्धि नहीं हो सकती फिर वेद आदि द्वारा प्रतिपादित कर्मों और कर्मफलों की तो बात ही क्या है ?

विविध दार्शनिक सम्प्रदायों के अभिमत प्रत्यक्ष आदि के लक्षणों का खण्डन करने के अनन्तर उन्होंने शब्दप्रमाण की प्रामाणिकता का निराकरण किया है। उनका कथन है कि शब्द को चाहे अनुमान से पृथक् स्वतन्त्र प्रमाण माना जाये अथवा उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव मान लिया जाये, किसी भी प्रकार से शब्द की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती।[1] यहां यह ध्यान देने योग्य है कि जो दार्शनिक सम्प्रदाय शब्द को अनुमान से पृथक् स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं वे सभी शब्द को अर्थ का वाचक मानते हैं और शब्द और अर्थ में किसी प्रकार के सम्बन्ध की भी कल्पना करते हैं। जो दार्शनिक शब्द प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव मानते हैं उनमें दो प्रमुख हैं एक वैशेषिक और दूसरा बौद्ध। इनके अतिरिक्त प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक यह मानते हैं कि वैदिक वाक्य तो पृथक् शब्द प्रमाण है, किन्तु लौकिक आप्तवाक्यों का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इनके अनुसार भी वेद वाक्यों में पद तथा पदार्थ का सम्बन्ध है ही। वैशेषिक के अनुसार पदश्रवण के अनन्तर पदार्थों का स्मरण हुआ करता है और फिर अनुमान द्वारा पदार्थों के संसर्ग=पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय की सिद्धि होती है। इस मत में पदार्थबोध तो पदों के श्रवण से हो जाता है; किन्तु वाक्यार्थबोध अनुमान द्वारा होता है। अतः पद और पदार्थ में परस्पर सम्बन्ध है ही, पद वाचक हैं और पदार्थ वाच्य हैं। बौद्ध के मत में शब्द किसी अर्थ के वाचक नहीं होते, उनका साक्षात्सम्बन्ध भी अर्थ के साथ नहीं होता; अपितु वे वक्ता की विवक्षा के सूचक होते हैं, किसी की विवक्षा से ही शब्द उत्पन्न होते हैं अतः विवक्षा के लिङ्ग होकर उसी को सूचित करते हैं।[2] आप्तों के शब्द भी आप्तजनों की विवक्षा के सूचक होते हैं; किन्तु आप्तजन अनृतभाषी नहीं होते अतः उनकी विवक्षा अर्थ के अनुरूप होती है। उनके वचन अर्थ के अविसंवादी सूचक (लिङ्ग) हुआ करते हैं। इस प्रकार शब्द प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव माना जाता है। जयराशि भट्ट ने यद्यपि शब्द-प्रामाण्य के सन्दर्भ में बौद्ध के मत का भी निराकरण किया है,[3] फिर भी केवल वाचक होने से शब्द प्रमाण है, इस सन्दर्भ में ही वेद-प्रामाण्य का खण्डन किया है। उन्होंने 'एके' (कोई) 'अन्ये' (दूसरे)

---

१. तस्य च प्रामाण्यं न संभवति, नानुमानान्तर्गतस्य नापि स्वतन्त्रस्य। वही, पृ० ११३।

२. विवक्षाप्रभवा हि शब्दाः तामेव संसूचयेयुः। तत्त्वोपप्लवसिंह, पृ० १२०।

३. वही, पृ० १२०।

आदि शब्दों के द्वारा वेद-प्रामाण्य-वादी विविध दर्शनों के मतों को प्रस्तुत किया है और उनकी असारता दिखलाने का प्रयास भी।

जयराशिभट्ट का कथन है कि कुछ लोग वाचक होने से ही शब्द को प्रमाण मानते हैं, अर्थात् शब्द किसी अर्थ का बोधक होता है अतः वह प्रमाण है। यहाँ उन्होंने यह निर्देश नहीं किया कि कौन दार्शनिक सम्प्रदाय ऐसा मानता है। सम्भवतः यहाँ मीमांसक के मत की ओर संकेत है। मीमांसकों को अर्थ का बोधक होने से प्रत्येक ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार्य है।[1] यदि किसी ज्ञान में कारण-दोषज्ञान या बाधज्ञान हो जाता है तो वह अप्रामाणिक मान लिया जाता है।[2] तदनुसार अर्थ का बोधक होने से शब्द प्रमाण होता है, यह कहा जा सकता है। जयराशि भट्ट इस मन्तव्य का निराकरण करते हुए कहते हैं:—शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता और सम्बन्ध के विना कोई शब्द किसी अर्थ का वाचक नहीं हो सकता। जब शब्द ही वाचक नहीं है तो वाक्य कैसे वाचक हो सकता है? शब्दों द्वारा ज्ञात अर्थों का सम्बन्ध जानने पर ही तो वाक्य से अर्थ-बोध हुआ करता है। इस प्रकार कोई भी वाक्य वाचक नहीं हो सकता, वेदवाक्य भी नहीं; फिर वेदवाक्य प्रमाण कैसे हो सकते हैं।[3] और, यदि पदों से पदार्थ का बोध न होने पर भी वाक्य को वाचक मान लिया जाये तो वेद का वाक्य सुनते ही सभी को वेदार्थ का ज्ञान होना चाहिये।[4] इसके अतिरिक्त अदृष्ट अर्थ जो स्वर्ग आदि हैं उनके विषय में वेद की प्रामाणिकता कैसे मानी जा सकती है?

इस विषय में वेदप्रामाण्यवादी कहता है कि वेद में कुछ ऐसे अर्थों का भी प्रतिपादन किया गया है जो दृष्ट अर्थ हैं; जिनकी उपलब्धि इसी लोक में हो जाती है; जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'—अग्नि शीत के निराकरण का उपाय है। ऐसे वाक्यों की प्रामाणिकता का अनुभव करके अदृष्ट अर्थ के बोधक 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों की प्रामाणिकता का भी अनुमान कर लिया जाता है।[5] इस पर जयराशि भट्ट का कहना है कि वेद के अर्थवाद-वाक्यों की प्रामाणिकता नहीं देखी जाती, जैसे वेद में कहा है 'ग्रावाणः प्लवन्ते=पाषाण तैरते हैं, इस प्रकार के वाक्य प्रत्यक्ष से बाधित हो जाते हैं तथा प्रमाण नहीं हो सकते। इसलिए वेद के किसी एक वाक्य की प्रामाणिकता को देखकर अन्य वाक्यों की प्रामाणिकता

---

१. द्र०, श्लोकवार्त्तिक, १.१.२.५३।

२. द्र०, मीमांसासूत्र-शाबरभाष्य, १.१.५।

३. एवं चावाचकत्वे वेदवाक्यानां कथं प्रामाण्यम्। तत्त्वोपप्लवसिंह, पृ० ११४।

४. वही, पृ० ११४।

५. द्र०, वही, पृ० ११४; मि० मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्। न्यायसूत्र, २.१.६९ तथा भाष्य, वार्त्तिक आदि।

का अनुमान नहीं किया जा सकता।[1] इस अनुमान के लिए कोई ऐसा हेतु नहीं है जो निर्दोष हो।

नैयायिक आदि कहते हैं कि वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने वाला निर्दोष प्रमाण विद्यमान है। क्या? आप्तोक्त होने से वेद प्रमाण हैं।[2] आप्त तो धर्म का साक्षात्कार करने वाले होते हैं अतः उनका वचन प्रमाण होता है। बौद्धों ने भी स्वीकार किया है कि जिसके राग आदि दोष क्षीण हो जाते हैं ऐसा व्यक्ति मिथ्या क्यों कहेगा।[3]

जयराशि भट्ट ने विस्तारपूर्वक यह सिद्ध किया है कि यह मन्तव्य युक्तियुक्त नहीं। कैसे? प्रथम तो कौन आप्त है? कौन आप्त नहीं है? यही जानना सम्भव नहीं है; फिर यह निश्चय करना कैसे सम्भव है कि कौनसा आप्तवचन है। यदि यह भी जान लिया जाये कि कोई वचन आप्तोक्त है तो प्रश्न यह हो सकता है : वह आप्तोक्त होने मात्र से प्रमाण होगा अथवा यथार्थ ज्ञान का जनक होने से प्रमाण होगा। आप्तोक्त होने मात्र से तो वह प्रमाण हो नहीं सकता, प्रमाण तो वह होता है जो यथार्थ ज्ञान का साधन होता है। इस पर यदि वेदवादी कहे कि यथार्थ ज्ञान का साधन होने से ही आप्तवाक्य को प्रमाण माना जाता है तो प्रश्न यह है कि वह वाक्य अकेला ही यथार्थ ज्ञान का जनक है अथवा सहकारी कारणों के साथ मिलकर। इनमें से प्रथम पक्ष को तो वेदवादी स्वीकार ही नहीं करता और दूसरा पक्ष असमीचीन है।[4]

बात यह है कि सहकारी कारण दोषयुक्त भी हो सकता है, फलतः आप्तोक्त होकर भी कोई वचन विपरीत ज्ञान का जनक हो सकता है। उदाहरणार्थ, किसी ने नये कम्बल वाले छात्र को देखा और कहा 'नवकम्बलोऽयं माणवकः'। इसे सुनने वाला व्यक्ति अधर्म या मन के क्षोभ आदि के कारण 'नौ कम्बल वाला यह छात्र है,' इस प्रकार समझ लेता है। इसी प्रकार कोई वञ्चना की दृष्टि से कह देता है कि 'नवकम्बल वाला यह है' फिर भी पवित्र कर्मों के प्रभाव से बोद्धा समझ लेता है कि 'यह नये कम्बल वाला है।' भाव यह है कि वचन के आप्तोक्त होने पर भी वह यथार्थ ज्ञान का ही जनक होगा, यह निश्चित नहीं है। इसलिये यदि वेदवाक्यों को आप्तोक्त भी मान लिया जाये तो भी बोद्धा

१. द्र०, तत्त्वोपप्लवसिंह, पृ० ११४।
२. अन्ये तु आप्तोक्तत्वेन प्रामाण्यमुशन्ति। वही, पृ० ११५। मि०, आप्तप्रामाण्यात्। न्याय-सूत्र, २.१.६९ तथा भाष्य, वार्त्तिक आदि।
३. क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद् हेत्वसंभवात्। तत्त्वोपप्लवसिंह, पृ० ११५।
४. द्र०, तत्त्वोपप्लवसिंह, पृ० ११५।

के अपवित्र कर्मों के प्रभाव से अथवा मन के क्षोभ आदि के कारण वे विपरीत अर्थ के बोधक हो सकते हैं। इस प्रकार वे यथार्थ ज्ञान के जनक न होंगे फिर प्रमाण कैसे होंगे ?[१]

आप्तोक्त होने से वेदवाक्यों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, यह दिखलाकर जयराशि भट्ट ने बतलाया है :—'दुर्बुद्धि जनों के मत का अनुसरण करने वाले दूसरे लोग तो अन्य प्रकार से; अर्थात् अपौरुषेय होने से वेद की प्रामाणिकता बतलाते हैं।'[२] जयराशि भट्ट के इस कथन में मीमांसकों के मत का उल्लेख है, इस सन्दर्भ में मीमांसक की रीति से वेद की अपौरुषेयता तथा नित्यता का प्रतिपादन किया गया है, और कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक को भी उद्धृत किया गया है।[३] मीमांसकों के आशय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—(१) पौरुषेय वाक्यों में ही दोषों की सम्भावना होती है, अपौरुषेय होने से वेदों में अप्रामाण्य की शङ्का भी नहीं हो सकती, (२) वेदजन्यज्ञान सन्देह तथा भ्रान्ति से रहित है, वह ज्ञान निश्चित रूप में होता है और किसी देश या काल में उसका बाध नहीं देखा जाता; अतः वह प्रमाण है।[४]

जयराशि भट्ट ने प्रथमतः वेद की अपौरुषेयता तथा नित्यता का निराकरण किया है, फलतः अपौरुषेय होने से वेद प्रमाण हैं, इसका आधार ही असिद्ध हो जाता है। फिर वे कहते हैं कि यदि वेद को अपौरुषेय मान भी लिया जाये तो भी जिस प्रकार अपौरुषेय होने से दोषों का अभाव होने के कारण वेदों की प्रामाणिकता बतलाते हो उसी प्रकार अपौरुषेय होने से गुणों का अभाव हो जाने के कारण वेदों की अप्रामाणिकता क्यों नहीं स्वीकारते।[५] इसके अतिरिक्त, यद्यपि अपौरुषेय होने से वेद में कर्ता के दोषों की शङ्का न रहेगी तो भी श्रोता के दोषों की संभावना तो रहेगी ही। श्रोता के कारण ही वैदिक वाक्यों से विपरीत अर्थ का बोध होने लगेगा। इस प्रकार वेदों को नित्य मान लेने पर भी दोषयुक्त सहकारी कारणों के सम्पर्क से वे भ्रान्ति आदि के निमित्त हुआ करेंगे, जिससे वेद वाक्यों को प्रमाण नहीं माना जा सकता।[६]

मीमांसकों ने जो यह कहा है कि बाधरहित होने से वेदजन्य ज्ञान प्रमाण है, वह भी युक्तिसंगत नहीं। कारण, स्मृति में बाध नहीं होता फिर भी स्मृति

---

१. वही, पृ० ११५।
२. अन्ये तु कुमतिमतानुसारिणो वदन्ति वेदस्य प्रामाण्यमन्यथा अपौरुषेयत्वेन। वही, पृ० ११६।
३. वही, पृ० ११६।
४. द्र०, वही, पृ० ११६।
५. वही, पृ० ११८।
६. किञ्च अपौरुषेयत्वेन कर्तृदोषापगमः कृतः श्रोतृदोषास्तु केनापनीयन्ते। वही, पृ० ११८।

को सभी प्रमाण नहीं मानते। और, किसी मिथ्याज्ञान में बाधक ज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व भी अप्रामाण्य माना ही जाता है। किसी ज्ञान का बाधक ज्ञान उस ज्ञान की उत्पत्ति के समय तो हो ही नहीं जाता, कभी मास में कभी वर्ष में भी हो सकता है और कहीं होता ही नहीं। अतः बाधरहित होने से वेदप्रतिपादित ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता।[1]

इस विषय में यह भी पूछा जा सकता है कि सभी पुरुषों की दृष्टि से बाधरहित होने पर कोई ज्ञान प्रमाण होता है अथवा कतिपय पुरुषों की दृष्टि से। कोई ज्ञान सभी पुरुषों की दृष्टि से बाधरहित है, यह तो निश्चित किया ही नहीं जा सकता; क्योंकि कोई सभी पुरुषों की चित्तवृत्ति को नहीं जान सकता। यदि यह मानें कि कतिपय पुरुषों की दृष्टि से बाधरहित होने से ज्ञान प्रमाण हो जाता है तब तो आपका कथन युक्तियुक्त न होगा (हेतु व्यभिचारी होगा)। मान लीजिए किसी व्यक्ति को एक स्थल पर मरुमरीचिका में 'यह जल है' इस प्रकार का ज्ञान हो गया। वह व्यक्ति वहाँ से अन्यत्र चला गया और वहीं जाकर उसकी ऐहिक लीला समाप्त हो गई। इस अवस्था में उसके 'यह जल है' इस ज्ञान का बाधक ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता तो क्या यह ज्ञान प्रमाण होगा?[2]

बाधरहित होने से वेदजन्य ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता, यह प्रतिपादित करके जयराशि भट्ट बतलाते हैं कि वस्तुतः वेद प्रतिपादित ज्ञान बाधरहित नहीं होता उस में बाध होता ही है और वह भ्रान्त है, प्रमाण नहीं। उसमें यही बाध है कि वेदवाक्य असंभावित अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।[3] जो वाक्य असंभावित अर्थ का बोधक होता है, वह प्रमाण कैसे हो सकता है? वेदवाक्यों को ही देखिए 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे। यहाँ स्वर्ग फल है, साध्य है—कर्तव्यरूप अर्थ है। किन्तु जब वेदवाक्य से बोध होता है उस समय स्वर्ग रूप अर्थ विद्यमान नहीं होता। यदि कहो कि वह विद्यमान होता है तो फिर उसकी प्राप्ति के लिये अग्निहोत्र करना व्यर्थ ही होगा और वेद का विधान भी निष्फल ही होगा। इससे यही मानना होगा कि तब कर्तव्यरूप अर्थ विद्यमान नहीं होता, असम्भव है। और, ऐसे असम्भव अर्थ का बोध कराने

---

१. वही, पृ० ११८-११६।

२. वही, पृ० ११६।

३. अथवा, इयमेव बाधा यदुत असंभाव्यमानार्थस्य प्रतिपादकत्वम्। वही, पृ० ११६।

वाला ज्ञान मिथ्या होगा।'[1] इस प्रकार वेदवाक्य-जनित ज्ञान का विषय ही नहीं है अतः वह भ्रान्त है।[2]।

संक्षेप में जयराशि भट्ट के अनुसार (१) एक अंश की प्रामाणिकता से समस्त वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती; (२) आप्तोक्त होने से वेद प्रमाण नहीं हो सकता; (३) अपौरुषेयता के आधार पर भी वेद-प्रामाण्य नहीं सिद्ध किया जा सकता और (४) वेद प्रतिपादित ज्ञान के बाधरहित तथा असन्दिग्ध होने से भी वेद प्रामाणिक नहीं हो सकते।

३. बौद्धधर्म-दर्शन एवं वेदप्रामाण्य

(क) महात्मा बुद्ध :—

यह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि भगवान् बुद्ध ने किस भाषा में धर्म का प्रचार किया।[3] किन्तु बुद्ध-देशना के सबसे प्राचीन ग्रन्थ जो उपलब्ध हैं, पालि-भाषा में हैं। ये ग्रन्थ त्रिपिटक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें धर्म, आचरण आदि के सम्बन्ध में बुद्ध की शिक्षाएँ सुरक्षित हैं। ये तीन पिटक हैं--विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक। विनय-पिटक में भिक्षुओं के आचरण सम्बन्धी नियम हैं, सुत्तपिटक में बुद्ध के लोकोपकारी उपदेश और संवादों का संग्रह है तथा अभिधम्मपिटक में दार्शनिक विचारों की चर्चा है। महात्मा बुद्ध का वेद और वैदिक परम्पराओं के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा होगा? इस विषय में सुत्तपिटक तथा अभिधम्मपिटक में समाविष्ट ग्रन्थों से ही कुछ विदित हो सकता है। वहाँ भी प्रासङ्गिक रूप से ही कुछ विचार खोजे जा सकते हैं।

सुत्तपिटक के अन्तर्गत पांच निकाय हैं—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संगुत्त-निकाय, अङ्गुत्तरनिकाय तथा खुद्दकनिकाय। खुद्दक निकाय के सुत्तनिपात में एक स्थल पर बुद्ध की शिक्षाओं में बतलाया गया है कि प्राणी अपने मन के अनुसार स्वयं अनेक व्रतों का ग्रहण करके ऊंची-नीची अवस्था को प्राप्त होता है, किन्तु जो विद्वान् वेदों के द्वारा धर्म को भली-भांति जानता है वह विशेष प्रज्ञा वाला व्यक्ति ऊंची-नीची अवस्था को प्राप्त नहीं होता।[4] इस स्थल पर यह प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध वेदों के सम्यक् ज्ञान को महत्त्वपूर्ण समझते थे।

---

१. द्र०, वही, पृ० ११६।

२. चोदनाजनितविज्ञानस्य निर्विषयत्वमेव भ्रान्तत्वम्। वही, पृ० ११६।

३. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्म-दर्शन (बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५६), पृ० २५।

४. सयं समादाय वतानि जन्तु, उच्चावचं गच्छति सञ्ञसत्तो।
विद्वा च वेदेहि समेच्च धम्मं, न उच्चावचं गच्छति भूरिपञ्ञो।।
खुद्दकनिकाय भाग–१, (नालन्दा देवनागरी पालि-ग्रन्थमाला, १९५९), सुत्तनिपात, ४.४.२७, पृ० ३६१।

इसके अतिरिक्त पालि ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर 'वेदगु' या 'वेदगू' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] कुछ विद्वानों ने 'वेदगू' का अर्थ 'वेदज्ञ' किया है।[2] किन्तु अट्ठकथा में 'वेदगू' शब्द का अर्थ किया गया है—वेदगू वह है जो वेद-संख्यक चार मार्गों के ज्ञान से आचरण करता है।[3] इसके अतिरिक्त खुद्दक-निकाय के सुत्तनिपात में कई स्थलों पर मन्त्रपारगू[4] या मन्त्रपारग[5] आदि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है, किन्तु वहाँ मन्त्र का क्या अभिप्राय है, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है।

खुद्दकनिकाय की ब्राह्मणधम्मिकसुत्त नामक कथा में बुद्ध के द्वारा ब्राह्मणों को धर्म की देशना की गई है। वहाँ दिखलाया गया है कि प्राचीन ब्राह्मण यज्ञ में गो-हिंसा नहीं करते थे; क्योंकि जैसे माता-पिता और अन्य सम्बन्धी हैं वैसे ही गाएँ हमारी परम मित्र हैं, उनमें औषधियाँ उत्पन्न होती हैं।[6] इस पर अट्ठकथा में टीका करते हुए कहा गया है - गो शब्द के द्वारा यहाँ सभी प्राणियों को कह दिया गया है और औषध शब्द से पित्त आदि की औषधि पाँच गोरसों को कहा गया है।[7] वे प्राचीन ब्राह्मण सुख और समृद्धि को प्राप्त हुए।[8]

कालान्तर में कुछ विपरीत बुद्धि वाले ब्राह्मण धन-धान्य से समृद्ध हुए और उन्होंने सोचा कि हमें विपुल भोग प्राप्त हों। यह सोचकर उन्होंने वेदों को छिन्न-भिन्न करके धर्मयुक्त प्राचीन मन्त्रों को नष्ट करके अधर्मयुक्त कूटमन्त्रों की रचना की और धन की इच्छा से ओक्काक राजा के पास जाकर कहा - महाराज हमारे पास प्राचीन मन्त्र हैं, उन्हें आप सुनें। उन्होंने अश्वमेध आदि यज्ञों का वर्णन किया और राजा को प्रोत्साहन दिया कि महाराज, आप तो धन-धान्य से युक्त हैं। इन यागों को कीजिये।[9] राजा ने अश्वमेध आदि यज्ञ किये और ब्राह्मणों

---

१. द्र०, वही, २.६.१०२, पृ० ३१५; ३.४.५६, पृ० ३३५; ३.५.१०२, पृ० ३४३; ४.६.८१. पृ० ४०० इत्यादि।

२. द्र०, धर्मदेव विद्यावाचस्पति, वेदों का यथार्थ स्वरूप (गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार, २०२४ वि०), पृ० २४-२६।

३. वेदगू ति वेदसङ्खातेहि चतूहि मग्गञाणेहि गतो।
सुत्तनिपात अट्ठकथा, भाग-२, (नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, १९७५), पृ० १४४, ४०३।

४. खुद्दकनिकाय, सुत्तनिपात, २.२.३१।

५. वही, ५.१.२२ इत्यादि।

६. वही, २.७.७६।

७. अट्ठकथा, भाग-२, पृ० १३०-१३१।

८. वही, पृ० १३१।

९. खुद्दकनिकाय, सुत्तनिपात, २.७.७९-८२, पृ० ३१३।

को धन दिया। उन ब्राह्मणों की तृष्णा बढ़ गई। फिर उन्होंने अन्य कूटमन्त्रों का ग्रथन किया, ओक्काक राजा के पास गये और बोले— जैसे जल, पृथ्वी, स्वर्ण और धन-धान्य हैं उसी प्रकार मनुष्यों के उपयोग के लिये गाएँ भी हैं। अतः इन्हें मारकर, विविध याग करो।[1] राजा ने यज्ञ में अनेक गायों का हनन किया[2] राजा को वध करते देखकर देव और असुरों ने क्रन्दन किया। नगर में रोग फैल गये।[3]

इस कथा का वर्णन करके बुद्ध ने कहा—यह अधर्म प्रवृत्त हुआ। इसमें गो-वध किया जाता है, याजक लोग धर्म से भ्रष्ट हो जाते हैं। यह हीन-धर्म है जो चिरकाल से प्रवृत्त हुआ है, किन्तु विद्वानों द्वारा गर्हित है। इस प्रकार पुरातन धर्म के नष्ट हो जाने पर सब वर्ण छिन्न-भिन्न हो गये। स्त्रियाँ भी धर्म-भ्रष्ट होने लगीं। इस प्रकरण में बुद्ध ने यज्ञों में पशु-बलि की निन्दा की है और बतलाया है कि तृष्णा के आधार पर ही यज्ञों में बलि देने की प्रथा आरम्भ हुई।

बुद्ध ने स्थान-स्थान पर हिंसा को त्याज्य बतलाया है। मज्झिमनिकाय के सम्मदिट्ठिसुत्त (१.१.९) में उन्होंने अकुशल कर्मों का उपदेश करते हुए कहा है आवुस प्राणातिपात (=हिंसा) अकुशल है। इसी प्रकार कुशल कर्मों का वर्णन करते हुए कहा है—प्राणातिपात से विरति (=विरत होना) कुशल है।[4]

दीघनिकाय के कूटदन्तसुत्त में उन्होंने यज्ञों में पशु-बलि का निषेध करके आदर्श यज्ञ का मार्ग बतलाया है। कथा इस प्रकार है—कूटदन्त नाम का एक सम्मानित ब्राह्मण महायज्ञ करने को तत्पर था। अनेक वृषभ, अजा तथा अन्य पशु यज्ञ के लिये एकत्र किये गये थे। इसी समय कूटदन्त ने सोचा कि बुद्ध यज्ञ-सम्पदा से भली-भांति परिचित हैं। अतः उनके पास जाकर उनसे यज्ञ-विधि को बतलाने की प्रार्थना की। बुद्ध ने यज्ञ-विधि का वर्णन करते हुए बतलाया कि प्राचीनकाल में महाविजित नामक राजा ने सोलह परिष्कारों और त्रिविध सम्पदाओं से युक्त आदर्श यज्ञ किया था। वह राजा गुण-सम्पन्न था और उसका ब्राह्मण पुरोहित भी। पुरोहित ने राजा से कहा कि राज्य से निर्धनता समाप्त करें; क्योंकि भ्रष्टाचार, चोरी तथा अन्य बुराइयों से रक्षा का यही एक उपाय है।

---

१. द्र०, वही, २.७.८३-८७, पृ० ३१३।

२. ततो च राजा सञ्ञतो, ब्राह्मणेहि रथसभो।
नैका सतसहस्सियो, गावो यञ्ञे अघातयि॥ वही, २.७.८८, पृ० ३१३।

३. वही, २.७.९०-९१, पृ० ३१३-३१४।

४. मज्झिमनिकाय, हिन्दी अनुवाद (महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९६४), पृ० ३१।

राजा ने इसी प्रकार अनेक प्रजाहित के कार्य करके अपना यज्ञ समाप्त किया। उसके यज्ञ में गौ आदि पशुओं की बलि नहीं की गई। किसी सेवक को कष्ट नहीं दिया गया; जिन्हें धन की आवश्यकता थी उन्हें धन दिया गया।

महाविजित के आदर्श यज्ञ की कथा सुनकर कूटदन्त की शङ्काएँ दूर हो गईं और उसने यज्ञों में पशु-बलि के स्थान पर आदर्श यज्ञ का मार्ग स्वीकार किया।[1] कूटदन्त सुत्त से प्रकट होता है कि उस समय समाज में धार्मिक कृत्य के रूप में यज्ञ का प्रचलन था। वे यज्ञ बहुत सामग्री साध्य तथा हिंसा-युक्त थे। बुद्ध ने भी विविध यज्ञों का उपदेश किया जो अल्प सामग्री साध्य तथा हिंसा-रहित थे।[2]

मज्झिमनिकाय के चंकिसुत्त (२.५.५) में एक कथा आती है। भगवान् बुद्ध भिक्षुसंघ के साथ ओपसाद नामक ब्राह्मणों के ग्राम के पास विहार करते थे। अनेक ब्राह्मण उनके पास पहुँचे। उस समय तीनों वेदों का पारङ्गत कापथिक नामक माणवक भी उनके पास बैठा था। उसने प्रश्न किया कि भो गौतम, जो यह ब्राह्मणों का पुराना मन्त्रपद (वेद) है, ब्राह्मण कहते हैं—यही सत्य है और सब झूठा है। इस विषय में आप क्या कहते हैं।

इस प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने पूछा कि क्या एक भी ब्राह्मण ऐसा है जो यह कहे कि मैं इसे जानता हूँ, यही सच है। अथवा इन ब्राह्मणों के पूर्वज किसी ऋषि ने कहा है कि हम इसे जानते हैं, यही सत्य है। इस पर कापथिक ने कहा – हे गौतम, ऐसा तो नहीं है। तब बुद्ध बोले फिर तो ब्राह्मणों का कथन, अन्धवेणु-परम्परा के समान है। पहले वाला भी नहीं देखता, बीच का भी नहीं देखता, पिछला भी नहीं देखता। क्या ऐसा होने पर ब्राह्मणों की श्रद्धा अमूलक नहीं हो जाती?[3]

इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट विदित होता है कि वेद ही सत्य है और सब झूठा है, ऐसा मानना बुद्ध की दृष्टि में केवल श्रद्धा मात्र है और ऐसी श्रद्धा जिसका कोई आधार नहीं है। फिर भी इस सन्दर्भ में वेद को अप्रमाण नहीं कहा गया।

सुत्तपिटक के दीघनिकाय में 'तेविज्जसुत्त' (त्रैविद्यसूत्र) है। वहाँ दिखलाया गया है कि भारद्वाज और वासिष्ठ (वासेट्ठ) नामक दो माणवक आपस में विवाद

१. द्र०, सुत्तपिटक, दीघनिकाय, भाग-१ (नालन्दा ग्रन्थ माला, नालन्दा, विहार, १९५८), ५.२.१२-१६ तथा आगे।

२. द्र०, सुमङ्गलविलासिनी (नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, १९७५), परिचिति, पृ० ११।

३. मज्झिमनिकाय, चंकिसुत्त, २.५.५, पृ० ३९९-४००।

करने लगे और कहने लगे कि हमारे गुरु द्वारा प्रोक्त मार्ग ही सरल है, श्रेष्ठ है, वह ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है । इस विवाद के निर्णय के लिये ये दोनों भगवान् बुद्ध के पास गये और इन्होंने कहा कि ब्राह्मण नाना मार्गों का उपदेश करते हैं; जैसे — आध्वर्यव ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण और छन्दोग ब्राह्मण आदि कहते हैं कि हमारा मार्ग ही ब्रह्म-प्राप्ति के लिये है ।[1]

इस विवाद का निर्णय करने के लिये बुद्ध ने भारद्वाज और वासिष्ठ से पूछा कि क्या त्रैविद्य ब्राह्मणों में कोई एक भी ब्राह्मण ऐसा है जिसने ब्रह्मा को साक्षात् देखा है अथवा इनके किसी पूर्व आचार्य ने ब्रह्मा का साक्षात्कार किया है । इन ब्राह्मणों के जो प्राचीन ऋषि मन्त्रों के कर्त्ता एवं प्रवक्ता कहे जाते हैं उन्होंने भी कहीं नहीं कहा कि ब्रह्मा कहाँ है ? कब हुआ इत्यादि; फिर तो यह सब अन्ध-परम्परा ही है । जिस प्रकार एक के पीछे दूसरा अन्धा चलता रहता है उसी प्रकार इन ब्राह्मणों का कथन भी है । न प्रथम ने ब्रह्मा को साक्षात् देखा है, न मन्त्रकर्त्ताओं ने और न ही परवर्ती त्रैविद्य ब्राह्मणों ने ही । इस प्रकार उनका कथन हास्यास्पद है, अर्थ-हीन है, तुच्छ है ।[2] बुद्ध ने अन्य दृष्टान्तों द्वारा भी परम्परागत विश्वासों में तर्क और विचार का स्थान दिखलाया है ।[3]

बुद्ध ने आगे कहा है कि इन्द्र, सोम, वरुण, ईश्वर, प्रजापति, ब्रह्मा, महेन्द्र तथा यम आदि देवताओं के आह्वान करने में कोई प्रयोजन नहीं है । यह उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार अचिरवती नदी के एक किनारे पर खड़े होकर दूसरे किनारे को पास बुलाना ।[4]

दीघनिकाय के सोणदण्डसुत्त में सोणदण्ड ने प्रथमतः ब्राह्मण के पाँच गुण बतलाये थे — सुजातित्व, वेद में पारङ्गत होना, अभिरूपता, शील और पाण्डित्य (मेधा) ।[5] बुद्ध के पुनः-पुनः प्रश्न करने पर सोणदण्ड ने स्वीकार किया कि ब्राह्मणत्व के लिए सुजातित्व, वेद में पारङ्गत होना और अभिरूपता अनिवार्य नहीं है, केवल शील और प्रज्ञा ही उसके अनिवार्य गुण हैं ।[6] इस सन्दर्भ से यह प्रकट होता है कि बुद्ध की दृष्टि में वेदों में पारङ्गत होना भी ब्राह्मण के लिए आवश्यक नहीं है ।

---

१. द्र०, सुत्तपिटक, दीघनिकाय, भाग-१, १३.१.१-७, पृ० १९९-२०० ।
२. वही, १३ २.८-१२, पृ० २००-२०२ ।
३. वही, १३.३.१३, पृ० २०२ तथा आगे ।
४. वही, १३.३.२७-२८, पृ० २०६ ।
५. द्र०, सुमङ्गलविलासिनी, ४.३.१२, पृ० १०४ ।
६. द्र०, वही, ४.३.१३, पृ० १०४-१०६ ।

इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट रूप से वेदों की प्रामाणिकता के विषय में अपना मत नहीं प्रकट किया, फिर भी तत्कालीन वैदिक-विधि-विधानों का विरोध करके वेदाध्ययन को अनावश्यक बतलाकर यह प्रकट कर दिया है कि वेदों का प्रामाण्य युक्ति-सङ्गत नहीं।

(ख) धर्मकीर्त्ति :—

धर्मकीर्ति ने वेदप्रामाण्य-विषयक युक्तियों का निराकरण करते हुए वेद की अप्रामाणिकता दिखलाई है।

(i) **अपौरुषेयता के आधार पर वेद की प्रामाणिकता नहीं**—मीमांसकों के अनुसार कोई भी ज्ञान भ्रान्ति आदि दोषों से रहित होने के कारण प्रमाण होता है और जिस ज्ञान में भ्रान्ति आदि दोष होते हैं, वह अप्रमाण होता है। अतः भ्रान्ति, संशय तथा अज्ञान ही किसी ज्ञान के मिथ्या (= अप्रामाणिक) होने के कारण हुआ करते हैं। भ्रान्ति आदि दोष मनुष्यों में होते हैं, पुरुषाश्रित होते हैं। वेद तो अपौरुषेय हैं उनमें भ्रान्ति आदि दोषों की संभावना ही नहीं हो सकती। अतः वेद प्रमाण हैं, सत्य अर्थ के बोधक हैं।[1]

इस युक्ति के विरोध में धर्मकीर्ति कहते हैं: दया और धार्मिकता आदि गुणों के कारण ही कोई मनुष्य सत्य वचन कहा करता है अतः दया और धर्मपरता आदि ही किसी वचन की यथार्थता (प्रामाणिकता) के निमित्त होते हैं। ये गुण पुरुषाश्रित हैं—मनुष्यों में रहते हैं, इसलिये अपौरुषेय वाक्य मिथ्या होता है; क्योंकि उसमें पुरुष के ये गुण होना सम्भव नहीं है।[2]

किञ्च, यदि वेदवाणी को अपौरुषेय भी मान लिया जाये तो भी वह प्रमाण नहीं हो सकती। संकेत-ग्रह के बिना किसी शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होती। अतः संकेत ही अर्थबोध का हेतु है, यह मानना होगा। संकेत मनुष्यकृत होता है और मनुष्य में दोषों की संभावना है। अतः वेदवाक्यों के अर्थ में भी दोषों की संभावना है और वे स्वतः प्रमाण नहीं हो सकते। इसलिये वेद को अपौरुषेय मानने से भी कोई लाभ नहीं।[3]

यदि यह माना जाये कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मनुष्यकृत नहीं है, अपितु स्वाभाविक है अतः वेद में मिथ्यात्व की आशङ्का भी नहीं हो सकती।

---

१. यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः। कुमारिलभट्ट, श्लो०, २.६३।

२. प्रमाणवार्त्तिक (मनोरथनन्दिवृत्ति, बौद्ध भारती, सारनाथ, वाराणसी, १९६८), स्वार्थानुमान, का० २२५-२२६।

३. वही, का० २२७।

तो भी ठीक नहीं, क्यों ? यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक हो तो जिस व्यक्ति ने किसी शब्द का संकेत-ग्रहण नहीं किया वह भी उस शब्द के सुनने मात्र से ही अर्थ समझ जाया करे; किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है अपितु मनुष्यकृत है। और, ऐसा होने पर वेद में मिथ्यात्व की शङ्का है ही। इसी सन्दर्भ में बौद्ध ने शब्दनित्यता, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता तथा वेदों की नित्यता और वेदों की अपौरुषेयता का भी खण्डन किया है[1], जिनका अन्यत्र निरूपण किया जायेगा।

(ii) **वेदार्थ का निश्चय न होने से भी वेद प्रमाण नहीं**—वेद के शब्द स्वयं तो यह कहते नहीं कि हमारा यह अर्थ है, वह नहीं है। फिर तो मनुष्यों को ही उनके अर्थ की प्रकल्पना करनी होगी और मनुष्य राग आदि दोषों से युक्त होते हैं अतः वे ठीक अर्थ का निश्चय कैसे कर सकते हैं ? यदि यह मान लिया जाये कि इन रागादिविशिष्ट पुरुषों में भी कोई जैमिनि आदि मुनि वेदार्थ को ठीक प्रकार से जानता है, अन्य नहीं जानते; तो यह भेद किस आधार पर किया जायेगा। अतः रागादियुक्त होने से किसी को भी वेदार्थ का ज्ञाता नहीं कहा जा सकता।[2] और, यदि मनुष्य होने पर भी जैमिनि आदि को अतीन्द्रियार्थ का ज्ञाता माना जाये तो अभ्यास आदि के द्वारा अन्य किसी पुरुष को भी उत्कृष्ट ज्ञानी (या सर्वज्ञ) क्यों नहीं मान लेते। (फिर वही धर्म का उपदेश करने में समर्थ होगा) धर्मोपदेश को अपौरुषेय मानने की क्या आवश्यकता है।[3] यदि कहो कि किसी विशेष व्यक्ति के व्याख्यान को हम प्रमाण नहीं कहते अपितु जिसका व्याख्यान प्रमाणों के अनुकूल है उसे ठीक मानते हैं, उस व्यक्ति को ही वेदार्थ का ज्ञाता मानते हैं। यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं। क्यों ? अतीन्द्रिय होने वाले वेदार्थ में किसी अन्य प्रमाण की गति नहीं हो सकती। फिर अन्य प्रमाण की अनुकूलता से अर्थ के तथ्यातथ्य का निर्णय कैसे किया जा सकेगा ? अपि च, जिस व्यक्ति का वचन प्रमाणों के प्रतिकूल नहीं है उसे ही आगमवचनों का निर्माता माना जा सकता है फिर वेदों को अपौरुषेय मानना व्यर्थ है।[4]

इस पर मीमांसक का तर्क यह है कि अत्यन्त परोक्ष जो स्वर्ग आदि हैं उनके विषय में जैमिनि आदि को भी वेद के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। अतः उनके ज्ञान का जो निमित्त है, वह अपौरुषेय है, यह स्वीकार करना होगा। इसके

---

१. प्रमाणवार्त्तिक, स्वार्थानुमान, का० २३२-२५१।

२. वही, का० ३१३-३१४।

३. वही, का० ३१५।

४. वही, का० ३१५-३१७।

उत्तर में बौद्ध कहता है कि फिर तो किसी अतीन्द्रियार्थदर्शी की सत्ता माननी चाहिये। यदि कोई अतीन्द्रियार्थदर्शी न होगा तो रागादि दोषों से युक्त मनुष्य अपने आप वेदार्थ को न जान सकेगा, दूसरे के द्वारा भी न जान सकेगा; क्योंकि वह भी रागादि से युक्त है। और, वेद स्वयं तो अपना अर्थ बतलाता नहीं। फिर वेद के सच्चे अर्थ का ज्ञान कैसे होगा ?[1] जब वेद के अर्थ के तथ्यातथ्य का निर्णय नहीं हो सकता तो 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि विधिवाक्य का कोई यह भी अर्थ कर सकता है कि 'श्वमांसं खादेत्'। यदि वेदवादी कहे यह तो लोकप्रसिद्ध है कि दाह आदि में समर्थ वस्तु 'अग्नि' कही जाती है और उसमें घृत आदि डालना हवन कहलाता है अतः यहाँ मनमाने अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। इस पर बौद्ध का कथन है कि फिर यह बतलाइये कि ऐसा कौन अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञाता है जिसने 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि का अर्थनिश्चित किया है कि इसका यही अर्थ है अन्य नहीं। किञ्च, लोकप्रसिद्ध अर्थ के द्वारा वेदार्थ की व्यवस्था नहीं हो सकती; क्योंकि वेद में स्वर्ग, उर्वशी आदि शब्द रूढ अर्थ के वाचक नहीं देखे जाते। लोक में तो अतिमानव पुरुष-विशेषों का स्थान जो दिव्य सुख देने वाली विविध सामग्री से समृद्ध है उसे स्वर्ग माना जाता है। उसमें रहने वाली एक अप्सरा उर्वशी कहलाती है। किन्तु वेद में दुःख से रहित निर्विशेष आनन्द को ही स्वर्ग कहा गया है और वहाँ उर्वशी का का अर्थ है चारणि या पात्री।[2] अतः 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' आदि में किसी अर्थ की भी कल्पना होना सम्भव है। और, लोकप्रसिद्धि तो जनवाद है, मानुषपरम्परा है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, वह मनुष्यकृत है अतः उसे आपके मतानुसार प्रमाण कैसे माना जा सकता है।[3] अतः वेद के अर्थ का निश्चायक कोई प्रमाण नहीं है तथा उसके अर्थ का निश्चय नहीं हो सकता और वेद प्रमाण नहीं हो सकते।

इस प्रकार वेदार्थ के अनिश्चय के आधार पर वेद की अप्रामाणिकता का निरूपण करते हुए धर्मकीर्ति ने वेदप्रामाण्य की साधक अन्य युक्तियों का भी खण्डन किया है और, वेद की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

(iii) **वृद्धमीमांसक की युक्तियों का खण्डन** प्रमाणवार्तिक के वृत्तिकार मनोरथनन्दिन् ने बतलाया है[4], वृद्धमीमांसक का मत है कि जैसे—'अग्निर्हिमस्य

---

१. वही, का० ३१८-३१९।

२. उर्वशी चारणिः पात्री वा। मनोरथनन्दिवृत्ति, प्रमाणवार्तिक, ३.३२१।

३. वही, का० ३१९-३२२; तथा मनोरथनन्दिवृत्ति।

४. मनोरथनन्दिवृत्ति, वही, का० ३३१।

भेषजम्' (अग्नि शीत की औषध है) यह वेदवाक्य प्रमाण है; क्योंकि अग्नि द्वारा शीत का निवारण लोकसिद्ध है। इसी प्रकार 'अग्निष्टोमेन जुहुयात् स्वर्गकामः' (स्वर्ग की कामना वाला अग्निष्टोम याग करे) इत्यादि वेदवाक्य भी प्रमाण है। कैसे? शेषवत् अनुमान के द्वारा, स्थालीपुलाकन्याय से। किसी भाण्डे में जब चावल पकाया जाता है तो एक पके चावल को देखकर अन्यों के पकने का भी अनुमान कर लिया जाता है। इसी प्रकार वेद के कतिपय दृष्टार्थक वचनों की प्रामाणिकता का अनुभव करके अन्य वचनों की प्रामाणिकता भी समझ ली जाती है।[1] इस पर धर्मकीर्ति का कथन है कि न्यायवादी आचार्य दिङ्नाग ने इस प्रकार के शेषवत् अनुमान में दोष दिखलाया है। वस्तुतः यह अनुमान नहीं अनुमानाभास है।[2] किञ्च, अनुभव एवं युक्तियों के द्वारा अनेक वेद-प्रतिपादित विषय मिथ्या प्रतीत होते हैं। अतः किसी एक वचन की सत्यता के आधार पर समस्त वेद को सत्य कैसे माना जा सकता है?[3]

(iv) **वेदप्रतिपादित अर्थों का मिथ्यात्व**—देखिये वेद की युक्तिरहित-बातें। वहाँ नित्य पुरुष को कर्ता बतलाया गया है। बौद्ध की दृष्टि में तो नित्य तथा कूटस्थ के द्वारा किसी अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं होती।[4] वहाँ अर्थक्रिया रहित दिक्काल आकाश आदि को सत् (भावरूप) कहा गया है; किन्तु सत् तो वह है जो अर्थक्रियाकारी होता है।[5] जो गुण, क्रिया, सामान्य आदि वस्तुतः अतीन्द्रिय हैं उन्हें भी वेदानुयायियों ने प्रत्यक्ष का विषय माना है।[6] इसी प्रकार प्रत्यक्ष एवं अनुमान से सिद्ध न हो सकने वाली बातों का वेद में निरूपण किया गया है। किञ्च, आगमापेक्ष अनुमान के विपरीत विशेष स्नान आदि को पापनाशक कहा गया है। जब कि तथ्य यह है कि अधर्म या पाप तो राग आदि दोषों से उत्पन्न होता है; अतः राग आदि को दूर किये विना स्नान आदि से पाप की निवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार के विरोध का परिहार न करके तथा पुरुषार्थ की सिद्धि कराने वाले शास्त्रीय अर्थ का प्रतिपादन न करके वेद की प्रामाणिकता का बखान करने वाला वृद्धमीमांसक धृष्टता में उस नारी से भी आगे बढ़ गया है

---

१. वही, का० ३३२।
२. वही, का० ३३३।
३. दृश्यते च बहुतरविसंवादो वेदस्य, कथमेकसत्यतया सर्वत्र तथात्वम्। मनो०, प्रमाणवार्त्तिक, का० ३३३।
४. वही, का० ३३३।
५. मनोरथनन्दिवृत्ति, वही, का० ३३३।
६. प्रमाणवार्त्तिक, स्वार्थानुमान, का० ३३३।

जो पति द्वारा रंगे हाथों पकड़ी जाने पर भी अपने सदाचरण के लिये प्रमाण प्रस्तुत करती है और, उलटी पति को ही भ्रान्त बतलाती है।[1]

इसके अतिरिक्त, यदि एक अंश की सत्यता को देखकर समस्त ग्रन्थ को प्रमाण मान लिया जाया करे तो कोई भी शास्त्र अप्रामाणिक न रहेगा।[2] व्यक्ति जो बहुत सी बातें कहता है उनमें एक भी सत्य नहीं होती, ऐसा नहीं माना जा सकता।[3]

इस प्रकार धर्मकीर्ति ने वेद की प्रामाणिकता का विविध युक्तियों से खण्डन किया है।

(ग) **शान्तरक्षित तथा कमलशील**—इन्होंने विशेषकर वेदप्रामाण्य-साधक युक्तियों का खण्डन किया है। साथ ही वेद की अप्रामाणिकता भी दिखलाई है।

(i) **अपौरुषेयता से वेदों का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता** - जैसा कि आगे विस्तारपूर्वक दिखलाया जायेगा, वेद की प्रामाणिकता का समर्थन करने वालों में मीमांसक प्रमुख है। मीमांसकों की मुख्य युक्ति है कि वेद अपौरुषेय होने से समस्त दोषों से रहित हैं अतः वे प्रमाण हैं। धर्मकीर्ति ने भी इस युक्ति का निराकरण किया था, किन्तु शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में कुमारिल के श्लोकों को उद्धृत करते हुए इन युक्तियों की समीक्षा की है और कमलशील ने उनकी विशद व्याख्या की है। मीमांसक का भाव यह है – दोष-रहित ज्ञान को प्रमाण कहते हैं अवितथं ज्ञानं प्रमाणम्।[4] उसका साधन होने से वेद को भी प्रमाण कहा जाता है। पुरुषकृत या पौरुषेय वाक्यों में ही यह विचार किया जाता है कि इनमें दोष है या नहीं। और, दोष होने से ही कोई वचन मिथ्या हो जाया करता है। ये दोष हैं – राग-द्वेष आदि। इनके कारण पुरुष मिथ्या बात भी कह दिया करते हैं। जिस वचन का वक्ता पुरुष नहीं होता उसमें मिथ्या होने की शङ्का भी नहीं की जा सकती, क्योंकि मिथ्यात्व के निमित्त जो राग-द्वेष आदि हैं उनका वहाँ सर्वथा अभाव होता है। वेद तो अपौरुषेय हैं – पुरुषकृत नहीं हैं अतः उनमें कुछ भी मिथ्या नहीं हो सकता।[5] वेद कैसे अपौरुषेय हैं? इसका मीमांसक ने विस्तार से प्रतिपादन किया है, जिसका अन्यत्र निरूपण किया जायेगा।

---

१. मनोरथनन्दिवृत्ति, वही, का० ३३५-३३६।
२. वही, का० ३३६।
३. वही, का० ३३७।
४. कमलशील, तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, का० २०८५।
५. द्र०, तत्त्वसंग्रह तथा पञ्जिका, का० २०८६ (पृ० ७१५)।

(ii) **नित्य होने से भी वेदों की प्रामाणिकता नहीं होती**—मीमांसक का मत है कि वेद पुरुषकृत-पौरुषेय नहीं, इससे यह भी सिद्ध होता है कि वेद की उत्पत्ति नहीं हुई वह अनादि है और अनादि होने से ही वह नित्य भी है। इसके अतिरिक्त, सभी शब्द नित्य होते हैं अतः वेद भी नित्य हैं। इस प्रकार वेद नित्य तथा अपौरुषेय हैं और वे ही धर्म में प्रमाण हैं।[1]

बौद्ध ने इस प्रकार की युक्तियों का बलपूर्वक खण्डन किया है। उसकी स्थापना है कि सभी शब्द अनित्य हैं। जो वस्तु इन्द्रियग्राह्य है और प्रयत्न से उत्पन्न होती है वह अनित्य हुआ करती है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि ये सुन्दर सुन्दर प्रफुल्लित पुष्प नष्ट हो जाते हैं, अनित्य हैं। इसी प्रकार शब्द भी इन्द्रियग्राह्य है-श्रोत्रेन्द्रिय से इसका ग्रहण होता है और यह प्रयत्न द्वारा उत्पन्न भी होता है अतः अनित्य है। जब प्रत्येक शब्द अनित्य है तो शब्द और वाक्यों का समुदाय वेद भी कैसे नित्य हो सकता है और, वेद अनित्य हैं तो अवश्य ही पुरुषकृत हैं किसी पुरुष ने कभी बनाये हैं— पौरुषेय हैं।[2] किञ्च, यदि वर्णों को नित्य भी मान लिया जाये तो भी वर्णों का संघातरूप जो शब्द है वह अनित्य ही है। वह पुरुषकृत होता है—पौरुषेय ही होता है।[3] इसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य नहीं।[4] यदि पद, पदार्थ और इनके सम्बन्ध को नित्य भी मान लिया जाये तो भी वाक्य तथा वाक्यार्थ को तो नित्य कहा ही नहीं जा सकता। और, वेद का प्रामाण्य तो वाक्यार्थ के रूप में ही सिद्ध किया जाता है। अतः पद, पदार्थ और इनके सम्बन्ध की नित्यता सिद्ध कर देने पर भी वेद का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता।[5]

अभिप्राय यह है :—वाक्य के अर्थ का ज्ञान पुरुषकृत संकेत द्वारा ही हुआ करता है जैसे 'अदेङ् गुणः' पाणिनि के इस सूत्रात्मक वाक्य से विदित होता है कि अ, ए तथा ओ वर्णों की गुण संज्ञा है। और, वेद से होने वाला ज्ञान भी वाक्यार्थज्ञान ही है अतः वह भी पुरुषकृत संकेत पर आश्रित है। वेद में तो याज्ञिकों ने विना किसी आधार के ही अपनी बुद्धि से वाक्यार्थ की कल्पना कर ली है;

---

१. द्र०, वही, का० २०९९-२१०४ (पृ० ७१८)।

२. तु०, तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, का० २१०५ (पृ० ७१९)।

३. द्र०, वही, का० २२७८ (पृ० ७६५)।

४. शब्दार्थसम्बन्धशून्यः सृष्टिसंहारात्मकः। वही, पञ्जिका, का० २२७३ (पृ० ७६४)।

५. पदार्थपदसम्बन्धनित्यत्वे साधितेऽपि च।
नैव चेह प्रमाणत्वं वाक्यार्थं प्रति सिध्यति। वही, का० २३३५ (पृ० ७८२)।

जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे, इत्यादि बातों की जीविका चलाने के लिये ही याज्ञिकों ने कल्पना कर ली है।[1]

नियम यह है कि जो वस्तु संघात रूप होती है वह पुरुषकृत होती है; जैसे नाटक, आख्यायिका आदि की कथाएँ संघात रूप हैं, अनेक वाक्यों के जोड़ने से बनती है; वे किसी न किसी पुरुष की रचना होती हैं। वेद भी पदों तथा वाक्यों का संघात है अतः वह पुरुषकृत है। और, पुरुषकृत या पौरुषेय होने से ही वेदों में साधारण पुरुषों के वाक्य के समान दोष हो सकते हैं अतः वेद प्रमाण नहीं।[2]

यह ठीक है कि आप्त पुरुषों का वचन भी प्रमाण होता है किन्तु वेदों का रचयिता तो कोई आप्त पुरुष है नहीं इसीलिये वेद प्रमाण नहीं हो सकते।[3]

इन युक्तियों का मीमांसा आदि के ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक निराकरण किया गया है जिनका आगे निरूपण किया जायेगा।

(iii) **मिथ्याचार आदि की शिक्षा देने के कारण वेद प्रमाण नहीं** — मीमांसकों की मान्यता है कि धर्म का उपदेश करना आदि वेद के कार्य को पुरुषकृत वाक्यों में नहीं देखा जाता; अतः वेद पौरुषेय नहीं हो सकते। इस पर बौद्धों का कथन है :—यह कहना युक्तियुक्त नहीं कि वेद के धर्मों को पुरुषकृत वाक्यों में नहीं देखा जाता; क्योंकि जिस प्रकार वेद में मिथ्याचार आदि का उपदेश उपलब्ध होता है, इसी प्रकार नास्तिक आदि के वचनों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ, वेद में कामविषयक मिथ्याचार का विधान है, जैसे यजमान का माता आदि के साथ अभिगमन कहा गया है[4], वहाँ अश्वमेध आदि में प्राणिहिंसा का विधान है,[5] इसी प्रकार असत्य-कथन का भी उपदेश मिलता है।[6] ये सब वेद के धर्म नास्तिक आदि के वचनों में भी उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार गुह्य कथन (दुर्भणत्व-दुरभिधान), मनोज्ञता (अनुदात्तत्व), क्लिष्टान्वय (क्लिष्ट) तथा श्रुतिकर्कशता (अश्रव्यता) आदि वेद के धर्म नास्तिक आदि के ग्रन्थों में भी मिलते हैं। अतः यह कहना संगत नहीं कि वेद के धर्म पुरुषकृत ग्रन्थों में नहीं मिलते।[7]

---

१. द्र०, वही, का० तथा पञ्जिका, २३३५-२३३६ (पृ० ७८२-७८३)।
२. द्र०, वही, पञ्जिका, का० २३३५-२३३७।
३. तत्त्वसंग्रह, का० तथा पञ्जिका, २३३७ (पृ० ७८३)।
४. द्र०, वही, २७८६ (पृ० ८६६)।
५. द्र०, वही, २७८६ (पृ० ८६६)।
६. द्र०, वही, २७८६ (पृ० ८६६)।
७. द्र०, वही, २७८६-२७८७ (पृ० ८६६-८६७)।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि बौद्धों की दृष्टि में वेदों में काममिथ्याचार, प्राणिहिंसा तथा असत्यकथन आदि का उपदेश है अतः वेदों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इस प्रसङ्ग में एक तथ्य उल्लेखनीय है। वह यह कि तत्त्वसंग्रहपञ्जिका में काममिथ्याचार आदि का विधान करने वाले जो वचन उद्धृत किये गये हैं उनमें से कोई भी वचन मन्त्र संहिताओं का नहीं है। वस्तुतः वेद को प्रमाण मानने वालों के सभी ग्रन्थों को उन्होंने वेद मान लिया है और इस प्रकार के अनेक दोष वेदों में दिखलाये हैं।

शान्तरक्षित तथा कमलशील ने वेदों में दोष ही नहीं दिखलाये अपितु वेद-प्रामाण्य को सिद्ध करने वाली अन्य युक्तियों का भी खण्डन किया है।

(iv) **वेद-प्रामाण्य साधक अन्य युक्तियों का निराकरण**—(१) वेदवादियों के अनुसार मन्त्र तथा आयुर्वेद की प्रामाणिकता के समान वेदों की भी प्रामाणिकता स्वीकार करनी चाहिये; क्योंकि आप्तों के वचन को प्रमाण माना जाता है।[1] न्यायभाष्य आदि में इस युक्ति की विस्तारपूर्वक व्याख्या की गई है। उसका क्या तात्पर्य है, यह न्यायसम्प्रदाय के वेदप्रामाण्य विषय में दिखलाया जायेगा। यहाँ विवेचनीय यह है कि इस कथन में मन्त्रों की प्रामाणिकता को दृष्टान्त रूप में दिखलाया गया है और दृष्टान्त वह होता है जिसे वादी, प्रतिवादी दोनों स्वीकार करते हैं। कतिपय व्याख्याकारों के अनुसार यहाँ मन्त्र शब्द से वेद के मन्त्रों का ग्रहण नहीं है; किन्तु वेदानुयायियों के ऐसे मन्त्रों का ग्रहण होता है जिनका विष, भूत, अशनि आदि के निवारण के लिये प्रयोग किया जाता है।[2] उनका प्रयोग करने से विष आदि का प्रभाव नष्ट हो जाता है, इस प्रकार का अनुभव वेदानुयायी तथा वेदविरोधियों का रहा है। उसके तथ्यातथ्य पर पृथक् से विचार करना होगा। इस विषय में बौद्ध का तर्क यह है कि मन्त्र आदि की प्रामाणिकता से न वेद की अपौरुषेयता सिद्ध होती है और न ही प्रामाणिकता। क्यों? विष-निवारण आदि के कार्य में जो मन्त्रों की सत्यता देखी जाती है वह अपौरुषेय होने से नहीं है; क्योंकि वैनतेय (?) तथा बौद्ध आदि के मन्त्रों में भी विष-हरण का सामर्थ्य देखा जाता है। यदि इनकी प्रामाणिकता अपौरुषेय होने से मानी जायेगी फिर तो बुद्ध के वचन भी अपौरुषेय हो जायेंगे और इस प्रकार

---

१. द्र०, न्यायसूत्र तथा भाष्य, २.१.६९।

२. मन्त्रपदानां च विषभूताशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य तथाभाव एतत्प्रामाण्यम्। न्यायभाष्य, २.१.६९।

संसार में कोई भी सत्यवचन पुरुषकृत न रहेगा। अतः मन्त्र आदि की सत्यता से वेदों की अपौरुषेयता तथा प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती।[१]

(२) कुमारिल ने कहा है कि सभी कालों में पुरुष प्रायः अनृतवादी होते हैं; जैसे आजकल के पुरुषों की बातों में विश्वास नहीं, इसी प्रकार अतीत के मनुष्यों की बातें विश्वसनीय नहीं।[२] ऐसा मानने पर तो जो यह कहता है कि इस ग्रन्थ की रचना मैंने की है, वह भी अविश्वसनीय होगा और किसी ग्रन्थ का भी कोई कर्ता सिद्ध न हो सकेगा। फिर तो सभी अपौरुषेय होंगे और अपौरुषेय होने से वेद की प्रामाणिकता की आशा भी जाती रहेगी। यह स्पष्ट ही है कि उन ग्रन्थों में वेदार्थ के विपरीत बातें भी हैं। फिर सभी के अपौरुषेय होने से किसे प्रमाण माना जायेगा ?[३]

(३) मीमांसक के अनुसार कोई वचन दोषज्ञान या बाध-ज्ञान होने से मिथ्या हुआ करता है। जैसा शबर स्वामी ने कहा है—वेदवचनों में मिथ्यात्व के निश्चय का कोई प्रमाण नहीं ?[४] देशान्तर और कालान्तर में भी उनमें कोई विपर्यय नहीं देखा जाता, अतः वे प्रमाण हैं।[५] इस पर शान्तरक्षित कहते हैं कि वेद में 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा' इत्यादि कहते हुए आत्मा की नित्यता बतलाई गई है। जब सभी पदार्थ क्षणिक सिद्ध किये जा चुके हैं और नैरात्म्य की सिद्धि की गई है तो इस प्रकार के वेदवचनों का स्पष्ट रूप में ही बाध हो जाता है। इसी प्रकार 'अग्निहोत्र से स्वर्ग होता है' इत्यादि बातों में भी बाध की आशङ्का हो सकती है।[६] अतः वेद को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

(४) यदि वेद प्रकाश के समान स्वतः प्रमाण हैं तो बौद्ध आदि इन्हें प्रमाण क्यों नहीं मानते ? इस प्रश्न के उत्तर में कुमारिल[७] ने कहा है—जिस प्रकार अपनी तीक्ष्ण किरणों से समस्त अन्धकार को दूर कर देने वाला सभी जनों का चक्षुरूप सूर्य सामने ही दीप्त होता है; किन्तु उसका रूप उल्लू के दृष्टिपथ में नहीं

---

१. तत्त्वसंग्रह तथा पञ्जिका, का० २७८८-२७८९ (पृ० ८९७)।
२. सर्वदा चापि पुरुषाः प्रायेणानृतवादिनः।
यथाद्यत्वे न विस्रम्भस्तथातीतार्थकीर्तने॥ श्लो० १.१.२.१४४।
३. तत्त्वसंग्रह तथा पञ्जिका, का० २७९३-२७९४ (पृ० ८९८)।
४. न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति। मीमांसा, शाबर भाष्य (आनन्दाश्रम, १९५३), १.१.२, पृ० १७।
५. न चैष कालान्तरे पुरुषान्तरेऽवस्थान्तरे देशान्तरे वा विपर्येति। तस्मादवितथः। वही, १.१.२, पृ० १५।
६. तत्त्वसंग्रह तथा पञ्जिका, का० २८०३ (पृ० ९००)।
७. श्लो०, १.१.२.६५।

आता, इसी प्रकार अधर्म के अन्धकार से बुद्धि और नेत्रों का प्रतिघात हो जाने के कारण वे लोग आलोक के समान वेद को भी नहीं देखते और प्रमाण नहीं मानते ।[1]

कुमारिल के कथन का प्रतिवाद करते हुए शान्तरक्षित कहते हैं—इस प्रकार जिस वेद का स्वरूप तथा अर्थ मनुष्यों द्वारा निश्चित नहीं किया जाता, जो अन्धकारमय है ऐसे वेद के प्रति—मन्दबुद्धि जनों का अनुराग इसी प्रकार है जिस प्रकार पारसी लोगों का अपने आचार के प्रति देखा जाता है । वस्तुत: ये लोग पापवासना के निमित्त से वेद के अर्थ को न जानते हुए भी प्राणि-हिंसा आदि पापकर्मों में तत्पर रहते हैं । इस प्रकार स्वयं या दूसरों के द्वारा वेद के अर्थ का निश्चय न होने के कारण वेद-वाक्यों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती ।[2]

(५) वेद की पौरुषेयता और अनित्यता सिद्ध हो जाने पर उसके स्वत: प्रामाण्य का भी निराकरण हो जाता है ।[3]

इस प्रकार शान्तरक्षित तथा कमलशील ने वेद की प्रामाणिकता तथा वेद के स्वत: प्रामाण्य का अत्यन्त विस्तार के साथ खण्डन किया है, उनकी युक्तियों में से कुछ ही यहाँ दिखलाई गई हैं ।

४. जैनदर्शन तथा वेदप्रामाण्य

(क) सामान्य परिचय : महात्मा बुद्ध के समान महावीर स्वामी ने भी जन-कल्याण की दृष्टि से सरल सुबोध भाषा में प्रवचन किये । उनके प्रवचनों में प्रमाण या प्रामाण्य का निरूपण नहीं मिलता । जब जैनदर्शन का उद्भव एवं विकास हुआ तभी प्रमाण और प्रामाण्य का विश्लेषण आरम्भ हुआ । आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में प्रमाण की चर्चा की गई है । इसी प्रकार आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में भी; किन्तु वहाँ प्रामाण्यवाद का निरूपण उपलब्ध नहीं होता । सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार में जो प्रमाणों का लक्षण और विभाजन किया है, उसमें भी प्रामाण्यवाद का संकेत मात्र देखा जा सकता है । उसके आधार पर आगे चलकर शान्ति आचार्य ने प्रामाण्य का विवेचन किया है और वेद-प्रामाण्य का भी ।

१. तत्त्वसंग्रह, का० २३५० (पृ० ७८६) ।
२. वही, का० २८०६-२८०८ (पृ० ६०१-६०२) ।
३. वही, का० २८१० (पृ० ६०३) ।

मीमांसक की यह धारणा रही है कि वेद अपौरुषेय हैं उनमें पुरुषकृत दोषों की सम्भावना नहीं हो सकती अतः वे दोष रहित हैं और उनका बाध भी नहीं होता; इसलिये वे प्रमाण किंवा स्वतः प्रमाण हैं। शान्ति आचार्य ने वेदों की अपौरुषेयता तथा निर्बाधता दोनों का ही निराकरण किया है। वे कहते हैं—वेदवाक्य अपौरुषेय नहीं हो सकते, प्रत्युत अन्य वाक्यों या वस्त्रादि पदार्थों के समान उन्हें पुरुषनिर्मित ही मानना होगा।[1] उन्होंने वेदों की अपौरुषेयता का विस्तार से खण्डन किया है और यह बतलाया है अपौरुषेय होने से वेद को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। उनका यह भी कहना है कि वेदों में बाध की भी सम्भावना है ही।[2] अतः वे बाधवर्जित नहीं कहे जा सकते। फिर उन्हें प्रमाण कैसे माना जा सकता है? बाधरहित ज्ञान ही तो प्रमाण होता है।[3]

इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी जैनदर्शन में वेद-प्रामाण्य का पर्याप्त विवेचन उपलब्ध होता है, जैनन्याय के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् आचार्य अकलङ्क ने कई स्थलों पर वेदप्रामाण्य की चर्चा की है। सम्भवतः वेदप्रामाण्यविषयक इस चर्चा को जैनदर्शन का प्राचीनतम स्पष्ट निरूपण कहा जा सकता है। इसकी विशद व्याख्या वादिराज सूरि के न्यायविनिश्चयविवरण में मिलती है। किञ्च, दर्शन के अन्य विषयों के समान आचार्य विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी आदि ने भी प्रामाण्य-सम्बन्धी विचार किया है। प्रभाचन्द ने तो प्रामाण्यवाद एवं वेद-प्रामाण्य का विस्तार से विवेचन किया है। प्रभाचन्द के प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र दोनों ग्रन्थों में अन्य दर्शनों के मन्तव्यों की परीक्षा करते हुए जैनदर्शन के मन्तव्यों का निरूपण किया गया है।

इसी प्रकार अन्य जैन आचार्य भी प्रामाण्यवाद तथा वेदप्रामाण्य पर विचार करते रहे हैं। हेमचन्द्राचार्य के ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद का स्पष्टतः विचार किया गया है। हेमचन्द्र के व्याख्याकार आचार्य मल्लिषेण ने तो वेदप्रामाण्य का अत्यन्त विशद विवेचन किया है। उनके तीक्ष्ण तर्क और प्रभावशाली युक्तियाँ नितान्त आकर्षक कही जा सकती हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सभी विद्वानों के विचारों का निरूपण करना सम्भव नहीं है। इसी हेतु कतिपय आचार्यों के विचार ही संक्षेप में दिखलाये जा रहे हैं।

---

१. वचसो पौरुषेयत्वं नाऽविशेषात् पटादिवत्।
न्यायावतारसूत्रवार्त्तिक, का० ७।

२. वेदेश्वरादयो नैव प्रमाणं बाधसंभवात्। वही, का० ६।

३. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधवर्जितम्।
न्यायावतार, का० १।

(ख) आचार्य अकलङ्क और वेदप्रामाण्य

आचार्य अकलङ्क जैन दर्शन के प्रमुख आचार्य हैं। उनका समय ७२० से ७८० तक माना जाता है।[1] उन्होंने 'न्यायविनिश्चय' नामक ग्रन्थ में अपौरुषेय होने से वेद प्रमाण हैं, इस मत का निराकरण किया है। वहाँ बतलाया है कि अपौरुषेय वचनों का आविर्भाव मानना युक्तिसंगत नहीं।[2] अपौरुषेय वचन पुरुषार्थ का बोध भी नहीं करा सकते।[3] वहाँ कहा गया है कि प्रामाण्य का निश्चय गुण-दोष के आधार पर होता है अतः सर्वज्ञ के वचनों का ही प्रामाण्य स्वीकारा जाता है।[4] प्रमाणसंग्रह नामक लघु-ग्रन्थ में भी अपौरुषेय शास्त्र को अनर्थक बतलाया गया है।[5]

अकलङ्क ने 'सिद्धिविनिश्चय' में नित्य अपौरुषेय होने से वेद प्रमाण हैं, इस मत का कुछ विस्तार से निराकरण किया है। वे कहते हैं—नित्य के अनेक अर्थ हो सकते हैं। अतः उससे अर्थ का निश्चय नहीं हो सकता। यदि निश्चय हो जाया करता तो अर्थ के विषय में मत-भेद नहीं होता। यदि कहो कि अन्य के उपदेश से वेद के अर्थ का निश्चित ज्ञान हो जायेगा तब प्रश्न है कि वह अन्य कौन है, जिसके उपदेश को प्रमाण मानते हुए उपवर्ष आदि आचार्य कपिल आदि से बढ़कर मान लिये जायें। इस प्रकार अनेक अर्थ हो सकने के कारण तथ्य का निश्चय नहीं किया जा सकेगा तथा पौरुषेय वचनों से कोई भेद नहीं होगा।[6]

नित्य होने से वेद प्रमाण हैं, इस मत का प्रतिवाद करते हुए यह भी कहा गया है—मीमांसक की ओर से कहा जाता है कि वेद नित्य हैं क्योंकि इनके कर्त्ता का स्मरण नहीं किया जाता। अनुमान का प्रयोग है—

जिसके कर्त्ता का स्मरण नहीं किया जाता, वह नित्य होता है (प्रतिज्ञा)

जैसे—आकाश (उदाहरण)

वैसे ही वेद है (निगमन)[7]

वेदों के कर्त्ता किसी पुरुष का स्मरण नहीं किया जाता। अतः वेद अपौरुषेय हैं,

---

१. अकलङ्कग्रन्थत्रयम् (सिंघी जैन ज्ञानपीठ, अहमदाबाद, १९३९), प्रस्तावना, पृ० ३२।
२. वाचामपौरुषेयीणामाविर्भावो न युज्यते। वही, न्यायविनिश्चय, पृ० ८८। (का० ४३६)।
३. अत्रापौरुषेयत्वं जातु सिद्धमनर्थकम्। वही, पृ० ८८, (का० ४३७)।
४. वही, पृ० ९१, ९२ (का० ४६३-४६७)।
५. शास्त्रमपौरुषेयमनर्थवद्। वही, प्रमाणसंग्रह वृत्ति, पृ० ११७ (का० ६४)।
६. सिद्धिविनिश्चय-टीका (भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, १९५९), ७. २८, पृ० ५१२।
७. यदस्मर्यमाणकर्तृकं तन्नित्यं यथा गगनम् तथा वेदः।
सिद्धिविनिश्चय-टीका, ७.२९, पृ० ५१६।

नित्य हैं तथा वे प्रमाण हैं। यह बात मीमांसा के आचार्यों ने अनेक स्थलों पर कही थी। शाबरभाष्य[1] तथा उसकी विविध टीकाओं[2] में इसका विशद विवेचन किया गया है। शालिकनाथ ने इसका स्पष्टतः उल्लेख किया है—'वेद अपौरुषेय कैसे हैं? इनके कर्त्ता पुरुष का स्मरण न होने से'[3]। भाट्टदीपिका में कहा गया है—कर्त्ता का स्मरण न होने से वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध होती है[4]। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी वेद की अपौरुषेयता एवं नित्यता सिद्ध करने के लिए यही हेतु दिया गया है। मीमांसक के मत का आगे विशद विवेचन किया जायेगा।

इस हेतु का दोष दिखलाते हुए अकलङ्क कहते हैं कि यदि कर्त्ता का स्मरण न होने से किसी शास्त्र को नित्य एवं प्रमाण माना जा सकता है तब तो सभी शास्त्रों के अनुयायी अपने शास्त्र के कर्त्ता का स्मरण होते हुए भी उसे छिपाने लगेंगे और उन सभी के शास्त्र नित्य तथा प्रमाण होने लगेंगे।[5]

इस प्रकार आचार्य अकलङ्क ने नित्य, अपौरुषेय होने से वेद प्रमाण हैं, इस मत का खण्डन करते हुए सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र को प्रमाण माना है।

(ग) प्रभाचन्द्र और वेद-प्रामाण्य

प्रभाचन्द्र ने प्रामाण्यवाद-निरूपण के सन्दर्भ में वेद के प्रामाण्य का खण्डन किया है। मीमांसक के अनुसार वेदों के स्वतः प्रामाण्य का अभिप्राय है कि वेदों में किसी वक्तृगुण आदि के बिना ही स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न होता है और वेदप्रतिपादित ज्ञान किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा किये बिना ही प्रमाण होता है। इस प्रकार वेद में उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनों दृष्टियों से स्वतः प्रामाण्य है। उत्पत्ति में स्वतः प्रामाण्य का निराकरण करते हुए प्रभाचन्द्र कहते हैं—जो गुणवान् पुरुषों द्वारा प्रणीत शास्त्र होता है वही प्रामाण होता है, यह सुप्रसिद्ध तथ्य है। यह कथन ठीक नहीं है कि अपौरुषेय होने से वेद प्रमाण है। कारण यह है कि अपौरुषेय पदार्थ सदा ही यथार्थज्ञान का साधन नहीं होता। उदाहरणार्थ, वन में जो स्वतः ही अग्नि लग जाती है जिसे दावानल (वन की अग्नि) कहते हैं वह

---

१. १.१.२।
२. (क) बृहती।
   (ख) श्लो०, १.१.२. ६२-६८।
३. कथं पुनरपौरुषेयत्वं वेदानाम्? पुरुषस्य कर्तुरस्मरणात्।
   प्रकरणपञ्चिका (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, १९६१), पृ० ३१०।
४. भाट्टदीपिका,
५. वेदः प्रमाणं नित्यत्वाद् कर्तुरस्मरणाद्यदि।
   स्वशास्त्रकर्तुः स्मर्ता अपलप्येत न किं परैः॥
   सिद्धिविनिश्चयः-टीका, ७.२९, पृ० ५१५।

भी अपौरुषेय होती है—पुरुषकृत नहीं होती। किन्तु वह भी मिथ्याज्ञान का निमित्त हुआ करती है—उसे कोई किसी रूप में समझ लेता है कोई अन्य ही रूप में। अतः अपौरुषेय होने से वेद प्रमाण नहीं हो सकते। दूसरे, परस्पर विरुद्ध कार्यों का विधान करने के कारण भी वेद प्रमाण नहीं हो सकते। वेद में परस्पर विरुद्ध विधियाँ किस प्रकार की हैं? इसका बहुशः निदर्शन किया गया है। तीसरे, लोक में गुणवान् पुरुष द्वारा उक्त वचनों को ही प्रमाण माना जाता है, फिर यदि अपौरुषेय होने से भी वचनों को प्रमाण माना जायेगा तो लोक-प्रसिद्धि का विरोध होगा।[1]

किञ्च, यदि आगम को अपौरुषेय मान भी लिया जाये तो भी उसमें स्वतः ही प्रामाण्य उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रश्न यह हो सकता है कि अपौरुषेय आगम स्वयं ही ज्ञान करा देता है या पुरुष द्वारा अभिव्यक्त होकर। यदि पहिला विकल्प माना जाये तो ठीक नहीं। फिर तो वह सदा ही सभी को ज्ञान करा दिया करे अथवा किसी को भी ज्ञान ही न करावे; किन्तु ऐसा तो देखा नहीं जाता। फिर यदि दूसरा विकल्प मानें कि किसी पुरुष द्वारा अर्थ बतलाने पर अपौरुषेय आगम ज्ञान कराता है, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि पुरुषों को तो राग आदि दोषों से युक्त माना जाता है अतः पुरुषों द्वारा अभिव्यक्त किये गये अपौरुषेय शास्त्र को भी यथार्थ कैसे माना जा सकता।[2] इस प्रकार वेद अप्रामाणिक न हो जायें, इस भय से उन्हें अपौरुषेय मानना ऐसा ही है जैसा गजस्नान—जिस प्रकार गज स्नान करके अपने शरीर से पङ्क को दूर कर देता है और फिर पङ्क से ही उसे लिप्त कर लेता है, इसी प्रकार अप्रामाण्य को दूर करने के लिये वेद को अपौरुषेय मानकर फिर पुरुषकृत अर्थ की अपेक्षा होने से उसमें वही अप्रामाण्य आ जाता है।[3] इस प्रकार वेद में प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता या कहिये वे स्वतः यथार्थ ज्ञान के साधन नहीं[4] हो सकते। यहाँ प्रभाचन्द्र ने धर्मकीर्ति की कारिका उद्धृत की है[5] और उनके विचारों में भी धर्मकीर्ति के विचारों से साम्य प्रतीत होता है।

जहाँ तक ज्ञप्ति में वेद के स्वतः प्रामाण्य की बात है अर्थात् यह विचार है कि वेद-प्रतिपादित ज्ञान किसी अन्य साधन की अपेक्षा के विना ही यथार्थ होता है, उसका भी प्रभाचन्द्र ने खण्डन किया है।[6]

---

१. द्र०, प्रमेयकमलमार्तण्ड (निर्णयसागर, १९४१), पृ० १६५-१६६।
२. द्र०, वही, पृ० १६६।
३. तथा च अप्रामाण्यप्रसङ्गभयाद् अपौरुषेयत्वाभ्युपगमो गजस्नानमनुकरोति। वही, पृ० १६६।
४. तन्न प्रामाण्यस्योत्पत्तौ परानपेक्षा। वही, पृ० १६६।
५. प्रमाणवार्त्तिक, ३.२३१; प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ० १६६।
६. वही, पृ० १६६ ......।

ऊपर कहा जा चुका है कि मीमांसक के अनुसार सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण हैं। यदि किसी ज्ञान में कारणदोष ज्ञात हो जाता है या किसी ज्ञान का बाध हो जाता है तो उसे प्रमाण नहीं माना जाता। वेद अपौरुषेय हैं, उनमें दोष की आशङ्का भी नहीं अतः वे स्वतः प्रमाण हैं।[1] प्रभाचन्द्र ने कुमारिल की इस प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत करते हुए कहा है—

वेद का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि उनका कर्ता कोई गुणवान् व्यक्ति नहीं माना जाता, फिर उनमें दोषाभाव कैसे सिद्ध हो सकता है।[2] यदि कहो कि दोष तो पुरुष के आश्रित होते हैं पुरुषकृत न होने से वेद में दोष नहीं हो सकते तो भी ठीक नहीं; क्योंकि वेदों की अपौरुषेयता ही सिद्ध नहीं होती। अतः अनुमान द्वारा वेद की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है।[3] अनुमान का प्रकार यह है—

वेद से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रमाण नहीं (प्रतिज्ञा)

क्योंकि जिसमें दोषों का निराकरण नहीं किया गया ऐसे कारण से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है (हेतु)

द्विचन्द्र आदि ज्ञान के समान (दृष्टान्त)।[4]

यह हेतु असिद्ध नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि वेद का कर्ता गुणवान् पुरुष नहीं है तो उसमें दोषाभाव होना निश्चित नहीं। यह हेतु अनैकान्तिक या विरुद्ध भी नहीं है। कैसे ? मिथ्या ज्ञान में यह देखा जा चुका है कि जो ज्ञान दोषयुक्त कारण से उत्पन्न होता है वह अप्रमाण होता है।[5] इस प्रकार वेद से होने वाले ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता।

(घ) वादिराजसूरि और वेदप्रामाण्य

वादिराजसूरि ने न्यायविनिश्चयविवरण में वेद की अपौरुषेयता तथा नित्यता का निराकरण करके वेद के प्रामाण्य तथा स्वतः प्रामाण्य का भी खण्डन किया है।[6] उनकी प्रथम युक्ति यह है कि ज्ञान ही प्रमाण होता है। वेद तो शब्द रूप है, अचेतन है, ज्ञानभिन्न है; अतः वह प्रमाण कैसे हो सकता है ? अनुमान का प्रयोग है—वेद प्रमाण नहीं, (प्रतिज्ञा)

---

१. द्र०, श्लो०, १.१.२.६८।
२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ० २७५।
३. द्र०, वही, पृ० १७५।
४. चोदनाजनिता बुद्धिर्न प्रमाणम्, अनिराकृतदोषकारणप्रभवत्वात्, द्विचन्द्रादिबुद्धिवत्। वही, पृ० १७५।
५. वही, पृ० १७५-१७६।
६. न्यायविनिश्चयविवरण भाग २ (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४), पृ० २९९-३०१।

क्योंकि वह अचेतन है, (हेतु)

घट आदि के समान। (उदाहरण)

यदि कहो कि वस्तुतः तत्त्वज्ञान (यथार्थ ज्ञान) ही प्रमाण होता है, तत्त्वज्ञान का साधन होने से शब्द रूप वेद को भी औपचारिक रूप से प्रमाण कह दिया जाता है। तब भी उसे स्वतः प्रमाण कैसे कहा जा सकता है। यदि वेद स्वतः प्रमाण होता तो उसकी व्याख्या करना व्यर्थ ही होता।[1]

(शङ्का) वेद की व्याख्या तो मत-भेद (विप्रतिपत्ति) का निराकरण करने के लिये की जाती है और अन्य मतवादियों के आक्षेप से वेद के अर्थ में मत-भेद हो जाया करता है।[2]

(समाधान) फिर तो जो वेद के ऐसे अंश हैं जिनमें अन्यों ने आक्षेप नहीं किये उनसे व्याख्या के विना ही अर्थ-बोध होना चाहिये; किन्तु ऐसा होता नहीं। उन सन्दर्भों में भी वेद से सम्प्रदाय-प्राप्त व्याख्या द्वारा ही तत्त्व-बोध हुआ करता है। इसीलिये छान्दोग्योपनिषत् में कहा गया है 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'[3]— आचार्यवान् व्यक्ति ही जानता है। फलतः मत-भेद का निराकरण करने के लिये व्याख्या नहीं की जाती; अपितु शब्दों या वाक्यों में निहित अर्थ का बोध कराने के लिये ही व्याख्या की जाती है। इस प्रकार व्याख्या द्वारा ही वेद का तत्त्व-बोध होता है फिर उसे स्वतः प्रमाण कैसे कहा जा सकता है।[4]

इस पर मीमांसक की शङ्का है कि जिस पदार्थ में जो शक्ति स्वतः विद्यमान नहीं होती वह अन्य साधन से भी नहीं की जा सकती। वालू में तैल-प्रदान की शक्ति नहीं है, सहस्रों शिल्पकार भी उसमें उस शक्ति का आधान नहीं कर सकते। वेद में यदि प्रामाण्य स्वतः विद्यमान न होगा तो अन्य के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इस शङ्का का समाधान करने के लिए वादिराज ने इस प्रकार प्रति-बन्दी युक्ति दी है :—मीमांसक के मत में मिथ्याज्ञान में अप्रामाण्य स्वतः नहीं होता, अपितु परतः होता है ; जैसे मिथ्याज्ञान में स्वतः विद्यमान न होते हुए भी दोष आदि के द्वारा अप्रामाण्य का आधान किया जाता है; इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान में भी प्रामाण्य का आधान किया जा सकता है। और, ज्ञान में प्रामाण्य

१. वही, पृ० ३०१।
२. न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० ३०१।
३. छान्दोग्योपनिषद्, ६.१४.२।
४. न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० ३०१।

उत्पन्न करने वाला आप्त पुरुष ही हो सकता है। अतः आप्तवचन ही प्रमाण हो सकता है। फिर अपौरुषेय होने से वेद प्रमाण कैसे होगा ?[1]

वादिराज ने वेद की अपौरुषेयता तथा नित्यता का भी खण्डन किया है और यह भी कहा है कि यदि वेद को नित्य भी मान लिया जाये तो उसकी व्याख्या करने वाला जैमिनि आदि का सम्प्रदाय अन्धपरम्परा मात्र ही होगा। क्यों ? वेद में जो स्वर्ग याग आदि का सम्बन्ध दिखलाया गया है वह तो अतीन्द्रिय है, उसे तो जैमिनि आदि ने साक्षात् नहीं किया, उसकी मनमानी व्याख्या कर दी और उत्तरवर्ती लोग बिना समझे उसी को सत्य मानते रहे। जब उस वेदार्थ का साक्षात्कार करने वाला कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं तो उसमें अन्धपरम्परा ही चलती रही; जिस प्रकार म्लेच्छ आदि के यहाँ भी अन्धपरम्परा चलती है। उनके यहाँ मातृविवाह का उपदेश किया गया है सब बिना विचारे उसी को मानते आ रहे हैं। इस प्रकार वेदों का प्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।[2]

(ङ) मल्लिषेण सूरि और वेदप्रामाण्य :—

मल्लिषेण सूरि ने भी स्याद्वादमञ्जरी में वेद का अप्रामाण्य सिद्ध करने के लिये कितनी ही युक्तियाँ दी हैं। वेद का प्रणेता सर्वज्ञ नहीं हो सकता, यह सिद्ध करते हुए वे कहते हैं :—

वेद परस्पर विरुद्ध वचनों से युक्त है। वहाँ प्रथम तो यह कहा गया है कि प्राणियों की हिंसा न करे—'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' फिर अश्वमेध में पशुबलि का विधान किया गया है और 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत, प्राजापत्यान् पशून् आलभेत' इत्यादि वचन भी हैं। इसी प्रकार प्रथम तो अनृतभाषण का निषेध किया गया है--'नाऽनृतं ब्रूयात्' फिर कहा गया है कि पाँच स्थलों पर अनृतभाषण पाप नहीं होता।[3] किञ्च, बिना दिये का ग्रहण (स्तेय) का निषेध करके भी आगे कहा गया है यदि ब्राह्मण हठ से या छल से परकीय वस्तु ले लेता है तो भी वह बिना दिये का ग्रहण (अदत्तादान) नहीं कहलाता। क्यों ? ये सभी पदार्थ ब्राह्मणों के लिये ही दिये गये हैं, ब्राह्मणों की दुर्बलता से ही वृषल भोगते हैं। इसलिये इनका अपहरण करता हुआ भी ब्राह्मण अपना ही लेता है, अपना ही खाता है, अपना ही पहनता और अपना ही देता है। और भी विरोध देखिये, 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'-पुत्रहीन की सुगति नहीं होती, यह

---

१. वही, पृ० ३०१-३०२।
२. वही, पृ० ३०२।
३. स्याद्वादमञ्जरी (भाण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पूना १९३३), पृ० २८।

कहने के पश्चात् कहा है कि सहस्रों कुमारब्रह्मचारी कुलसन्तति को चलाये विना ही स्वर्ग को प्राप्त हुए।[१] इस प्रकार के अनेक परस्पर-विरुद्ध कथन आगम में हैं जिनसे सिद्ध होता है कि उनका कर्ता सर्वज्ञ नहीं हो सकता।[२] यहाँ मल्लिषेण ने न्याय-वैशेषिक के मन्तव्य का खण्डन किया है। ईश्वर वेदों का प्रणेता है, इस मन्तव्य को न्याय-वैशेषिक में अनेक युक्तियों द्वारा सिद्ध किया गया है, यह आगे दिखलाया जायेगा।

मल्लिषेण ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इत्यादि धारणाओं का भी विस्तार-पूर्वक खण्डन किया है[३] और कहा है कि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यज्ञों में पशुबलि तो नृशंसता की सूचक है। जो याज्ञिकी हिंसा के पक्षपातियों ने इस प्रकार की कल्पनाएँ करली हैं कि पशु आदि यज्ञ में मारा जाकर स्वर्ग प्राप्त करता है वे भी मिथ्या कल्पनाएँ हैं। क्यों? यज्ञ में मारा गया पशु स्वयं तो किसी से आकर कहता नहीं कि मेरा कल्याण हो गया। और, जो आगमवचन इस विषय में उद्धृत किये जाते हैं वे प्रामाणिक नहीं माने जा सकते।[४] यदि पशुबलि के हिमायती कहें कि श्रौत विधि से पशुबलि करने वाले को स्वर्गप्राप्ति होती है तो महती विडम्बना है। यदि हिंसा से स्वर्गप्राप्ति होती है तब तो नरक की गलियाँ खाली ही रहेंगी। शिकारी और चिड़ीमार भी स्वर्ग में पहुँच जायेंगे। फिर नरक में कौन जायेगा?[५] किञ्च, यदि अपरिचित तथा अस्पष्ट चेतना वाले पशु की हिंसा से स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है तो स्वसम्बन्धी विकसित चेतना वाले माता-पिता की बलि से तो यज्ञ करने वालों को स्वर्ग से भी उत्कृष्ट पद की प्राप्ति हो जायेगी। फिर उन्हीं की बलि क्यों न दी जाये।[६]

यदि यह कहें कि मणि, मन्त्र तथा औषधियों का प्रभाव अचिन्तनीय होता है, अतः वैदिक मन्त्रों द्वारा संस्कृत पशु-वध से स्वर्गप्राप्ति होना सम्भव ही है तो भी ठीक नहीं। क्यों? इस लोक में विवाह, गर्भाधान, जातकर्म आदि में वेद-मन्त्रों की निरर्थकता देखी जाती है अतः स्वर्ग आदि के विषय में भी उनकी प्रामाणिकता न होगी। देखिये, जब वेदोक्त मन्त्रों से विवाह आदि संस्कार किया जाता है तब भी सैकड़ों व्यक्ति वैधव्य, अल्पायु, दरिद्रता आदि उपद्रवों से ग्रस्त हो जाते हैं।

---

१. वही, पृ० २८-२९।
२. वही, पृ० २८-२९।
३. वही, ६१—६४।
४. द्र०, वही, पृ० ६४।
५. द्र०, वही, पृ० ६४-६५
६. वही, पृ० ६५।

दूसरी ओर, जो मन्त्रों के बिना भी विवाह आदि कर लेते हैं वे सुखी एवं समृद्ध देखे जाते हैं।[1]

मल्लिषेण ने बतलाया है कि वेदानुयायियों के अनुसार दो मार्ग हैं अर्चिमार्ग और धूममार्ग। प्रथम को ज्ञानमार्ग कहा जा सकता है और दूसरे को कर्ममार्ग। इन्हें ही उपनिषदों में देवयान और पितृयान के नाम से कहा गया है। मीमांसक धूममार्ग का आश्रय लेते हैं। उनका कहना है कि जो प्रतिषिद्ध हिंसा की जाती है या जो व्यसन के वश होकर की जाती है वही अधर्म का हेतु होती है। वेदविहित हिंसा तो धर्म का हेतु है उससे विविध प्रकार की पूजा-विधि के समान ही देव, अतिथि और पितरों की तृप्ति होती है और, उसकी निन्दा भी नहीं की गई है।[2] किन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं कि वेदविहित हिंसा निन्दनीय नहीं है। क्योंकि तत्त्वदर्शी जनों ने इसकी अनेकशः निन्दा की है—

देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरं ते यान्ति दुर्गतिम्।

जो दया-रहित जन देव-बलि के बहाने से अथवा यज्ञ के बहाने से जीवों की हत्या करते हैं वे अत्यन्त दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

वेदान्ती भी इसी प्रकार कहते हैं—

अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे।
हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति॥

जो हम पशुओं द्वारा यज्ञ करेंगे तो घने अन्धकार में डूब जायेंगे। क्या हिंसा भी धर्म हो सकता है, नहीं। ऐसा न कभी हुआ न होगा।

और व्यास जी ने भी कहा है—

प्राणिघातात्त यो धर्ममीहते मूढमानसः।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात्॥

जो मूढ चित्त वाला प्राणि-हिंसा द्वारा धर्म अर्जित करने की चेष्टा करता है वह तो कृष्ण सर्प के मुख-विवर से अमृत-वर्षा प्राप्त करना चाहता है।[3]

---

१. वही, पृ० ६५।
२. वही, पृ० ६१।
३. वही, पृ० ६६।

वस्तुतः हिंसा में तत्पर याज्ञिकों को मूढों द्वारा ही सम्मान मिलता है, विवेकशीलों के द्वारा नहीं। और, जो कहते हैं कि पशुहिंसा के द्वारा देव, अतिथि, और पितर प्रसन्न होते हैं उनका कथन भी युक्तियुक्त नहीं। मल्लिषेण ने इसका विशद विवेचन किया है तथा मृतकश्राद्ध, गयाश्राद्ध आदि की निरर्थकता दिखलाई है।[1]

पशुहिंसा तथा मृतकश्राद्ध आदि के विषय में शास्त्र को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। शास्त्र की प्रामाणिकता पर विचार करते समय प्रश्न यह है है कि वह शास्त्र पौरुषेय है या अपौरुषेय। यदि पौरुषेय है तो सर्वज्ञ पुरुष-प्रणीत है या अन्य पुरुष द्वारा प्रणीत। प्रथम पक्ष को मानने में आपके सिद्धान्त का विरोध होगा, क्योंकि आपके मतानुसार अतीन्द्रिय पदार्थों का कोई साक्षाद् देखने वाला (सर्वज्ञ) नहीं है अतः नित्य वेदवाक्यों द्वारा ही यथार्थ का निश्चय होता है। दूसरे पक्ष में वह शास्त्र विश्वसनीय न होगा, जिसका कर्ता दोष-युक्त है। यदि कहो कि वह शास्त्र अपौरुषेय है तो ऐसा मानना संभव नहीं। जो वाक्य होता है वह पौरुषेय ही होता है और वेद भी वाक्यात्मक है अतः पौरुषेय ही होगा। और यदि वेद को अपौरुषेय भी मान लिया जाये तो भी उसके अर्थ की व्याख्या तो पुरुषकृत ही होगी फिर उसे कैसे प्रमाण माना जा सकता है। किञ्च, यदि वेद अपौरुषेय है तो भी वह प्रमाण नहीं हो सकता। वही वाक्य प्रमाण होता है जो आप्तोक्त होता है। इस प्रकार वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, फिर वेद या वेदानुसारी स्मृतियों द्वारा जिस याज्ञिकी हिंसा या श्राद्ध आदि का प्रतिपादन किया गया है उन्हें प्रमाण कैसे माना जा सकता है।[2]

---

१. वही, पृ० ६७-६९।
२. तु०, वही, पृ० ७०—७१।

परिच्छेद ६

न्यायवैशेषिक की दृष्टि में वेद-प्रामाण्य

१. न्याय-वैशेषिक तथा उसमें वेद-प्रामाण्य के सन्दर्भ

न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों का आरम्भ से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। न्यायसूत्र तथा वैशेषिक सूत्र के अनुशीलन से विदित होता है कि दोनों में कुछ सूत्र समान ही हैं। आगे चलकर भी दोनों प्रस्थानों का गहन सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। विद्वानों का विचार है कि वात्स्यायन भाष्य में वैशेषिक के समान ही मन को इन्द्रिय बतलाया गया है।[1] वहाँ द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य विशेष आदि वैशेषिक के पदार्थों का भी उल्लेख किया गया है।[2] उद्योतकर, वाचस्पतिमिश्र तथा उदयनाचार्य आदि ने दोनों प्रस्थानों के सिद्धान्तों का समान रूप से निरूपण किया है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती प्रकरण ग्रन्थों में भी न्याय-वैशेषिक का सम्मिलित रूप विकसित हुआ है। हाँ, इन दोनों के मन्तव्यों में कुछ अन्तर भी माना जाता है जिसका निरूपण करना यहाँ अभिमत नहीं है। यहाँ तो न्या०-वै० का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसमें आये वेद-प्रामाण्य के सन्दर्भों का उल्लेख करना है।

न्याय प्रस्थान का आरम्भ गौतम (गोतम) के न्यायसूत्र से कहा जा सकता सकता है। न्यायसूत्र के समय के विषय में विद्वानों का विवाद है। न्यायसूत्र में नागार्जुन (द्वितीय शताब्दी) के शून्यवाद का खण्डन देखकर कुछ विद्वान् न्यायसूत्र का समय द्वितीय शती के बाद का मानते हैं। अन्य विद्वानों का कहना है कि जो शून्यवाद का खण्डन समझा जाता है, सम्भवतः वह उसी प्रकार के किसी अन्य प्राचीन मत का खण्डन हो, अथवा इस प्रकार के सूत्र बाद में जोड़ दिये गये हैं, अतः इनके आधार पर न्यायसूत्र का समय निश्चित नहीं किया जा सकता।[3] इसका समय अत्यन्त प्राचीन है। न्यायसूत्र में पाँच अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। सूत्रों की संख्या तथा पाठ के विषय में कुछ भेद भी

---

१. न्यायभाष्य, १.१.४।

२. वही, १.१.६।

३. विशेष द्र०, श्रीनिवास शास्त्री, वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन (कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, १९६८), पृ० २१-२२।

देखा जाता है। न्याय के 'प्रमाणप्रमेय०' इत्यादि प्रथम सूत्र में बतलाया गया है कि प्रमाण आदि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। यहाँ चार प्रमाण माने गये हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। शब्दप्रमाण की परीक्षा के सन्दर्भ में वेद-प्रामाण्य का निरूपण भी किया गया है। प्रायः इन्हीं सन्दर्भों में न्यायसूत्रों के भाष्य आदि में वेदप्रामाण्य का निरूपण उपलब्ध होता है।

न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन का भाष्य है। भाष्यकार का नाम पक्षिलस्वामी है, वात्स्यायन गोत्रनाम है। इनका समय भी विवादास्पद है। इन्होंने तत्सम्बन्धी न्यायसूत्रों की व्याख्या करते हुए वेद-प्रामाण्य का कुछ विस्तृत वर्णन किया है। इनकी व्याख्या पर प्रतिपक्षियों ने आक्षेप किये हैं, विशेषकर बौद्ध विद्वानों ने। उन आक्षेपों के निराकरण के प्रयास में ही वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी विवेचन विशद से विशदतर होता गया। उद्योतकर (पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाज छठी शती) ने प्रवाहमयी सरल भाषा में न्यायभाष्य की व्याख्या की जो न्यायवार्त्तिक के नाम से विख्यात है। न्यायवार्त्तिक की टीका वाचस्पतिमिश्र (नवम शती) ने की जो न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें न्याय के मन्तव्यों का परिष्कृत रूप उपलब्ध होता है। तात्पर्यटीका की उदयनाचार्य (दशम शती) कृत तात्पर्यपरिशुद्धि नामक व्याख्या में भी अन्य मतों का निराकरण करते हुए न्याय के मतों का स्पष्टीकरण किया गया है।

इन भाष्य, वार्त्तिक या टीकाओं में पूर्ववर्ती विचारों की समयानुकूल व्याख्या की गई है, न्यायविरोधी मतों का निराकरण किया गया है और प्रसङ्ग के अनुसार कतिपय नवीन विचार और युक्तियाँ भी जोड़ी गई हैं। ये कृतियाँ केवल व्याख्यामात्र नहीं हैं अपितु नवीन व्याख्या या नवीन उद्भावनाओं के कारण महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध हैं। हाँ, फिर भी ये सूत्रक्रम का अनुसरण करती हैं अतः स्वतन्त्र रचना नहीं कही जातीं।

न्याय के पदार्थों की स्वतन्त्र विद्वत्तापूर्ण विशद व्याख्या जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी में मिलती है। जयन्तभट्ट का समय विवादास्पद है। सम्भवतः वाचस्पति मिश्र के समकालीन ही वे रहे होंगे। उन्होंने न्यायसूत्रों पर क्रमबद्ध व्याख्या नहीं लिखी; किन्तु न्याय के प्रमाण आदि षोडश पदार्थों की विस्तृत व्याख्या की है, यथावसर सूत्र भी उद्धृत किये हैं। किञ्च, न्यायमञ्जरी में न्याय के मन्तव्यों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है, अन्य मतों की समीक्षा करके न्याय के मतों की स्थापना की गई है। इनके विवेचन में सूक्ष्मता, विशदता एवं

गहनता है, भाषा सरल, सुबोध तथा काव्यमयी है । न्यायमञ्जरी में वेद-प्रामाण्य के विविध पक्षों का विवेचन उपलब्ध होता है ।

वैशेषिक सूत्रों के प्रणेता कणाद मुनि हैं । वैशेषिक सूत्र में १० अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं । यहाँ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन ६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की सिद्धि बतलाई गई है ।[1] समस्त ग्रन्थ में इन पदार्थों का यथायोग्य विभाजन करते हुए इनके विविध पक्षों का निरूपण किया गया है । यहाँ धर्म के प्रसङ्ग में वेद-प्रामाण्य का भी संक्षेप में निरूपण किया गया है ।[2]

वैशेषिक सूत्रों पर कोई प्राचीन सूत्रक्रमानुसारी व्याख्या उपलब्ध नहीं है, किन्तु आयस्ककृत व्याख्या, रावणभाष्य, आत्रेयभाष्य, भारद्वाजवृत्ति आदि[3] तथा गौतम मुनिकृत भाष्य[4] का उल्लेख मिलता है । इन सूत्रों पर उपलभ्यमान क्रमिक व्याख्याओं में आज शङ्कर मिश्र (१५वीं शती) का 'वैशेषिक सूत्रोपस्कार' नामक भाष्य ही विद्वानों का मार्गदर्शक समझा जाता है । इससे पूर्ववर्ती चन्द्रानन्द वृत्ति (गायकवाड़, ऑरियन्टल सीरीज, १९६१), मिथिला विद्यापीठ वृत्ति (हस्तलिखित) व्याख्याएँ भी उपलब्ध हैं । इनमें उल्लिखित सूत्रों के स्वरूप तथा क्रमसंख्या आदि में पर्याप्त भेद दृष्टिगोचर होता है । उपस्कार भाष्य के पश्चात् कुछ व्याख्याएँ (संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में) प्रकाशित हुई हैं ।

वैशेषिक के मन्तव्यों को समझने के लिये प्रशस्तपादभाष्य ही हमारा मुख्य आधार है । इसका नाम पदार्थधर्मसंग्रह भी है इसका समय विवाद का विषय रहा है । आचार्य प्रशस्तपाद ने वैशेषिक सूत्रों पर क्रमानुसारी भाष्य नहीं किया, अपितु वैशेषिक सूत्र के मन्तव्यों का एक स्वतन्त्र प्रबन्ध में प्रतिपादन किया है । उन्होंने अनेक ऐसे मन्तव्यों का भी निरूपण किया है, जिनका वैशेषिक सूत्रों से उल्लेख नहीं । प्रशस्तपाद द्वारा प्रतिपादित मन्तव्य ही आज वैशेषिक के मन्तव्य समझे जाते हैं । यहाँ बुद्धि गुण के प्रकरण में प्रमाणों का निरूपण किया गया है । अनुमान प्रमाण के सन्दर्भ में वेद-प्रामाण्य का उल्लेख मात्र मिलता है; किन्तु प्रशस्तपाद भाष्य की टीकाओं में वेद प्रामाण्य पर विस्तार से विचार किया गया है, जिसका आगे निरूपण किया जा रहा है ।

---

१. धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् । १.१.४ ।

२. १.१.१; १०.२.८,९ ।

३. द्र०, हिन्दी वैशेषिक सूत्रोपस्कार (चौखम्बा, बनारस, १९६९), प्रस्तावना, पृ० ६,७ ।

४. वैशेषिक पर गौतममुनिकृत (व्याख्या); सत्यार्थप्रकाश (रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, १९७२), समु० ३, पृ० १०४ ।

न्या०-वै० में स्वतन्त्र प्रबन्ध लेखन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन कही जा सकती है, हाँ, एकादश शती में स्वतन्त्र-ग्रन्थ—लेखन की परम्परा अत्यधिक प्रचलित हो गई। इससे पूर्व ही भासर्वज्ञ के न्यायसार नामक लघुप्रबन्ध की रचना हो चुकी थी। उदयनाचार्य के लक्षणावली, न्यायकुसुमाञ्जलि तथा आत्मतत्त्वविवेक जैसे ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। फिर भी एकादश शती में टीका-परम्परा को छोड़कर विद्वज्जन विशेष रूप से स्वतन्त्र ग्रन्थ लेखन में प्रवृत्त हो गये। उन में न्याय-वैशेषिक के सम्मिलित प्रकरण ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन ग्रन्थों में शिवादित्य (१० वीं शती) की सप्तपदार्थी, वरदराज (१२ वीं शती) की तार्किकरक्षा, केशव मिश्र (१३ वीं शती) की तर्कभाषा और विश्वनाथ न्यायपञ्चानन (१७ वीं शती) की न्यायसिद्धान्तमुक्तावली आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त गङ्गेश उपाध्याय (१२ वीं शती) का तत्त्वचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ भी इस युग की एक विशेष कृति है। इस प्रकार के—ग्रन्थों में भी वेद-प्रामाण्य के विषय में चर्चा की गई है। उदयनाचार्य की न्यायकुसुमाञ्जलि में एतद्विषयक कुछ अधिक सामग्री उपलब्ध होती है।

न्याय-वैशेषिक के इन ग्रन्थों में कहीं तो केवल अपने वेद-प्रामाण्य सम्बन्धी मन्तव्य का ही निरूपण किया गया है, कहीं प्रतिपक्षियों के मतों का निराकरण करते हुए अपने मत की स्थापना की गई है। न्याय-वैशेषिक के वेदप्रामाण्य-विषयक मन्तव्य का विवेचन करने के लिये ये दोनों कार्य ही आवश्यक हैं। अतः यहाँ भी विरोधियों की युक्तियों का निराकरण करते हुए न्याय-वैशेषिक की रीति से वेद-प्रामाण्य का विवेचन करना अभीष्ट है।

२. न्याय के अनुसार शब्द प्रमाण का स्वरूप

न्यायसूत्र में चार प्रमाण बतलाये गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।[1] वहाँ शब्द प्रमाण का लक्षण करते हुए कहा गया है कि आप्तों के उपदेश को शब्द कहते हैं।[2] वह शब्द प्रमाण दो प्रकार का होता है एक दृष्टार्थक और दूसरा अदृष्टार्थक।[3] इसकी व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने बतलाया है :—जो पदार्थों का साक्षात्कार करके यथादृष्ट अर्थ को बतलाने की इच्छा से प्रवृत्त होकर उस अर्थ का कथन करता है वह आप्त कहलाता है। अर्थ का साक्षात् करना ही

१. न्यायसूत्र, १.१.३।
२. आप्तोपदेशः शब्दः। वही, १.१.७।
३. वही, १.१.८।

आप्ति है उससे जो प्रवृत्त होता है वह आप्त है। यह लक्षण ऋषि, आर्य और म्लेच्छ सभी पर घटित हो सकता है। उसी प्रकार सबके व्यवहार चलते हैं।[1] यह शब्द प्रमाण दो प्रकार का है जिस शब्द का अर्थ इसी लोक में देख लिया जाता है वह दृष्टार्थक है और जिसके अर्थ की परलोक में प्रतीति होती है वह अदृष्टार्थक है। इस प्रकार (क्रम से) लौकिक वाक्यों और ऋषिवाक्यों का विभाग किया गया है। और, यह इसलिये कहा गया है कि कोई यह न समझ ले कि दृष्टार्थक आप्तोपदेश ही प्रमाण होता है; क्योंकि उसका अर्थ (लोक में ही) निश्चित कर लिया जाता है। तथ्य यह है कि अदृष्टार्थक आप्तोदेश भी प्रमाण होता है क्योंकि उसके अर्थ का अनुमान किया जाता है।[2]

सूत्र तथा भाष्य के इस विवेचन से यह प्रतीत होता है :—

(क) आप्त पुरुषों का वचन प्रमाण होता है। आप्त वह है जो किसी पदार्थ को ठीक प्रकार जानकर उसी रूप में कह देता है।

(ख) लौकिक जन (आर्य तथा म्लेच्छ) और ऋषि जन सभी आप्त हो सकते हैं।

(ग) जिस शब्द के अनुसार इस लोक में पदार्थ-प्राप्ति हो जाती है वह दृष्टार्थक है और जिसके अनुसार अन्य लोक में अर्थ की प्राप्ति होती है वह अदृष्टार्थक है। यद्यपि उसका अर्थ इसी लोक में प्राप्त नहीं किया जाता फिर भी उसका अनुमान तो किया ही जाता है अतः अदृष्टार्थक शब्द को भी प्रमाण मानना चाहिये, यदि वह आप्तों का शब्द है।

'आप्तोदेशः शब्दः' की व्याख्या करते हुए उद्योतकर ने बतलाया है :—आप्तों का उपदेश ही प्रमाण होता है प्रत्येक शब्द प्रमाण नहीं होता। आप्त वह है जो पदार्थ का साक्षात्कार करता है। स्वर्ग, अदृष्ट (धर्म-अधर्म) और देवता आदि का भी जिन्होंने साक्षात्कार किया है उनके द्वारा दिया गया उपदेश ही प्रमाण हो सकता है।[3] और, स्वर्ग आदि का किसी के द्वारा अवश्य साक्षात्कार किया जाता है, उनके साक्षात्कर्त्ता का उपदेश ही उस विषय में प्रमाण है। किञ्च, प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा शब्द प्रमाण के विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। शब्द का निर्देश

---

१. न्यायभाष्य, १.१.७।
२. वही, १.१.८।
३. न्यायवार्त्तिक, १.१.७, पृ० ५८।

करते हुए जो इन्द्रिय-सम्बद्ध या अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान होता है वही आगम या शब्द प्रमाण का फल है।[१] इस प्रकार यहाँ नामोल्लेख किये विना ही एक ओर तो मीमांसक के मत का निराकरण कर दिया गया है और दूसरी ओर बौद्ध के मत का भी।

वाचस्पति मिश्र ने न्यायभाष्य तथा न्यायवार्त्तिक के अभिप्राय को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वे कहते हैं—आप्तों का उपदेश ही शब्द प्रमाण होता है, वे आप्त चाहे ऋषि हों, आर्य हों या म्लेच्छ हों। बुद्ध, ऋषभ आदि तो आप्त नहीं हैं वे मायामोह से युक्त हैं अतः उनका 'सर्वं क्षणिकम्', 'सर्वं निरात्मकम्' आदि वचन प्रमाण नहीं है। आप्त का परिष्कृत लक्षण इस प्रकार है :—(१) वह अर्थ का साक्षात्कार करता है अर्थात् सुदृढ़ प्रमाणों के द्वारा अर्थ का निश्चय कर लेता है। हित की प्राप्ति करने वाले और अहित को दूर भगाने वाले पदार्थ ही अर्थ कहलाते हैं; (२) वह भूतदया रखता है, प्राणी-मात्र के प्रति करुणाभाव रखता है, इसीलिये (३) जैसा अर्थ का ज्ञान उसने किया है वैसा ही उपदेश कर देता है। इस कार्य में किसी प्रकार का आलस्य नहीं करता, मन में मात्सर्य नहीं रखता। इस भाव को प्रकट करने के लिये ही भाष्य में 'यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः' अर्थात् जैसा देखा है वैसा ही कहने की इच्छा से वह प्रवृत्त होता है। (४) वाचस्पति मिश्र ने आप्त की एक चतुर्थ विशेषता की ओर भी हमारा ध्यान दिलाया है। तदनुसार भाष्य में जो उपदेष्टा शब्द का प्रयोग किया गया है उसका अभिप्राय है—स्थानकरण-पटुता। जिस स्थान या करण द्वारा वर्णों का उच्चारण होता है यदि वह उसके अनुसार वर्णोच्चारण में भली भाँति समर्थ है तभी ठीक प्रकार से उपदेश कर सकता है।[२] अतः भाष्य में जो आप्त की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है वह उपलक्षणमात्र है उससे चार विशेषताओं का बोध होता है।[३]

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो जिस अंश में आप्त है उस अंश में ही उसका वचन प्रमाण है उसके सभी वचन प्रमाण नहीं, इसलिये आप्त की इन चारों विशेषताओं का सम्बन्ध आप्तवचन से है। ऋषि आदि का अभिप्राय क्या है? यह स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—दर्शन करने वाला; अर्थात् जिसने तीनों कालों (भूत, वर्तमान और भविष्यत्) के प्रमेय मात्र का करतल पर रक्खे आमले के समान साक्षात्कार किया है वह ऋषि है। जो पापकर्म से दूर रहने

१. १.१.७, पृ० ५८-६१।
२. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, १.१.७, पृ० २०२।
३. वही, २.१.६८, पृ० ४३१।

वाला है वह मध्यकोटि का मनुष्य आर्य है और म्लेच्छ प्रसिद्ध ही हैं।[1] म्लेच्छ कैसे आप्त हो सकते हैं? इस शङ्का का समाधान है—म्लेच्छ जो मार्ग में स्थित होकर पथिकों का सर्वस्व, हरण करते हैं-वे भी निःस्वार्थ भाव से मार्ग बतलाने के कार्य में आप्त हो सकते हैं।[2]

उद्योतकर के आशय को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने दिखलाया है कि धर्म, अधर्म आदि किसी के प्रत्यक्ष के विषय हैं, यह अवश्य मानना होगा और जिसके प्रत्यक्ष के ये विषय हैं वही पुरुषविशेष परम आप्त है, उसका वचन होने से ही तद्विषयक उपदेश प्रमाण है, अपौरुषेय होने से वह प्रमाण नहीं है; क्योंकि वेद पौरुषेय हैं, यह नैयायिक का मन्तव्य है। इस प्रकार मीमांसक के मत का निराकरण करते हुए बौद्धों के इस मत का भी निराकरण किया है कि आप्तोपदेश का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। वस्तुतः आप्तों का उपदेश शब्द प्रमाण है जो प्रत्यक्ष और अनुमान से नितान्त भिन्न है।[3]

शब्दप्रमाण दो प्रकार का है दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक। न्याय-भाष्य के अनुसार प्रथम वह है जिसका अर्थ इसी लोक में देख लिया जाता है और द्वितीय वह है जिसके अर्थ का परलोक में अनुमान किया जाता है। भाष्य के अभिप्राय को दिखलाकर उद्योतकर ने वक्तृभेद से भी इन दोनों की व्याख्या की है।[4] और, वाचस्पति मिश्र ने उसे स्पष्ट किया है।[5]

३. अदृष्टार्थक शब्द की प्रामाणिकता में आक्षेप

प्रश्न यह है, जिन आप्तवाक्यों द्वारा इसी लोक में अर्थ की प्राप्ति देख ली जाती है वे सफल प्रवृत्ति के जनक हैं; अतः उन्हें प्रमाण माना जा सकता है। न्याय की दृष्टि से जो ज्ञान सफल प्रवृत्ति का निमित्त होता है, जिस ज्ञान के द्वारा प्रवृत्त हुए व्यक्ति को उस ज्ञान से प्रदर्शित अर्थ प्राप्त हो जाता है वही ज्ञान यथार्थ होता है। किन्तु जो वाक्य अलौकिक अर्थ का उपदेश करते हैं उनकी यथार्थता (प्रामाण्य) का निश्चय कैसे होगा? अनुभव से तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे

---

१. दर्शनादृषिः, करतलामलकफलवत् साक्षात्कृतत्रैकाल्यवृत्तिप्रमेयमात्रः। आराद्यातः पातकेभ्य इत्यार्यो मध्यलोकः। म्लेच्छाः प्रसिद्धाः। वही, १.१.७, पृ० २०२।

२. म्लेच्छा अपि हि प्रतिपथमवस्थिताः पान्थानामपहृतसर्वस्वा मार्गाख्याने हेतुदर्शनशून्या भवन्त्याप्ता इति। वही, १.१.७, पृ० २०२।

३. द्र०, वही, १.१.७, पृ० २०४-२०७।

४. द्र०, न्यायवार्त्तिक, १.१.८, पृ० ६१।

५. द्र०, तात्पर्यटीका, १.१.८, पृ० २०७।

वाक्य प्रमाण हो ही नहीं सकते; क्योंकि उनमें अनृत, व्याघात और पुनरुक्त दोष देखे जाते हैं।[१]

इस प्रकार सूत्रकार ने 'तदप्रामाण्यम्' इत्यादि सूत्र द्वारा अनृत आदि दोष होने से शब्द प्रमाण नहीं हो सकता, यह पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है। भाष्यकार बतलाते हैं कि यहाँ सामान्यतः शब्द के प्रामाण्य के प्रति शङ्का नहीं की गई अपितु शब्दविशेष के प्रामाण्य के प्रति शङ्का की गई है।[२] शब्दविशेष की व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी रीति से व्याख्या की है। उद्योतकर कहते हैं:—तद् शब्द का ग्रहण किया गया है जो अधिकृत शब्द का बोध कराता है, अतः शब्दविशेष का अधिकार समझना चाहिये। क्यों? शब्द का प्रकरण चल ही रहा है फिर भी सूत्रकार ने तद् शब्द से पुनः शब्द का निर्देश किया है; इससे प्रतीत होता है कि शब्दविशेष के बारे में यह विचार किया जा रहा है।[३] वह शब्दविशेष कौन सा है? इसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र बतलाते हैं—यह शास्त्र (=न्याय शास्त्र) निःश्रेयस-प्राप्ति का विचार करता है, निःश्रेयस की प्राप्ति वेद के बिना नहीं होती; अतः वेदप्रामाण्य का विचार ही यहाँ किया जा रहा है और अधिकृत शब्द वेद ही है।[४]

प्रसङ्ग के अनुसार तो यह उचित प्रतीत होता है कि जो लौकिकेतर वाक्य हैं; जिन्हें ऊपर ऋषि-वाक्य कहा गया है उनके प्रामाण्य के विषय में यह शङ्का है, यही भाष्योक्त 'शब्दविशेष' का अभिप्राय है। ऋषिकृत या आर्ष जो उपदेश है वह दो प्रकार का होता है एक जिसका फल इसी लोक में प्राप्त हो जाता है (दृष्टार्थक) और दूसरा जिसका फल मरणोपरान्त—परलोक में—प्राप्त होता है (अदृष्टार्थक)। उन वाक्यों में अनृत आदि दोष किस प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं? इसकी उदाहरणपूर्वक व्याख्या करते हुए वात्स्यायन बतलाते हैं—पुत्रकामेष्टि के विषय में अनृत दोष देखा जाता है 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' (पुत्र की कामना वाला पुत्रकामेष्टि करे[५]) ऐसा वचन है, किन्तु पुत्रेष्टि कर लेने पर भी पुत्रजन्म नहीं देखा जाता। पुत्रकामेष्टि-विषयक वाक्य दृष्टार्थक है। जब दृष्टार्थक आर्ष वाक्य मिथ्या है तो अदृष्टार्थक वाक्य जो 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' (स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे)।[६] इत्यादि हैं वे भी मिथ्या ही हैं, यह अनुमान किया जाता है।[७]

---

१. तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। न्यायसूत्र, २.१.५८।
२. न्यायभाष्य, २.१.५८।
३. न्यायवार्त्तिक, २.१.५८, पृ० २६५।
४. तात्पर्यटीका, २.१.५६, पृ० ४२१।
५. इष्टि=यज्ञ (यज्+क्तिन्)।
६. स्वर्गप्राप्ति इस लोक से परे मानी जाती है अतः यह वाक्य अदृष्टार्थक है।
७. द्र०, न्यायभाष्य, २.१.५८।

व्याघात का अर्थ है विधान किये गये का विरोध। जैसे शास्त्रों में कहा गया है—सूर्य के उदित होने पर होम करे, उदित न होने पर होम करे, अथवा उदित और अनुदित के मध्य के समय होम करे।[1] इस प्रकार विधान करके उसका विरोध भी किया गया है—जो उदित में होम करता है उसकी आहुति को श्याव (श्याम श्वान) खा जाते हैं। जो अनुदित में होम करता है उसकी आहुति को शबल (कबरे कुत्ते) खा जाते हैं और जो समयाध्युषित में होम करता है उसकी आहुति को श्याव तथा शबल दोनों मिलकर खा जाते हैं, अर्थात् वे आहुतियाँ लक्ष्य तक नहीं पहुँचती।[2]

उनमें पुनरुक्त दोष भी है। जहाँ ऋचाओं की आवृत्ति का उपदेश किया गया है, जैसे प्रथम की तीन आवृत्ति करे, अन्तिम की तीन आवृत्ति करे, वहाँ पुनरावृत्ति में पुनरुक्ति दोष होता है और पुनरुक्ति तो प्रमत्तवाक्य में हुआ करती है; फिर वह आप्तवाक्य कैसे हो सकता है ? इसलिए अलौकिक वाक्य (आर्षवाक्य) अनृत, व्याघात तथा पुनरुक्त दोषों के कारण प्रमाण नहीं हो सकता।[3] पूर्वपक्षी के भाव को स्पष्ट करते हुए उद्योतकर ने बतलाया है—यहाँ अप्रामाण्य का अभिप्राय है—अर्थ का अबोधक[4], अनृत कहते हैं अयथार्थ कथन को, व्याघात का अर्थ है दो पदों या दो वाक्यों का साथ-साथ न हो सकना और पहिले कहे गये शब्द या अर्थ का कथन ही पुनरुक्ति है। इन दोषों के कारण शब्दविशेष को प्रमाण नहीं माना जा सकता।[5]

वाचस्पति मिश्र ने इसे और भी स्पष्ट किया है। तदनुसार अप्रामाण्य का अभिप्राय है यथाभूत अर्थ की अबोधकता।[6] भाष्य में जो पुत्रकामेष्टि का उदाहरण दिया गया है वह दृष्टार्थक आप्तोपदेश का उदाहरण है। कैसे ? मनुष्य पुत्रकामेष्टि का फल इसी लोक में प्राप्त करना चाहता है, पुत्र-प्राप्ति आदि फल इसी शरीर द्वारा उपभोग्य होते हैं। इसी प्रकार अन्य दो उदाहरणों की भी विशद व्याख्या उन्होंने की है।

उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र के अनुसार यहाँ वेदवाक्यों की अप्रामाणिकता दो प्रकार से सिद्ध की गई है—(१) प्रथमतः पुत्रेष्टि आदि की अप्रामाणिकता सिद्ध की जाती है और फिर शेष वेदवाक्यों की अप्रामाणिकता;

---

१. उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, समयाध्युषिते जुहोति। न्यायभाष्य, २.१.५८।
२. वही, २.१.५८।
३. वही, २.१.५८।
४. अप्रामाण्यमर्थस्याप्रत्यायकत्वम्। न्यायवार्त्तिक, २.१.५८, पृ० २६५।
५. वही, २.१.५८, पृ० २६५।
६. अर्थस्येत्यविपरीतस्येत्यर्थः। तात्पर्यटीका, २.१.५७, पृ० ४२१।

जैसे —

(क) पुत्रकामेष्टि आदि के विधायक वाक्य अप्रमाण हैं (प्रतिज्ञा),
अनृत, व्याघात तथा पुनरुक्त दोष होने से (हेतु),
क्षणिकवाक्य के समान (उदाहरण)।

(ख) शेष वेदवाक्य अप्रमाण हैं (प्रतिज्ञा),
वेदवाक्य होने से (हेतु),
पुत्रकामेष्टि आदि वाक्यों के समान (उदाहरण)।[1]

(२) अथवा यहाँ एक ही अनुमान द्वारा समस्त वेदवाक्यों की अप्रामाणिकता दिखलाई गई है। अनुमान का प्रकार है :—

अग्निहोत्र आदि के विधिवाक्य अप्रमाण हैं (प्रतिज्ञा),
वैदिक वाक्य होने से (हेतु),
पुत्रकामेष्टि आदि वाक्यों के समान (उदाहरण)।[2]

इस प्रकार इस पूर्वपक्ष द्वारा किये गये आक्षेप में दृष्टार्थक तथा अदृष्टार्थक दोनों प्रकार के शास्त्र-वचन की अप्रामाणिकता दिखलाई गई है। यहाँ यह अवश्य चिन्तनीय है कि सभी शास्त्रवचनों की प्रामाणिकता में यह आक्षेप किया गया है या केवल वेदवाक्य की प्रामाणिकता में ही।

४. पूर्वपक्षी के आक्षेपों का निराकरण

सूत्र[3] तथा भाष्य आदि में पूर्वपक्षी के द्वारा बतलाये गये तीनों दोषों का निराकरण किया गया है। अभिप्राय यह है :—कहीं-कहीं कर्म, कर्त्ता या साधन के दोष से पुत्रकामेष्टि से फल की प्राप्ति नहीं होती। वहाँ पुत्रकामेष्टि (यज्ञ) साधन है, माता-पिता दोनों कर्त्ता हैं और उनका संयोग कर्म है। इन तीनों के उचित सम्बन्ध से ही पुत्र-प्राप्ति होती है। यदि किसी एक में भी कमी (=वैगुण्य) होती है तो फल-प्राप्ति नहीं हो सकती। पुत्रकामेष्टि के स्थल में कर्म, कर्त्ता और साधन का वैगुण्य दो प्रकार से हो सकता है; एक तो यज्ञ में और दूसरा पुत्रोत्पादन में। उदाहरणार्थ, यज्ञ का कर्म-वैगुण्य यह होगा कि यज्ञ की सभी विधियों को ठीक ढंग से न किया जाये। उसमें कर्तृ-वैगुण्य यह होगा कि

१. वही, २.१.५७, पृ० ४२२।
२. वही, २.१.५७, पृ० ४२२।
३. न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्। न्यायसूत्र, २.१.५६।

यज्ञकर्त्ता विद्वान् न हो और निन्दित आचरण वाला हो। वहाँ साधन-वैगुण्य होगा कि होमद्रव्य भलीभांति शुद्ध न किया गया हो या कुत्ते आदि ने अपवित्र कर दिया हो; मन्त्र कम या अधिक पढ़े जायें, वे स्वर तथा वर्णों से हीन हों, और यज्ञ में दी जाने वाली दक्षिणा बुरी तरह आई हुई हो, कम हो अथवा निन्दित हो। इसी प्रकार पुत्रोत्पादन के कार्य में भी तीनों प्रकार का वैगुण्य हो सकता है। फलतः पुत्रकामेष्टि के उदाहरण से अलौकिक वाक्यों में मिथ्यात्व दोष नहीं दिखलाया जा सकता।[1]

इसी प्रकार वहाँ व्याघात दोष भी नहीं है। कैसे? शास्त्र का अभिप्राय यह है कि तीनों कालों में से किसी एक में नियमपूर्वक होम किया करे, किन्तु यदि कोई एक काल का नियम स्वीकार करके फिर उसका भंग करता है तो उसमें दोष होता है। अतः विधि-भंग में ही दोष दिखलाया गया है। इसलिये वहाँ वचन-व्याघात नहीं है।[2]

पुनरुक्ति दोष भी वहाँ नहीं है। कैसे? किसी वचन का अभ्यास (आवृत्ति) दो प्रकार का होता है—पुनरुक्ति और अनुवाद। जो अनर्थक अभ्यास होता है उसे पुनरुक्ति कहते हैं और जो सार्थक अभ्यास होता है उसे अनुवाद कहते हैं। 'त्रिःप्रथमाम्' इत्यादि में जो प्रथम तथा अन्तिम (ऋचा) की तीन बार आवृत्ति कही गई है वह तो सार्थक है। क्यों? यहाँ ११ सामिधेनी ऋचाएँ हैं। जब प्रथम तथा अन्तिम की ३, ३ बार आवृत्ति की जाती है तो १५ हो जाती हैं। और शास्त्र में पञ्चदश सामिधेनियों का ही विधान है जो इस अभ्यास से ही पूरा होता है। इसलिये यह अभ्यास सार्थक है, अनुवाद है, यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं।[3]

न्यायसूत्र में पूर्वपक्षी के आक्षेप का निराकरण करते हुए अलौकिक वाक्यों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये कहा गया है 'वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्'-क्योंकि वाक्य-विभाग का अर्थ-ग्रहण किया जाता है अतः लौकिक वाक्यों के समान अलौकिक वाक्य भी प्रमाण होते हैं।[4] इसी सन्दर्भ में सूत्र तथा भाष्य में दिखलाया गया है कि ब्राह्मण वाक्य तीन प्रकार के होते हैं विधि, अर्थवाद तथा अनुवाद। जो वाक्य किसी कर्म के विधायक होते हैं वे विधिवाक्य हैं; जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।'[5] किसी कार्य के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराकर

---

१. न्यायभाष्य, २.१.५९।
२. वही, २.१.६०।
३. वही, २.१.६१।
४. वही, २.१.६२।
५. वही, २.१.६४।

उसमें प्रवृत्ति कराने के लिये जो स्तुति की जाती है वही अर्थवाद कहलाता है। इसी प्रकार कार्य से निवृत्ति कराने के लिये निन्दा की जाती है और प्रवृत्ति या निवृत्ति कराने के लिये दूसरे की कृति का कथन भी किया जाता है (परकृति) या किसी प्राचीन घटना का उल्लेख करते हुए कार्य का विधान किया जाता है (पुराकल्प)।[1] अनुवाद का अर्थ है विधि को दोहराना (शब्दानुवाद) या विधान किये गये कार्य को फिर से कहना (अर्थानुवाद)। विहित कार्य की स्तुति या निन्दा आदि के लिये उसका पुनः कथन कर दिया जाता है। ये तीन प्रकार के वाक्य केवल ब्राह्मणों में ही नहीं हैं, अपितु लोक में भी होते हैं; जैसे 'भात पकावें' यह विधि वाक्य है, 'अन्न में आयु बल आदि स्थित हैं' यह अर्थवाद है, 'आप पकावें, पकावें' यहाँ पकावें शब्द का पुनः कथन किया जाता है।[2] यह पुनः कथन व्यर्थ नहीं होता अपितु सप्रयोजन होता है; जैसे कोई कहता है 'शीघ्र शीघ्र जायें' यहाँ दो बार शीघ्र शब्द का प्रयोग और अधिक शीघ्रता कराने के लिये किया जाता है। इसी प्रकार अन्य विशेष अर्थों को प्रकट करने के लिए भी किसी शब्द का पुनः कथन किया जाया करता है। इसलिये यहाँ शब्द के पुनः कथन को पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। पुनरुक्ति और अनुवाद में अन्तर होता है।[3] अन्त में उपसंहार रूप में बतलाया गया है— जैसे लौकिक वाक्य में विभागपूर्वक अर्थग्रहण होने से वह प्रमाण होता है इसी प्रकार वेदवाक्यों का भी विभागशः अर्थग्रहण होने से उनकी प्रामाणिकता होना उचित है।[4]

इन युक्तियों की उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र ने विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। उद्योतकर कहते हैं—पूर्वपक्षी ने कहा है कि वेदवाक्य मिथ्या होने से अप्रमाण हैं, उनके उपदेशानुसार फल नहीं मिलता, यही उनका मिथ्यात्व है। इस विषय में यह विचारना चाहिये कि क्या वेदवाक्य के अप्रमाण होने से फलप्राप्ति नहीं होती अथवा कर्म, कर्त्ता और साधन के दोषयुक्त होने से? हम तो कहते हैं कि कर्म, कर्त्ता और साधन के दोष से ही फल की प्राप्ति नहीं होती और फल की प्राप्ति न होने से इस बात का निश्चय किया जाता है कि वहाँ सभी कारण उपस्थित नहीं थे; कर्म, कर्त्ता, या साधन में कोई कमी रह गई थी। पुत्रेष्टि यज्ञ तो एक कारण ही है जब अन्य कारण-सामग्री विद्यमान नहीं तो उससे फल-प्राप्ति कैसे होगी?[5] इसी प्रकार भाष्य के अन्य सन्दर्भों की व्याख्या

---

१. वही, २.१.६५।
२. वही, २.१.६६।
३. न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य, २.१.६८।
४. यथा लौकिके वाक्ये विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वम्, एवं वेदवाक्यानामपि विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हति। न्यायभाष्य, २.१.६६।
५. द्रु०, न्यायवार्त्तिक, २.१.५६, पृ० २६६।

करके उद्योतकर ने पुत्रेष्टि आदि के विधायक वाक्यों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये अनुमान-प्रयोग भी दिखलाया है; जैसे—पुत्रकामेष्टि वाक्य प्रमाण है (प्रतिज्ञा), वेद का एक अंश होने से (हेतु), भूमिरावपनं महत् (भूमि महान् क्षेत्र है) इस वाक्य के समान (उदाहरण)। इसी प्रकार दो अनुमान और भी दिखलाये हैं।[1] 'वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्' (न्या०, २.१.६२) सूत्र के वार्त्तिक में समस्त वेदवाक्यों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये भी एक अनुमान प्रस्तुत किया है। वह है—वेदवाक्य प्रमाण हैं (प्रतिज्ञा),

अर्थविभाग वाले होने से (हेतु),

मनु आदि के वाक्य के समान (उदाहरण)।[2]

भाव यह है—मनु आदि के वाक्यों में अर्थविभाग देखा जाता है, कोई वाक्य किसी अर्थ का विधायक होता है (विधिवाक्य), कोई किसी कार्य की स्तुति-निन्दा आदि करके उसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति कराता है (अर्थवाद) और कोई विधिवाक्य में उक्त अर्थ का ही पुनः कथन करता है। यह पुनः कथन भी सप्रयोजन होता है, किसी विशेष अर्थ का बोधक हुआ करता है। इस प्रकार का अर्थविभाग होने से मनु आदि के वाक्य प्रमाण होते हैं। इसी प्रकार वेदवाक्यों में भी अर्थ-विभाग है। जहाँ पूर्वपक्षी ने व्याघात और पुनरुक्त दोष दिखलाये हैं वहाँ वस्तुतः अर्थवाद और अनुवाद है। अतः वेदवाक्यों का विभागपूर्वक अर्थ-ग्रहण करना चाहिये, तब उनकी प्रामाणिकता समझ में आ जाती है।[3]

वाचस्पति मिश्र ने यहाँ कुछ नवीन विषयों पर विचार किया है; जैसे विधि का अर्थ क्या है? इस का विस्तार से विवेचन किया है,[4] अर्थवाद तथा अनुवाद को भी उदाहरणपूर्वक समझाया है।[5] उन्होंने यह भी बतलाया है कि वेद की अप्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये दिये गये हेतुओं का खण्डन करके वार्त्तिककार ने उपर्युक्त प्रकार से वेद-प्रामाण्य की संभावना दिखलाने के लिये कुछ हेतु दिखला दिये हैं; जैसे अर्थविभाग वाला होना। किन्तु वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये इस प्रकार के हेतु पर्याप्त नहीं हैं। क्यों? बुद्ध आदि प्रणीत जो आगम है उसमें भी वाक्यों का अर्थविभाग विद्यमान है; फिर तो

---

१. वही, २.१.५६, पृ० २६८।
२. वही, २.१.६२, पृ० २६८-२६९।
३. तु०, वही, पृ० २६९।
४. द्र०, तात्पर्यटीका, २.१.६३, पृ० ४२४-४२७।
५. द्र०, वही, २.१.६४-६५, पृ० ४२८-४२९।

अर्थविभाग वाला होने से उसकी भी प्रामाणिकता माननी होगी।[1] अतः वेद के प्रामाण्य की सिद्धि में वही प्रमाण है जो आगे सूत्र[2] में कहा गया है।

इस प्रकार पूर्वपक्षी ने अलौकिक शब्द (शब्दविशेष) में अनृत, व्याघात तथा पुनरुक्त तीन दोष दिखलाकर, उसे अप्रामाणिक बतलाया था। सिद्धान्ती ने उन दोषों का निराकरण कर दिया। किन्तु पूर्वपक्षी के आक्षेप के निराकरण मात्र से ही शब्दविशेष की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती है, इसीलिये न्यायसूत्र तथा भाष्य आदि में न्याय का मन्तव्य दिखलाया गया है।

५. आप्तवचन होने से शास्त्र प्रामाणिक हैं

सूत्र में कहा गया है—मन्त्र तथा आयुर्वेद की प्रामाणिकता के समान उसकी भी प्रामाणिकता है, क्योंकि आप्तों की प्रामाणिकता है।[3]

(१) इस सूत्र के अनुसार अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा —

शब्दविशेष प्रमाण है (प्रतिज्ञा),

क्योंकि आप्तोपदेश प्रमाण होता है (हेतु),

मन्त्र तथा आयुर्वेद के समान (उदाहरण)।

न्यायभाष्य में अपनी शैली से इस पर विचार किया गया है। प्रथमतः विचारणीय है कि आयुर्वेद कैसे प्रमाण है? आयुर्वेद में कहा गया है कि यह करके इष्ट को प्राप्त करता है और इसे छोड़ कर अनिष्ट को दूर कर देता है। इस प्रकार पथ्य तथा अपथ्य का जो उपदेश आयुर्वेद में किया गया है उसका अनुष्ठान करके व्यक्ति इष्ट और अनिष्ट को प्राप्त कर लेता है। इससे विदित होता है कि आयुर्वेद प्रामाणिक है। इसी प्रकार विष आदि का निवारण करने के लिये कुछ मन्त्रों का उपदेश किया गया है उनसे विष आदि का निवारण देखा जाता है अतः वह मन्त्रोपदेश भी प्रामाणिक है।[4] इन मन्त्र तथा आयुर्वेद आदि के समान शब्दविशेष भी प्रामाणिक है? क्यों? इसका उत्तर है आप्तों का उपदेश होने के कारण। न्यायभाष्य के अनुसार आप्तपुरुष की तीन विशेषताएँ होती हैं—साक्षात्कृतधर्मता, भूतदया, यथाभूतार्थचिख्यापयिषा। आप्त साक्षात्—

१. द्र०, वही, अवतरणिका, २.१.६८, पृ० ४३०।
२. मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। न्यायसूत्र, १.१.६६।
३. वही, २.१.६६।
४. न्यायभाष्य, २.१.६६।

कृतधर्मा होते हैं ।[1] यहाँ धर्म का अर्थ है पदार्थ । जिस पदार्थ का उन्हें उपदेश करना होता है उन्होंने उसका साक्षात् अनुभव प्राप्त कर लिया होता है । वे जानते हैं कि यह पदार्थ त्यागने योग्य है और इसके त्याग का यह निमित्त है, यह पदार्थ ग्रहण के योग्य है और इस निमित्त से इसका ग्रहण किया जा सकता है । इस प्रकार जानते हुए वे प्राणियों पर दया करते हुए सोचते हैं—ये साधारण जन अपने हिताहित को स्वयं तो समझते नहीं, उपदेश के अतिरिक्त इन्हें समझाने का कोई उपाय नहीं है, हिताहित को समझे विना किसी पदार्थ को प्राप्त करने या त्यागने की चेष्टा नहीं कर सकते, विना चेष्टा के कल्याण नहीं हो सकता और हमारे अतिरिक्त कोई दूसरा इनके हिताहित को सोचने वाला दिखाई नहीं देता । इस प्रकार भूतानुकम्पा के भाव से प्रेरित होकर वे आप्तपुरुष सत्य अर्थ का उपदेश करने की इच्छा (यथाभूतार्थचिख्यापयिषा) करते हैं—हम इन्हें जैसा देखा है, वैसे सच्चे अर्थ का उपदेश करें । ये उसे सुनकर भली भाँति जानकर त्याज्य का त्याग कर देंगे और ग्राह्य का ग्रहण कर लेंगे ।[2]

इन तीन विशेषताओं से युक्त पुरुष आप्त कहलाते हैं । इनके वचन के अनुसार अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति हेय अर्थ को छोड़ देता है, उपादेय का ग्रहण कर लेता है । अतः इनके वचन से होने वाला ज्ञान सफल प्रवृत्ति का जनक होता है और आप्तों का वचन प्रमाण माना जाता है । या कहिये आप्तों को प्रमाण माना जाता है ।[3] आप्तों का वचन जो मन्त्र तथा आयुर्वेद हैं वे प्रमाण हैं, यह अनुभवसिद्ध है । अतः इस नियम (या व्याप्ति) का निश्चय होता है कि जो-जो आप्तोपदेश होता है वह प्रमाण होता है । फिर हम देखते हैं कि जो शास्त्र (वेद) अलौकिक अर्थ का विधायक है वह भी आप्तोपदेश है अतः उसकी प्रामाणिकता का अनुमान कर लिया जाता है । इस प्रकार दृष्टार्थक आप्तवचन जो आयुर्वेद आदि हैं उनके द्वारा अदृष्टार्थक वेद भाग के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है । क्योंकि आप्तवचन प्रमाण होता है, यह बात दोनों में समान है ।[4] अथवा—

(२) अलौकिक अर्थ का उपदेश करने वाला जो वेद है उसी का एक अंश ऐसा है जिसकी यथार्थता का निश्चय लोक में ही कर लिया जाता है; जैसे वहाँ कहा गया है 'ग्रामकामो यजेत'—ग्राम की इच्छा वाला यज्ञ करे । जो

---

१. आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माणः । न्याभाष्य, २.१. ६८ ।
२. वही, २.१. ६८ ।
३. वही, २.१.६८ ।
४. वही, २.१.६८ ।

नियमानुसार इस यज्ञ का अनुष्ठान करता है वह इसी लोक में यज्ञ का फल प्राप्त कर लेता है। उस अंश में वेदभाग की यथार्थता देखकर अदृष्टार्थक वेदभाग की यथार्थता (प्रामाणिकता) का अनुमान किया जाता है। ऊपर तो यह बतलाया गया था कि दृष्टार्थक आयुर्वेद आदि के प्रमाण से अदृष्टार्थक वेदभाग के प्रामाण्य का अनुमान हो जाता है; किन्तु यहाँ कहा गया है कि वेद के ही दृष्टार्थक भाग के प्रामाण्य से अदृष्टार्थक वेदभाग के प्रामाण्य का अनुमान हो जाता है। दोनों स्थलों में आप्तवचन की प्रामाणिकता के आधार पर ही वेद की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है और साधर्म्य दृष्टान्त दिया गया है। केवल दृष्टान्त में अन्तर है। प्रथम स्थल पर तो आयुर्वेदवाक्य को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया गया है; किन्तु द्वितीय स्थल में वेद के ही दृष्टार्थक वाक्यों को दृष्टान्त बनाया गया है। अनुमान का प्रयोग होगा—अदृष्टार्थक वेदवाक्य प्रमाण है, आप्तवचन होने से, आयुर्वेदवाक्य के समान (अथवा दृष्टार्थक वेदवाक्य के समान)।[1]

उद्योतकर ने न्यायभाष्य में उक्त आप्त की तीनों विशेषताओं—साक्षात्कृत-धर्मता, भूतदया और यथाभूतार्थचिख्यापयिषा—की व्याख्या की है। यह भी बतलाया है कि इन तीनों विशेषताओं से विशिष्ट जो लौकिक व्यक्ति होता है उसका वचन भी प्रमाण होता है। उन्होंने भाष्य के समान ही आयुर्वेद की प्रामाणिकता कैसे है? यह भी स्पष्ट किया है और सूत्र के आप्तप्रामाण्यात् शब्द का पुरुषविशेषाभिहितत्वात् (=पुरुषविशेष द्वारा उक्त होने से) यह अर्थ किया है। उनके अनुसार अनुमान का प्रयोग है :—

वेदवाक्य प्रमाण हैं (प्रतिज्ञा),

वक्तृविशेष द्वारा उक्त होने से (हेतु),

मन्त्र आयुर्वेद के वाक्य के समान (उदाहरण)।

अथवा 'ग्रामकामो यजेत' इत्यादि दृष्टार्थक वेदवाक्य की यथार्थता को देखकर शेष वेदवाक्यों की प्रामाणिकता का अनुमान कर लिया जाता है।[2]

वाचस्पति मिश्र ने आप्त की उपर्युक्त तीन विशेषताओं के साथ एक और विशेषता मानी है; वह है करणपाटव=देखने बोलने आदि के साधनों का ठीक होना। इस प्रकार आप्तजन की चार विशेषताएँ हैं। उन्होंने उद्योतकर के 'पुरुषविशेषाभिहितत्वात्' पद की इस प्रकार व्याख्या की है—पुरुष=भगवान्

१. अस्यापि चैकदेशः ग्रामकामो यजेत इत्येवमादिर्दृष्टार्थस्तेनानुमातव्यम् इति। वही, २.१.६९।
२. न्यायवार्त्तिक, २.१.६९, पृ० २७१।

वेदकर्त्ता की विशेषता[1] अर्थात् हेयोपादेय अर्थ को प्रत्यक्ष करना। उन्होंने बतलाया है कि वेदोपदेश करने का हेतु है—भूतदया, यथार्थचिख्यापयिषा तथा करणपटुता। इन विशेषताओं के आधार पर ही उस पुरुष में अन्य अनाप्त जनों से भेद किया जाता है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने यह भी दिखलाया है कि वेदों का कर्त्ता पुरुष-विशेष=ईश्वर है, वह प्राणियों के उपकार के लिए वेद का उपदेश करता है, किञ्च, वेद ही उस परम आप्त का वचन है अन्य शाक्यभिक्षु, दिगम्बर, संसारमोचक आदि के आगम नहीं। इस प्रकार आप्तोक्त होने से वेद प्रमाण है, आयुर्वेद आदि के समान, इस अनुमान-प्रयोग की उन्होंने विस्तृत व्याख्या की है।[2] भाष्य तथा वार्त्तिक में जो 'ग्रामकामो यजेत' आदि दृष्टार्थक वेदभाग के प्रामाण्य के समान अदृष्टार्थक वेदभाग की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है, उसके विषय में यह शङ्का हो सकती है कि समस्त वेद-प्रामाण्य पर आक्षेप किया गया था अतः वेद के एकदेश के प्रामाण्य के आधार पर उसका निराकरण करना उचित नहीं; क्योंकि वह भी पक्ष के अन्तर्गत है। इस शङ्का के समाधान के लिए वाचस्पति मिश्र ने कहा है—वस्तुतः आप्तवचन होने से आयुर्वेद आदि के समान ही वेद की प्रामाणिकता सिद्ध होती है, भाष्य आदि में जो दृष्टार्थक वेदभाग के दृष्टान्त से अदृष्टार्थक वेदभाग की प्रामाणिकता दिखलाई गई है वह तो अभ्युच्चयमात्र है, अपने कथन की पुष्टि के लिए दूसरा दृष्टान्त भी दे दिया गया है।[3]

न्यायभाष्य में सूत्र की व्याख्या एक अन्य प्रकार से भी की गई है और वेदप्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए दूसरा अनुमान भी दिखलाया गया है। भाव यह है : जो आप्तजन वेदमन्त्रों के अर्थद्रष्टा तथा प्रवक्ता हैं वे ही आयुर्वेद आदि के उपदेष्टा हैं। जब उनके द्वारा उपदिष्ट आयुर्वेद आदि सत्य हैं तो उनके द्वारा प्रोक्त वेद भी सत्य होने चाहियें। यहाँ वात्स्यायन ने 'वेदार्थानां द्रष्टारः वक्तारश्च'—वेदार्थों के द्रष्टा और प्रवक्ता, इस प्रकार कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि वे आप्तजन वेदों के अर्थद्रष्टा तथा प्रवचनकर्त्ता थे।[4] किञ्च, वात्स्यायन की दृष्टि में इस अनुमान का यह स्वरूप प्रतीत होता है—

वेदवाक्यानि प्रमाणम् (वेदवाक्य प्रमाण हैं),

आयुर्वेदादिभिः द्रष्टृप्रवक्तृसामान्यात्,

---

१. पुरुषस्य भगवतो वेदकारकस्य विशेषः। तात्पर्यटीका, २.१.६८, पृ० ४३१। भाष्य तथा वार्तिक के २.१.६९ के स्थान पर तात्पर्यटीका में २.१.६८ है।

२. द्र०, तात्पर्यटीका, २.१.६८, पृ० ४३१-४३२।

३. वही, २.१.६८, पृ० ४३३।

४. न्यायभाष्य, २.१.६९।

(आयुर्वेद आदि के समान द्रष्टा और प्रवक्ता होने से) आयुर्वेदवत् (आयुर्वेद के समान)।[1]

प्रथम अनुमान में हेतु था 'आप्तप्रामाण्यात्' आप्तवचन के प्रमाण होने से। इस अनुमान में हेतु है 'द्रष्टृप्रवक्तृसामान्यात्' (आयुर्वेद आदि के समान द्रष्टा तथा प्रवक्ता होने से)। आयुर्वेद आदि का प्रामाण्य अनुभव द्वारा निश्चित किया जा चुका है। सफल प्रवृत्ति द्वारा आयुर्वेद आदि के प्रामाण्य का अनुमान कर लिया गया है। जो वेदार्थ-द्रष्टा हैं और वेद के व्याख्याता हैं उन्हीं के द्वारा आयुर्वेद का उपदेश किया गया है। उनका किया आयुर्वेद का उपदेश जो दृष्टार्थक है वह सत्य है तो वेद की अदृष्टार्थक व्याख्या भी सत्य होनी चाहिये, यह अनुमान किया जाता है।

द्रष्टा और प्रवक्ता की समानता के कारण आयुर्वेद आदि की प्रामाणिकता को देखकर वेदों की प्रामाणिकता का अनुमान किया जाता है।[2] भाष्य के इस कथन की न्यायवार्त्तिक तथा तात्पर्यटीका में स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई। हाँ, एक अनुमान द्वारा[3] वेद-प्रामाण्य की सिद्धि करके उद्योतकर ने बतलाया है—अथवा एककर्तृक होने से मन्त्र-आयुर्वेद के वाक्यों को पक्ष बनाकर 'अलौकिक विषय का प्रतिपादक होने के कारण', इस प्रकार वैधर्म्य हेतु कहना चाहिये।[4]

वाचस्पति मिश्र ने इस अनुमान को वेदप्रामाण्यसाधक अनुमान का दूसरा प्रकार बतलाया है।[5] उनकी दृष्टि में इस अनुमान का स्वरूप यह है—

मन्त्र आयुर्वेद वाक्य सर्वज्ञ की कृति हैं (प्रतिज्ञा),

महाजनों द्वारा परिगृहीत होकर अलौकिक अर्थ के प्रतिपादक होने से (हेतु), जो सर्वज्ञपूर्वक नहीं होते, वे ऐसे नहीं होते जैसे वातपुत्रीय के वाक्य (उदाहरण)[6]।

यद्यपि बुद्ध आदि के वचन भी अलौकिक अर्थ का उपदेश करते हैं तथापि

---

१. द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। वही २.१.६६।

२. वही, २.१.६६।

३. प्रमाणं वेदवाक्यानि वक्तृविशेषाभिहितत्वात् मन्त्रायुर्वेदवाक्यवदिति। न्यायवार्त्तिक, २.१.६६, पृ० २७१।

४. एककर्तृकत्वेन वा मन्त्रायुर्वेदवाक्यानि पक्षीकृत्यालौकिकविषयप्रतिपादकत्वेन वैधर्म्यहेतुर्वक्तव्यः। वही, २.१.६६, पृ० २७१।

५. प्रयोगान्तरमाह। तात्पर्यटीका, २.१.६८, पृ० ४३३।

६. वही, २.१.६८, पृ० ४३३।

वे महाजन-परिगृहीत नहीं हैं, अतः प्रस्तुत अनुमान द्वारा उन्हें सर्वज्ञ की कृति सिद्ध नहीं किया जा सकता। वाचस्पति मिश्र ने यह भी प्रतिपादित किया है कि बुद्ध आदि के उपदेश कैसे महाजन-परिगृहीत नहीं हैं।[1]

इस अनुमान के सन्दर्भ में उन्होंने कतिपय युक्तियों द्वारा यह सिद्ध करने का भी प्रयास किया है कि आयुर्वेदवाक्य सर्वज्ञ की कृति हैं। उन्होंने अन्त में इस प्रकार उपसंहार किया है—इस प्रकार सर्वज्ञपूर्वक सिद्ध हो जाने पर आप्तोक्त होने से मन्त्रायुर्वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है जिस प्रकार 'भात का अभिलाषी पकावे' यह लौकिक वाक्य प्रमाण है।[2] यहाँ यह अनुमानप्रयोग हो सकता है—

मन्त्रायुर्वेद वाक्य प्रमाण हैं (प्रतिज्ञा),
आप्तोक्त होने से (हेतु),
'ओदनार्थी पचेत्' इस लौकिक वाक्य के समान (उदाहरण)।

इस अनुमान में कुछ प्रश्न उठते हैं; जैसे क्या यहाँ मन्त्र शब्द से वेदमन्त्रों का ग्रहण है अथवा विषापहारक मन्त्र आदि का ? क्या आयुर्वेद भी वेदों के समान सर्वज्ञ की कृति है ? और, क्या न्यायवार्त्तिक और तात्पर्यटीका की ऐसी व्याख्या न्यायभाष्य से पृथक् नहीं हो गई है ? इन प्रश्नों का उत्तर अग्रिम अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है।

उपर्युक्त प्रकार से सूत्र तथा भाष्य आदि में आप्त-वचन की प्रामाणिकता के आधार पर वेदों की प्रामाणिकता बतलाई गई है। इस प्रकार वेद का प्रामाण्य अनुमान द्वारा सिद्ध होता है। वेद आप्तवाक्य हैं और आप्तों का वचन प्रमाण होता है अतः वेदवचन भी प्रमाण हैं।

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि न्याय की दृष्टि में यथार्थ अनुभव का साधन प्रमाण है (प्रमाकरणं प्रमाणम्) और उस प्रमाण से होने वाले ज्ञान की यथार्थता उसका प्रामाण्य है। जिस प्रकार प्रत्यक्षप्रमाण से उपलब्ध ज्ञान की यथार्थता (प्रामाण्य) का निश्चय अनुमान द्वारा किया जाता है; इसी प्रकार शब्द से होने वाले ज्ञान का प्रामाण्य भी अनुमान द्वारा ही निश्चित किया जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय सफल प्रवृत्ति का जनक होने से होता है। वहाँ इस प्रकार कहा जाता है 'जलज्ञानं प्रमाणं समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्'; किन्तु शब्द से होने वाले ज्ञान का प्रामाण्य आप्तोक्त होने से निश्चित किया जाता है।

---

१. वही, २.१.६८, पृ० ४३३।
२. वही, २.१.६८, पृ० ४३३।

अतः वेदप्रामाण्य का अभिप्राय है वेद प्रतिपादित ज्ञान का प्रामाण्य, जो वेद में बतलाया गया है उसकी यथार्थता। जब 'वेदाः प्रमाणम्'—वेदप्रमाण हैं, इस प्रकार कहा जाता है तब भी वेदवाक्य यथार्थज्ञान के साधन हैं, इसी अर्थ में तात्पर्य होता है। वेद-ज्ञान की यथार्थता का निश्चय आप्तोक्त हेतु से होता है। वेद परम आप्त ईश्वर की वाणी हैं' अतः वेदप्रतिपादित ज्ञान प्रमाण है, यथार्थ है, यह भाव है। इस प्रकार वेद का प्रामाण्य अनुमान द्वारा निश्चित किया जाता है। मीमांसक नित्य होने से वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं, न्यायभाष्य आदि में उनके मत का निराकरण किया गया है।

६. नित्य होने से वेद-प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता

वात्स्यायन ने किसी सम्प्रदाय या व्यक्ति का नामोल्लेख किये बिना ही पूर्वपक्षी की ओर से यह शङ्का प्रस्तुत की है—वेद का प्रामाण्य तो नित्य होने के कारण है अतः आप्तोपदेश होने से वेद प्रमाण हैं, यह कहना युक्तियुक्त नहीं।

इसका समाधान करते हुए उन्होंने कहा है – शब्द अर्थ का वाचक होता है, उससे अर्थ का बोध होता है इसलिये उसे प्रमाण माना जाता है, नित्य होने से उसे प्रमाण नहीं माना जाता। यदि शब्द नित्य होता तो सभी शब्दों से सभी अर्थों का कथन होने लगता और इस शब्द का यह अर्थ है, दूसरे शब्द का वह अर्थ है, इस प्रकार की शब्द और अर्थ की व्यवस्था न बन सकती।[1] उन्होंने उक्ति-प्रत्युक्तियों के द्वारा शब्द की नित्यता का निराकरण करके यह निर्णय किया है कि नित्य होने से वेद प्रमाण नहीं हैं; अपितु आप्तवचन होने से ही वे प्रमाण हैं। न्याय की दृष्टि में वेद-नित्यता का क्या अभिप्राय है? और वेद किस प्रकार आप्तवाक्य हैं? इसका निरूपण अन्यत्र किया जायेगा।

न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य की व्याख्या में कुछ परिवर्तन तथा परिवर्धन होते रहे और उत्तरवर्ती आचार्यों ने सूत्र तथा भाष्य का आधार लेकर बौद्ध आदि सम्प्रदायों के ग्रन्थों का अप्रामाण्य दिखलाते हुए वेद के प्रामाण्य का प्रति-पादन किया।

न्यायवार्त्तिक में इस सन्दर्भ में यह शङ्का प्रस्तुत की गई है कि वेदवाक्य पौरुषेय नहीं, वे नित्य हैं अतः आप्तोक्त होने से उनकी प्रामाणिकता मानना युक्तियुक्त नहीं, वे तो नित्य होने से प्रमाण हैं।[2] यह मत किनका है? यह

१. न्यायभाष्य, २.१.६६।
२. न्यायवार्त्तिक, २.१.६६, पृ० २७१-२२।

उद्योतकर तथा वाचस्पतिमिश्र ने भी नहीं बतलाया। जैसा कि आगे बतलाया जायेगा, मीमांसक ने नित्य होने से वेद को प्रमाण माना है।

इस शङ्का का समाधान करने के लिये कोई कहते हैं (केचित्तु ब्रुवते) कि नित्य वस्तु प्रमाण हो ही नहीं सकती अतः प्रमाण होने से ही वेद की अनित्यता माननी होगी। उद्योतकर ने यह उल्लेख नहीं किया कि यह किसका कथन है। वाचस्पति मिश्र ने भी यह नहीं बतलाया। हाँ, वाचस्पति मिश्र की व्याख्या से यह विदित होता है कि यह बौद्ध की ओर से कहा गया था। इसका निराकरण उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र दोनों ने किया है और यह दिखलाया है कि प्रमाण का अर्थ प्रमा का हेतु भी है, इसका अर्थ प्रमा का करण ही नहीं है अतः आत्मा आदि नित्य वस्तुएँ भी प्रमाण कही जाती हैं।[1]

बौद्ध के कथन का निराकरण करके उद्योतकर ने न्यायसिद्धान्त के अनुसार शङ्का का समाधान किया है और यह कहा है—वेद नित्य होने से प्रमाण नहीं अपितु प्रमेय का प्रतिपादन करने से प्रमाण हैं।[2] उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि न्यायमत में 'वेदाः नित्याः'—वेद नित्य हैं, इस कथन का क्या अभिप्राय है।[3] इस सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के तात्पर्य को स्पष्ट करने का प्रयास मात्र किया है, अधिक व्याख्या नहीं की। वे कहते हैं—आप्तोक्त होने से अनित्य (वेद) भी (अर्थ का) निश्चायक है।[4] और, वेद परम आप्त ईश्वर की कृति है।[5]

इस प्रकार न्यायसूत्रकार गौतम से लेकर वाचस्पति मिश्र पर्यन्त सभी आचार्यों ने आप्तोक्त होने से वेद का प्रामाण्य बतलाया है। यहाँ अनुमान के द्वारा ही वेद की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है और जिस प्रकार प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य भी परतो ग्राह्य है उसी प्रकार वेद का प्रामाण्य भी परतो ग्राह्य है। या कहिये वेद-प्रतिपादित अर्थ प्रामाणिक है, ऐसा निश्चय अनुमान द्वारा किया जाता है। वेद आप्तोक्त हैं; परम आप्त ईश्वर द्वारा प्रणीत हैं अतः प्रमाण हैं।[6]

---

१. न्यायवार्त्तिक, २.१.६९ तथा तात्पर्यटीका, २.१.६८।

२ यदि न नित्यानि कथं प्रमाणम् ? प्रमेयप्रतिपादकत्वात् प्रमाणं न नित्यत्वात्। न्यायवार्त्तिक, २.१.६९, पृ० २७२।

३. वही, २.१.६९, पृ० २७२-२७३।

४. आप्तोक्तत्वेनानित्यस्यापि निश्चायकत्वादित्यर्थः। तात्पर्यटीका, २.१.६८, पृ० ४३३।

५. द्र०, महाप्रलये त्वीश्वरेण वेदान् प्रणीय सृष्ट्यादौ सम्प्रदायः प्रवर्त्यत एवेति भावः। वही, २.१.६८, पृ० ४३४।

६. स तत्प्रणीत आप्तोक्तत्वात् प्रमाणम्। वही, २.१.६८, पृ० ४३१।

७. जयन्त भट्ट और वेदप्रामाण्य

जयन्त भट्ट ने न्यायसूत्रोक्त शब्द प्रमाण के लक्षण[1] की विशद व्याख्या की है।[2] न्यायभाष्य में आप्तजन की तीन विशेषताएँ गिनाई गई हैं– वह धर्म का साक्षात्कार करने वाला (साक्षात्कृतधर्मा) होता है, किसी तथ्य को उसके यथार्थ रूप में कहने की इच्छा से प्रेरित होता है (यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः) और, प्राणियों के हित के लिये उपदेश करता है (उपदेष्टा)। इन तीनों की कुछ नवीन व्याख्या न्यायमञ्जरी में दृष्टिगोचर होती है। उसके अनुसार साक्षात्कृतधर्मा में धर्म शब्द का भाव है—वह अर्थ जिसका उपदेश करना होता है,[3] साक्षात्कार का अर्थ है ठीक प्रकार से जानना। केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं अनुमान आदि से जानने वाला भी आप्त हो सकता है।[4] यथार्थ रूप में कहने की इच्छा से प्रेरित होने वाला, इस कथन के द्वारा उसका 'वीतराग होना' प्रकट किया गया है और उपदेष्टा शब्द के द्वारा उसका 'उपदेश-कौशल'। यहाँ वीतरागता का यह अभिप्राय नहीं है कि वह सर्वथा राग आदि से रहित हो अपितु जिस अर्थ का उसे उपदेश करना है उसके विषय में वह राग-द्वेष आदि से रहित होता है। सर्वथा वीतराग पुरुष तो संसार में दुर्लभ ही है। यदि व्यक्ति वीतराग होगा; किन्तु उपदेश करने का सामर्थ्य उसमें न होगा, वह वाक् शक्ति से रहित, मूक होगा तो भी क्या करेगा ? और, बोलने में समर्थ होकर भी, धर्म का साक्षात्कार करके भी यदि वीतराग न होगा तो मौन रहेगा, अपने ज्ञान को अन्यों पर प्रकट न करेगा। अतः जिसमें तीनों विशेषताएं होंगी वही आप्त कहला सकेगा। इस प्रकार की आप्तता ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छ सभी में हो सकती है। इसीसे शब्द के आधार पर होने वाले लोकव्यवहार की सिद्धि होती है।[5]

जयन्त भट्ट ने आप्त की इन विशेषताओं में भूतदया का उल्लेख नहीं किया। वस्तुतः इनमें भूतदया अर्थतः आ जाती है। भूतों पर दयाभाव के कारण ही वह उपदेश में प्रवृत्त होता है। उन्होंने बौद्ध के आप्त-लक्षण में भी परिष्कार का सुझाव दिया है। बौद्ध के अनुसार 'आप्तिं दोषक्षयं विदुः'[6] (दोष-क्षय को आप्ति मानते हैं) यह आप्ति का लक्षण है, इससे युक्त व्यक्ति आप्त कहलाता

---

१. आप्तोपदेशः शब्दः। न्यायसूत्र, १.१.७।

२. न्यायमञ्जरी (चौखम्बा, बनारस १६३६), पृ० १३७-१३८।

३. धर्म इत्युपदेष्टव्यः कश्चिदर्थो विवक्षितः। वही, पृ० १३८।

४. वही, पृ० १३८।

५. द्र०, वही, पृ० १३८।

है। इस लक्षण को वाचस्पति मिश्र ने भी उद्धृत किया है और कहा है कि इस लक्षण में अव्यापकता दोष है।[1] किन्तु जयन्त कहते हैं कि यहाँ दोषक्षय का अर्थ प्रतिपाद्य अर्थ के विषय में रागादि दोष रहित होना ही लेना चाहिये। यदि ऐसा अर्थ न लिया जायेगा तो शब्द के आधार पर होने वाला लोकव्यवहार न बन सकेगा।[2]

लोक और शास्त्र दोनों में घटित होने वाला शब्द प्रमाण का लक्षण बतलाकर जयन्त ने न्यायसूत्रोक्त शब्द प्रमाण की ऐसी भी व्याख्या की है जो केवल वेद पर घटित होती है। उनका भाव यह है कि यह न्यायशास्त्र का वचन वेदप्रामाण्य की सिद्धि के लिये है और वेद का प्रणेता परमेश्वर है उसमें साक्षात्कृत-धर्मता लोक-प्रसिद्ध या शास्त्रचर्चित धर्म के अर्थ में ही विद्यमान है। धर्म को ईश्वर के साक्षात्कार का विषय माना ही जाता है।[3] यथार्थ कहने की इच्छा से कारुणिक भगवान् ही प्रवृत्त होता है और वह उपदेष्टा भी है ही, क्योंकि वेद आदि आगमों का वही प्रणेता है।[4]

धर्म क्या है? इस विषय में भी जयन्त ने कुछ विचार किया है। लोक में याग, दान आदि कर्मों को धर्म कहा जाता है। शबर स्वामी जैसे मीमांसक भी याग आदि कर्म को ही धर्म कहते हैं। वेद में भी कहा गया है—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'।[5] इन सबका अभिप्राय यही है कि यज्ञ, दान आदि से उत्पन्न होने वाला संस्कार-विशेष ही धर्म शब्द से कहा गया है। कैसे? यज्ञ आदि कर्म तो नष्ट हो जाते हैं वे फल-प्रदान के समय तक विद्यमान ही नहीं रहते, अपितु उनका संस्कार ही आत्मा में विद्यमान रहता है अतः वही धर्म कहलाता है।[6] याग, दान आदि श्रेष्ठ कर्मों से उत्पन्न होने वाला संस्कार धर्म है और ब्रह्महत्या आदि निन्दित कर्मों से उत्पन्न संस्कार अधर्म है।[7] न्यायमत की स्थापना करते हुए उन्होंने अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के अभिमत धर्म-स्वरूप का भी निराकरण किया है। किन्तु यह अवश्य चिन्तनीय है कि उन्होंने वैशेषिक सूत्र में अभिहित 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'[8] का उल्लेख क्यों नहीं किया।

---

1. तात्पर्यटीका, 1.1.7, पृ० 202।
2. न्यायमञ्जरी, पृ० 138।
3. धर्मस्येश्वरप्रत्यक्षगोचरत्वात्। वही, पृ० 138।
4. वही, पृ० 138।
5. ऋग्वेद, 1. 164. 50. 10. 90. 16।
6. संस्कारो नृगुणः स्थायी तस्माद्धर्म इति स्थितम्। न्यायमञ्जरी, पृ० 255।
7. वही, पृ० 254।
8. वैशेषिकसूत्र, 1.1.2।

वेद ईश्वर-प्रणीत हैं, यह उल्लेख करके जयन्त भट्ट ने वेदों की पौरुषेयता= ईश्वरकर्तृकता का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।[१] यह भी प्रतिपादित किया है कि वेद चार हैं, सभी का कर्त्ता ईश्वर है।[२] और इनमें अथर्ववेद प्रमुख है।[३]

वेद की प्रामाणिकता के विषय में न्यायसूत्र आदि में जो पूर्वपक्षी के आक्षेप दिखलाये गये हैं 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः'[४] उनका जयन्त भट्ट ने विस्तार से निराकरण किया है और इस सन्दर्भ में अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।[५] इनके विवेचन से यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार के दोष ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रसङ्ग में ही दिखलाये गये हैं, क्योंकि मन्त्रों के प्रामाण्य पर पूर्वपक्षी के आक्षेप दिखलाते हुए इन्होंने पृथक्शः उनका परिहार किया है।[६] मन्त्रप्रामाण्य-विषयक आक्षेप तथा परिहार में मीमांसा शास्त्र का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। ग्रन्थकार इसे स्वयं अनुभव भी करता है। इसी हेतु इस सन्दभ के अन्त में कह दिया है—वेद-प्रामाण्य की सिद्धि के लिये यह सब इस प्रकार की चर्चा की गई है, इसलिये नहीं कि मैं मीमांसक होने की ख्याति प्राप्त करने का इच्छुक हूँ।[७]

वेद-प्रामाण्य की सिद्धि के विषय में मीमांसक के मत का निराकरण करते हुए जयन्त भट्ट ने न्याय के सिद्धान्त की स्थापना की है—इसलिये आप्तोक्त होने से ही वेद प्रमाण हैं, नित्य होने से नहीं।[८] किन्तु प्रश्न यह है कि वेद आप्तोक्त हैं इसमें क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में कहा गया है—शब्द नित्य नहीं होता, वेद भी नित्य नहीं हैं, इनका कोई कर्त्ता अवश्य है। और, क्योंकि इनमें किसी प्रकार का व्याघात आदि दोष नहीं दिखलाई देता, यहाँ एक मात्रा भी अनर्थक नहीं है,[९] प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भी वेदप्रतिपादित अर्थ का विरोध नहीं है,[१०] अतः इनका कर्त्ता कोई निर्दोष सर्वज्ञ पुरुष ही होना चाहिये,

१. न्यायमञ्जरी, पृ० २१३-२२५।
२. वही, पृ० २३१-२३६।
३. वही, पृ० २३७-२३६।
४. न्यायसूत्र, २.१.५८।
५. न्यायमञ्जरी, पृ० २४८-२६१।
६. वही, पृ० २६१-२६६।
७. वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमित्यमेताः कथाः कृताः।
 न तु मीमांसकख्याति प्राप्तास्मीत्यभिमानतः॥ वही, पृ० २६६।
८. तस्मादाप्तोक्तत्वादेव वेदाः प्रमाणं न नित्यत्वात्। वही, पृ० २२६।
९. न मात्रामात्रमप्यस्ति वेदे किंचिदपार्थकम्। वही, पृ० २२६।
१०. प्रत्यक्षादिविसंवादो वेदे परिहरिष्यते। वही, पृ० २२६।

यह सिद्ध किया जा चुका है कि वेद सर्वज्ञ ईश्वर की कृति हैं। इस प्रकार वेद आप्तोक्त हैं—आप्त वचन हैं, इसमें सन्देह का अवकाश नहीं। यह ठीक है कि प्रत्यक्ष से वेदों की आप्तोक्तता नहीं जानी जाती; किन्तु अनुमान तथा आगम से तो जानी ही जाती है।[1]

पूर्वपक्षी की यह भी शङ्का है, आप कैसे जानते हैं कि जो आप्तोक्त होता है वह प्रमाण होता है? इस प्रकार की व्याप्ति का निश्चय कैसे किया जा सकता है? आयुर्वेद आदि में इस नियम का निश्चय नहीं किया जा सकता। आयुर्वेद आदि का प्रामाण्य तो इसलिये सिद्ध होता है कि जो उनमें लिखा है वैसा ही प्राप्त हो जाता है अतः अनुमान से उसकी यथार्थता जान ली जाती है। वस्तुतः आयुर्वेद के विधानों को यथार्थ देखकर यह निश्चय नहीं किया जाता कि जो आप्तवचन होता है वह प्रमाण होता है।[2]

इस शङ्का के समाधान के लिये जयन्त ने कहा है कि यदि यह भी मान लिया जाये कि आयुर्वेद आदि के प्रामाण्य का निश्चय प्रत्यक्ष आदि के द्वारा, उसी प्रकार के अर्थ की प्राप्ति से हुआ करता है तो भी यह मानना होगा कि आयुर्वेद में जो प्रामाण्य उत्पन्न होता है वह आप्तोक्त होने के कारण ही होता है, वे आप्त-वचन हैं, अतः प्रामाणिक हैं। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि प्रामाण्य की उत्पत्ति और प्रामाण्य का निश्चय—ये दोनों पृथक् बातें हैं। ज्ञान में प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणों के कारण हुआ करती है। आप्तोक्त होने के कारण ही शब्द में प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है।[3]

अब प्रश्न यह है कि आयुर्वेद आप्त-कृत है, यह कैसे निश्चय किया जा सकता है; वस्तुतः आयुर्वेद के किसी अंश में जो प्रामाणिकता देखी जाती है वह अन्वय-व्यतिरेक-मूलक है, आप्तोक्त होने से नहीं है। अन्वय का अर्थ है किसी के होने पर होना (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्) और व्यतिरेक का अर्थ है एक के न होने पर दूसरे का न होना। इस अन्वय-व्यतिरेक से ही कार्य-कारण-भाव का निश्चय किया जाता है। आयुर्वेद के प्रणेता ने जिस ओषधि या पथ्य से किसी रोग में लाभ देखा उसे उस रोग की चिकित्सा में स्थान दिया, अन्य को नहीं। इस हेतु वह ओषधि या पथ्य आज भी उस रोग में लाभप्रद दृष्टिगोचर होती है। जिन ओषधियों आदि में अन्वय-व्यतिरेक की संभावना नहीं, उनके विषय में आयुर्वेद का प्रामाण्य भी नहीं है, जैसे 'सोमराजि' नामक ओषधि के प्रयोग से

---

१. तु०, वही, पृ० २२६।
२. वही, पृ० २२७।
३. द्र०, वही, पृ० २२७।

व्यक्ति सहस्र वर्षों तक जीवित रहता है, यह आयुर्वेद का कथन है, जिसका अनुभव से प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। यदि आयुर्वेद को आप्तोक्त होने से प्रमाण माना जाये तो इस कथन को अनाप्तोक्त ही मानना होगा। और, ऐसा मानना ठीक नहीं।[1]

इसके उत्तर में जयन्त भट्ट ने कहा है कि लोग असंख्य हैं, उनकी व्याधियाँ अनन्त हैं, औषधियाँ अनेक गुणों वाली हैं, उनके प्रभाव देश, काल और व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार बदलते रहते हैं, अतः उन सबके गुण-दोषों को एक जन्म में अन्वय-व्यतिरेक से नहीं जाना जा सकता। यदि जन्मान्तर का अनुभव मानें तो भी ठीक नहीं; क्योंकि जन्मान्तर में अनुभूत बातों का स्मरण नहीं हुआ करता। इसलिये अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर आयुर्वेद में प्रामाण्य की उत्पत्ति हुई होगी, यह कल्पना नहीं की जा सकती। इसके विपरीत यही मानना होगा कि जो पुरुष इन सबको जानने में समर्थ हो सका उसकी अनन्त सामर्थ्य थी, वह सर्वज्ञ था।[2] इस प्रकार आयुर्वेद सर्वज्ञ-प्रणीत है।[3] उसकी प्रामाणिकता आप्तोक्त होने से ही है, यह निश्चित होता है। जो आयुर्वेद के कुछ प्रयोगों में व्यभिचार देखा जाता है, आयुर्वेद के अनुसार करने पर भी अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं देखी जाती, वहाँ आयुर्वेद का दोष नहीं है, अपितु जैसा वेदप्रामाण्य के आक्षेपों का परिहार करते हुए कहा गया है, वहाँ कर्म, कर्त्ता या साधन में कोई कमी रह जाती है अतः अभीष्ट फल नहीं प्राप्त होता।[4]

जो आप्तवचन है वह प्रमाण होता है, ऐसी व्याप्ति का निश्चय आयुर्वेद आदि में ही कर लिया जाता है। इस व्याप्ति को दिखलाने के लिए ही सूत्रकार गौतम ने यह कहा है—'स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्'। इसका अभिप्राय यह है कि जिस शब्द का अर्थ यहीं देख लिया जाता है उसमें आप्तवचन का प्रामाण्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित कर लिया जाता है और उसके द्वारा अदृष्टार्थक आप्त वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। इसलिए कहा है 'मन्त्रायुर्वेद-प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' अर्थात् आप्तवचन के प्रामाणिक होने से मन्त्र और आयुर्वेद के समान उस शब्द-विशेष की प्रामाणिकता का निश्चय होता है।[5] फलतः यह निश्चित है कि आप्तोक्त होने से ही वेद प्रमाण हैं।[6]

---

१. द्र०, वही, पृ० २२७।
२. यो वा ज्ञातुं प्रभवति पुरुषः तत्सामर्थ्यं निरवधिविषयम्।
स्यात्सर्वज्ञः स इति न विमतिस्तस्मिन् कार्या स्ववचनकथितैः॥ वही, पृ० २२७।
३. तस्मात् सर्वज्ञप्रणीत एवायुर्वेदः। वही, पृ० २२८।
४. वही, पृ० २२८।
५. वही, पृ० २२९।
६. तस्मादाप्तोक्तत्वादेव वेदाः प्रमाणमिति सिद्धम्। वही, पृ० २२९।

इस प्रकार न्यायमञ्जरी के अनुसार वेद पौरुषेय हैं, परम आप्त ईश्वर-प्रणीत हैं। उनकी प्रामाणिकता न नित्य होने से है न अपौरुषेय होने से है, अपितु आप्त-वचन होने से ही वे प्रमाण माने जाते हैं। उनकी इस प्रामाणिकता की सिद्धि अनुमान द्वारा की जाती है।

न्याय-परम्परा के कुछ अन्य आचार्य भी हैं जिन्होंने वेद-प्रामाण्य के विषय में विचार किया है। उनमें उदयनाचार्य आदि प्रमुख हैं। उदयनाचार्य ने तात्पर्य-परिशुद्धि में न्याय-टीका-परम्परा के अन्तर्गत ही वेद-प्रामाण्य पर विचार किया है; किन्तु प्रशस्तपादभाष्य की टीका किरणावली में वैशेषिक टीका-परम्परा के अन्तर्गत वह विचार उपलब्ध होता है और न्यायकुसुमाञ्जलि जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ में भी उन्होंने वेद-प्रामाण्य का निरूपण किया है। अतः उनके एतद्विषयक विचारों का पृथक्शः आगे विचार किया जायेगा। इसी प्रकार भासर्वज्ञ जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ-लेखकों के मन्तव्यों पर भी यथावसर विचार किया जायेगा। यहाँ तो वैशेषिक सूत्र के सन्दर्भ में इस विषय का विचार करना है।

८. वैशेषिक सूत्र तथा प्रशस्तपादभाष्य में वेद-प्रामाण्य

(क) वैशेषिक सूत्र—

वैशेषिक दर्शन के कई सन्दर्भों में वेदप्रामाण्य पर विचार किया गया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वैशेषिकसूत्रों पर कोई प्राचीन भाष्य उपलब्ध नहीं है, अतः वैशेषिकसूत्रोपस्कार नामक उत्तरकालीन भाष्य के आधार पर ही उन सन्दर्भों को देखना होगा।

प्रथम सन्दर्भ यह है—वैशेषिक दर्शन के प्रथम सूत्र में 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः, (अब धर्म की व्याख्या करेंगे), यह प्रतिज्ञा करके द्वितीय सूत्र में कहा गया है कि जिससे अभ्युदय और नि.श्रेयस की सिद्धि होती है वह धर्म है।'[1] इस पर शङ्का होती है कि निवृत्ति रूप धर्म तत्त्वज्ञान द्वारा निःश्रेयस का हेतु है, इस विषय में वेद ही प्रमाण है किन्तु वेद का प्रामाण्य ही विवादास्पद है; क्योंकि उसमें अनृत, व्याघात, पुनरुक्त दोष हैं। इस शङ्का का समाधान करने के लिये 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'[2] यह सूत्र अवतरित किया गया है।

इस सूत्र का अर्थ है उसके (तद्) वचन से आम्नाय की प्रामाणिकता है। यहाँ तद् (उस, वह) शब्द सर्वनाम है; जिस नाम या संज्ञा का पहिले प्रयोग किया

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वै०सू०, १.१.२।
२. वही, १.१.३।

जाता है उसके लिये सर्वनाम शब्द आया करता है, यह भाषा के प्रयोग का सामान्य नियम है। अतः 'तद्' शब्द धर्म के लिये आया है, यह उचित जान पड़ता है। आम्नाय का अर्थ वेद है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा—धर्म का प्रतिपादन करने के कारण वेद की प्रामाणिकता सिद्ध होती है, जो वाक्य प्रामाणिक अर्थ को कहता है वह प्रमाण होता है।[1]

उपस्कारभाष्य के लेखक ने इस अर्थ को दूसरा स्थान दिया है। प्रथमतः वे कहते हैं - यद्यपि यहाँ ईश्वर का प्रकरण नहीं है तथापि प्रसिद्ध होने के कारण तद् शब्द से ईश्वर का ग्रहण होता है, जिस प्रकार गौतम के 'तदप्रामाण्यम्' इत्यादि सूत्र[2] में तद् शब्द से वेद का ग्रहण होता है। इसलिये 'तद्वचनात्०' इत्यादि का अर्थ है—ईश्वर-प्रणीत होने से वेद प्रमाण है।[3] इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी द्वारा दिखलाये गये अनृत, व्याघात तथा पुनरुक्त दोषों का भी निराकरण किया गया है।

द्वितीय सन्दर्भ में कहा गया है—वेद में वाक्य-रचना बुद्धिपूर्वक है।[4] उपस्कारभाष्य के अनुसार 'बुद्धिपूर्वा' शब्द का अर्थ है—'वक्तृयथार्थवाक्यार्थ-ज्ञानपूर्वा।'[5] जब किसी वाक्य का वक्ता उस वाक्य के अर्थ का यथार्थ ज्ञान रखते हुए वाक्य-रचना करता है तभी वह वाक्य प्रमाण होता है। भाव यह है—यहाँ वेदों का स्वतः प्रामाण्य नहीं माना जाता; अपितु यह माना जाता है कि वेद-प्रणेता की विशिष्टता के कारण वेद में प्रामाण्य उत्पन्न होता है। वेद में वक्ता के गुणों के कारण प्रामाण्य है। वेद का प्रणेता आप्त है, यह बात बुद्धिपूर्वा शब्द द्वारा कही गई है। अतः आप्तोक्त होने से वेद की प्रामाणिकता है। इस सन्दर्भ में अन्य युक्तियों से भी वेद की आप्तोक्तता दिखलाई गई है।

तृतीय सन्दर्भ यह है—वैशेषिक दर्शन के अन्तिम आह्निक[6] में समवायी, असमवायी तथा निमित्त, इन तीन कारणों का विवेचन किया गया है। इसके अन्त में दो सूत्र रक्खे गये हैं।[7] इनमें से पहिला सूत्र षष्ठ अध्याय के एक सूत्र का

---

१. द्र०, वैशेषिकसूत्रोपस्कार, १.१.३।
२. तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। न्यायसूत्र, २.१.५८।
३. वैशेषिकसूत्रोपस्कार, १.१.३।
४. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। वै०सू०, ६.१.१।
५. वैशेषिकसूत्रोपस्कार, ६.१.१।
६. वै०सू०, १०.२. १-७।
७. (१) दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय॥ वै०सू०, १०.२.८।
   (२) तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वही, १०.२.९।

परिवर्तित रूप है।[1] और, दूसरा सूत्र उपरिनिर्दिष्ट 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' ही है। इन सूत्रों की पुनरावृत्ति क्यों की गई है? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। इसके उत्तर में शङ्करमिश्र कहते हैं—अब आम्नाय के प्रामाण्य को दृढ करने के लिये (सूत्रकार) उक्त अर्थ को ही कहते हैं।[2] फिर भी इस कथन मात्र से शङ्का की निवृत्ति होना संभव नहीं प्रतीत होता, अतः यह बिचारणीय ही है कि इन सूत्रों की पुनरावृत्ति क्यों की गई?

इस सन्दर्भ में वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी कुछ विचार उपस्कारभाष्य में उपलब्ध होते हैं। यहाँ दृष्टाभाव पद की व्याख्या में बतलाया गया है :—वैशेषिकों के द्वारा मीमांसक के समान नित्यनिर्दोष होने से वेद का प्रामाण्य नहीं माना जाता; अपितु वेद को पौरुषेय माना जाता है। पुरुष में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (प्रवञ्चना की इच्छा) आदि दोष होना सम्भव है; किन्तु ये दोष साधारण जनों में ही होते हैं। वह पुरुषधौरेय (पुरुषश्रेष्ठ) तो नितान्त निर्दोष है, जिसकी पृथिवी आदि के कर्त्ता के रूप में तथा वेद के वक्ता के रूप में अनुमान द्वारा सिद्धि की गई है। इसलिये उसके वचनों में न अर्थशून्यता है, न अर्थ की विपरीतता (मिथ्यात्व) है और न ही प्रयोजन-हीनता ही। वस्तुतः पृथिवी आदि भूत, नेत्र आदि इन्द्रिय और मन के दोष से ही भ्रान्ति, प्रमाद तथा इन्द्रियों की असमर्थता आदि के कारण वचनों में अयथार्थता हुआ करती है। किन्तु ईश्वर के वचन में तो इन सबकी संभावना ही नहीं है—

रागाज्ञानादिभिर्वक्ता ग्रस्तत्वादनृतं वदेत्।
ते चेश्वरे न विद्यन्ते स ब्रूयात् कथमन्यथा॥[3]

राग तथा अज्ञान आदि से ग्रस्त होने के कारण ही कोई मिथ्या बोलता है ईश्वर में तो राग आदि हैं नहीं; फिर वह मिथ्या वचन क्यों कहेगा?[4]

इसलिये ईश्वर-प्रणीत होने से वेदों का प्रामाण्य (यथार्थता) सिद्ध होता है।[5] इस प्रसङ्ग में शङ्कर मिश्र ने यह भी दिखलाया है कि वेद पौरुषेय हैं, ईश्वरकृत हैं तथा आप्तवचन हैं।[6]

---

१. दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय। वै०सू०, ६.२.१।
२. वैशेषिकसूत्रोपस्कार, १०.२.८ (अवतरणिका)।
३. वही १०.२.८।
४. मि०, वही, १०.२.८।
५. तद्वचनात्=तेनेश्वरेण वचनात्=प्रणयनाद् आम्नायस्य=वेदस्य प्रामाण्यम्। वही, १०.२.६।
६. वही, १०.२.६।

(ख) प्रशस्तपादभाष्य—

प्रशस्तपादभाष्य के भी कतिपय सन्दर्भों में वेदप्रामाण्य का संकेत उपलब्ध होता है। द्रव्य आदि पदार्थों का तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का हेतु है, यह बतलाने के अनन्तर आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है—'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव।' उत्तरवर्ती विद्वानों ने इस वचन की विविध व्याख्याएँ की हैं; जिनका आगे विवेचन किया जायेगा। इसका सामान्य अर्थ है—ईश्वर के उपदेश से अभिव्यक्त धर्म द्वारा ही वह (तद्) होता है।' इससे विदित होता है कि ईश्वर ही धर्म का उपदेष्टा है। ईश्वर का उपदेश वेदरूप है। अतः सूत्र में जो कहा गया है 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (धर्म का प्रतिपादन करने के कारण वेद की प्रामाणिकता है), इस कथन की ओर संकेत माना जा सकता है।

दूसरे स्थल पर आचार्य प्रशस्तपाद ने शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव करते हुए कहा है—श्रुति-स्मृति रूप आम्नाय भी वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा रखता है अतः अनुमान ही है; क्योंकि उसका वचन होने से आम्नाय की प्रामाणिकता है, यह (कणाद ने) कहा है।[२]

इस कथन में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि प्रशस्तपाद की दृष्टि में आम्नाय शब्द का अर्थ है श्रुति तथा स्मृति। यहाँ केवल वेद को ही आम्नाय नहीं कहा गया। यदि न्यायभाष्य के साथ इसका सामञ्जस्य किया जाये[३] तो समस्त अलौकिक उपदेश (शास्त्र) को यहाँ आम्नाय कहा गया है। श्रीधर की न्यायकन्दली से भी ऐसा ही प्रतीत होता है।[४] दूसरी यह कि वक्ता के प्रामाण्य से आम्नाय का प्रामाण्य सिद्ध होता है। वक्ता प्रामाणिक है, इसी लिये उसका वचन प्रमाण माना जाता है। फलतः प्रामाणिक वक्ता का वचन होने से आम्नाय की प्रामाणिकता का अनुमान किया जाता है। यहाँ प्रशस्तपाद भाष्य में वैशेषिक सूत्र[५] के आधार पर ही ऐसा कहा गया है; किन्तु इस वैशेषिक सूत्र का क्या अभिप्राय है? इसमें तद् शब्द का क्या अर्थ है? इत्यादि पर विचार नहीं किया गया। यहाँ इसके आगे के वाक्य में वेद की नित्यता पर विचार किया गया है। जिस का निरूपण करना यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

---

१. प्रशस्तपादभाष्य (मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १६२२), पृ० १२।

२. श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षोऽनुमानमेव, तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति वचनात्। प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ४५।

३. द्र०, न्यायभाष्य, २.१.६६।

४. न केवलं लौकिक आम्नायः, श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायः। न्यायकन्दली (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १६६३), पृ० ५१६।

५. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वै० सू०, १.१.३।

इस प्रकार वैशेषिक सूत्र तथा प्रशस्तपाद भाष्य के अनुसार वेदों का प्रामाण्य अनुमान द्वारा जाना जाता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु ईश्वरप्रणीत होने से वेद प्रमाण हैं या आप्तोक्त होने से वेद प्रमाण हैं, यह मन्तव्य सूत्र एवं भाष्य से आकलित ही किया जा सकता है; यहाँ स्पष्ट रूप में उसका उल्लेख नहीं किया गया। हाँ, वैशेषिकसूत्रोपस्कार आदि में यह अवश्य दिखलाया गया है।

वैशेषिकसूत्र तथा प्रशस्तपाद भाष्य के अभिप्राय को उत्तरवर्ती टीकाकारों ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके अनुशीलन से इस विषय पर कुछ और प्रकाश पड़ सकता है।

९. प्रशस्तपादभाष्य के टीकाकार और वेद-प्रामाण्य

अनुसन्धान के आधार पर यह माना जाता है कि प्रशस्तपादभाष्य की चार प्राचीन टीकाएँ हैं: (क) व्योमशिवाचार्य की व्योमवती, (ख) वत्साचार्य की न्यायलीलावती, (ग) श्रीधर भट्ट की न्यायकन्दली और (घ) उदयनाचार्य की किरणावली। इनमें से वत्साचार्य की न्यायलीलावती अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है; वह वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती से भिन्न ही है। उसकी हस्तलिखित प्रति ग्रन्थ-भण्डारों में भी नहीं है।[1] उसके केवल सन्दर्भ ही प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त पद्मनाभमिश्र की सेतु टीका और जगदीशतर्कालङ्कार की सूक्ति टीका भी प्रकाशित हुई हैं। ये दोनों टीकाएँ द्रव्य ग्रन्थ पर्यन्त ही हैं।[2]

व्योमशिवाचार्य की व्योमवती—

यह प्रशस्तपाद भाष्य की सबसे प्राचीन टीका है। उदयनाचार्य ने किरणावली में तथा श्रीधर ने न्यायकन्दली में आचार्य शब्द से व्योमशिव के मतों का उल्लेख किया है।[3]

'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव' इस प्रशस्तपादभाष्य की व्याख्या में व्योमशिवाचार्य लिखते हैं—चोदना कहते हैं प्रवर्तक वाक्य को। प्रवर्तक वाक्यों

---

१. इन्ट्रोडक्शन, किरणावली (ऑरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, १९७१), पृ० xi; भूमिका, पृ० xxvii.
२. ये दोनों टीकाएँ प्रशस्तपादभाष्य और व्योमवती टीका के साथ चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस से १९२४ में प्रकाशित हुई हैं।
३. भूमिका, किरणावली (बड़ोदा), पृ० xxvii.

की प्रधानता के कारण यहाँ वेद को चोदना शब्द से कहा गया है। वह वेद ईश्वरप्रणीत होने के कारण प्रमाण है।[1]

'श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षः' इस प्रशस्तपादभाष्य की टीका में उन्होंने बतलाया है– केवल लौकिक शब्द ही वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु श्रुति, स्मृति रूप (अलौकिक) शब्द भी वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा रखता है।[2] इस प्रकार वेद का प्रामाण्य आप्तवचन होने से ही सिद्ध होता है। वेद आप्तोक्त कैसे हैं? यह दिखलाते हुए व्योमशिव ने प्रामाण्य के परतोग्राह्यत्व, शब्द की अनित्यता तथा वेद की पौरुषेयता का विवेचन किया है।[3]

आचाय व्योमशिव का मत है कि आप्तोक्त होने से ही कोई शब्द प्रमाण होता है अतः शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं होता।[4] इनका यह मन्तव्य वैशेषिक सम्प्रदाय के परम्परागत मन्तव्यों से भिन्न है। फिर भी यह तो सर्वसम्मत ही है कि शाब्दज्ञान की यथार्थता आप्तोक्त होने से ही स्वीकार की गई है। इसी आधार पर व्योमशिव ने वेद-प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं—आप्तोक्त होकर ही कोई शब्द किसी अर्थ का सम्यक् ज्ञान कराता है, उसके विना नहीं।......लौकिक शब्दों से अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर उनके आप्तोक्त होने का निश्चय किया जाता है।......प्रधान विषयों में संवाद होने से तो वैदिक वाक्यों के आप्तोक्त होने का निश्चय कर लिया जाता है।[5] यदि कोई कहे कि वैशेषिक के अनुसार वेद पौरुषेय हैं और पुरुष के वचन प्रमाण तथा अप्रमाण दोनों प्रकार के होते हैं अतः वेद-वचनों की अप्रामाणिकता की शङ्का बनी ही रहेगी। इस पर व्योमशिव का कहना है कि वेद के कर्त्ता में दोष नहीं हैं। जिस व्यक्ति में राग-द्वेष आदि दोष होते हैं उसका वचन ही अप्रमाण होता है, यह अनुभव से सिद्ध है। वेद के प्रणेता में राग आदि दोष होने में तो कोई प्रमाण है नहीं। और, यह भी निश्चित है कि अतीन्द्रिय अर्थों का साक्षात्कार करने वाला कोई पुरुष है। इसीलिये सूत्रकार ने बतलाया है कि उसका वचन होने से वेदराशि की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।[6]

---

१. चोदना हि प्रवर्तकं वाक्यम्। तत्प्रधानत्वाद् वेदश्चोदनेति। सा चेश्वरप्रणीतत्वात् प्रमाणम्। व्योमवती (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९२४), पृ० ३३।

२. वही, पृ० ५७८-५७९।

३. वही, पृ० ५७९-५८४।

४. अतः शब्दस्याप्तोक्तत्वेन प्रामाण्यान्नानुमानेऽन्तर्भावः। वही, पृ० ५८४।

५. वही, पृ०, ५८०-५८१।

६. वही, पृ० ५८१।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य व्योमशिव ने जो ईश्वरोक्त होने से वेद को प्रमाण कहा है,[1] उसका अभिप्राय है कि कोई भी शब्द आप्त-वाक्य होने से ही प्रमाण होता है, वेद भी ईश्वरप्रणीत होने से आप्तोक्त हैं। वेद का प्रणेता ईश्वर है जो अर्थों का साक्षाद् द्रष्टा है और दोषों से रहित है। अतः वेद प्रमाण हैं। आप्तवचन होने से अनुमान द्वारा उनके प्रामाण्य का निश्चय किया जाता है।

श्रीधर की न्यायकन्दली—

श्रीधर ने 'तच्चेश्वरचोदनाऽभिव्यक्ताद् धर्मादेव' इस प्रशस्तपाद के वचन की व्याख्या में वेद-प्रामाण्य का उल्लेख नहीं किया। उनके अनुसार यहाँ ईश्वर-चोदना शब्द का अर्थ है—ईश्वर की इच्छाविशेष। और, इस वचन का अर्थ है—ईश्वर की इच्छाविशेष से कार्य के प्रति उन्मुख धर्म से ही निःश्रेयस होता है।[2]

वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा से आम्नाय के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है, प्रशस्तपाद[3] के इस मन्तव्य की विशद व्याख्या श्रीधर ने की है। तदनुसार, श्रुति और स्मृति-रूप जो आम्नाय है वह वक्ता के प्रमाण होने से ही अर्थ का बोधक होता है। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि शब्द में स्वभावतः दोष नहीं हुआ करता, अपितु वक्ता के दोष से ही दोष हो जाता है। जब वेद को नित्य माना जाता है उसका कोई वक्ता नहीं; अतः उसमें दोष की आशङ्का नहीं हो सकती और उसका प्रामाण्य निश्चित हो जाता है; किन्तु वेद को पौरुषेय मानने पर तो उसके प्रामाण्य में सन्देह बना ही रहेगा; क्योंकि पुरुष तो रागद्वेष आदि के कारण मिथ्या भी कह सकता है। इसके समाधान के लिये वैशेषिक सूत्र में 'तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्' ऐसा कहा गया है। यहाँ तद् शब्द से जनसाधारण की अपेक्षा विशिष्ट पुरुष (अस्मद्विशिष्ट) या पुरुषविशेष का ग्रहण होता है। अतः पुरुषविशेष द्वारा प्रणीत होने के कारण वेद प्रमाण है।[4]

अभिप्राय यह है :– दोष न होने के कारण किसी ज्ञान के साधन को प्रमाण माना जाता है, नित्य होने के कारण नहीं। क्यों ? श्रोत्र तथा मन नित्य

---

१. सा चेश्वरोक्तत्वात् प्रमाणम्। वही, पृ० ३३।

२. ईश्वरेच्छाविशेषेण कार्यारम्भाभिमुखीकृताद् धर्मादेव निःश्रेयसं भवतीति वाक्ययोजना। न्यायकन्दली, पृ० २९।

३. श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षः। प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ५१९।

४. द्र०, न्यायकन्दली, पृ० ५१९-५२०।

हैं; किन्तु दोषयुक्त हो जाने पर ये प्रमाण नहीं होते; दूसरी ओर चक्षु आदि अनित्य हैं, परन्तु दोष-रहित होते हुए प्रमाण होते हैं। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर दोष-रहित होना ही प्रामाण्य का निमित्त है, नित्य होना नहीं। उस पुरुषविशेष में दोष नहीं हैं; इसलिये उसका वचन प्रमाण है। यथार्थद्रष्टा, राग-द्वेष-रहित, एवं करुणामय होकर उपदेश करने में प्रवृत्त होने वाला वह मिथ्या उपदेश करेगा, इसकी तो शङ्का भी नहीं हो सकती।[1]

अब प्रश्न यह है कि पुरुष-विशेष ने वेद की रचना की है, यह कैसे जाना जाता है। इसके उत्तर में कन्दलीकार कहते हैं—सब ब्राह्मण आदि वर्णों तथा ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के लोग विना किसी विरोध के वेदों के द्वारा प्रतिपादित अर्थों का ग्रहण करते हैं। यदि किसी साधारण व्यक्ति ने वेदों की रचना की होती तो जिस प्रकार सभी विवेकशील जनों ने बुद्ध आदि के उपदेशों का निर्विरोध होकर पालन नहीं किया, इसी प्रकार वेदों के उपदेशों का भी विना विरोध के पालन न करते, तब तो किसी विवेकी जन को वेदों का अप्रामाण्य-ज्ञान होने से उनका मिथ्यात्व (अयथार्थता) भी प्रतीत होने लगता। जिस विषय में सभी को यथार्थता का निश्चय होता है, वह प्रमाण ही होता है; जैसे प्रत्यक्ष आदि।[2] फलतः वेदप्रमाण हैं। इसमें अनुमान-प्रयोग है--

वेद प्रमाण है (प्रतिज्ञा);

सभी के यथार्थ ज्ञान का हेतु होने से (हेतु)।

प्रत्यक्ष के समान (उदाहरण)।[3]

जो कहीं पुत्रेष्टि आदि में दृष्टार्थक वैदिक उपदेशों के अनुसार अनुष्ठान करने पर भी फल नहीं देखा जाता वह भी वेद के प्रामाण्य का विघटन नहीं कर सकता। वह तो कारण-सामग्री में कोई कमी होने से हुआ करता है। जब यथोचित सामग्री का संयोजन करके अनुष्ठान किया जाता है तो शास्त्रोक्त फल अवश्य प्राप्त होता है।[4]

इस सन्दर्भ में श्रीधर ने वेद-प्रामाण्य की सिद्धि के लिये न्याय-परम्परा में निर्दिष्ट अनुमान-प्रयोगों से कुछ भिन्न-प्रकार का प्रयोग दिखलाया है। उन्होंने न्यायसूत्र आदि में उक्त पूर्वपक्षी के आक्षेपों का भी अत्यन्त संक्षेप से

१. वही, पृ० ५२०।
२. न्यायकन्दली, पृ० ५२०-५२१।
३. प्रमाणं वेदः, सर्वेषामविसंवादिज्ञानहेतुत्वात्, प्रत्यक्षवत्। वही, पृ० ५२१।
४. वही, पृ० ५२१।

निराकरण कर दिया है। साथ ही वेद की पौरुषेयता सिद्ध करके वैशेषिक के मत को इस प्रकार स्पष्ट किया है—वेद पौरुषेय हैं;—पुरुषकृत हैं, यह सिद्ध हो गया। किन्तु पुरुष के वचनों में तो अप्रमाण और प्रमाण दोनों प्रकार के ही वाक्य उपलब्ध होते हैं अतः वेद के प्रामाण्य में भी सन्देह होना स्वाभाविक है। यह ठीक है कि दृष्ट अर्थों में कदाचित् सन्देह से भी प्रवृत्ति हो जाती है; फिर भी अदृष्ट फल स्वर्ग आदि की सिद्धि के लिये जो बहुत धन का व्यय करके शारीरिक परिश्रम के द्वारा वैदिक याग आदि किये जाते हैं उनमें तो किसी बुद्धिमान् की तब तक प्रवृत्ति नहीं हो सकती जब तक उनके बोधक वाक्यों की प्रामाणिकता का निश्चय न हो जाये। अतः वेद-वाक्यों में वक्ता के वैशिष्ट्य के कारण ही प्रामाण्य का निश्चय किया जाता है।[1] लोक में देखा जाता है कि यदि किसी वाक्य का वक्ता यथार्थज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट होता है तो उस वाक्य को प्रमाण मान लिया जाता है। इसी प्रकार पुरुषविशेष की रचना होने से वेद-वाक्यों का प्रामाण्य निश्चित कर लिया जायेगा और निशङ्क होकर उनके अनुसार अनुष्ठान किया जा सकेगा।[2]

भाव यह है कि यथार्थ ज्ञान का बोधक होने से वेद प्रमाण हैं। आप्तोक्त होने के कारण उनकी निर्दोषता का निश्चय होता है और दोष-रहित होने से ही वे यथार्थ ज्ञान के बोधक हैं तथा प्रमाण हैं। फलतः उनका प्रामाण्य अनुमान से निश्चित किया जाता है, वे स्वतः प्रमाण नहीं हैं। श्रीधर ने मीमांसक के अभिमत स्वतः प्रामाण्य का निराकरण किया है।[3]

उदयनाचार्य की किरणावली—

आज जो किरणावली उपलब्ध है वह प्रशस्तपादभाष्य के आरम्भ से 'संस्कारस्त्रिविधः वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च' इस वाक्य तक ही है। 'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव' इस प्रशस्तपाद के वचन की व्याख्या में उदयनाचार्य कहते हैं—ईश्वर-चोदना का अर्थ है ईश्वर का उपदेश अर्थात् वेद। उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म से ही वह (तत्त्वज्ञान) होता है।[4] यहाँ कुछ विस्तार से यह विचार किया गया है कि धर्म द्वारा यह तत्त्वज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता

---

१. न्यायकन्दली, पृ० ५२२।
२. दृष्टं च लोके वचसः प्रामाण्यं वक्तृगुणावगतिपूर्वकम्, तेन वेदेऽपि तथैव प्रामाण्यात् निर्विचिकित्समनुष्ठानं स्यात्। वही, पृ० ५२३।
३. वही, पृ० ५२३-५२६।
४. ईश्वरचोदना उपदेशो वेद इति यावत्। तेनाभिव्यक्तात् प्रतिपादिताद् धर्मात्। किरणावली (ऑरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९७१), पृ० ८।

है तथा कैसे तत्त्वज्ञान ही निःश्रेयस का साधन है,[१] ज्ञान कर्म का सम्मुच्चय नहीं।[२] यहां इस सन्दर्भ में वेद-प्रामाण्य पर कुछ विचार नहीं किया गया।

'श्रुतिस्मृति' इत्यादि प्रशस्तपाद के वचन की व्याख्या करते हुए उदयनाचार्य कहते हैं—केवल लौकिक वाक्य ही नहीं अपितु श्रुति, स्मृति रूप आम्नाय भी वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा से प्रमाण होता है।[३] क्योंकि 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' यह सूत्रकार (कणाद) का वचन है।[४]

तद्वचनाद् की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—यहाँ 'तद्' शब्द से 'अस्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेः' इस सूत्र[५] में अभिप्राय से प्रकट किए गये जनसाधारण से विशिष्ट वक्ता परमेश्वर का निर्देश किया गया है, वही परम ऋषि है। उस ईश्वर द्वारा प्रणीत होने से वेद प्रमाण है। प्रामाण्य का अभिप्राय है यथार्थ अनुभव का जनक होना। यह प्रामाण्य किसी में नित्यता के कारण नहीं होता, अपितु दोषाभाव के कारण हुआ करता है और परमेश्वर के साधक जो प्रमाण हैं उनसे ही यह सिद्ध है कि उसमें दोषों का अभाव है।[६]

अनुमान का प्रयोग है :—

वेद आप्तोक्त हैं (प्रतिज्ञा),
महाजनों द्वारा स्वीकृत होने से (हेतु),
जो वचन आप्तोक्त नहीं होता उसका महाजनों द्वारा स्वीकरण नहीं किया जाता। जैसे जनसाधारण (राह चलते) का वचन (वैधर्म्य उदाहरण)।[७]

अनुमान के इस प्रयोग में आप्तोक्त शब्द का क्या अभिप्राय है? यह स्पष्ट करते हुए उन्होंने बतलाया है—इस समय जो वेदवाक्य सुने जाते हैं उनके सजातीय (आदि) वेदवाक्य स्वतन्त्र पुरुष की कृति हैं, यही वेदवाक्यों की

---

१. तस्मात् तत्त्वज्ञानमेव निःश्रेयससाधनम्। वही, पृ० ६।
२. उपपत्तिविरुद्धश्च ज्ञानकर्मसमुच्चयः। वही, पृ० ६।
३. न केवलं लौकिको वाक्यसमुदायः, श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तुः प्रामाण्यमपेक्ष्य प्रत्यायकः। किरणावली (एशियाटिक सोसायटी, १-पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता-१६. १९५६), पृ० ५७८; किरणावली, बड़ौदा, पृ० २१०।
४. वही, पृ० ५७८ (२१०)।
५. वैशेषिकसूत्र, १०.२.९ (द्र०, किरणावली, बड़ौदा, पृ० २१०)। संभवतः, संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् (२.१.१८) की ओर संकेत है।
६. किरणावली, पृ० ५७८ (२११)।
७. आप्तोक्ता वेदाः महाजनपरिगृहीतत्वात् यत्पुनरनाप्तोक्तं न तत् महाजनपरिगृहीतं यथा रथ्यापुरुषवाक्यम्। वही, पृ० ५७८ (२११)।

आप्तोक्तता है। उदयनाचार्य के इस कथन का क्या अभिप्राय है? यह अन्यत्र विवेचन किया जायेगा। उनके अनुसार महाजनपरिगृहीत शब्द का अभिप्राय यह है कि सभी सम्प्रदायों के अनुयायी जन वेदोक्त विधियों का किसी न किसी अंश में अनुष्ठान करते हैं।[१] न्यायकुसुमाञ्जलि में बतलाया गया है कि कोई दृष्ट हेतु न होते हुए भी वेदार्थ का ग्रहण, धारण और तदनुकूल अनुष्ठान करना[२] ही महाजनपरिग्रह है। इस कथन का तात्पर्य वाचस्पति मिश्र-कृत तात्पर्यटीका के विवेचन से अधिक स्पष्ट हो जाता है। वाचस्पति मिश्र बतलाते हैं कि जो बौद्ध आदि के आगमों को प्रमाण मानते हैं वे भी श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि से निरपेक्ष होकर अपने आगमों के आधार पर लोकयात्रा का निर्वाह नहीं कर पाते; अपितु यह (वैदिक विधान) अविद्या-कल्पित (सांवृतम्) है, ऐसा कहते हुए भी लोकयात्रा में श्रुति आदि का ही अनुसरण करते दृष्टिगोचर होते हैं।[३] इससे यह स्पष्ट है कि अन्य सम्प्रदायों के अनुयायियों द्वारा भी वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान किया जाता रहा है और वेदोक्त विधान अधिकांश जनता द्वारा स्वीकार किये गये हैं। यदि वेद आप्तपुरुष का उपदेश न होता तो इतनी अधिक संख्या में बुद्धिमान् जन इसका अनुसरण क्यों करते? राह चलते व्यक्ति की बात को तो यों ही मान नहीं लिया जाता।

उदयनाचार्य ने वेद-प्रामाण्य का प्रतिपादन करते हुए पूर्वपक्षी के आक्षेपों का इस प्रकार निराकरण किया है :—जब वेद की प्रामाणिकता सिद्ध है तो जो कहीं वेदविहित अनुष्ठान को निष्फल देखा जाता है वह तो कर्म, कर्त्ता और साधन के दोष के निमित्त से हो जाता है, यदि वहाँ कर्म, कर्त्ता और साधन की पूर्णता होती है तो यथोक्त फल प्राप्त होता ही है अतः इससे वेद के प्रामाण्य में दोष नहीं आता।[४]

उन्होंने इस सन्दर्भ में अनेक युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया है कि वेद ईश्वर-प्रणीत हैं, वे आप्त-प्रणीत होने से प्रमाण हैं, नित्य होने से नहीं।[५] मीमांसक के समान नित्यनिर्दोष होने से वेद को स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्यों? ज्ञान में प्रमात्व (प्रामाण्य) स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता।[६]

---

१. वही, पृ० ५७८ (२११)।
२. न्यायकुसुमाञ्जलि, का० २.३, पृ० ३०२।
३. तात्पर्यटीका, २.१. ६८, पृ० ४३२।
४. तु०, किरणावली, पृ० ५७८-५७९ (२११)।
५. वही, पृ० ५७९-५८० (२११-२१२)।
६. द्र०, वही, पृ० ५८०-५८१ (२१२)।

जिस प्रकार (मीमांसक के मत में भी) दोषों के कारण ही ज्ञान में मिथ्यात्व उत्पन्न होता है उसी प्रकार ज्ञान में प्रमात्व भी गुणों के कारण ही उत्पन्न हो सकता है। यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं कि ज्ञान में दोषाभाव के कारण प्रामाण्य उत्पन्न हो जाता है। कारण? विशेष को न देखना (विशेषादर्शन) आदि भी संशय रूप अज्ञान का हेतु है, यह सभी मानते हैं। तब तो विशेषादर्शन के अभाव को अवश्य ही यथार्थ ज्ञान का हेतु मानना होगा। और, जो विशेषादर्शन का अभाव होगा वह भाव रूप ही होगा, अभाव नहीं। इसलिये मीमांसक जैसे दोषाभाव को प्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण मानता है उसी प्रकार वक्ता के गुणों को भी प्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण मानना चाहिये।[1] फलतः वेदों को आप्तोक्त माना जायेगा तभी उनमें प्रामाण्य माना जा सकेगा।[2]

१०. न्याय-वैशेषिक के स्वतन्त्र ग्रन्थ और वेदप्रामाण्य

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में एकादश शताब्दी के पश्चात् स्वतन्त्र ग्रन्थ-लेखन की परम्परा विशेषरूप से प्रचलित हो गई थी। उस समय कई प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये। कुछ में न्याय-वैशेषिक के सभी मन्तव्यों का विस्तार से या संक्षेप से विवेचन किया गया, जैसे न्यायसार, तत्त्वचिन्तामणि, तर्कभाषा, न्याय-मुक्तावली इत्यादि; अन्यों में किसी एक मन्तव्य का ही विशद विवेचन किया गया, जैसे आत्मतत्त्वविवेक, न्यायकुसुमाञ्जलि इत्यादि इस प्रकार के ग्रन्थों में भी वेद-प्रामाण्य के विषय में कुछ विचार उपलब्ध होते हैं जिनसे विदित होता है कि उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक में वेद-प्रामाण्य की किस प्रकार चर्चा होती रही है। स्वतन्त्र ग्रन्थों के काल का निर्धारण या क्रम का निर्णय करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। सामान्य रूप से प्रचलित धारणा के आधार पर ही उनका निरूपण किया जा रहा है।

(क) भासर्वज्ञ का न्यायसार—

सम्भवतः भासर्वज्ञ के न्यायसार को इस परम्परा का प्रथम ग्रन्थ कहा जा सकता है। न्यायसार में शब्द-प्रमाण को आगम के नाम से कहा गया है।

---

१. प्रामाण्यं प्रति यथा दोषाभावस्य तथा वक्तृगुणस्यापि कारणत्वम्।
किरणावली, पृ० ५८१ (२१२)।

२. द्र०, वही, पृ० ५८०-५८१ (२१२)।

संकेतग्रह के आधार पर यथार्थ परोक्ष अनुभव का साधन आगम कहलाता है।[1] संकेत का अर्थ है—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानने वाला व्यक्ति जो शब्द से परोक्ष पदार्थ का यथार्थ ज्ञान कर लेता है, यही आगम प्रमाण का विषय है। न्यायसार की टीकाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि आगम का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।[2]

आगम प्रमाण दो प्रकार का है एक दृष्टार्थक दूसरा अदृष्टार्थक। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वेदवाक्य दोनों प्रकार के हैं। उनमें से कुछ वाक्यों द्वारा ऐसे कार्यों का विधान किया जाता है जिनका फल इसी लोक में प्राप्त हो जाता है। ऐसे वाक्यों की प्रामाणिकता का निश्चय सफल प्रवृत्ति कराने के कारण ही कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ, वेद का वचन है—'पुत्रकामो यजेत'। इसके अनुसार अनुष्ठान करने से वैसा ही फल प्राप्त हो जाता है जिससे यह निश्चय हो जाता है कि यह वाक्य प्रमाण है। इसी प्रकार अन्य दृष्टार्थक वेदवाक्यों की भी सफल प्रवृत्ति कराने के कारण प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।[3] इस प्रकार इन सब की प्रामाणिकता का निश्चय अनुमान द्वारा होता है। और, इन वाक्यों की प्रामाणिकता को देखकर यह भी निश्चय कर लिया जाता है कि इनका प्रणेता अतीन्द्रिय अर्थ का द्रष्टा है अतः वह परम आप्त है।[4] वस्तुतः जो राग आदि दोषों से रहित होकर यथार्थ का उपदेश करता है वह आप्त कहलाता है। यह आप्त दो प्रकार का होता है—अपर और पर। अपर तो आर्य, म्लेच्छ आदि सामान्य जन होते हैं, वे अतीन्द्रिय अर्थ के द्रष्टा नहीं हो सकते। जो पर आप्त है—परम आप्त है वही अतीन्द्रिय अर्थ का द्रष्टा हो सकता है। अतीन्द्रिय अर्थ का द्रष्टा होने से यह निश्चय कर लिया जाता है कि वेद का प्रणेता परम आप्त है।[5] फलतः उसके द्वारा प्रणीत वाक्यों में अप्रामाण्य का कोई कारण विद्यमान नहीं है और वे वाक्य प्रमाण हैं, यह अनुमान से निश्चय किया जाता है।[6]

यहाँ भी आप्तवचन होने से ही वेदवाक्यों की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है; किन्तु एक भेद अवश्य है। वह यह कि न्याय-परम्परा के अनुसार वक्ता के गुणों के

---

१. समयबलेन सम्यक् परोक्षानुभवसाधनमागमः। न्यायसार (गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल मेनुस्क्रिप्ट लायब्रेरी, मद्रास, १९६१), तृतीय परिच्छेद, पृ० १।

२. अपरार्कदेव, न्यायमुक्तावली, न्यायसार, तृतीयपरिच्छेद, पृ० १-६।

३. तत्र दृष्टार्थानां वाक्यानां प्रायेण प्रवृत्तिसामर्थ्यात् प्रामाण्यं गम्यते। वही, परि० ३, पृ० ७।

४. पुत्रकामो यजेत इत्यादि वाक्यानां प्रवृत्तिसामर्थ्यात् प्रामाण्यमनुमाय तत्प्रणेतुरतीन्द्रियार्थदर्शित्वेन परमाप्तत्वमवधार्य। वही, परि० ३, पृ० ७।

५. द्र०, अपरार्कदेव, न्यायमुक्तावली, न्यायसार, परि० ३, पृ० ८।

६. तत्प्रणीतानां सर्ववाक्यानामप्रामाण्यकारणाभावात् प्रामाण्यमनुमीयते। न्यायसार, परि० ३, पृ० ७।

कारण शब्द के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है, अप्रामाण्य का कारण न होने से नहीं। यह तो मीमांसा सम्प्रदाय का मत है कि किसी ज्ञान में कारणदोष और बाध का ज्ञान न होने से वह प्रमाण हो जाता है। अतः अप्रामाण्य का कारण न होने से वेद के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है, इस कथन में भासर्वज्ञ का निजी मत प्रतीत होता है जिसका यत्किञ्चिद् अंश में मीमांसा के मत से समन्वय किया जा सकता है। फिर भी भासर्वज्ञ आप्तोक्त होने से ही वेद को प्रमाण मानते हैं। वे इस मत का बलपूर्वक निराकरण करते हैं कि वेद नित्य है और नित्य होने से ही प्रमाण है।[1]

(ख) उदयनाचार्य की न्यायकुसुमाञ्जलि

उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि के द्वितीय स्तवक में विस्तारपूर्वक यह सिद्ध किया है कि वेदों का कर्त्ता ही ईश्वर है। इस सन्दर्भ में वे बतलाते हैं कि ज्ञान का प्रामाण्य गुणों के कारण होता है, प्रामाण्य का निश्चय स्वतः नहीं, अपितु अन्य साधन द्वारा किया जाता है।[2] उन्होंने शब्द की अनित्यता और वेद की पौरुषेयता सिद्ध करते हुए[3] 'महाजनपरिग्रहात्' (महाजनों द्वारा गृहीत होने के कारण), यह वेद के प्रामाण्य-ज्ञान में हेतु दिया है।[4]

महाजनपरिग्रह शब्द का क्या अर्थ है? और इसके द्वारा वेदों का प्रामाण्य कैसे सिद्ध होता है? इसका उदयनाचार्य ने कुछ विस्तार से विवेचन किया है। महाजनपरिग्रह का अर्थ है—कोई दृष्ट हेतु न देखते हुए भी अधिकांश जनों द्वारा वेदार्थ का ग्रहण, धारण और तदनुकूल आचरण किया जाना।[5] विना किसी निमित्त के तो अनेक बुद्धिमान् जन किसी अर्थ का ग्रहण, धारण और अनुष्ठान करते नहीं। इससे सिद्ध होता है कि वेद-प्रतिपादित अर्थ अवश्य ही प्रामाणिक है।

प्रामाण्य के अतिरिक्त महाजनपरिग्रह का अन्य कोई निमित्त नहीं हो सकता। क्यों? किसी शास्त्र के उपदेश को ग्रहण करने में जो अनेक आलस्य आदि निमित्त देखे जाते हैं, वे यहाँ सम्भव नहीं हैं। वेदप्रतिपादित अर्थ का आलस्य के कारण ग्रहण नहीं किया जा सकता; क्योंकि इसमें अधिकांश कर्म कष्टसाध्य हैं। यह भी

१. न नित्यत्वेन, वाक्यानां हि नित्यत्वे प्रमाणाभावात्। वही, परि० ३, पृ० १३।
२. एवं प्रामाण्यं परतो ज्ञायते। न्यायकुसुमाञ्जलि (द्वितीयावृत्ति, चौखम्बा बनारस, १९५७), पृ० २२०......।
३. द्र०, वही, पृ० २८०।
४. (क) महाजनपरिग्रहाद् वेदस्य प्रामाण्यमित्युक्तम्। बोधिनी टीका, वही, पृ० ३०२।
(ख) महाजनपरिग्रहाद् वेदस्य प्रामाण्यधीः। प्रकाश टीका, वही, पृ० ३०२।
५. न्यायकुसुमाञ्जलि, का० २.३, पृ० ३०२।

नहीं माना जा सकता कि अन्य प्रामाणिक कर्मों में जिनका अधिकार नहीं है वे अन्य गति न होने से वेदमत में प्रविष्ट हो जाते हैं; क्योंकि अन्यधर्मावलम्बियों के तो पूज्य जनों का भी इसमें प्रवेश दुर्लभ है, उनके द्वारा बहिष्कृत जनों की तो बात ही क्या है ? भक्ष्य और पेय आदि का कोई नियम न होने से इसका लोग ग्रहण कर लेते हैं, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि वेदमत में तो भक्ष्य तथा अभक्ष्य आदि की पृथक्-पृथक् व्यवस्था की गई है । ऐसा भी नहीं है कि कुतर्क के अभ्यासी जन अपने कुतर्कों से अप्रामाणिक वेद को भी प्रमाण मान लेते हैं और वेदप्रतिपादित कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि यदि ऐसा होता तो जो कुतर्क के अभ्यासी नहीं हैं वे सरलमति जन वेदप्रतिपादित कर्मों का ग्रहण न करते । वञ्चकों के पाखण्ड के प्रभाव से इनका ग्रहण किया जाता है, यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि पिता, पितामह आदि की परम्परा से इनका ग्रहण किया जाता रहा है; और सभी तो वञ्चकों के पाखण्ड से प्रभावित नहीं हो सकते । यह भी संभावना नहीं है कि वैदिक कर्मकलाप के अनुष्ठान में योगाभ्यास की मिथ्या धारणा करने वाला व्यक्ति अपनी शान्त अवस्था दिखलाने के लिये वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करता है; क्योंकि कर्मकाण्ड में तत्पर व्यक्ति तो अधिक कार्य-रत हुआ करता है, पहिले तो व्यक्ति को पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण और देव-ऋण से उऋण होने के लिये कर्मकाण्ड में तत्पर हो जाना पड़ता है, तदनन्तर मोक्ष की ओर प्रवृत्ति होती है ।[1] फिर वहाँ शान्त अवस्था कहाँ होती है ? जीविका चलाने के लिये भी वैदिक कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया जाता; क्योंकि जिन कर्मों का इस लोक में कोई फल नहीं देखा जाता उनमें भी बुद्धिमानों की प्रवृत्ति देखी जाती है । और, वञ्चकों की प्रवञ्चना भी महाजनों की वैदिक कर्मों में प्रवृत्ति का निमित्त नहीं है; क्योंकि वह प्रवञ्चना यहाँ हो नहीं सकती, यहाँ वञ्चना के उपायों का उपदेश नहीं है । इस प्रकार महाजनों द्वारा परिगृहीत होने से वेद प्रमाण है ।[2]

भाव यह है कि वेदों के परिग्रहण में आलस्य आदि निमित्तों का अभाव है, फिर भी अधिकांश बुद्धिमान् जन इनका ग्रहण करते हैं । इससे स्पष्ट है कि वे इनकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं, वेद यथार्थ के बोधक हैं; यह मानते हैं । इसके विपरीत जिन आगमों का आलस्य आदि के निमित्त से कुछ लोग ग्रहण करते हैं, उन्हें महाजन-परिगृहीत नहीं कहा जा सकता । उदाहरणार्थ, बौद्ध आदि के आगमों को देखिये । उनके अनुसार बहुत कम कर्मों का अनुष्ठान करना होता है,

१. द्र०, कर्मकाण्डे ह्ययं प्राथमिकः प्रवर्तते न तु ब्रह्मकाण्डे । ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् इति वचनात् । तत्र चास्यानेकधाऽनुष्ठानव्यग्रत्वात् । बोधिनी, न्यायकुसुमाञ्जलि, पृ० ३०२ ।

२. न्यायकुसुमाञ्जलि, पृ० ३०२-३०३ ।

यह सोचकर आलसी जन उन्हें स्वीकार करते हैं। वैदिक मत से पतित जनों का भी वहाँ प्रवेश हो जाता है, यह समझ कर अगतिक जन; भक्ष्य आदि का नियम नहीं, यह जानकर रागी जन; स्वेच्छा से ग्रहण किया जा सकता है, इस विचार से कुतर्क के अभ्यासी; पिता आदि की परम्परा से प्राप्त न होने के कारण पाखण्डियों से प्रभावित जन उनका परिग्रहण कर लिया करते हैं।[1] इसी प्रकार सम्यक् जीविकोपार्जन में असमर्थ जन जीविका के लिये तथा वञ्चक जन वञ्चना के लिये भी बौद्ध आदि के आगमों का ग्रहण कर लिया करते हैं।[2] न्यायकुसुमाञ्जलि में अन्यत्र आप्तोक्त होने से वेद की यथार्थबोधकता सिद्ध की गई है।[3] पञ्चम स्तवक में ईश्वर की सिद्धि के सन्दर्भ में वेद ईश्वरप्रणीत हैं,[4] सर्वज्ञ प्रणीत हैं, यह सिद्ध किया गया है। किञ्च, वहाँ फिर से यह भी बतलाया गया है कि वेद स्वतः प्रमाण नहीं और यह भी नहीं कि वह प्रमाण ही नहीं है; क्योंकि महाजनपरिगृहीत होने से वह प्रमाण है ही।[5] इस सन्दर्भ में उदयनाचार्य ने यह भी दिखलाया है कि वेद किसे कहते हैं।[6]

अभिप्राय यह है कि जनसाधारण का प्रत्यक्ष आदि ज्ञान वेद का मूल नहीं हो सकता। न ही परम्परा ही उसका मूल है, अर्थात् वह अनादि नहीं; क्योंकि महाप्रलय में परम्परा नष्ट हो जाती है। मनु आदि के वचन भी महाजनों द्वारा परिगृहीत तो हैं; किन्तु उनका मूल तो वेद को ही माना जाता है, अतः उनमें वेद का लक्षण घटित नहीं होता। महाजनपरिगृहीत वाक्य वेद हैं, यह कहने से सिद्ध हो जाता है कि उनमें भ्रान्ति तथा विप्रलिप्सा का भाव नहीं है।

इस प्रकार वेदवाक्यों का लौकिक वाक्यों से तथा मनु आदि के वाक्यों से व्यावृत्त स्वरूप है। वे ईश्वर-प्रणीत हैं; अतः आप्तोक्त होने से वेद-प्रामाण्य सिद्ध होता है। महाजनपरिग्रह के द्वारा वेद प्रमाण्य का ज्ञान होता हैं।

(ग) गङ्गेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि

तत्त्वचिन्तमणि[7] में प्रामाण्यवाद का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। ज्ञप्ति में स्वतस्त्व अथवा प्रामाण्य के स्वतो ग्राह्यत्व का निराकरण किया गया है।

---

१. द्र०, बोधिनी, न्यायकुसुमाञ्जलि, पृ० ३०३।
२. न्यायकुसुमाञ्जलि, पृ० ३०३।
३. न्यायकुसुमाञ्जलि, (क) पृ० ४०२, ४०३।
   (ख) न प्रमाणमनाप्तोक्तिः। वही, का० ३.१६, पृ० ४१५।
४. वही, का० ५.५, पृ० ५११।
५. वही, पृ० ५०६।
६. द्र०, वही, पृ० ५१०।
७. गङ्गेशोपाध्याय, तत्त्वचिन्तामणि (मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५७)।

उससे स्पष्ट है कि प्रमा गुणों द्वारा उत्पन्न होती है। अतः वेद में जो प्रमा=यथार्थबोधकता=प्रामाण्य है वह वाक्यार्थ के यथार्थज्ञान रूपी गुण से उत्पन्न होती है। वेद का जो कर्त्ता है वह वेदवाक्यों के अर्थ का यथार्थ-द्रष्टा है, वही ईश्वर है।[1] इस प्रकार वेद का प्रामाण्य आप्तोक्त होने से ही है, यह अभिप्राय है।

इस पर शङ्का यह है :—प्रत्यक्ष आदि में प्रमा गुण-जन्य होती है, यह मान भी लें तो भी वेद में भ्रम आदि का अभाव ही प्रमा का हेतु है; क्योंकि लोक में भी भ्रम आदि का अभाव होने पर प्रमा उत्पन्न हो जाती है।[2]

इस शङ्का का समाधान करते हुए मणिकार कहते हैं—यह शङ्का ठीक नहीं। वहाँ तो वाक्यार्थ के यथार्थ ज्ञान को हेतु मानने में ही लाघव है। इसलिये भ्रम आदि का अभाव वहाँ अन्यथासिद्ध है, वह हेतु नहीं। और, यदि आप्त में भ्रम आदि का अभाव हो; किन्तु उसे वाक्यार्थज्ञान न हो तो इस प्रकार के (यथार्थ-बोधक) वाक्यों की रचना नहीं हो सकती। अन्यथा तुम्हारे मत में भी वाक्य के द्वारा वक्ता के ज्ञान का अनुमान न किया जा सकेगा; क्योंकि वक्ता का ज्ञान वाक्य-रचना में हेतु ही न होगा।[3]

गङ्गेशोपाध्याय आगे बतलाते हैं—दोषाभाव को प्रमा का हेतु मानें या गुणों को? इनमें से एक पक्ष की साधिका युक्ति (विनिगमक) न होने से दोनों को ही प्रमा का हेतु मान लिया जाये तो भी वेद में प्रमा के हेतु-रूप में गुणों की सिद्धि हो ही जाती है।[4]

फिर भी मीमांसक की ओर से यह शङ्का होती है :—यह प्रसिद्ध है कि वेद नित्य है तथा निर्दोष है इससे ही वेद में प्रामाण्य भी सिद्ध हो जाता है; फिर कहीं न देखे गये (वेद के कर्त्ता के रूप में) सर्वज्ञ की कल्पना और उसके नित्यज्ञान की कल्पना करने में गौरव है।[5]

इसका समाधान करते हुए कहा गया है—ऐसा न कहिये। जो गौरव प्रमाण से सिद्ध होता है और किसी फल के लिये होता है. उसे दोष नहीं माना जाता; जैसा कि स्वर्ग आदि के विषय में है। और, जब हम कारणता

---

१. एवं प्रमाया गुणजन्यत्वेन वेदेऽपि प्रमा वाक्यार्थयथार्थज्ञानगुणजन्येति तदाश्रयेश्वरसिद्धिः। वही, पृ० १९२।
२. वही, पृ० १९३।
३. वही, पृ० १९३।
४. अस्तु वोभयमपि हेतुः, विनिगमकाभावात्। तथापि वेदे गुणसिद्धिः। वही, पृ० १९३।
५. वही, पृ० १९३।

का निश्चय करते हैं; प्रमा गुणजन्या होती है, इस प्रकार के कार्य-कारण-सम्बन्ध का निर्धारण करते हैं उस समय फल उपस्थित नहीं होता, अतः गौरव का ज्ञान ही नहीं हो पाता। किञ्च, लोक में तो शब्द या वाक्य नित्य नहीं होते, वहाँ प्रमा को गुणजन्य ही मानना होगा।[1] इस प्रकार मीमांसक के मत में दो प्रकार के कार्यकारणभाव-सम्बन्ध की कल्पना करनी होगी और उलटा उसके मत में ही गौरव होगा।

यदि मीमांसक कहे कि वेद के कर्त्ता का स्मरण नहीं किया गया; अतः वेद में वक्ता के यथार्थ ज्ञान रूपी गुण से उत्पन्न प्रमा(=प्रामाण्य) नहीं हो सकती। इसी लिये लोक में भी प्रमा को गुणजन्य नहीं मानना चाहिये। वहाँ भी निर्दोष होना ही प्रमात्व का हेतु है। वेद में तो नित्य होने से उसका कोई वक्ता न होने के कारण उसके निर्दोष होने का निश्चय कर लिया जाता है। इस प्रकार दोषाभाव ही प्रमात्व का हेतु है।[2]

यह भी ठीक नहीं। वेद के कर्त्ता का स्मरण नहीं किया गया, इस कथन का नैयायिकों द्वारा निराकरण कर दिया गया है।[3] और, यदि दोषाभाव को प्रमा का निमित्त माना जायेगा तब तो दैववशात् किसी शुक या बालक द्वारा बोले गये 'चैत्यं वन्देत्' (चैत्य की वन्दना करे) इत्यादि वाक्य भी प्रमाण होने लगेंगे; क्योंकि उनमें वक्ता के दोषों का अवसर ही नहीं है। किञ्च, वे वाक्य वेद के समान स्वतः प्रमाण भी हो जायेंगे; क्योंकि किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते।[4]

यहाँ इस प्रकार की अन्य अनेक युक्तियों द्वारा भाट्ट मीमांसक के इस मत का निराकरण किया गया है कि वेद नित्यनिर्दोष होने से स्वतः प्रमाण हैं। इसी प्रकार प्रभाकर-मत[5] की समीक्षा करते हुए उसका भी निराकरण किया गया है। फलतः उत्पत्ति और ज्ञप्ति में प्रामाण्य परतः होता है। वेद का भी परतः प्रामाण्य है। वेद की प्रामाणिकता ईश्वरोक्त होने से है।

(घ) केशवमिश्र की तर्कभाषा

तर्कभाषा में न्याय-वैशेषिक के मन्तव्यों का सार निहित है। सहस्रों वर्षों से विविध-वादों में परिष्कृत होते हुए न्याय-वैशेषिक के मन्तव्य यहाँ उपलब्ध होते

१. द्र०, वही, पृ० १९३।
२. वही, पृ० १९३।
३. वही, पृ० १९३।
४. वही, पृ० १९३।
५. प्राभाकरास्तु प्रामाण्यं स्वत एव उत्पद्यते ज्ञायते चेति। वही, पृ० १९९।

हैं; किन्तु संक्षिप्त एवं स्पष्ट रूप में। तर्कभाषा में शब्द प्रमाण का लक्षण करते हुए बतलाया गया है—आप्त का वाक्य शब्द प्रमाण है, जैसा पदार्थ है वैसा (यथाभूत) ही उपदेश करने वाला पुरुष आप्त कहलाता है।[1] इस लक्षण में यह ध्यान देने योग्य है :—न्यायभाष्य तथा न्यायवार्त्तिक में आप्त की तीन विशेषताएं बतलाई गई थीं[2] और वाचस्पतिमिश्र ने उन्हीं की चार विशेषताओं के रूप में व्याख्या की थी।[3] किन्तु केशवमिश्र ने उन सभी का 'यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा'—यथाभूत अर्थ का उपदेष्टा, इस वचन में समावेश कर दिया है। वस्तुतः अर्थ के यथार्थ दर्शन, भूतदया, यथादृष्ट अर्थ को प्रकट करने की इच्छा और इन्द्रिय आदि साधनों की स्वस्थता के विना यथाभूत अर्थ का उपदेश करना सम्भव ही नहीं है। इसलिये तर्कभाषा के उक्त वचन में आप्त के समस्त लक्षण का समावेश हो जाता है। यह लक्षण अत्यन्त सुबोध है, गहन विश्लेषण की आवश्यकता नहीं रखता और भाष्य के अभिमत ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छ सभी के शब्दप्रमाण पर सहज ही घटित हो जाता है।

केशवमिश्र ने यह भी बतलाया है कि आप्तों द्वारा प्रयुक्त वाक्य ही प्रमाण होता है।[4] इससे यह विदित होता है कि आप्तोक्त होने से ही कोई वाक्य प्रमाण है, उसके प्रामाण्य का निश्चय आप्तोक्त होने के कारण होता है। वेद के प्रामाण्य का निरूपण करते हुए इस तथ्य का कुछ अधिक स्पष्ट उल्लेख किया गया है—वेद में तो सभी वाक्य परम आप्त परमेश्वर द्वारा रचित हैं अतः सभी प्रमाण हैं; क्योंकि सभी आप्तवाक्य हैं।[5] इस प्रकार आप्तोक्त होने से वेदों का प्रामाण्य=यथार्थबोधकता निश्चित की जाती है, यह भाव है। केशवमिश्र ने यहाँ न्याय-वैशेषिक परम्परा-सिद्ध मन्तव्य का सारांश मात्र ही दिखला दिया है।

(ङ) विश्वनाथन्यायपञ्चानन की न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

विश्वनाथ (१७वीं शती) की न्यायकारिकावली है जो भाषापरिच्छेद के नाम से भी जानी जाती है। इस पर लेखक की न्यायसिद्धान्तमुक्तावली नामक टीका है। यह ग्रन्थ न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण

---

१. आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः। केशवमिश्र, तर्कभाषा (साहित्य भण्डार मेरठ, तृतीय संस्करण, १९७३), पृ० १२२।
२. द्र०, न्यायभाष्य तथा न्यायवार्त्तिक, १. १. ७; २. १. ६६।
३. द्र०, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, १. १. ७; २. १. ६८।
४. तु०, तदिदं वाक्यम् आप्तपुरुषेण प्रयुक्तं सच्छब्दनामकं प्रमाणम्। तर्कभाषा, पृ० १३४।
५. वेदे तु परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतं सर्वमेव वाक्यं प्रमाणम्, सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात्। वही, पृ० १३४।

समझा जाता है और आज पठन-पाठन में विशेष प्रचलित है। इसमें वैशेषिक के क्रम का अनुसरण करके न्याय-वैशेषिक के मन्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है। यथावसर अन्य मतों की समीक्षा भी की गई है। साथ ही न्याय तथा वैशेषिक के मतों की भिन्नता का उल्लेख किया गया है और प्राचीन न्याय एवं नव्यन्याय के मत-भेदों की ओर भी संकेत कर दिया गया है। फलतः न्याय-वैशेषिक के परिष्कृत मत यहाँ उपलब्ध होते हैं; किन्तु संक्षेप में ही। वेदप्रामाण्य के विषय में भी यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त सा विवरण मिलता है।

जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, ज्ञानों की यथार्थता को ही प्रामाण्य कहा जाता है। इस सन्दर्भ में प्रामाण्य=प्रमात्व=ज्ञान का याथार्थ्य। विश्वनाथ ने कारिका में[1] प्रमा का लक्षण दिखलाकर मुक्तावली में उसे स्पष्ट किया है।[2] भाव यह है कि भ्रमभिन्न अर्थात् यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है उसे ही नव्यन्याय की परिष्कृत भाषा में कई प्रकार से प्रकट किया जाता है।[3] उसके विश्लेषण की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो यही ध्यातव्य है कि प्रमात्व=प्रामाण्य अर्थात् ज्ञानों की यथार्थता। न्यायमुक्तावली में मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्य विषयक मत का निराकरण किया गया है और न्याय-वैशेषिक के अभिमत परतः प्रामाण्य का समर्थन भी।[4] इस सन्दर्भ में विश्वनाथ ने बतलाया है: अप्रमा दोषों से उत्पन्न हुआ करती है और प्रमा गुणों से।[5] प्रत्यक्षप्रमा, अनुमिति प्रमा सभी गुणों से उत्पन्न होती हैं। शाब्दी प्रमा का निमित्त भी गुण होते हैं। शाब्दी प्रमा का निमित्त कौन गुण होता है? इसके उत्तर में विश्वनाथ ने कहा है-शाब्दबोध में योग्यता या तात्पर्य का यथार्थज्ञान ही गुण होता है।[6]

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि तात्पर्य ज्ञान को शाब्दी प्रमा में निमित्त माना जाये तो वेद में किस का तात्पर्य जाना जायेगा। मीमांसक आदि की दृष्टि में वेद तो अपौरुषेय हैं, उनका कर्ता कोई पुरुष नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर

---

१. भ्रमभिन्नं तु ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा। न्यायकारिकावली, का० १३४;
अथवा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम्। तत्प्रमा। वही, का० १३५।

२. तद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, का० १३४।

३. द्र०, टि० १,२ में न्यायमुक्तावली का लक्षण, और 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः', तर्कसंग्रह आदि का लक्षण।

४. द्र०, प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः। न्यायकारिकावली, का० १३६।

५. दोषोऽप्रमाया जनकः, प्रमायास्तु गुणो भवेत्। वही, का० १३१।

६. शाब्दबोधे योग्यतायास्तात्पर्यस्याथ वा प्रमा। गुणःस्यात्.........।
वही, का० १३४।

न्याय-वैशेषिक के आचार्यों ने वेद की अनित्यता और पौरुषेयता का प्रतिपादन करके दिया है।[१]

विश्वनाथ ने विस्तारपूर्वक यह दिखलाया है कि वाक्यार्थज्ञान अर्थात् शब्द से होने वाले ज्ञान (शाब्दबोध) में आसत्ति, योग्यता, आकाङ्क्षा तथा तात्पर्य, ये चारों कारण होते हैं।[२] जिस वाक्य में योग्यता और तात्पर्य का निश्चय हो जाता है उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान यथार्थ ज्ञान होता है—शाब्दी प्रमा होती है। किन्तु नव्य नैयायिकों का कथन है कि योग्यता के ज्ञान को शाब्दबोध का कारण मानने की आवश्यकता नहीं है।[३] परिणामतः तात्पर्य का ज्ञान शाब्द-बोध की यथार्थता का निश्चायक होता है, यह न्याय का सर्वसम्मत सिद्धान्त है। तात्पर्य का अर्थ है– वक्ता की इच्छा, विश्वनाथ ने कहा है—वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहा गया है।[४]

अब, मीमांसक तथा नैयायिक आदि सभी वेदानुयायी दार्शनिक वेद-ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। इन सभी के मत में वेद-बोधित ज्ञान शाब्दी प्रमा है। और, न्यायमत के अनुसार शाब्दी प्रमा में तात्पर्य का यथार्थ ज्ञान निमित्त होता है। फिर वेदार्थ में किसका तात्पर्य होगा ? विश्वनाथ उत्तर देते हैं कि वेद में भी तात्पर्यज्ञान के लिये ईश्वर का अनुमान किया जाता है।[५] वेद का कोई कर्ता है, उसका तात्पर्य ही वेद-बोधित शाब्दी प्रमा में निमित्त हुआ करता है। इस पर पूर्वपक्षी की कुछ शङ्काएँ हैं, जिनका विश्वनाथ ने इस प्रकार समाधान किया है—

(शङ्का) वेदार्थ के बोध में अध्यापक के तात्पर्य-ज्ञान को कारण क्यों न मान लिया जाये ?

(समाधान) सृष्टि के आदि में अध्यापक नहीं होते; फिर वेद में अध्यापक के तात्पर्य-ज्ञान को कारण कैसे माना जा सकेगा ?

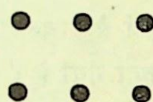
(शङ्का) प्रलय ही नहीं होती, फिर सृष्टि का आदि कहाँ ?

(समाधान) प्रलय का शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है अतः प्रलय तथा सृष्टि होती है, यह मानना होगा।[६]

---

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, का० ८२-८४।
२. वही, का० ८२-८४।
३. नव्यास्तु योग्यताया ज्ञानं न शाब्दज्ञाने कारणम्। वही, का० ८३।
४. वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्। न्यायकारिकावली, का० ८४।
५. वेदस्थलेऽपि तात्पर्यज्ञानार्थमीश्वरः कल्प्यते। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, का० ८४।
६. द्र०, वही, का० ८४।

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक में वेद की अपौरुषेयता का निराकरण करके उसे पौरुषेय माना गया है। यहाँ पौरुषेय का अर्थ है पुरुष-विशेष जो ईश्वर है उसके द्वारा प्रणीत। इसी लिये इस शङ्का का भी अवकाश नहीं है कि पुरुषों में तो भ्रम आदि दोष होते हैं अतः वेद को पौरुषेय मानने पर उसमें भी भ्रम आदि की संभावना होगी और (वह भी अप्रमाण होने लगेगा)। ईश्वर तो नित्य सर्वज्ञ है उसमें भ्रम आदि दोषों की संभावना ही नहीं है।[1] न्याय-वैशेषिक के मत में नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा प्रणीत होने से वेद प्रमाण है। वेद का प्रामाण्य कर्त्ता के गुण के द्वारा निष्पन्न होता है; वह गुणों द्वारा उत्पन्न होता है और अनुमान द्वारा जाना जाता है।



१. न च पौरुषेयत्वे भ्रमादिसंभवाद् अप्रामाण्यं स्यादिति वाच्यम् नित्यसर्वज्ञत्वेन निर्दोषत्वात्। वही, का० १५०।

परिच्छेद ७

सांख्य-योग तथा वेद-प्रामाण्य

१. सांख्य-योग का सामान्य परिचय

सांख्य दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। इसके प्रवर्त्तक कपिल मुनि माने जाते हैं। सांख्य-परम्परा के विकास में अन्य अनेक आचार्यों ने भी योगदान किया है, जिनमें से कुछ आचार्यों का महाभारत में उल्लेख मिलता है।[1] कुछ आचार्यों का सांख्य-योग के उपलब्ध ग्रन्थों में भी निर्देश किया गया है, जैसे :—आसुरि, पञ्चशिख, जैगीषव्य, वार्षगण्य, विन्ध्यवासी आदि। कुछ सन्दर्भों से ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य में प्राचीन काल से ही दो सम्प्रदाय प्रचलित हो गये थे। एक कपिल का और दूसरा वार्षगण्य का। वार्षगण्य के नाम से आज कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु वार्षगण्य तथा विन्ध्यवासी के नाम से अनेक मन्तव्य विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत किये गये हैं। विन्ध्यवासी को भी वार्षगण्य की परम्परा का आचार्य माना जाता है।[2] वर्तमान काल में जो सांख्य-योग के ग्रन्थ विद्यमान हैं, उनके आधार पर वेद-प्रामाण्य का विचार करना ही यहाँ अभिप्रेत है।

(क) **सांख्यसम्प्रदाय** :—इसमें आज दो परम्पराएं प्रचलित हैं, एक सांख्यसूत्र और उसकी व्याख्याओं की परम्परा, दूसरी सांख्यकारिका तथा उसकी टीकाओं की। जो सांख्यसूत्र आज उपलब्ध हैं वे कपिलकृत ही हैं, इस विषय में विद्वानों का मत-भेद है। कुछ विद्वान् उन्हें कपिल की रचना मानते हैं, अन्य विद्वान् उन्हें उत्तरकाल की रचना बतलाते हैं। सांख्य सूत्रों पर कोई प्राचीन भाष्य आज उपलब्ध नहीं है। उन सूत्रों पर उपलब्ध व्याख्याओं में सबसे प्राचीन अनिरुद्धवृत्ति है, जिसका समय ११ वीं शती ई० माना जाता है। दूसरी व्याख्या महादेववेदान्तिकृत सांख्यवृत्ति है। यह व्याख्या अनिरुद्धवृत्ति के आधार पर लिखी गई है, इसीलिये इसका नाम वृत्तिसार या सांख्यवृत्तिसार है। महादेव वेदान्ती का समय १३ वीं शती ई० माना गया है।[3] तीसरी व्याख्या विज्ञानभिक्षु का

---

१. द्र०, पं० उदयवीर शास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास, अष्टम प्रकरण (अन्य प्राचीन सांख्याचार्य)।

२. द्र०, वही, पृ० ४३३।

३. द्र०, वही, पृ० ३१६।

सांख्यप्रवचन भाष्य है जो लगभग १४वीं शती की रचना है।[१] विज्ञानभिक्षु एक समन्वय दृष्टि वाले विद्वान् थे। उन्होंने सांख्य के सिद्धान्तों की समन्वयात्मक व्याख्या की है। इनके अतिरिक्त सांख्यसूत्रों पर नागेशभट्टकृत लघुसांख्यसारवृत्ति भी है।[२] सांख्यसूत्र तथा उसकी व्याख्याओं में वेद-प्रामाण्य पर संक्षेप में विचार किया गया है जिसका विश्लेषण आगे किया जायेगा।

सांख्य में आज सांख्यकारिका की परम्परा पठन-पाठन में अधिक प्रचलित है। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका सांख्य का विशेष प्रामाणिक ग्रन्थ समझा जाता है। अन्य ग्रन्थों के समान ही इसका समय भी विद्वानों के विवाद का विषय ही है। इसकी अनेक व्याख्याएं उपलब्ध हैं, जैसे माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका, गौडपाद-भाष्य, जयमङ्गला, सांख्यतत्त्वकौमुदी और सांख्यचन्द्रिका आदि। किन्हीं विद्वानों के अनुसार इनमें माठरवृत्ति सबसे प्राचीन है।[३] युक्तिदीपिका एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विशद व्याख्या है, जिसमें सांख्य के विविध मन्तव्यों तथा सांख्य के विकास के इतिहास के विषय में भी प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। गौडपाद-भाष्य एक सरल, सुबोध व्याख्या है। वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी आज विशेष प्रचलित है और वाचस्पति मिश्र द्वारा व्याख्यात सिद्धान्त ही प्रायः सांख्य-सिद्धान्त समझे जाते हैं।

जहाँ तक वेद-प्रामाण्य का प्रश्न है, सांख्यकारिका में 'आप्तवचन' को प्रमाणों में गिना गया है; किन्तु वेद-प्रामाण्य का उल्लेख भी नहीं किया गया। कारिका की व्याख्याओं में भी इस विषय की स्वल्प चर्चा ही की गई है, जिसका आगे निरूपण किया जायेगा।

(ख) **योग सम्प्रदाय** :—भारतीय साधना-मार्ग में प्राचीनकाल से योग का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। योग का प्रथम उपदेष्टा हिरण्यगर्भ को माना जाता है।[४] आज षड्दर्शन में जो योगशास्त्र गिना जाता है वह पतञ्जलिकृत योगसूत्र है। कुछ विद्वानों का मत है कि योगसूत्रों पर विज्ञानवादी बौद्धमत का प्रभाव

---

१. वही, पृ० ३१६।

२. द्र०, रामशङ्करभट्टाचार्य, सांख्यसूत्र अनिरुद्धवृत्ति (प्राच्यभारतीय प्रकाशन, कमच्छा, वाराणसी, १९६४), निवेदन, पृ० १।

३. द्र०, सांख्यदर्शन का इतिहास पृ० ४७३; कुछ समय पूर्व प्रकाशित सांख्य सप्ततिवृत्ति-१ (गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद-९, १९७३) की सम्पादिका ने प्रतिपादित किया है कि सांख्य-सप्तति (१) माठरवृत्ति से भी प्राचीन है। [द्र०, ईसथर ए० सोलमन, दी कमेण्टरीज आफ दी सांख्य-कारिका-ए, स्टडी (गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद, १९७३), पृ० ९२।]

४. हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। वाचस्पति मिश्र, तत्त्व-वैशारदी, योगसूत्र, १.१।

दृष्टिगोचर होता है अतः योगसूत्र का समय विज्ञानवाद के उद्भव के पश्चात् ही होना चाहिये। दूसरे विद्वान् योगसूत्रों की प्राचीनता में विश्वास करते हैं। उनका कथन है कि वस्तुतः योगसूत्रों में विज्ञानवादी बौद्धमत का प्रभाव नहीं है, अपितु व्याख्याकारों ने उस प्रकार की व्याख्या कर दी है; अथवा यह भी संभव है कि कुछ सूत्र या सूत्रांश बाद में जोड़ दिये गये हों। कुछ भी हो, आज पातञ्जल योगदर्शन ही योगसम्प्रदाय का प्राण माना जाता है। योगसूत्र पर व्यास-भाष्य है जिसे योगसूत्र की प्राचीनतम प्रामाणिक व्याख्या माना गया है। व्यासभाष्य की दो प्रसिद्ध टीकाएँ हैं - एक वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी और दूसरी विज्ञानभिक्षुकृत योगवार्त्तिक। सन् १९५२ में पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यविवरण[1] नाम की एक योगभाष्य की व्याख्या भी प्रकाशित हुई है जिसे शङ्कराचार्य-प्रणीत माना गया है। यदि वस्तुतः यह अद्वैतवेदान्त के प्रतिष्ठापक शङ्कराचार्य की कृति है तो यही योगभाष्य की उपलब्ध प्राचीनतम टीका कही जा सकती है।

योगसूत्रों पर भी अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं; जैसे १. भोजदेवकृत राजमार्तण्ड, (भोजवृत्ति) २. विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावगणेश की योगसूत्र-दीपिका और, ३. नागोजिभट्टकृत वृत्ति (ये दोनों विज्ञानभिक्षु के मार्ग का अनुसरण करती हैं), ४. रामानन्दयतिकृत मणिप्रभा, ५, ६. नारायणतीर्थ विरचित योगसिद्धान्तचन्द्रिका तथा सूत्रार्थबोधिनी और ७. सदाशिव ब्रह्मेन्द्र-कृत योगसुधाकर।[2]

योगदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय योग=चित्तवृत्तिनिरोध या समाधि का विवेचन करना है। यहाँ वृत्तियों के प्रसङ्ग में प्रमाणवृत्ति का निरूपण किया गया है। उन प्रमाणों में आगम नामक प्रमाण भी एक है।[3] योगसूत्रों में वेद-प्रामाण्य की चर्चा नहीं की गई है, व्यासभाष्य में इसका संकेत अवश्य उपलब्ध होता है। हाँ, उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डाला है।

(ग) **सांख्य-योग के अन्य ग्रन्थ**--सांख्यसूत्र तथा सांख्यकारिका की व्याख्या-परम्परा के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी सांख्य विषय में उपलब्ध हैं। इनमें से एक प्राचीन रचना तत्त्वसमाससूत्र है, जिसे कपिल की रचना माना जाता है, जो कई व्याख्याओं सहित 'सांख्यसंग्रह' नाम से प्रकाशित हुआ है।[4] संग्रह के अन्त में चार स्वतन्त्र निबन्धों को भी संगृहीत किया गया है। सांख्य में

१. पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यविवरण (Government Oriental Manuscripts Library, Madras, 1952).
२. द्र०, पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यविवरण, प्रास्ताविकम् XXXIX।
३. प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमाः प्रमाणानि। योगसूत्र, १.१.७।
४. सांख्यसंग्रह (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-१, १९६९)।

एक उत्तरवर्त्ती सांख्यसार[1] नामक लघुग्रन्थ भी उल्लेखनीय है जो विज्ञानभिक्षु की कृति है और जिसमें विज्ञानभिक्षु के अभिमत सांख्य-मन्तव्यों की संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट व्याख्या है। इसी प्रकार विज्ञानभिक्षुकृत योगसार[2] नामक लघुग्रन्थ योग के विषय में भी है। इनके अतिरिक्त सांख्य-योग के मूल ग्रन्थों की व्याख्या के रूप में अथवा सांख्य-योग सम्प्रदाय के मन्तव्यों की व्याख्या के रूप में संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

सांख्य-योग सम्बन्धी साहित्य न्याय-वैशेषिक की तुलना में स्वल्प ही है। फिर भी सांख्य-योग का वेद के विषय में अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है, वेद-प्रामाण्य पर इसके ग्रन्थों में जो विचार किया गया है उसका आगे निरूपण किया जा रहा है।

२—सांख्यसूत्र तथा उसकी व्याख्याओं में वेद-प्रामाण्य

(क) सांख्यसूत्र :—सांख्यसूत्र में त्रिविध प्रमाण का उल्लेख करके[3] प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द तीनों के लक्षण दिखलाये गये हैं। शब्द का लक्षण है—आप्तोपदेशः शब्दः।[4] यह लक्षण न्यायसूत्र के शब्द-लक्षण के समान ही है। सूत्रकार की दृष्टि में इसका क्या अर्थ रहा होगा? यह कहना कठिन है। हाँ, व्याख्याकारों को इसकी क्या व्याख्या अभिमत है? यह अभी आगे विचार किया जायेगा।

सांख्यसूत्र के पञ्चम अध्याय में अन्य मतों का निराकरण करते हुए वेद की अपौरुषेयता[5] तथा अनित्यता[6] आदि पर विचार किया गया है। इसी प्रसङ्ग में वेद स्वतः प्रमाण है, यह भी बतलाया गया है—निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्।[7] इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि सांख्यसूत्रकार की दृष्टि में वेद स्वतः प्रमाण है। यह भी ऊपर दिखलाया जा चुका है कि सांख्यमत में ज्ञानों का

---

१. विज्ञानभिक्षु, सांख्यसार (क) सांख्यसूत्रम्, सटीकतत्त्वसमाससूत्र-सांख्यसार-समेतम्, (भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६)।
 (ख) सांख्यसार, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, सं० २०२२।
२. योगसार-संग्रह (An English Translation, Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1933).
३. तत् त्रिविधं प्रमाणम्। सांख्यसूत्र, १. ८७।
४. वही, १. १०१।
५. न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। वही, ५.४६।
६. न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः। वही, ५.४५।
७. वही, ५.५१।

स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। किन्तु यहाँ वेद के स्वतः प्रामाण्य में जो हेतु दिया गया है 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः' इसका सूत्रकार की दृष्टि में क्या तात्पर्य है ? यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी रीति से इसकी व्याख्या की है।

(ख) **अनिरुद्धवृत्ति :**—अनिरुद्ध ने 'आप्तोपदेशः शब्दः' इस सांख्यसूत्र की वृत्ति में बतलाया है :—आप्त का अर्थ है युक्त, इसका अर्थ यह नहीं है कि आप्त के द्वारा किया गया; क्योंकि वेद तो अपौरुषेय हैं।[1] वेद किस प्रकार अपौरुषेय हैं ? यह सांख्य के पञ्चम अध्याय में प्रतिपादित किया गया है। इस कथन से सिद्ध होता है कि युक्तियुक्त उपदेश का नाम शब्द प्रमाण है। जो भी युक्त उपदेश है—वचन या वाक्य है वह शब्द प्रमाण के भीतर आता है। यहाँ न्याय-वैशेषिक के समान यह नहीं माना गया है कि आप्तोक्त होने से ही शब्द प्रमाण होता है। अपौरुषेय जो वेदवाक्य हैं वे भी युक्त हैं, अतः वे भी प्रमाण हैं उनकी प्रामाणिकता वक्ता के गुणों के अधीन नहीं। इसी हेतु वेद में परतः प्रामाण्य नहीं है, अपितु स्वतः प्रामाण्य है।

जैसा कि प्रामाण्य-स्वरूप के विवेचन में कहा गया है, प्रामाण्य का स्वतस्त्व दो प्रकार का है—उत्पत्ति में स्वतस्त्व और ज्ञप्ति में स्वतस्त्व। उत्पत्ति में स्वतस्त्व का अर्थ है कि जिस कारण-सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से ज्ञान का प्रामाण्य उत्पन्न हो जाता है; प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए किसी गुण आदि की अपेक्षा नहीं होती। ज्ञप्ति में स्वतस्त्व का अभिप्राय है कि जिस साधन के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है उसके द्वारा ही ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण हो जाता है।

अनिरुद्ध ने ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य इस प्रकार दिखलाया है—ज्ञान का प्रामाण्य निजशक्ति अर्थात् ज्ञानजनक सामग्री मात्र के अधीन है, वह अपनी उत्पत्ति के लिये किसी विशेष गुण की अपेक्षा नहीं रखता। ज्ञप्ति के विषय में यह कहा जा सकता है कि ज्ञान के ग्राहक जो साधन हैं उनमें स्वभावतः ही उस ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय कराने की शक्ति भी है। उस शक्ति की अभिव्यक्ति होने से ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य होता है। किञ्च, ज्ञान होने के पश्चात् तुरन्त प्रवृत्ति देखी जाती है उससे भी ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता है। जहाँ कहीं शङ्का की निवृत्ति के लिये अथवा ज्ञान के प्रामाण्य के निश्चय के लिये कोई साधन खोजा जाता है, वहाँ भी वह कारणदोष के निवारण के लिये ही होता है, किसी

---

१. आप्तो युक्तः, न त्वाप्तेन कृतः, अपौरुषेयत्वाद् वेदस्य। अनिरुद्धवृत्ति, सांख्यसूत्र, १.१०१।

गुण के ज्ञान के लिये नहीं। इसलिये ज्ञानों का अप्रामाण्य परतः होता है; क्योंकि अप्रामाण्य में दोष भी निमित्त हुआ करते हैं।[1]

अनिरुद्ध ने सांख्यसूत्र[2] की इस व्याख्या में सामान्यरूप से ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध किया है, वेद-प्रामाण्य का उल्लेख नहीं किया। वे सूत्र की अवतरणिका में भी यही कहते हैं—'परतः प्रामाण्यं दूषयति' (सूत्रकार परतः प्रामाण्य का दोष दिखलाते हैं)। ऐसी अवस्था में अनिरुद्ध वृत्ति के अनुसार वेद स्वतः प्रमाण है, ऐसा मानने के दो ही आधार हो सकते हैं—एक तो यह कि सभी ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है, अतः वेद का प्रामाण्य भी स्वतः ही होगा। दूसरा यह कि यहाँ वेद का प्रकरण चल रहा है इसलिये यहाँ वेद के परतः प्रामाण्य का निराकरण करके उसके स्वतः प्रामाण्य का निरूपण किया गया है, यह स्वीकार करने की प्रवृत्ति होती है।

यहाँ एक बात और विचारणीय है, वह यह कि अनिरुद्ध की इस व्याख्या में ज्ञान के अप्रामाण्य को परतः कहा गया है।[3] किन्तु प्रामाण्य-विषयक उल्लेखों से यह विदित होता है कि सांख्य के मत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते हैं।[4] यह अग्रिम अनुसन्धान का विषय है।

अनिरुद्धवृत्ति में वेद-प्रामाण्य का दो अन्य स्थलों पर भी उल्लेख किया गया है। वहाँ यह बहुत स्पष्ट तो नहीं है कि इस विषय में अनिरुद्ध का अभिमत क्या है; फिर भी कुछ आकलन किया जा सकता है। एक सूत्र की अवतरणिका में वे कहते हैं[5]—वेद-प्रामाण्य का प्रतिपादन करने के लिये कहा गया है 'न यज्ञादेः इत्यादि'।[6] तदनुसार इस सूत्र का अर्थ है—यज्ञ आदि में काल, देश तथा पात्र की अपेक्षा से विशिष्टता हो जाती है। इस विशिष्टता के विना वे स्वरूप से धर्म नहीं होते। अन्यथा अशुद्ध काल में, म्लेच्छ देश में, महापातकियों के द्वारा अनुष्ठित

१. अनिरुद्धवृत्ति, सांख्यसूत्र, ५.५१।

२. निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। सांख्यसूत्र, ५.५१।

३. अत एवाप्रामाण्यं परतः, तत्र दोषस्यापि कारणत्वादिति। अनिरुद्धवृत्ति, सांख्यसूत्र, ५.५१।

४. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः। (क) सर्वदर्शनसंग्रह (भण्डारकर ऑरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९५१), जैमिनि-दर्शन, पृ० २७९; (ख) सर्वदर्शनसंग्रह (आनन्दाश्रम, पूना, १९७७), पृ० १०६; (ग) सर्वदर्शनसंग्रह (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४), पृ० ५५७।

५. अवतरणिका, सांख्यसूत्र, ५.४२। इस अवतरणिका का क्या स्वरूप है? इस विषय में मतभेद है, द्र०, वही, टिप्पणी ४, पृ० १०२।

६. न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात्। सांख्यसूत्र, ५.४२।

यज्ञ आदि भी धर्म का निमित्त हुआ करते; किन्तु ऐसा होता नहीं।[1] इस सूत्र की अवतरणिका तथा वृत्ति से यह विदित होता है कि यहाँ न्याय-परम्परा[2] के समान ही वेद की प्रामाणिकता में किये गये आक्षेपों का निराकरण किया गया है। अभिप्राय यह है कि यज्ञ आदि स्वरूप से धर्म नहीं होते; अपितु वे विशिष्टरूप में होकर ही धर्म होते हैं, यदि उचित देश, काल में योग्य कर्ता के द्वारा यथायोग्य रूप से यज्ञ आदि का अनुष्ठान किया जाता है तो वे धर्म कहलाते हैं, उस स्थिति में वे वेदोक्त फल के निमित्त भी हुआ करते हैं; अतः वेद-वाक्य प्रमाण ही हैं, किसी यज्ञ आदि को निष्फल देखकर वेदों की प्रामाणिकता में आक्षेप करना युक्तिसंगत नहीं।

दूसरे स्थल पर उपर्युक्त सूत्र से अग्रिम सूत्र की अवतरणिका में अनिरुद्ध कहते हैं 'अज्ञस्य फलदर्शनाद् वेदप्रामाण्यम्'। यहाँ प्रकरण आदि की दृष्टि से 'अज्ञस्य' के स्थान में 'यज्ञस्य' पाठ उचित प्रतीत होता है। इसका अर्थ होगा यज्ञ का फल देखने से वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है। यदि 'अज्ञस्य' पाठ ही स्वीकारा जाये तो भी कोई बाधा नहीं; क्योंकि वेदवाक्यों के अनुसार फल-प्राप्ति होने से वेद का प्रामाण्य है, यहाँ तो इस कथन से ही प्रयोजन है। अतः यह प्रतीत होता है कि इस कथन से वेद-वाक्यों की युक्तता दिखलाई गई है। इस प्रकार युक्त होने से वेद-वाक्य प्रमाण हैं, यह भाव है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनिरुद्ध ने वेद के अप्रामाण्य का निराकरण करके वेद-प्रामाण्य दिखलाया है, वेद-प्रामाण्य में हेतु है 'वेदोक्त ज्ञान का युक्त होना'। और, सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं अतः वेद-प्रतिपादित ज्ञान भी स्वतः प्रमाण है।

(ग) **सांख्यप्रवचनभाष्य**—विज्ञानभिक्षु ने 'आप्तोपदेशः शब्दः' इस सांख्य-सूत्र[3] के भाष्य में बतलाया है—यहाँ आप्ति का अर्थ है योग्यता, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, यह पञ्चम अध्याय में कहा जायेगा। योग्य शब्द, अर्थात् उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही शब्द नामक प्रमाण होता है, और इसका फल है पुरुष को होने वाला बोध।[4] इसके अनुसार अर्थ के अनुरूप जो शाब्द ज्ञान—शब्द द्वारा होने वाला ज्ञान—है, वह शब्द प्रमाण है। यहाँ न्याय आदि के समान शब्द का

---

१. अनिरुद्धवृत्ति, सांख्यसूत्र, ५.४२।
२. द्र०, तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्। न्यायसूत्र, २.१.५८, ५९।
३. सांख्यसूत्र, १.१०१।
४. सांख्यप्रवचनभाष्य, १.१०१।

आप्तोक्त होना (आप्तोक्तत्व) स्वीकार नहीं किया जाता। इसीलिये वेद जो अपौरुषेय हैं, किसी पुरुष की कृति नहीं अतः आप्तोक्त भी नहीं, वे भी योग्य होने से अर्थ के अनुरूप ज्ञान का प्रतिपादन करने के कारण प्रमाण हैं।

पञ्चम अध्याय में वेद की अपौरुषेयता एवं अनित्यता का निरूपण करके वेद का स्वतः प्रामाण्य इस प्रकार दिखलाया गया है—वेदों की जो अपनी स्वाभाविक यथार्थ-बोध कराने की शक्ति है, वह मन्त्र आयुर्वेद आदि में अभिव्यक्त होती है, अर्थात् वहाँ उपलब्ध होती है; इसलिये सभी वेदों का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।[1] ऐसा नहीं है कि वक्ता के यथार्थज्ञान के आधार पर वेदों का प्रामाण्य सिद्ध होता हो, जैसा कि न्यायसूत्र में कहा गया है मन्त्र तथा आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान उसका प्रामाण्य सिद्ध होता है।[2]

इस भाष्य से विदित होता है कि विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में वेद-प्रामाण्य-विषयक सांख्यमत यह है :

(i) वेद स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि उनमें यथार्थ-बोध कराने की स्वाभाविक शक्ति है। यथार्थ-बोध का साधन ही प्रमाण होता है। प्रामाण्य का अभिप्राय है— यथार्थ-बोधकता। वेदों में स्वभावतः यथार्थ-बोधन की शक्ति है, उस शक्ति का किसी हेतु के द्वारा आधान नहीं किया गया। इसलिये वेद स्वतः प्रमाण हैं।

(ii) वेदों में यथार्थ-बोधन की स्वाभाविक शक्ति है, यह कैसे जाना जाता है ? मन्त्र तथा आयुर्वेद में वह शक्ति उपलब्ध होती है। हम अनेक अनुभवों के आधार पर जानते हैं कि मन्त्र तथा आयुर्वेद के वचन यथार्थ होते हैं। मन्त्र तथा आयुर्वेद में जो यथार्थता उपलब्ध होती है उसका अन्य कोई निमित्त नहीं है, केवल यथार्थ-बोधन की स्वाभाविक शक्ति ही उसका निमित्त है। इसी अर्थबोधन की स्वाभाविक शक्ति के कारण समस्त वेद को यथार्थ-बोधक या प्रमाण समझ लिया जाता है। वेद का यह प्रामाण्य किसी अन्य निमित्त से नहीं जाना जाता, अपितु उसकी यथार्थ-बोधन की स्वाभाविक शक्ति से जाना जाता है। इसलिये वेद स्वतः प्रमाण हैं।

---

१. वेदानां निजा स्वाभाविकी या यथार्थज्ञानजननशक्तिस्तस्या मन्त्रायुर्वेदादावभिव्यक्तेः-उपलम्भाद् अखिलवेदानामेव स्वतः एव प्रामाण्यं सिध्यति। वही, ५.५१।

२. न वक्तृयथार्थज्ञानमूलकत्वादिनेत्यर्थः। तथा च न्यायसूत्रं मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम् (२.१.६८) इति। वही, ५.५१।

(iii) न्याय-वैशेषिक में वेद को आप्तोक्त होने से प्रमाण माना गया है। वहाँ प्रामाण्य-निश्चय में 'आप्तोक्तत्व' हेतु है और आप्त वह है जो यथार्थवक्ता होता है। इस प्रकार प्रामाण्य वक्ता के गुणों पर आश्रित है और वेद परतः प्रमाण हैं। सांख्य में वैसा नहीं माना जाता।

यहाँ विज्ञानभिक्षु ने प्रामाण्य के स्वतस्त्व तथा परतस्त्व आदि का विशद विवेचन नहीं किया, केवल सूत्र का अर्थ संक्षेप में दिखलाया है। न्यायमत में वेद परतः प्रमाण है। उसका प्रामाण्य अनुमान द्वारा सिद्ध होता है। उस अनुमान में 'आप्तोक्तत्व' हेतु है तथा मन्त्र, आयुर्वेद उदाहरण हैं। किन्तु सांख्य में वेद को स्वतः प्रमाण माना गया है। वेद अपौरुषेय है, आप्तोक्त नहीं; उसमें स्वभावतः यथार्थ-बोधन की शक्ति है जो मन्त्र, आयुर्वेद आदि में देखी जाती है। स्वाभाविक यथार्थ-बोधन की शक्ति होने से ही वेद स्वतः प्रमाण है।

३. सांख्यकारिका तथा उसकी व्याख्याओं में वेद-प्रामाण्य

ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में तीन प्रकार का प्रमाण दिखलाकर[1] तीनों प्रमाणों का लक्षण किया है।[2] यहाँ शब्द-प्रमाण को 'आप्तवचन' कहा गया है और इसका लक्षण किया गया है—आप्तश्रुतिः। इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि आप्तों के वचन को ही शब्द प्रमाण बतलाया गया है; किन्तु कारिकाकार का अभिमत अर्थ क्या है? विशेष प्रमाणों के विना यह निश्चित करना संभव नहीं है। व्याख्याकारों ने इसकी विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है, जिसका आगे निरूपण किया जा रहा है।

सांख्यकारिका में इन स्थलों के अतिरिक्त कहीं 'आप्तवचन' का उल्लेख नहीं किया गया, वेद-प्रामाण्य-चर्चा की तो बात ही क्या? अतः कारिकाकार का वेद-प्रामाण्य के सम्बन्ध में क्या मन्तव्य रहा होगा, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, व्याख्याकारों ने 'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु' इस कारिकांश की व्याख्या में वेद-प्रामाण्य पर अवश्य विचार किया है। उन व्याख्याओं के आधार पर ही यह जाना जा सकता है कि सांख्यकारिका-परम्परा में वेद-प्रामाण्य के विषय में क्या धारणाएं रही हैं?

---

१. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥ सांख्यकारिका, ४।

२. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु॥ वही, ५।

(क) माठरवृत्तिः—सांख्यकारिका में जो 'आप्तवचन' शब्द से तृतीय प्रमाण का निर्देश किया गया है, माठरवृत्ति के अनुसार इसकी व्याख्या इस प्रकार है— आप्त अर्थात् रागद्वेष आदि से रहित ब्रह्मा और सनत्कुमार आदि। श्रुति=वेद। उन दोनों के द्वारा उपदिष्ट अर्थात् ऐसा है, इस प्रकार से श्रद्धा के योग्य जो वचन है वह आप्तवचन कहलाता है।[1]

'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु' इस कारिकांश द्वारा जो आप्तवचन का लक्षण किया गया है, उसकी व्याख्या करते हुए माठरवृत्ति में कहा गया है--आप्त अर्थात् ब्रह्मा आदि आचार्य, श्रुति अर्थात् वेद ये दोनों ही आप्तवचन कहलाते हैं।[2] 'आप्त' शब्द का क्या अर्थ है? और इन दोनों के वचन ही आप्तवचन क्यों कहलाते हैं? इसके विषय में माठरवृत्ति में आगे इस प्रकार बतलाया गया है: आप्ति का अर्थ है—साक्षात् अर्थ की प्राप्ति एवं अर्थ के अनुसार उपलब्धि, उस आप्ति के साथ जो विद्यमान है वह आप्त कहलाता है। इस प्रकार आप्त वह है जो धर्म (=अर्थ) का साक्षात्कार करने वाला है या यथार्थ की उपलब्धि के द्वारा शब्द से बोधित (=श्रुत) अर्थ का ग्रहण करा देता है; वही आप्तवचन कहलाता है।[3]

माठरवृत्ति का भाव गहन प्रतीत होता है। फिर भी यह विदित होता है कि :—

(i) आप्तवचन का अभिप्राय है ब्रह्मा आदि का वचन तथा वेद का वचन।

(ii) ब्रह्मा आदि तथा वेद इन दोनों पर घटित होने वाला ही आप्त का लक्षण है। आप्ति से युक्त को आप्त कहते हैं। ब्रह्मा आदि के पक्ष में आप्ति का अभिप्राय है अर्थ का साक्षात् ज्ञान। ब्रह्मा आदि ने अर्थों (=धर्मों) का साक्षात्कार किया था अतः वे आप्त हैं और उनका वचन आप्तवचन है। वेद के पक्ष में आप्ति का अर्थ है— यथार्थ की प्राप्ति कराकर शब्द द्वारा बोधित अर्थ का ग्रहण करा देना। वेद वाक्यों में जिस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, तदनुसार अनुष्ठान करने से उसी अर्थ की प्राप्ति हो जाती है; अतः

---

१. आप्ता रागद्वेषादिरहिता ब्रह्मसनत्कुमारादयः, श्रुतिर्वेदः, ताभ्याम् उपदिष्टं तथेति श्रद्धेयम् आप्तवचनम्। माठरवृत्ति (सांख्यकारिका माठरवृत्तिसहिता जयमङ्गलाटीकोपेता, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १६७०), का० ४, पृ० ८।

२. आप्ता ब्रह्मादय आचार्याः, श्रुतिर्वेदः। तदेतदुभयमाप्तवचनम्। वही, का० ५, पृ० १०।

३. आप्तिः=साक्षादर्थप्राप्तिः, यथार्थोपलम्भः, तया वर्तत इत्याप्तः=साक्षात्कृतधर्मा, यथार्थाप्त्या श्रुतार्थग्राही। तदुक्तमाप्तवचनम्। वही, का० ५, पृ० १०।

वे वाक्य श्रुतार्थग्राही हैं—यथाश्रुत अर्थ का ग्रहण करा देते हैं। इसलिये वेदवचन आप्तवचन हैं।

(iii) ये दोनों प्रकार के आप्तवचन प्रमाण होते हैं। आप्तवचन प्रमाण क्यों होता है? इस विषय में माठराचार्य ने कपिल[1] के मत के रूप में दो कारिकाएं दिखलाई हैं, जिनका भाव यह है—आगम ही आप्तवचन है। दोष-रहित होने से किसी को आप्त माना जाता है। दोष-रहित तो मिथ्या वचन न कहेगा; क्योंकि (मिथ्या कहने का) कोई हेतु नहीं है। और, आप्त उसे मानना चाहिये जो अपने कर्म में सुविज्ञ या दक्ष (=अभियुक्त) है, रागद्वेष-रहित है तथा उसी प्रकार के जनों द्वारा सदा पूजित होता है।[2]

इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि दोषाभाव के कारण ही कोई आप्त कहलाता है। वेद भी दोष-रहित है अतः आप्त है। और, उसका वचन आप्तवचन है। वह आगम प्रमाण है। वेद क्यों दोष-रहित है? इस पर माठरवृत्ति में प्रकाश नहीं डाला गया। इस विषय में माठराचार्य का मत विचारणीय ही है।

(ख) **युक्तिदीपिका**—आप्तवचन नामक प्रमाण से क्या अभिप्राय है? यह दिखलाते हुए युक्तिदीपिका में कहा गया है—प्रामाणिक वचन के द्वारा अत्यन्त परोक्ष अर्थ का निश्चय करना आप्तवचन कहलाता है।[3] सांख्यकारिका में जो 'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु, कहकर आप्तवचन का लक्षण दिखलाया गया है उसकी (युक्तिदीपिका) टीका में वेद-प्रामाण्य पर भी कुछ स्वल्प-सा प्रकाश पड़ता है। हाँ, इससे यह नहीं विदित होता कि युक्तिदीपिकाकार का वेद-प्रामाण्य के विषय में स्पष्टतः क्या विचार रहा होगा।

इस टीका के अनुसार 'आप्तश्रुति' का अभिप्राय है :—आप्ता=रागादि-रहित का ऐसा वचन (व्याहृति) जिसके कारण का ग्रहण न हो तथा जो दूसरों के हित के लिये हो।[4] श्रुति का अर्थ है श्रवण=सुनना। आप्ता श्रुति ही आप्त-

---

१. तत्र प्रक्रान्तमेव तावदभिधीयते भगवतः कपिलस्य मतम्। वही, का० ५, पृ० १०।

२. आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्॥
स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥ वही, का० ५, पृ० १०।

३. आप्तवचनं तु प्रमाणभूतद्वारकोऽत्यन्तपरोक्षेऽर्थे निश्चयः। युक्तिदीपिका (बालकृष्ण त्रिपाठी, बी० २/२४२, भदैनी, वाराणसी, १९७०), का० ४, पृ० ३६।

४. आप्ता नाम रागादिवियुक्तस्यागृह्यमाणकारणपरार्था व्याहृतिः। वही, का० ५, पृ० ४९।

श्रुति कही जाती है। इस शब्द के द्वारा अपौरुषेय वचन का ग्रहण किया गया है। वह वचन किसी पुरुष की बुद्धिपूर्वक रचना नहीं है, अतः रागादिरहित का वचन है ही। और, जिस प्रकार किसी पुरुष का वचन (=पौरुषेय वाक्य) किसी ज्ञान के आधार पर होता है, उसका कारण प्रत्यक्ष आदि के द्वारा प्राप्त ज्ञान होता है, इस प्रकार अपौरुषेय वेद वाक्य का कोई कारण नहीं है। वह तो किसी पुरुष की बुद्धिपूर्वक रचना नहीं, पुरुष-बुद्धि के अधीन नहीं। किञ्च, वह परार्थ वचन है, पुरुष के निःश्रेयस के लिये है।[1] अतः वह आप्तवचन नामक प्रमाण है। ऐसा प्रमाण है जिसमें सन्देह का अवकाश नहीं।[2] यह आप्तश्रुति शब्द का एक अर्थ है।

युक्तिदीपिका में वेद के प्रामाण्य के साथ ही मनु आदि के वचन का प्रामाण्य भी दिखलाया गया है। उसके लिये 'अथवा' इत्यादि कहकर आप्तश्रुति शब्द का इस प्रकार अर्थ किया गया है :—

जिसे 'आप्त' अर्थात् अपौरुषेय वचन प्राप्त होता है वह आप्त कहलाता है।[3] आप्तों से प्राप्त उपदेश ही आप्तश्रुति है।[4] कारिका के 'आप्तश्रुति' शब्द से दोनों प्रकार की आप्तश्रुति का ग्रहण हो जाता है। एक है अपौरुषेय वेदवाक्य और दूसरी है आप्तों से प्राप्त उपदेश।[5] इस प्रकार मनु आदि द्वारा निबद्ध स्मृतियों का, वेदाङ्ग, तर्क, इतिहास और पुराणों का तथा शिष्ट एवं दोषरहित नानाशिल्पों के विद्वान् जनों का वचन भी प्रमाण होता है, यह निश्चित ही है।[6] आप्त शब्द की इस व्युत्पत्ति से यह ज्ञात होता है कि उन्हीं शिष्ट दोष-रहित विद्वानों के वचन प्रमाण माने जा सकते हैं जिनके वचन अपौरुषेय वेदवाक्य के अनुकूल हैं, अन्यों के नहीं।

फलतः युक्तिदीपिकाकार का भाव यह प्रतीत होता है कि स्मृति आदि वेदमूलक होने से परतः प्रमाण हैं और वेदवचन दोषरहित होने से स्वतः प्रमाण हैं। फिर भी यह भाव बहुत स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। इस विषय में अग्रिम अनुसन्धान अपेक्षित है।

---

१. द्र०, आप्तश्रुतिग्रहणेनैवं प्रतिपादयति-अपुरुषबुद्धिपूर्वक आम्नायः स्वतन्त्रः पुरुषनिःश्रेयसार्थं प्रवर्तमानो निस्संशयं प्रमाणमिति। वही, पृ० ४७।

२. निःसंशयं प्रमाणमिति। वही, पृ० ४७।

३. अथवा आप्तास्यास्तीत्याप्तः। अकारो मत्वर्थीयः। वही, पृ० ४६। (यहाँ आप्तोऽस्यास्तीत्याप्तः, यह पाठान्तर है)।

४. आप्तेभ्यः श्रुतिराप्तश्रुतिः। वही, पृ० ४७।

५. आप्तश्रुतिश्चाप्तश्रुतिश्च=आप्तश्रुतिः। वही, पृ० ४७।

६. द्र०, वही, पृ० ४७।

सांख्यकारिका में 'आप्तवचनन्तु' यहाँ पर जो 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है, युक्तिदीपिका के अनुसार इसका अभिप्राय यह है कि जो अभी ऊपर आप्तश्रुति कही गई है वही आप्तवचन नामक प्रमाण है। प्रत्येक शब्द आप्तवचन नहीं कहलाता है।[1] इससे विदित होता है कि गौतम का 'आप्तोपदेशः शब्दः' जो शब्द प्रमाण का स्वरूप है, वह यहाँ आकर संकुचित हो गया है।

(ग) **गौडपादभाष्य**[2]—गौडपादभाष्य नाम से प्रसिद्ध सांख्यकारिका की व्याख्या, बहुत सरल एवं संक्षिप्त व्याख्या है। इसमें कारिका के इस अंश का पाठ है—'आपश्रुतिराप्तवचनं च।'[3] इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—आप्त का अर्थ है आचार्य ब्रह्मा इत्यादि, श्रुति का अर्थ है वेद आप्त और श्रुति (द्वन्द्व समास) आप्तश्रुति है, उसे ही आप्तवचन कहा गया है।[4]

गौडपाद की यह व्याख्या स्पष्ट नहीं है। इन शब्दों से तो ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा इत्यादि आचार्यों के वचन को और वेद के वचन को आप्तवचन कहा गया है। वह आप्तवचन प्रमाण होता है। इस व्याख्या में यह नहीं बतलाया गया कि वेद वचन क्यों प्रामाणिक हैं। अतः वेद-प्रामाण्य के विषय में गौडपाद का क्या मत है? यह नहीं कहा जा सकता।

(घ) **जयमङ्गला**[5]—सांख्यकारिका की इस वृत्ति के आरम्भ या अन्त में लेखक ने यह नहीं बतलाया कि इसका रचयिता कौन है? प्रकाशित पुस्तकों की पुष्पिका में लिखा है—श्रीशङ्करभगवता कृता सांख्यसप्ततिटीका समाप्ता। इससे प्रतीत होता है कि यह प्रसिद्ध आचार्य शङ्कर की कृति है। फिर भी इसका कर्ता कौन है? यह विद्वानों के विवाद का विषय है। इस विषय में यहाँ विचार करना अभीष्ट नहीं है। यहाँ तो यही विचार करना है कि इस वृत्ति में वेद-प्रामाण्य का निरूपण किस प्रकार किया गया है?

आप्तवचन शब्द की व्याख्या करते हुए जयमङ्गला में कहा गया है – आप्त का अर्थ है—दोषरहित, उसके द्वारा जो कहा जाता है वह आप्तवचन है; अर्थात् आगम।[6]

---

१. तुशब्दोऽवधारणार्थः। आप्तश्रुतिरेवाप्तवचनं न शब्दमात्रम्। वही, पृ० ४७।
२. गौडपादभाष्यसहिता सांख्यकारिका (ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९३३)।
३. आप्तश्रुतिराप्तवचनं च। वही, का० ५।
४. आप्ता आचार्या ब्रह्मादयः। श्रुतिर्वेदः, आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः। तदुक्तमाप्तवचनमिति। वही, का० ५।
५. सांख्यकारिका, माठरवृत्तिसहिता जयमङ्गलाटीकोपेता (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७०)।
६. आप्तः क्षीणदोषस्तेन यदुच्यते तदाप्तवचनम्, आगमः। जयमङ्गला, का० ४, पृ० ६९।

'आप्तश्रुतिराप्तवचनं च' आप्तवचन के इस लक्षण की व्याख्या में बतलाया गया है—आप्त=दोषरहित। जैसा कि कहा गया है, जो अपने कर्म में प्रामाणिक (अभियुक्त) है, रागद्वेष से रहित है, वैरभाव से रहित है, सज्जनों द्वारा पूजित है वैसे उसको आप्त जानना चाहिये। आप्तों से जो श्रुतिपरम्परा द्वारा श्रुति आई हैं वह आप्तवचन है। उन (आप्तों) के द्वारा दृष्ट या अनुमित अर्थ दूसरों में अपने जैसा अन्य ज्ञान उत्पन्न करने के लिये शब्द द्वारा उपदिष्ट किया जाता है। जो आप्तवचन है वह मिथ्या नहीं होता।[1]

जयमङ्गला की इस व्याख्या से यह विदित होता है—

(i) कारिका में आप्तश्रुति का अर्थ है—आप्तों द्वारा श्रुतिपरम्परा से आई हुई श्रुति। वे वेद के उपदेश जो आप्तों द्वारा परम्परा से आ रहे हैं।

(ii) आप्तजन वे हैं जो दोषरहित हैं। वे आप्तजन किसी अर्थ का साक्षात्कार कर लेते हैं या अनुमान कर लेते हैं और उस अर्थ का दूसरों को उपदेश करते हैं। किसलिये? जिससे दूसरे भी उनके जैसा ही ज्ञान प्राप्त कर सकें।

(iii) इस प्रकार आप्तवचन वह श्रुतिवाक्य है जिसका आप्तों द्वारा अर्थसहित दूसरों को उपदेश किया जाता है। अथवा वेदवचनों के द्वारा अनुभूत (दृष्ट या अनुमित) अर्थ का आप्तों द्वारा जिन वचनों में उपदेश किया जाता है वे भी आप्तवचन हैं। फलतः वेद-वचन और वेदानुसारी वचन ही आप्तवचन है, वही आगम प्रमाण है।

आप्तवचन प्रमाण क्यों है? इसका संक्षेप में उत्तर है—'यदाप्तवचनं तन्न प्लवते'—जो आप्तवचन है वह मिथ्या नहीं होता। दोषरहित होने के कारण ही वह प्रमाण है। वेद-वचन क्यों दोषरहित है? इस विषय में जयमङ्गलाकार का क्या अभिमत है? यह कहना कठिन है।

(ङ) वाचस्पतिमिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी[2] -'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु'

---

१. आप्तः क्षीणदोषः। यच्चाहुः—
स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः।
निर्वैरः पूजितः सद्भिराप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥
आप्तेभ्यो या श्रुतिपरम्परया श्रुतिरागता तदाप्तवचनम्। तैर्दृष्टोऽनुमितो वार्थः, परत्र स्वबोधसदृशबोधान्तरोत्पत्तये शब्देनोपदिश्यते। यदाप्तवचनं तन्न प्लवते। वही, का० ५, पृ० ७१।

२. सांख्यकारिका, सांख्यतत्त्वकौमुदी (बालरामोदासीनकृतव्याख्यासहित, स्वामी रामस्वरूप गुरुमण्डल, हरिद्वार, १९३०)।

इस कारिकांश की व्याख्या में वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—यहाँ आप्तवचन यह लक्ष्य है और शेष लक्षण है। आप्त का अर्थ है प्राप्त अर्थात् युक्त। जो आप्त भी है और श्रुति भी वह आप्तश्रुति कही गई है। श्रुति का अर्थ है—वाक्य से उत्पन्न होने वाला वाक्यार्थ-ज्ञान।[1]

वाचस्पतिमिश्र के भाव को स्पष्ट करते हुए बालरामोदासीन ने बतलाया है—यथार्थ का बोध कराने में समर्थ होने के कारण जो समीचीन अथवा दोषरहित वचन है उसे युक्त कहते हैं। यद्यपि श्रुति शब्द वेद के लिये प्रसिद्ध है तथापि यहाँ यह शब्द लक्षणा से सामान्य वाक्य के अर्थ में आया है। यदि यहाँ इसे वेद का वाचक माना जाये तो 'आप्त' विशेषण व्यर्थ हो जायेगा। अतः यहाँ श्रुति का अर्थ है वाक्य और यह शब्द फिर उपचार से वाक्य-जन्य ज्ञान का बोधक है। इस प्रकार आप्तश्रुति का अर्थ है दोषरहित वाक्यजन्य ज्ञान। वही आप्तवचन नामक प्रमाण कहलाता है।[2] 'आप्तश्रुति' शब्द का इस प्रकार का अर्थ सांख्य की वेद-प्रामाण्य-विषयक दृष्टि से किया गया है। सांख्यसूत्र[3] में आये हुए आप्त शब्द का जो अनिरुद्ध ने युक्त तथा विज्ञानभिक्षु ने योग्य अर्थ किया है वहाँ भी यही दृष्टि है।

अब प्रश्न यह है कि कौनसा वाक्यजन्य ज्ञान युक्त होता है। इसके उत्तर में वाचस्पतिमिश्र ने दो प्रकार का ज्ञान बतलाया है—एक तो वेदवाक्य-जनित ज्ञान और दूसरा वेदमूलक स्मृतिवाक्य-जनित ज्ञान। इनमें से वेदवाक्य-जनित ज्ञान स्वतः प्रमाण है। वेदवाक्य अपौरुषेय हैं—पुरुषकृत नहीं। वे दोषों की आशङ्का से भी रहित हैं। इस लिये उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान युक्त है, तथ्य का बोधक है।[4] यहाँ वेदवाक्य-जनित ज्ञान की युक्तता में हेतु है—सकल दोषों की आशङ्का से रहित होना।[5] ऐसा क्यों है? क्योंकि वेदवाक्य अपौरुषेय हैं, और भ्रम आदि दोष पुरुष में ही हुआ करते हैं।

वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के स्वतः प्रामाण्य में भी यही हेतु है। यह ठीक है कि स्वतः प्रामाण्य का अर्थ है—अन्य प्रमाण की अपेक्षा के विना ही

१. आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत्, आप्ता चासौ श्रुतिश्चेत्याप्तश्रुतिः। वही, का० ५, पृ० १०६।
२. द्र०, वही, का० ५।
३. आप्तोपदेशः शब्दः। सांख्यसूत्र, १.१०१।
४. द्र०, तच्च स्वतः प्रमाणम्—अपौरुषेयवेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाऽऽशङ्काविनिर्मुक्तेर्युक्तं भवति। सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ५, पृ० १०८।
५. तु०, बालरामोदासीन, विद्वत्तोषिणी, वही, पृ० १०८।

अपने अर्थ-बोधन में समर्थ होना। वेद में वह स्वतः प्रामाण्य इसी लिये स्वीकार किया जाता है; क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं अतः उनमें दोषों की आशङ्का भी नहीं हो सकती।[1] भ्रम आदि दोष तो पुरुष में हुआ करते हैं। इस विषय में सांख्य का मत भी मीमांसा के समान ही है, मीमांसा के सन्दर्भ में इस पर विशेष विचार किया जायेगा।

इस स्वतः प्रमाण वेदवाक्यजन्य ज्ञान की युक्तता दिखलाकर परतः प्रमाण आगम ज्ञान की युक्तता इस प्रकार बतलाई गई है— इस प्रकार वेदमूलक जो स्मृति, इतिहास तथा पुराण हैं उनसे उत्पन्न ज्ञान भी समीचीन होता है— यथार्थ का बोधक होता है।[2] भाव यह है कि स्मृति आदि पुरुषकृत हैं, उनमें पुरुषकृत दोषों की आशङ्का हो सकती है। इसीलिये उनका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध नहीं है, अपितु जो स्मृति-वाक्य वेद के अनुकूल हैं वे प्रमाण हैं। इस प्रकार स्मृति, इतिहास, पुराण आदि परतः प्रमाण हैं। इनके प्रामाण्य का निश्चय वेदानुकूल होने से होता है। स्मृति आदि के प्रामाण्य का विशेष विवेचन मीमांसा के सन्दर्भ में किया जायेगा।

यद्यपि कपिल मुनि का ज्ञान जन्मजात सहज ज्ञान माना जाता है, फिर भी यह वेदमूलक ही है; क्योंकि कपिल मुनि ने अन्य कल्प में पढ़ी गई श्रुति का स्मरण किया था। यह इसी प्रकार संभव है जैसे प्रातःकाल सोकर उठने वाला व्यक्ति पहिले दिन जानी गई बातों का स्मरण कर लेता है।[3] योगभाष्य में आये हुए आवट्य-जैगीषव्य-संवाद से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि अनेक सर्गों में जानी गई बातों का स्मरण होना संभव है।[4] फलतः वेदमूलक होने से कपिल के वचन भी यथार्थ-बोधक हैं।

वाचस्पतिमिश्र का यह भी कथन है कि 'आप्तश्रतिराप्तवचनं तु' में आप्त शब्द को श्रुति का विशेषण बनाया गया है, आप्त का अर्थ है युक्त=समीचीन। इसलिये जो अयुक्त वचन हैं उनमें आप्तवचन (शब्दप्रमाण) का लक्षण नहीं जाता। वस्तुतः वे अयुक्त वचन आगम नहीं, आगमाभास हैं, बौद्ध भिक्षुओं, निर्ग्रन्थकों (नग्न, जैनविशेष) तथा संसारमोचक (चार्वाकविशेष) के आगम

१. यहाँ इस प्रकार वाक्य-योजना उचित प्रतीत होती है— तत् (वाक्यार्थज्ञानम्) च अपौरुषेय-वेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तेः यत् स्वतः प्रमाणं तद्युक्तं भवति।

२. एवं वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति। सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ५, पृ० १११।

३. वही, का० ५, पृ० ११३।

४. योगभाष्य, ३.१८।

इसी प्रकार के हैं।[१] मनु आदि के द्वारा उनकी निन्दा की गई है।[२] उन्होंने सर्वास्तिवाद तथा विज्ञानमात्रवाद इत्यादि परस्पर-विरुद्ध मन्तव्यों का उपदेश दिया है।[३] वे वेदमूलक नहीं हैं, क्षणिकवाद जैसे प्रमाण-विरुद्ध मन्तव्य का कथन करते हैं और अधिकांश बुद्धिमान् (महाजन) जनों ने इन्हें स्वीकार नहीं किया, अपितु किन्हीं निम्न कोटि के अज्ञानी आचारहीन जनों ने ही इनका ग्रहण किया है।[४]

इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र के अनुसार सांख्य के मत में वेद अपौरुषेय होने से दोषहीन हैं अतः वे स्वतः प्रमाण हैं। वेदमूलक स्मृति, इतिहास तथा पुराण वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं, इनसे भिन्न बौद्ध आदि के आगम प्रमाण ही नहीं हैं।

४. पातञ्जल योगसम्प्रदाय में वेद-प्रामाण्य

योगसूत्रों में वृत्तिनिरूपण के प्रसङ्ग से प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन प्रमाणों का उल्लेख किया गया है।[५] यहाँ प्रमाण का लक्षण नहीं किया गया और प्रामाण्यवाद के विषय में तो कोई संकेत भी नहीं दिया गया। योगभाष्य में भी प्रमाण का लक्षण नहीं किया गया। फिर भी वहाँ विपर्यय का निरूपण करते हुए कहा गया है—'भूतार्थविषयत्वात् प्रमाणस्य'[६]। इससे यह विदित होता है कि योगभाष्य के अनुसार यथाभूत अर्थ का बोधक ज्ञान ही प्रमाण है, और ज्ञानों की यथार्थबोधकता को ही प्रामाण्य कहा जा सकता है। व्यासभाष्य में आगम प्रमाण का स्वरूप दिखलाया गया है, और ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण भी प्रस्तुत किया गया है। उस सन्दर्भ में वेद के प्रामाण्य पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। उस भाष्य की वाचस्पतिमिश्रकृत तथा विज्ञानभिक्षुकृत व्याख्या से वेद-प्रामाण्य-विषयक योग का मन्तव्य जाना जा सकता है।

---

१. आप्तग्रहणेन चाऽयुक्ताः शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति। वही, का० ५, पृ० ११३।

२. या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि तास्स्मृताः॥ मनु०, १२.९५।

३. द्र०, बालरामोदासीन, विद्वत्तोषिणी, सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ५, पृ० ११४।

४. द्र०, अयुक्तत्वं चैतेषां विगानाद् विच्छिन्नमूलत्वात्, प्रमाणविरुद्धार्थाभिधानाच्च ………………सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ५, पृ० ११६।

५. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। योगसूत्र, १.७।

६. योगभाष्य, १.८।

आगम प्रमाण की व्याख्या करते हुए योगभाष्य में बतलाया गया है-- आप्त के द्वारा साक्षात् देखे गये या अनुमान द्वारा जाने गये पदार्थ का दूसरों को बोध कराने के लिये उपदेश किया जाता है, उस उपदेश से उसके अर्थ के विषय में जो श्रोता को बुद्धिवृत्ति (ज्ञान) होता है, वही आगम है।[1] इस प्रकार आप्तोपदेश से जनित ज्ञान आगम प्रमाण है। यहाँ आप्त का क्या अर्थ है? यह योगभाष्य में नहीं बतलाया गया है। इसके विषय में वाचस्पतिमिश्र का कथन है— यथार्थ दर्शन, कारुण्य तथा इन्द्रिय आदि साधनों की पटुता रखना आप्ति कहलाती है, उससे युक्त व्यक्ति आप्त कहलाता है।[2] इस व्याख्या से विदित होता है कि आप्त का जो लक्षण न्याय-भाष्य आदि में किया गया है वही योग को भी अभिमत है। किन्तु शब्द प्रमाण के विषय में एक विशेष अन्तर है : न्याय की दृष्टि से आप्त-वचन जो शब्द या वाक्य के रूप में है, वही प्रमाण है और उससे होने वाला वाक्यार्थ-ज्ञान प्रमा है। दूसरी ओर योग के मत में आप्त-वचन से उत्पन्न होने वाली श्रोता की चित्तवृत्ति=ज्ञान ही आगम प्रमाण है और इसके अनन्तर होने वाला पौरुषेय बोध ही प्रमा है।

जैसा कि विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचनभाष्य में बतलाया है, आप्ति का अर्थ है—योग्यता; वह योग्यता वेद-वाक्यों में भी है ही। इस प्रकार योग्य शब्द या उससे उत्पन्न ज्ञान ही शब्द नामक प्रमाण है और उससे शब्द के आधार पर पुरुष को होने वाला बोध (पौरुषेय बोध) ही प्रमा है। आप्तोक्त अर्थ-विषयक जो शब्दजन्य चित्तवृत्ति होती है वही प्रमाण है।[3] शास्त्र का प्रामाण्य किस आधार पर है? यह बतलाते हुए वे योगवार्त्तिक में कहते हैं— ईश्वर की उपाधि जो प्रकृष्ट सत्त्व है उसके द्वारा शास्त्र की उत्पत्ति होती है, अतः शास्त्र प्रमाण है।[4]

भाष्यविवरण में आप्त का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—दूसरों के अनुग्रह की इच्छा से प्रयुक्त दोष-रहित तथा अर्थ का साक्षात् दर्शन या अनुमान करने वाला (व्यक्ति) आप्त है।[5] आप्त का यह लक्षण भी वाचस्पतिमिश्र या कहिये न्यायभाष्य के समान ही है।

---

१. आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वा अर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देन उपदिश्यते शब्दात् तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। वही, १.७।

२. तत्त्वदर्शनकारुण्यकरणपाटवाभिसम्बन्धः आप्तिः, तया वर्तते, इति आप्तः। तत्त्ववैशारदी, १.७।

३. योगवार्त्तिक (भारतीय विद्या प्रकाशन, १९७१), १.७, पृ० ३४।

४. वही, १.२४, पृ० ७४।

५. आप्तः परानुजिघृक्षाप्रयुक्तो दोषरहितो दृष्टानुमितार्थः। भाष्यविवरण, योगसूत्र, १.७, पृ० ३०।

कौन आगम प्रमाण होता है ? कौन नहीं ? इसका विवेचन करते हुए योगभाष्य में कहा गया है—जिस आगम का वक्ता अविश्वसनीय बात कहता है, उसने न तो पदार्थ का साक्षात्कार किया है और न ही अनुमान किया है वह आगम सन्दिग्ध (आभासमात्र) होता है। किन्तु जहाँ मूल वक्ता अर्थ का साक्षात्कार करने वाला या अनुमान करने वाला होता है वहाँ तो आगम असन्दिग्ध होता है।[1] वाचस्पतिमिश्र उदाहरणों द्वारा इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहते हैं, जैसे कोई कहे कि जो दस अनार हैं वे ही छः अपूप हैं, इसका वक्ता अविश्वसनीय बात कहने वाला है, और स्वर्ग की कामना वाला चैत्य (बौद्धस्तूप) की वन्दना करे इसके वक्ता ने अर्थ का न साक्षात्कार किया है न अनुमान ही। किन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार तो मनु आदि का वचन भी सन्देहास्पद होगा; क्योंकि उन्होंने भी प्रतिपाद्य अर्थ का दर्शन या अनुमान नहीं किया। इसका उत्तर योगभाष्य के उपर्युक्त कथन में दे दिया गया है। भाव यह है कि मनु आदि ने जो उपदेश दिया है, उसका आधार वेद है।[2] वेद ईश्वर-प्रणीत है अतः वहाँ मूलवक्ता ईश्वर है जिसने अर्थों का साक्षात्कार किया है।[3] अतः मनु के वचन वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं। इससे यह भी विदित होता है कि योगमत के अनुसार वेद आप्त परमेश्वर का वचन होने से सन्देहरहित है।

ईश्वरप्रणीत होने से शास्त्र (वेद) प्रमाण है, इस मन्तव्य की ओर योगभाष्य के ईश्वर-स्वरूप-विवेचन के सन्दर्भ में भी संकेत किया गया है। प्रसङ्ग यह है कि ईश्वर में सदातन ऐश्वर्य है, वह ऐश्वर्य प्रकृष्ट (पूर्ण) चित्तसत्त्व के ग्रहण से हो सकता है। इस पर प्रश्न होता है, जो यह प्रकृष्ट सत्त्व के ग्रहण से ईश्वर का शाश्वतिक उत्कर्ष है उसमें कोई प्रमाण है या नहीं ?[4] उत्तर है--उसमें शास्त्र प्रमाण है। फिर प्रश्न है—शास्त्र (की तथ्यता) में क्या निमित्त है ? उत्तर है—उसमें प्रकृष्ट सत्त्व निमित्त है। ईश्वर के सत्त्व में विद्यमान इन शास्त्र तथा उत्कर्ष में अनादि सम्बन्ध है। (अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता)। इससे यह सिद्ध होता है कि वह सदा ही ईश्वर है सदा ही मुक्त है।[5]

---

१. यस्यागमस्य अश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते। मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात्। योगभाष्य, १.७।

२. यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ मनु० २.७; तु०, तत्त्ववैशारदी, १.७।

३. मूलवक्ता हि तत्रेश्वरो दृष्टानुमितार्थः। तत्त्ववैशारदी, १.७।

४. स किं सनिमित्तः, आहोस्वित् निर्निमित्तः इति। योगभाष्य, १.२४।
सनिमित्तः=सप्रमाणकः, निर्निमित्तः=निष्प्रमाणकः। तत्त्ववैशारदी, १.२४।

५. योगभाष्य, १.२४।

योगभाष्य के उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होने के कारण शास्त्र प्रमाण है। योग के अन्य सन्दर्भों में भी शास्त्र ईश्वरप्रणीत हैं, इसका संकेत किया गया है।[1]

योगभाष्य के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए वाचस्पतिमिश्र कहते हैं— ईश्वरप्रणीत जो मन्त्र तथा आयुर्वेद हैं उनमें सफल प्रवृत्ति से; अर्थात् उपदेश के अनुसार अर्थ की प्राप्ति से (अर्थाव्यभिचारात्) प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।[2]

ईश्वर ने मन्त्र तथा आयुर्वेद की रचना की है, इससे यह मानना पड़ता है कि उसमें रजस्, तमस् के मल से रहित सर्वतः प्रकाशमान बुद्धिसत्त्व है और उस सत्त्वप्रकर्ष में रजस् और तमस् से होने वाले भ्रम तथा प्रवञ्चना का होना सम्भव नहीं है इससे सिद्ध होता है कि शास्त्र (वेद आदि) मे (ईश्वर का) उत्कृष्ट सत्त्व ही प्रमाण है।[3]

वाचस्पतिमिश्र की इस व्याख्या से यह विदित होता है :—(क) मन्त्र तथा आयुर्वेद ईश्वरप्रणीत हैं (इस पर अन्यत्र विचार किया जायेगा)। (ख) मन्त्र तथा आयुर्वेद का प्रामाण्य सफल प्रवृत्ति द्वारा अनुमान से जाना जाता है। (ग) मन्त्र तथा आयुर्वेद के प्रामाण्य से उसके कर्ता के प्रकृष्ट सत्त्व का बोध होता है। (घ) वेदों में मानव के अभ्युदय तथा निःश्रेयस का उपदेश किया गया है। अतः वे प्रकृष्टसत्त्व द्वारा निर्मित हैं—ईश्वर-प्रणीत हैं, यह निश्चय होता है। (ङ) प्रकृष्ट सत्त्व द्वारा प्रणीत होने से वेद प्रमाण हैं।

शास्त्र का प्रमाण किस आधार पर है? यह बतलाते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं—ईश्वर की उपाधि जो प्रकृष्ट सत्त्व है उसके द्वारा शास्त्र की उत्पत्ति होती है अतः शास्त्र प्रमाण है।[4] यहाँ उन्होंने 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्'[5] इस न्यायसूत्र को भी प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।[6] इस विषय में विज्ञानभिक्षु का मत भी वाचस्पतिमिश्र के समान ही प्रतीत होता है; किन्तु उन्होंने इसकी विस्तृत व्याख्या नहीं की है।

---

१. द्र०, योगभाष्य, १.२५ तथा १.२६।
२. मन्त्रायुर्वेदेषु तावदीश्वरप्रणीतेषु प्रवृत्तिसामर्थ्याद् अर्थाव्यभिचारनिश्चयात् प्रामाण्यं सिद्धम्। तत्त्ववैशारदी, १.२४।
३. द्र०, वही, १.२४।
४. योगवार्त्तिक, १.२४, पृ० ७४।
५. न्यायसूत्र, २.१.६९।
६. योगवार्त्तिक, १.२४, पृ० ७४।

भाष्यविवरण में भी बतलाया गया है कि जिस वक्ता ने अर्थ का साक्षात्कार नहीं किया या अनुमान नहीं किया, ऐसे वक्ता के वचन का अर्थ विश्वसनीय नहीं होता। वहाँ बुद्ध और अर्हत् आदि इसके उदाहरण रूप में दिखलाये गये हैं और 'प्लवते' का अर्थ आभासीभवति (=आभास या आगमाभास हो जाता है) यह किया गया है।[१]

'मूलवक्तरि' इत्यादि योगभाष्य के विवरण में कहा गया है—ईश्वर के आद्यवक्ता होने पर उसके आधार पर जो आगम होता है वह विप्लव (भ्रान्ति आदि) न होने के कारण दोष-रहित होता है।[२] इसी प्रकार अन्य स्थल पर कहा गया है—'ईश्वरप्रमाणकं शास्त्रम्' – ईश्वर के प्रामाण्य से शास्त्र प्रमाण है।[३] इस प्रकार के विवरण से यही सिद्ध होता है कि विवरणकार की दृष्टि में ईश्वर-प्रणीत होने से ही शास्त्र प्रमाण है। हाँ, उन्होंने इस विषय का स्पष्ट रूप में विवेचन नहीं किया।

योगसूत्र की अन्य वृत्तियों में भी संक्षेप में वेद-प्रामाण्य की चर्चा की गई है। आगम-प्रामाण्य की व्याख्या करते हुए मणिप्रभा में बतलाया गया है कि वेद आप्त ईश्वर द्वारा प्रणीत है।[४] नागोजिभट्ट की वृत्ति में कहा गया है कि दृष्ट और अनुमित अर्थ को कहने वाला ईश्वर उनके मूलभूत वेद का वक्ता है। इसी से मनु आदि के ग्रन्थ प्रमाण हैं।[५] चन्द्रिकावृत्ति में भी कहा गया है कि आप्त ईश्वर का वाक्य वेद है।[६]

ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए भी योगसूत्र की वृत्तियों में वेद-प्रामाण्य का उल्लेख किया गया है। मणिप्रभा में कहा गया है—वेद निरतिशय ज्ञान-शक्ति से विशिष्ट ईश्वर द्वारा प्रणीत है, अतः प्रमाण है।[७] नागोजिभट्ट-वृत्ति में इसका कुछ विस्तार से निरूपण किया गया है। वहाँ वाचस्पतिमिश्र के समान ही 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्' इस न्यायवचन का आश्रय लेकर वेद-प्रामाण्य सिद्ध किया गया है।[८]

१. भाष्यविवरण, योगसूत्र, १.७, पृ० ३०।
२. मूलवक्तरि तु=आद्यवक्तरीश्वरे तन्निमित्तो य आगमः स विप्लवनिमित्ताभावात् निर्विप्लवः स्यात्। वही, १.७, पृ० ३१।
३. वही, १.२४, पृ० ५६।
४. योगसूत्र (भोजवृत्ति आदि सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३०); १.७, पृ० ११।
५. वही, पृ० ११।
६. वही, पृ० ११।
७. वही, योगसूत्र, १.२४, पृ० ३१।
८. वही, पृ० ३०।

इस प्रकार योगमत में वेदों का प्रामाण्य आप्तोक्त होने के कारण ही है, न्याय-वैशेषिक के समान वेद परतः प्रमाण हैं, वे स्वतः प्रमाण नहीं। योग में सांख्य के समान वेद को अपौरुषेय नहीं माना गया, अपितु पौरुषेय-पुरुषविशेषकृत ईश्वर-प्रणीत माना गया है। उसी से ये प्रमाण हैं। फलतः सांख्य और योग वेद-प्रामाण्य अथवा कहिये ज्ञानों के प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में मत-भेद रखते हैं, यह प्रकट होता है।

५. वेद-प्रामाण्य के सन्दर्भ में सांख्य-योग का एक विशिष्ट मन्तव्य

वेद प्रमाण है, वह स्वतः प्रमाण है, या ईश्वरोक्त होने से प्रमाण है, इस प्रकार के मन्तव्य सांख्य तथा योग परम्पराओं में उपलब्ध होते हैं। किन्तु सांख्य शास्त्र का मुख्य विषय है पुरुषार्थ और उसके साधन प्रकृति पुरुष-विवेक का प्रतिपादन करना।[1] और, योग का प्रमुख विषय है योग के स्वरूप तथा साधनों का निरूपण करना।[2] अतः यहाँ वेद-प्रामाण्य का आनुषङ्गिक रूप में ही निरूपण किया गया है। वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड जो दो भाग प्रसिद्ध हैं उनमें सांख्य-योग के ग्रन्थों में कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञानकाण्ड को ही वरीयान् समझा गया है। इस विषय का उल्लेख सांख्यकारिका में उपलब्ध होता है और सांख्यकारिका की व्याख्याओं में इस पर विस्तार से विचार किया गया है। अतः पहिले उन्हीं के आधार पर विचार करना उचित होगा।

सांख्यकारिका का प्रतिपाद्य विषय है—दुःखत्रय के अपघातक (नाशक) हेतु का प्रतिपादन करना। दृष्ट साधनों से दुःखत्रय का अत्यन्त विनाश नहीं हो सकता, यह बतला दिये जाने पर भी प्रश्न उठता है कि फिर भी वेदोक्त यज्ञ आदि उपायों से ही दुःखत्रय की अत्यन्त निवृत्ति हो जायेगी, सांख्योक्त मार्ग के अनुसरण की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर दूसरी कारिका में दिया गया है—'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः'।[3] अर्थात् वेद-विहित यज्ञ आदि भी दृष्ट उपायों के समान है, उससे भी दुःखत्रय की निश्चित रूप से आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि वह अविशुद्धि, क्षय तथा अतिशय से युक्त है। इस कारिका के द्वितीयार्ध में स्पष्टतः वैदिक कर्मकलाप की अपेक्षा विवेक ज्ञान को

१. सांख्यशास्त्रस्य तु पुरुषार्थ-तत्साधनप्रकृतिपुरुषविवेकावेव मुख्यो विषयः। सांख्यप्रवचनभाष्य, उपोद्घात, पृ० ४।
२. अथ योगानुशासनम्। योगसूत्र, १.१।
३. सांख्यकारिका, का० २।

श्रेयस्कर कहा गया है।[1] व्याख्याकारों ने इस कारिका के भाव को अपनी-अपनी रीति से विशद से विशदतर करने का प्रयास किया है।

माठरवृत्ति के अनुसार प्रश्नकर्ता का अभिप्राय यह है :— यदि ऐसा है तो दृष्ट से भिन्न जो वेद-प्रतिपादित स्वर्ग आदि का साधन यज्ञ आदि है वही दुःखत्रय की निवृत्ति का उपाय हो जायेगा। स्वर्गलोक में भी तापत्रय का होना सम्भव नहीं है। वहाँ भी वेद में निश्चित और आत्यन्तिक दुःख का अभाव कहा गया है। अनुश्रव का अर्थ है वेद; क्योंकि गुरु के कथन के पश्चात् शिष्य वेद को सुनते हैं। अनुश्रव में होने वाला आनुश्रविक कहलाता है। यह श्रुतिविहित यज्ञ आदि के रूप में है और दुःखत्रय के प्रतीकार का उचित हेतु है।[2] माठरवृत्ति में इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है और उत्तर रूप में जो 'दृष्टवदानुश्रविकः' इत्यादि कारिकांश है उसकी व्याख्या में कहा गया है :—

जो वेद-विहित अग्निहोत्र आदि को तापत्रय के प्रतीकार का उपाय बतलाया गया है वह दृष्ट उपाय के समान अनिश्चित है। वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करने पर भी अभीष्ट फल नहीं मिलता। विधान है कि पुत्र की कामना वाली पत्नी अमुक मन्त्र से पिण्ड खावे; किन्तु यदि कोई वचनों के द्वारा सैकड़ों पिण्ड खा लेती है तो भी एक भी पुत्र नहीं उत्पन्न होता। इसी प्रकार वेद में कहा गया है—'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्'; किन्तु गर्भस्थ या उत्पन्न होते ही, बालक, युवा या कुमार भी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।[3] इन उदाहरणों द्वारा वैदिक विधानों का मिथ्यात्व भी दिखाया गया है। न्यायसूत्र में जिस प्रकार पूर्वपक्षी द्वारा विधानों के मिथ्या होने की शङ्का की गई है,[4] उसी प्रकार यहाँ भी वैदिक कर्मकाण्ड के निष्फल होने की बात कही गई है; किन्तु यहाँ यह सिद्धान्त पक्ष की ओर से है, यह ध्यान देने योग्य है।

वैदिक कर्मकलाप को विवेक की अपेक्षा हीन दिखाते हुए कारिका में जो तीन हेतु दिये गये हैं, उनकी व्याख्या करते हुए माठराचार्य कहते हैं—वह वैदिक उपाय अविशुद्ध है; क्योंकि वह पशुहिंसात्मक है। वह क्षययुक्त है; क्योंकि फिर यहीं आगमन हो जाता है। और, वह अतिशययुक्त है; क्योंकि स्वर्ग में भी स्वामी और भृत्य सम्बन्ध सुना जाता है।[5]

---

१. तद्विपरीतः श्रेयान्। वही, का० २।
२. माठरवृत्ति, का० २ (अवतरणिका)।
३. वही, का० २।
४. तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। न्यायसूत्र, २.१.५८।
५. स श्रौतो हेतुः अविशुद्धः, पशुहिंसात्मकत्वात्। क्षययुक्तः पुनः पातात्। अतिशययुक्तः तत्रापि स्वामिभृत्यभावश्रवणात्। माठरवृत्ति, का० २।

वह कर्मकलाप पशुहिंसात्मक है तथा अविशुद्धियुक्त है, यह दिखलाते हुए कहा गया है; क्योंकि कर्मविशेष में पशुवध, मनुष्यवध, सुरापान तथा ऋत्विजों के रण्डा के साथ स्वच्छन्द आलाप का विधान किया गया है।[1] इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण और आपस्तम्ब श्रौतसूत्र आदि में कहा गया है कि ब्रह्म के लिये ब्राह्मण का आलभन करता है, क्षत्र के लिये क्षत्रिय का, मरुतों के लिये वैश्य का, तम के लिये तस्कर (चोर) का और नरक के लिये वीरहन् का।[2]

इस प्रकार का कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। यह कहना भी अयुक्त है कि अश्वमेध के द्वारा ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है।[3] जैसा कि भागवत में कहा गया है—जैसे पङ्क से पङ्किल जल को साफ नहीं किया जा सकता, सुरा से सुरा के प्रभाव को दूर नहीं किया जाता; इसी प्रकार इस प्राणिहत्या को (हिंसात्मक) यज्ञों से शुद्ध नहीं किया जा सकता।[4] रुधिर से सने हाथ रुधिर से ही शुद्ध नहीं होते।[5] और भी, कहा गया है—यदि वृक्षों को काटकर, पशुओं को मारकर, रक्त की कीचड़ करके यज्ञों द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो नरक की प्राप्ति किसे होगी।[6] इस प्रकार दुःखत्रय की निवृत्ति के लिये जिस यज्ञ आदि का वेद में विधान किया गया है वह सर्वथा अविशुद्धियुक्त है।[7]

उस वैदिक कर्मकलाप से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति भी नहीं होती, जो 'अपाम सोमममृता अभूम'[8]—हमने सोमपान किया अमर हो गये, इत्यादि कहा गया है, उस विषय में ध्यान देने योग्य है कि सोमपान करने वाले नृग, नहुष, इन्द्र और ययाति को भी बहुत प्रकार के क्लेश हुए और कर्मों का उपभोग करके अन्यों का स्वर्गलोक से पतन भी सुना जाता है। वस्तुतः यज्ञ आदि कर्मों का सीमित ही फल

---

१. वही, का० २, पृ० ६।

२. ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे (शूद्रम्। तमसे) तस्करं नरकाय *वीरहणम्। तै० ब्रा०, ३.४.१; आप० श्रौ०, २०.२४.८।
*आप्टे संस्कृत हिन्दी कोष के अनुसार—वह ब्राह्मण जिसने दैनिक अग्निहोत्र करना छोड़ दिया है।

३. तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते। शतपथ ब्राह्मण, १३.३.१.१।

४. यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवेमां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति। श्रीमद्भागवत, १.८.५२।

५. माठरवृत्ति, का० २।

६. वृक्षान् छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यज्ञैश्चेद्गम्यते स्वर्गो नरकः केन गम्यते॥ वही, का० २।

७. वही, का० २, पृ० ६।

८. अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य॥ ऋग्वेद, ८.४८.३।

हो सकता है। उनका फल नाशवान् है अतः उनसे आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती।[1]

वैदिक कर्मकलाप का फल अतिशययुक्त भी है। भिन्न-भिन्न कर्मों के फल में न्यूनाधिक्य होता है, तारतम्य होता है, किसी स्वर्गगामी को शत अप्सराओं की प्राप्ति सुनी जाती है, किसी को पाँच की। फिर तो यह निश्चित ही है कि अधिक सुखी को देखकर न्यून सुख वाला दुःखी होगा; जिस प्रकार सम्पत्तिशाली को देखकर दरिद्र को, सुरूप को देखकर कुरूप को और बुद्धिमान् को देखकर अज्ञानी को दुःख होता है।[2]

विवेक या तत्त्वज्ञान की अपेक्षा वैदिक कर्मकलाप को हेय दिखलाने के लिये यहाँ जो युक्तियाँ दी गई हैं, जो उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें चार्वाक, बौद्ध और जैन की वेद-विरोधी युक्तियों से कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। इससे यह विदित होता है कि वेदानुयायी विचारधाराओं में भी हिंसात्मक यज्ञ आदि के प्रति अरुचि थी, रोष था और एक विरोध की भावना थी। सांख्यकारिका की व्याख्यापरम्परा में यह भावना मन्द या तीव्र रूप में विद्यमान रही है।

युक्तिदीपिका में प्रस्तुत कारिका की व्याख्या करते हुए प्रथमतः 'अनुश्रव' शब्द की नवीन व्याख्या की गई है—अनुश्रव किसे कहते हैं? मन्त्र और ब्राह्मण को, अथवा आपके द्वारा जो भी परम्परा से सुना गया पुरातन वचन प्रमाण रूप में स्वीकृत किया जाता है वह सब अनुश्रव है; जैसे श्रुतिमूलक स्मृतियां, वेदाङ्ग, वेद और तर्क। कहा भी है—वेद, वेदाङ्ग तथा तर्क का नाम वेद है।[3]

'अनुश्रव' द्वारा विहित दुःखनिवृत्ति का साधन आनुश्रविक (वैदिक) कहलायेगा। यह आनुश्रविक साधन अविशुद्ध है, अनित्य है तथा तारतम्य से युक्त है अतः दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के लिये दृष्ट उपाय के समान ही वाञ्छनीय नहीं है।[4]

---

१. माठरवृत्ति, का० २, पृ० ६।

२. द्र०, वही, का० २, पृ० ६।

३. वेदवेदाङ्गतर्केषु वेदसंज्ञा निरुच्यते। युक्तिदीपिका (मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९६७), पृ० १४; (वाराणसी, १९७०, पृ० १८)।

४. यस्मादयमानुश्रविको हेतुरविशुद्धोऽनित्यस्तारतम्यवांश्चातो दृष्ट इवानभिप्रेतः। वही, पृ० १४ (१८)।

वैदिक उपाय अविशुद्धि से युक्त इसलिये है; क्योंकि उसमें हिंसा की जाती है; जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक यज्ञों आदि में हिंसा का विधान उपलब्ध होता है। और, हिंसा तो अविशुद्धि है ही, उसमें प्राणियों के इष्ट शरीर का नाश किया जाता है।

इस पर मीमांसक का कथन है कि इस हिंसा को अविशुद्धि से युक्त नहीं माना जा सकता; क्योंकि यह शास्त्र द्वारा विहित है। यदि सांख्यवादी कहे कि जो वेद का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते उनकी दृष्टि में तो यह हिंसा अविशुद्धि से युक्त ही है तो मीमांसक की ओर से कहा गया है कि सांख्यवादी तो आप्तवचन को प्रमाण मानता ही है।[1] किञ्च, सांख्यवादी से यह पूछा जा सकता है कि हिंसा अविशुद्धि है, यह आप कैसे निश्चय करते हैं? वह इस पर यही कहेगा कि शास्त्र से। हम कहते हैं, वही शास्त्र यज्ञ में हिंसा का विधान करता है। फिर क्या कारण है कि एक स्थल में जो शास्त्र प्रमाण है वही हिंसा से धर्म होता है, इस विषय में प्रमाण नहीं है।[2] यदि सांख्यवादी कहे कि हिंसा तथा अहिंसा दोनों का उपदेश करने के कारण शास्त्र में विरोध होने लगेगा। वह भी ठीक नहीं; क्योंकि सामान्य कथन और विशेष कथन में विषय का भेद है। दोनों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। सामान्यतः यह कहा गया है कि प्राणियों की हिंसा न करे और उसका विशेष स्थल पर अपवाद दिखलाया गया है कि अमुक यज्ञ में अमुक प्राणी की हिंसा करे। यहाँ सामान्य नियम का विशेष विहित हिंसा से बाध हो जाता है। जिस प्रकार लोक में कहा जाता है कि ब्राह्मणों को दही दे; किन्तु कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण को तक्र (मट्ठा) दे, यहाँ विशेष विहित 'कौण्डिन्य को मट्ठा दे', इस कथन से सामान्य कथन का बाध हो जाया करता है।[3] यह ठीक है कि शास्त्र में हिंसा का प्रतिषेध किया गया है फिर भी यज्ञ में हिंसा करने वाला अनिष्ट फल का भागी नहीं होता; क्योंकि उस विषय में अन्य शास्त्रवचन विद्यमान है। इष्ट और अनिष्ट का निश्चय तो शास्त्र से ही होता है। इस प्रकार मीमांसक की दृष्टि में यज्ञ की हिंसा अविशुद्धि से युक्त नहीं है।

युक्तिदीपिका में एतद्विषयक सांख्यमत इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :— हम वेद के प्रामाण्य को अस्वीकार नहीं करते, न ही यह कहते हैं कि शास्त्र-विहित हिंसा करने वाला अनिष्ट का भागी होता है। हम तो यह कहते हैं कि स्वर्ग-प्राप्ति के निमित्त जो वेदविहित कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, वह प्राणियों के

१. द्र०, वही, पृ० १४-१५ (१८)।
२. वही, पृ० १५ (१८)।
३. द्र०, वही, पृ० १५ (१९)।

उपघात के विना नहीं किया जा सकता। अतः हित की कामना करने वालों को भी उस कर्म की उपेक्षा कर देनी पड़ती है; क्योंकि शास्त्र ने यह नहीं बतलाया कि अन्य को पीड़ा देकर भी अपना हित साधना चाहिये।[1] शास्त्र में तो यह कहा गया है—

जो अपने प्रतिकूल हो दूसरों के प्रति उसे करने का विचार न करे
संक्षेप में यही धर्म है, अन्य जन तो कामना से प्रवृत्त होते हैं।[2]

इस पर पूर्वपक्षी कहता है, यदि ऐसा नहीं मानते हो तो पहिले यह क्यों कहा था कि प्राणियों के इष्ट शरीर का नाश करने के कारण हिंसा में अविशुद्धि है। इसका समाधान करते हुए कहा गया है : —हमारे उस कथन में उपचार से कार्य के लिये कारण-वाची शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ अविशुद्धि उसे कहा गया है, जो हिंसा के कारण होने वाले करुण-भाव से हमारे मन में परिताप उत्पन्न हो जाया करता है। इस प्रकार हिंसा का कार्य जो मानसिक परिताप है वह अविशुद्धियुक्त है; किन्तु उस परिताप के कारण (हिंसा) को अविशुद्धि से युक्त कह दिया गया है।[3] किन्तु प्रश्न यह है कि सांख्यकारिका में हिंसा के कार्य परिताप को अविशुद्धियुक्त कहा गया है, यह कैसे मान लिया जाये। इसके उत्तर में युक्तिदीपिकाकार कहते हैं :—यहाँ अग्रिम कारिका के 'तद्विपरीतः श्रेयान्' इस अंश में प्रकर्ष (तारतम्य) के बोधक (ईयस्) प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। इस प्रकर्षबोधक प्रत्यय का प्रयोग दो समानजातीय वस्तुओं में से एक का प्रकर्ष दिखलाने के लिये किया जाया करता है। इससे विदित होता है कि सांख्यकारिका के कर्त्ता की दृष्टि में आनुश्रविक कर्म भी प्रशस्य है, किन्तु अत्यन्त-दुःखनिवृत्ति का मार्ग उससे भी प्रशस्यतर है। इसी लिये श्रेयान् (दोनों में अधिक प्रशस्य) कहा गया है यदि आनुश्रविक कर्म को आचार्य ने प्रशस्य न समझा होता तो यहाँ प्रकर्ष-बोधक प्रत्यय का प्रयोग न करते।

इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि युक्तिदीपिकाकार के मत में वैदिक कर्मकलाप को इसलिये अविशुद्धियुक्त कहा गया है; क्योंकि उसमें हिंसा के कारण परिताप उत्पन्न होता है।

---

१. द्र०, वही, पृ० १६ (१९)।
२. न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥ वही, पृ० १६ (१९)।
३. कार्ये कारणोपचारात्। योऽसौ हिंसानिमित्तकः कारुण्यात् मनसि नः परिताप उत्पद्यते स खल्वविशुद्धिरभिप्रेता। वही, पृ० १६ (१९)।

वैदिक कर्मकलाप क्षययुक्त भी है। कैसे? यज्ञ की जो सामग्री पुरोडाश आदि हैं वे परिमित हैं और परिमित साधनों का फल भी परिमित ही हो सकता है अतः यज्ञ से होने वाला फल परिमित या क्षययुक्त ही होगा। किञ्च, यदि यज्ञ आदि का फल अक्षय्य हो तब तो स्वर्ग आदि से पुनरावृत्ति न हुआ करे; किन्तु स्वर्ग आदि से पुनरावृत्ति का शास्त्रों में कथन किया गया है और जो कहीं-कहीं 'तरति मृत्युम्' आदि कहकर यज्ञ आदि का फल अमरता बतलाया गया है, वहाँ औपचारिक अर्थ ही लेना होगा। अन्यथा अन्य प्रमाणों तथा अन्य शास्त्र-वचनों से विरोध होने लगेगा। फलतः वैदिक कर्म क्षययुक्त होता है, यह मानना ही होगा।[1]

यह अतिशययुक्त भी है। जिस कार्य के लिये क्रिया एक बार की जाती है और जिसके लिये अनेक बार की जाती है उन दोनों में अन्तर देखा जाता है; जैसे कृषि आदि में। और, यज्ञ में भी द्रव्य तथा सामग्री की अपेक्षा से कहीं तो केवल एक बार प्रवृत्ति देखी जाती है; किन्तु कहीं बार-बार प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिये उन दो स्थितियों के कर्म में अन्तर होता है, यह मानना होगा। किञ्च, अङ्गों के अतिशय से भी अङ्गी में विशेषता हो जाया करती है;[2] जैसे किसी मेज में एक दराज है दूसरी में दो दराज हैं, इन दोनों में अन्तर होता है। प्रत्येक यज्ञ के अङ्ग जो दक्षिणा आदि हैं उनमें भी अन्तर देखा जाता है। इसलिये यज्ञों में भी परस्पर भेद होता है, यह स्पष्ट है।[3]

गौडपादभाष्य में प्रायः माठरवृत्ति के समान ही पूर्वपक्ष दिखलाकर 'दृष्टवदानुश्रविकः' की व्याख्या की गई है। यहाँ स्पष्टतः यह बतलाया गया है कि यज्ञ आदि श्रुति-स्मृति द्वारा विहित हैं अतः धर्म तो हैं तथापि हिंसा आदि के मिश्रण से अविशुद्धियुक्त हैं। इस मन्तव्य की यहाँ विशेष व्याख्या नहीं की गई है।[4]

जयमङ्गला टीका में माठरवृत्ति की अपेक्षा संक्षेप में ही वैदिक कर्मकलाप में अविशुद्धि, आदि तीन दोष दिखलाये गये हैं। वहाँ कुछ अन्य उद्धरण भी इस मत के समर्थन के लिये प्रस्तुत किये गये हैं और अन्त में यह निष्कर्ष निकाला गया है—इसलिये वैदिक कर्मकलाप भी (दुःखत्रय की निवृत्ति के उपाय-रूप में) दृष्ट उपायों के समान ही त्याग देने योग्य हैं।[5]

---

१. वही, पृ० १९-२० (२२-२३)।
२. वही, पृ० २० (२३)।
३. द्र०, वही, पृ० २० (२३)।
४. यद्यपि श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मस्तथापि मिश्रीभावादविशुद्धियुक्त इति।
सगौडपादभाष्य सांख्यकारिका (ऑरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९३३), का० २, पृ० ३।
५. तस्मादानुश्रविकोऽपि दृष्टवत् परित्याज्यः। जयमङ्गला, का० २, पृ० ६७।

वाचस्पतिमिश्र ने पूर्ववर्ती व्याख्याओं के अभिप्राय को अपने सूक्ष्म चिन्तन एवं गम्भीर शैली के द्वारा निखार दिया है, साथ ही नवीन विचारों का भी समावेश कर दिया है। वे 'दृष्टवद् आनुश्रविकः' की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—"आनुश्रविकोऽपि कर्मकलापो दृष्टेन तुल्यो वर्तते"[1], वैदिक कर्मकलाप भी दृष्ट (उपायों) के समान ही हैं; क्योंकि दोनों ही ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख प्रतीकार के उपाय नहीं हैं, यह समानता है।

यद्यपि 'आनुश्रविक' शब्द का अर्थ है वेद-विहित या वेद में प्राप्त होने वाले तथापि कारिका के इस शब्द का अभिप्राय वैदिक कर्मकलाप, यज्ञ आदि है।[2] कारण, विवेकज्ञान भी तो वेद-विहित है। श्रुति कहती है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' जिसका अर्थ है—आत्मा का प्रकृति से विवेक करना चाहिये और यह भी—वह फिर नहीं लौटता।[3] भाव यह है कि कारिका में वेदोक्त यज्ञ आदि कर्मकलाप को ही दृष्ट के समान बतलाया गया है और यह कहा गया है कि वह दुःखत्रय की निश्चित एवं आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय नहीं है। वहाँ सभी वेदोक्त साधनों को त्याज्य नहीं बतलाया गया। वाचस्पतिमिश्र के इस कथन से यह स्पष्ट है कि आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान भी श्रुति का विषय है।

वेदोक्त यज्ञ आदि दृष्ट उपाय के समान क्यों हैं ? यह बात 'स ह्यविशुद्धि-क्षयातिशययुक्तः' इस कारिकांश में बतलाई गई है। यज्ञों में पशु और बीज आदि का वध किया जाता है, यही इनकी अविशुद्धि है। वाचस्पतिमिश्र दिखलाते हैं कि अत्यन्त प्राचीनकाल से यज्ञ की हिंसा को अविशुद्ध किं वा पाप-जनक समझा गया था, पञ्चशिखाचार्य ने भी यह बतलाया था[4] कि ज्योतिष्टोम आदि के द्वारा जो प्रधान अपूर्व उत्पन्न होता है उसका पशुहिंसा से उत्पन्न अपूर्व के साथ कुछ मात्रा में मिश्रण (साङ्कर्य) हो जाता है। उस पशुहिंसादिजन्य पाप को कुछ प्रायश्चित्त द्वारा दूर किया जा सकता है। यदि प्रायश्चित्त न किया जा सके तो प्रधान कर्म के विपाक के समय उससे अनर्थ उत्पन्न हो जाता है, जिसे अवश्य भोगना[5] होता है। पुराण आदि में प्रसिद्ध ही है कि पुण्यों के

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी (गुरुमण्डल, हरिद्वार, १६३०), का० २, पृ० २६।

२. यद्यपि चाऽनुश्रविक इति सामान्येनाभिहितं तथापि कर्मकलापाभिप्रायं द्रष्टव्यं विवेकज्ञानस्या-प्यानुश्रविकत्वात्। वही, का० २, पृ० २७।

३. वही, का० २, पृ० २७।

४. यथाह स्म भगवान् पञ्चशिखाचार्यः—"स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः" इति। वही, का० २, पृ० २६-३०।

५. सप्रत्यवमर्षः-अवश्यं सहनीयः। बालरामोदासीन, विद्वत्तोषिणी, सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० २, पृ० ३१।

परिणाम से प्राप्त स्वर्ग के अमृत-सरोवर में गोता लगाने वाले कुशल जन स्वल्पपाप से उत्पन्न दुःखाग्नि की चिनगारी को भी सहन करते ही हैं।[१]

यहाँ याज्ञिकों का अभिप्राय यह है कि अल्प दुःख के भय से महान् सुख को नहीं छोड़ना चाहिए।[२] किन्तु सांख्याचार्य यह प्रकट करते हैं कि यज्ञ की हिंसा से पाप तथा दुःख होता ही है अतः यज्ञ आदि कर्मकलाप अविशुद्धि-युक्त हैं।

याज्ञिक (या कर्ममीमांसक) यज्ञ आदि को अविशुद्धियुक्त नहीं स्वीकार करता। उसकी युक्ति यह है—सामान्य विधि का विशेष विधि से बाध हो जाया करता है। 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' (प्राणियों की हिंसा न करे) यह सामान्य शास्त्र है; 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (अग्नि तथा सोम देवता के लिए पशु का आलभन करे) यह विशेष विधि है। इसके द्वारा सामान्य विधि का बाध हो जाता है। अतः यज्ञ में किया गया पशुवध पापजनक नहीं होता।[३]

याज्ञिक के इस मत का निराकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं—यह मत ठीक नहीं; क्योंकि इन दोनों विधियों में कोई विरोध नहीं है। जहाँ विरोध होता है वहीं बलवान् के द्वारा दुर्बल का बाध हुआ करता है। और, विरोध वहाँ होता है जहाँ दोनों विधियाँ एक विषय में ही परस्पर विरुद्ध विधान करती हैं। यहाँ तो दोनों विधियों का विषय भिन्न-भिन्न है; अतः दोनों में कोई विरोध नहीं है। 'न हिंस्यात्' इस वचन से यह कहा गया है कि हिंसा अनर्थ का हेतु है, इससे यह नहीं कहा गया कि हिंसा यज्ञ का उपकार नहीं करती (यज्ञ का अङ्ग नहीं है)। दूसरी ओर 'अग्नीषोमीयं०' आदि वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि पशुहिंसा यज्ञ का अङ्ग है। उससे यह नहीं कहा गया कि यज्ञ की हिंसा अनर्थ का निमित्त नहीं होती। यदि ये वाक्य दोनों बातें कहेंगे तो प्रत्येक वाक्य के दो रूप मानने होंगे, वाक्य-भेद हो जायेगा जो दोष होता है। और, अनर्थ का निमित्त होना तथा यज्ञ का अङ्ग होना इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। हिंसा पुरुष का दोष बतलायेगी और यज्ञ का उपकार भी करेगी।[४]

वाचस्पतिमिश्र ने भी पूर्ववर्ती टीकाकारों के समान यह दिखलाया है कि यज्ञ आदि कर्मकलाप का फल नाशवान् है और उनसे प्राप्त होने वाले फल में न्यूनाधिक्य भी है; किञ्च, जो स्वर्ग को अमरता कहा गया है, वह तो केवल

१. द्र०, सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० २, पृ० ३१।
२. विद्वत्तोषिणी, वही, का० २, पृ० ३१।
३. सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० २, पृ० ३१।
४. वही, का० २, पृ० ३२-३३।

स्वर्ग की चिरकाल-स्थायिता का बोध कराता है। पुराण आदि से ऐसा ही विदित होता है।[1] श्रुति भी यही कहती है—कर्म से, सन्तान से या धन से नहीं, केवल त्याग से ही अमरता को प्राप्त हुए।[2] इसी प्रकार पुत्रों वाले धन की कामना करते हुए कुछ मुनि (ऋषयः-वानप्रस्थ) कर्म के द्वारा मृत्यु (पुनर्जन्म) को प्राप्त हुए, तथा उनसे भिन्न मननशील ऋषिजन कर्मों से अप्राप्य (परम्) अमरता को प्राप्त हुए।[3]

इस प्रकार के भाव को दृष्टि में रखकर ही कारिका में कहा गया है—'तद्विपरीतः श्रेयान्' अर्थात् उस हिंसा आदि के सम्पर्क से रहित जो विवेक ज्ञान है वही वैदिक कर्मकलाप की अपेक्षा श्रेयस्कर है।[4]

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सांख्यकारिका तथा उसकी व्याख्याओं में वैदिक कर्मकाण्ड विशेषकर याज्ञिकी हिंसा के प्रति अरुचि दिखलाई गई है और अवैदिक दर्शन चार्वाक आदि ने जो कर्मकाण्ड के दोष दिखलाये थे उन्हें यत्किञ्चिद् अंश में स्वीकारा गया है।

अब सांख्यसूत्र तथा उसकी व्याख्याओं को भी देखा जाये। त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ही परमपुरुषार्थ है,[5] यह उपक्रम करके सूत्रकार ने बतलाया है कि दृष्ट उपायों से इस पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती[6]। फिर सांख्यकार ने कहा है 'अविशेषश्चोभयोः'[7]। इस सूत्र का क्या तात्पर्य है? यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। व्याख्याकारों के आधार पर ही किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है।

अनिरुद्धवृत्ति में इस सूत्र का सम्बन्ध अपनी रीति से लगाया गया है और इस सूत्र में वैदिक कर्म-कलाप का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र के भाष्य में यह स्पष्ट किया है कि वैदिक कर्मकलाप के प्रति सांख्य की क्या दृष्टि है विज्ञानभिक्षु ने यहाँ सांख्यकारिका[8] को भी उद्धृत किया है,

---

१. आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते। विष्णुपुराण, अंश २ अ० ५ श्लो० ६६।
२. न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः। महानारायणोपनिषद्, १०.५।
३. कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः।
तथाऽपरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः ॥
४. सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० २, पृ० ५६।
५. सांख्यसूत्र, १.१।
६. वही, १.२-५।
७. वही, १.६।
८. दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। सां० का०, का० २।

जिस पर ऊपर विचार किया जा चुका है। उनके अनुसार सूत्र का अभिप्राय यह है—जो गुरु-परम्परा से सुना जाता है वह अनुश्रव है, अर्थात् वेद। वेद-विहित होने से याग आदि आनुश्रविक कहे गये हैं। वह याग आदि भी दृष्ट उपाय के समान अशुद्धि अर्थात् हिंसा आदि पाप से युक्त है और विनश्वर तथा न्यूनाधिक फल वाला है।[1]

(शङ्का) यदि वेद-विहित (वैध) हिंसा को भी पापजनक माना जाएगा तो यहाँ विधि का अर्थ ठीक न बन सकेगा। विधि का अर्थ है -- ऐसे दृष्ट साधन का विधान करना जिसमें किसी बड़े (बलवद्) अनिष्ट का मिश्रण (सम्पर्क) न हो।

(समाधान) यहाँ हिंसा से जो अनिष्ट होता है वह इष्टोत्पत्ति में अपरिहार्य है, और बड़े अनिष्ट के सम्पर्क का अभाव वह कहा जाता है जहाँ इष्ट-प्राप्ति में अपरिहार्य दुःख की अपेक्षा अधिक दुःख उत्पन्न नहीं हुआ करता; यहाँ भी ऐसा है ही अतः विधि के अर्थ में कोई क्षति न होगी।[2]

जो (मीमांसक) यह कहते हैं कि विहित (वैध) हिंसा से भिन्न हिंसा ही पापजनक होती है (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति) उनका कहना ठीक नहीं; क्योंकि वैध हिंसा पापजनक नहीं होती, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत, यह बतलाया गया है कि युधिष्ठिर आदि ने धर्मयुद्ध में जो सम्बन्धियों का वध किया था उसके लिए प्रायश्चित्त करना पड़ा। और मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है कि वेद-विहित धर्म जो अधर्म से युक्त है, कुत्सित पके फल के समान दुःख मिश्रित हैं।[3]

अब प्रश्न यह हो सकता है कि छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है— तीर्थों से अन्यत्र सब प्राणियों की हिंसा न करते हुए।[4] इससे प्रकट होता है कि तीर्थों में हिंसा का निषेध नहीं है; अतः यज्ञ आदि में की गई हिंसा पाप की जनक नहीं होती। इसके उत्तर में विज्ञानभिक्षु का कथन है कि यह वचन तो विहित (वैध) से भिन्न हिंसा के त्याग को इष्ट का साधन बतलाता है वैध हिंसा अनिष्ट का साधन नहीं होती, यह नहीं बतलाता। इस प्रकार याज्ञिकी हिंसा भी पाप-जनक होती ही है।

---

१. स दृष्टोपायवदेव अशुद्ध्या हिंसादिपापेन, विनाशिसातिशयफलकत्वेन च युक्त इत्यर्थः। सांख्यप्रवचनभाष्य, १.६।

२. वही, १.६।

३. वही, १.६।

४. अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः। छान्दो०, ८.१५.१।

योगसूत्र तथा व्यासभाष्य में भी कतिपय प्रसङ्गों में याज्ञिकी हिंसा को पापजनक बतलाया गया है। सन्दर्भ यह है कि कुछ कर्मों का वर्तमान जन्म में ही भोग कर लिया जाता है (दृष्टजन्मवेदनीय), अन्य कर्मों का परजन्म में ही भोग किया जाता है (अदृष्टजन्मवेदनीय)। उन अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मों की तीन प्रकार की गति होती है—एक, किये कर्म का विपाक से पहिले ही नाश हो जाता है, दूसरी, सहायककर्म प्रधानकर्म के साथ बीजमात्र में विद्यमान रहता है, तीसरी, यह कि नियत काल में फल देने वाले प्रधान कर्म से अभिभूत होकर कोई कर्म चिरकाल तक स्थित रहता है।[1] यहाँ दूसरी गति का निरूपण करते हुए भाष्य में 'स्वल्पःसङ्करः' आदि वचन उद्धृत किया गया है। वाचस्पति-मिश्र ने योगभाष्य की टीका तत्त्ववैशारदी में दिखलाया है कि यह पञ्चशिख का वचन है। इस की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—प्रधान कर्म ज्योतिष्टोम आदि में उसके अङ्ग पशुहिंसा आदि का आवाप हो जाता है। (यज्ञ) में हिंसा आदि के दो कार्य हैं, प्रधान के अङ्गरूप में उनका विधान किया गया है अतः प्रधान का उपकार करते हैं और (दूसरे) 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस प्रकार हिंसा का निषेध किया गया है अतः ये अनर्थ भी उत्पन्न करते हैं। फिर इस हिंसा का प्रधान के अङ्गरूप में अनुष्ठान किया जाता है, इसलिए यह प्रधान की अपेक्षा किये विना तुरन्त ही अपने फल अनर्थ को उत्पन्न नहीं कर सकती; किन्तु विपाक का आरम्भ कर देने वाले प्रधान कर्म की सहायता करती रहती है और प्रधान की सहायता करती हुई जो अपने कार्य अनर्थ के बीज रूप में विद्यमान रहती है यही उसका प्रधान कर्म में आवाप है।[2]

इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए बालरामोदासीन लिखते हैं—जैसे धान्य-बीजों के साथ उत्पन्न हुए तथा भण्डार में रक्खे गए तृण-बीजों का धान्य-बीजों के वपन के साथ ही वपन हो जाता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं; इसी प्रकार प्रधान याग के अङ्गरूप में की गई पशुहिंसा आदि का जो स्वतन्त्ररूप से फलोत्पादन न करके प्रधान कर्म के विपाक के समय फलोन्मुख हो जाना है, वही प्रधान कर्म में आवाप है।[3]

भाष्य तथा तत्त्ववैशारदी आदि के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि याग में की गई पशुहिंसा अवश्य ही अनर्थकरी है, पापजनक होती है। हाँ, उससे उत्पन्न अनर्थ पुण्य के फल के साथ असह्य नहीं हो पाता।

---

१. यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः, कृतस्याविपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मणि आवापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्। व्यासभाष्य, योगसूत्र, २.१३।

२. तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र, २.१३।

३. द्र०, विद्वत्तोषिणी, टिप्पणी ४, सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० २ (पृ० २९)।

योगभाष्य में एक अन्य स्थल पर यज्ञ की पशुहिंसा तथा बीजावघात आदि को अनर्थकारक बतलाया गया है। योगभाष्यकार कहते हैं—कर्मजाति चार प्रकार की होती है—कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला और अशुक्ला-अकृष्णा।[1] इनमें से शुक्लकृष्णा कर्मजाति की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है—कर्मों की शुक्लकृष्णा जाति वह है, जहाँ कर्म बाह्य साधन के द्वारा किये जाते हैं, वहाँ पर-पीड़ा तथा परानुग्रह के द्वारा कर्माशय का सञ्चय होता है।[2]

इस भाष्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पतिमिश्र लिखते हैं—जो कर्म बाह्य साधन द्वारा किये जाते हैं, वहाँ सर्वत्र किसी का पीडन होता है, धान्य आदि से भी जो याग आदि कर्म निष्पन्न किये जाते हैं वहाँ भी परपीडा होती ही है। अवघात (कूटना) आदि के समय चींटी आदि का वध सम्भव ही है। और, अन्ततः बीज आदि का वध होने से धान्य की समृद्धि तो रुक ही जाती है। यज्ञ आदि में दक्षिणा आदि के द्वारा ब्राह्मण आदि का उपकार भी होता ही है।[3] इसीलिए योगभाष्य में यज्ञ आदि को शुक्लकृष्ण कर्म कहा गया है।

विज्ञानभिक्षु ने भी योगवार्त्तिक में याज्ञिकी हिंसा को पापजनक दिखलाया है। योगवार्त्तिक की विस्तृत व्याख्या का सांख्यप्रवचनभाष्य में सारांश दिया गया है।[4]

संक्षेप में सांख्य-योग की दृष्टि में यज्ञ की हिंसा भी पापजनक होती ही है। सांख्यतत्त्वकौमुदी की विद्वत्तोषिणी टीका में इस विषय में याज्ञिकों तथा मीमांसकों के मत का निराकरण करते हुए अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों द्वारा सांख्य-योग के मत का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।[5] इसलिये अविशुद्धि से युक्त यज्ञ आदि वैदिक कर्मकलाप के प्रति सांख्य-योग के मनीषियों की अरुचि रही है। इसकी अपेक्षा विवेकज्ञान को ही उन्होंने श्रेयस्कर समझा है। वेद के प्रति आस्था रखने के कारण यहाँ वैदिकी हिंसा का चार्वाक, बौद्ध और जैन के विद्वानों के समान कठोर शब्दों में तो विरोध नहीं किया गया; किन्तु उसके प्रति साधकों का ध्यान आकृष्ट किया ही गया है।

● ● ● ●
● ● ●

---

१. चतुष्पात् खलु इयं कर्मजातिः कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाऽकृष्णा चेति। योगभाष्य, ४.७।

२. शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या, तत्र परपीडानुग्रहद्वारेण कर्माशय-प्रचयः। वही, ४.७।

३. तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र, ४.७।

४. सांख्यप्रवचनभाष्य, १.६।

५. बालरामोदासीन, विद्वत्तोषिणी, का० २, पृ० ३२-५८।

परिच्छेद ८

पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय और वेद-प्रामाण्य

१. मीमांसा-सम्प्रदाय का सामान्य परिचय

मीमांसा शब्द का अर्थ है विचार या पूजित विचार। प्राचीन काल में तत्त्व-विवेचन के लिये भी मीमांसा शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है, इसी आधार पर पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा का नामकरण हुआ होगा। वैदिक कर्म-काण्ड का ब्राह्मण ग्रन्थों में निरूपण किया गया है। ये ब्राह्मण ग्रन्थ वेद-व्याख्यान सम्बन्धी ग्रन्थों के पूर्व भाग हैं। अतः कर्मकाण्ड सम्बन्धी ब्राह्मण ग्रन्थों की विवेचना करने वाला शास्त्र पूर्वमीमांसा कहलाता है। इसे कर्म-मीमांसा या केवल 'मीमांसा' नाम से भी अभिहित किया जाता है। यह शास्त्र वैदिक कर्मकाण्ड का विवेचन करता है; इसीलिये इसमें वेद-प्रामाण्य-विषयक विवेचन भी अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक किया गया है।

मीमांसा का मूल ग्रन्थ मीमांसासूत्र है, इसमें १२ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय पदों में विभक्त किया गया है। इसके रचयिता जैमिनि मुनि हैं। उनका समय विवाद का विषय रहा है।[1] मीमांसा के सूत्रों में वेद-प्रामाण्य की चर्चा है तथा वेद के स्वतः प्रामाण्थ के बीज विद्यमान हैं।

मीमांसासूत्र पर शबर स्वामी का भाष्य है[2], जो इन सूत्रों पर उपलब्ध व्याख्याओं में सबसे प्राचीन है। इससे पहिले भी कुछ व्याख्याएं की गई थीं, जिनके केवल उल्लेख मिलते हैं। शबर स्वामी का समय विवादास्पद है। शाबर भाष्य में वेद-प्रामाण्य का स्पष्ट निरूपण किया गया है तथा स्वतः प्रामाण्य का भी।

---

१. समय-निर्धारण के विषय में विद्वानों में बड़ा मत-भेद है। कुछ विद्वान् सभी दर्शनसूत्रों का समय ईस्वी संवत् के आस पास मानते हैं। अन्य विद्वान् इनका समय पर्याप्त प्राचीन स्वीकार करते हैं। इस विषय में विविध इतिहास ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

२. (i) मीमांसादर्शन, शाबरभाष्यसहित (आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९५३ ई०)।
(ii) शाबरभाष्य, बृहती-ऋजुविमला सहित (मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, १९३४)।

शाबरभाष्य पर दो प्रसिद्ध व्याख्याएं उपलब्ध होती हैं, एक कुमारिल भट्ट की व्याख्या और दूसरी प्रभाकर (गुरु) की व्याख्या।[1] मीमांसा सम्प्रदाय को विशुद्ध दार्शनिक चिन्तन की ओर प्रवृत्त कराने का श्रेय इन्हीं दोनों आचार्यों को है। शाबरभाष्य के प्रथम पाद (=तर्कपाद) पर जो कुमारिल भट्ट की व्याख्या है वह पद्यमय है और श्लोकवार्त्तिक के नाम से प्रसिद्ध है।[2] शेष भाग की व्याख्या तन्त्रवार्त्तिक (प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से तृतीय अध्याय की समाप्ति पर्यन्त[3]) और टुप्टीका (शेष भाग पर) कहलाती है।[4] श्लोकवार्त्तिक भाट्टमत का आधारभूत ग्रन्थ है। इसमें वेद-प्रामाण्य तथा स्वतः प्रामाण्य का विशद विवेचन किया गया है।

प्रभाकर ने शाबरभाष्य पर दो व्याख्याएं लिखी हैं बृहती और लघ्वी। बृहती को निबन्धन टीका और लघ्वी को विवरण भी कहा जाता है। इनमें लघ्वी अधिक सरल तथा स्पष्ट है। प्रभाकर की कृतियों में भी वेद-प्रामाण्य का निरूपण किया गया है।

कुमारिल भट्ट और प्रभाकर के मत क्रमशः भाट्टमत एवं गुरुमत के नाम से विख्यात हैं। इनके अनुयायियों की एक लम्बी परम्परा रही है। उन्होंने इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी हैं तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचना की है। उनकी कृतियों में भी वेद-प्रामाण्य सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। संक्षेप में, अन्य आचार्यों के विषय में यह कहा जा सकता है :—

मण्डनमिश्र के कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनके 'विधिविवेक' ग्रन्थ पर वाचस्पति-मिश्र की न्यायकणिका नामक टीका है।[5] प्रभाकर की बृहती टीका पर उनके शिष्य शालिकनाथ की 'ऋजुविमला' नाम की व्याख्या है और शालिकनाथ की प्रकरण-पञ्चिका गुरुमत का विवेचन करने वाला एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है।

श्लोकवार्त्तिक पर भट्टोम्बेक की तात्पर्यटीका,[6] सुचरितमिश्र की काशिका[7] तथा पार्थसारथिमिश्र की न्यायरत्नाकर व्याख्या विशेष प्रसिद्ध है।

---

१. बृहती (शाबरभाष्य व्याख्या) ऋजुविमलासहित, (मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, १९३४)।
२. मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, न्यायरत्नाकरव्याख्या सहित (चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, बनारस, १८९८ ई० तथा तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८)।
३. तन्त्रवार्त्तिकसहित शाबरभाष्य (आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९३१, १९७२ ई०)
४. टुप्टीकासहितशाबरभाष्य (आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९३२, १९७३ ई०)।
५. विधिविवेक, न्यायकणिका सहित (तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८ ई०)।
६. श्लोकवार्त्तिक तात्पर्यटीका सहित (मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज, १९४०)।
७. श्लोकवार्त्तिक काशिका (ट्रावनकोर यूनिवर्सिटी, १९४३)।

इसी प्रकार तन्त्रवार्त्तिक पर सोमेश्वर भट्ट की न्यायसुधा भी ।[1] पार्थसारथिमिश्र के शास्त्रदीपिका आदि स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं ।

इनके अतिरिक्त माधव का 'जैमिनीयन्यायमालाविस्तर'[2], अप्पय्य दीक्षित का 'विधिरसायन'[3], आपदेव का 'मीमांसान्यायप्रकाश'[4], लौगाक्षिभास्कर का 'अर्थसंग्रह;'[5] खण्डदेव की 'भाट्टदीपिका'[6], गागाभट्ट (विश्वेश्वर) की 'भाट्ट-चिन्तामणि',[7] कृष्णयज्वा की 'मीमांसापरिभाषा'[8] और नारायण भट्ट का 'मानमेयोदय'[9] आदि ग्रन्थ मीमांसा के अध्ययन-अध्यापन में विशेष प्रचलित हैं। इनमें से अधिकांश ग्रन्थ मीमांसा-सम्बन्धी प्रकरण-ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। इन ग्रन्थों में भी वेदप्रामाण्यविषयक चर्चा यत्र-तत्र उपलब्ध होती है ।

मीमांसा का साहित्य अत्यन्त विशाल है। यहाँ इसके प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर ही वेद-प्रामाण्य पर विचार करना संभव है। इन ग्रन्थों में भी कभी-कभी एक ही विचार रूपान्तर से प्रस्तुत कर दिया गया है। ऐसे प्रसङ्गों में सरल एवं स्पष्ट विवेचन का आधार लेना ही उचित समझा गया है ।

२. मीमांसासूत्र में वेद-प्रामाण्य

मीमांसासूत्र का प्रमुख कार्य है—वेदार्थ का निश्चय कराने वाले नियमों का विश्लेषण करना। अत्यन्त प्राचीन काल से वेदों का अर्थ मुख्यरूप से कर्म-काण्डपरक किया जाता रहा है, इसी हेतु मीमांसासूत्रों में भी कर्मकाण्ड के सन्दर्भों का वाहुल्य देखा जाता है। इस सूत्रग्रन्थ का प्रयोजन है—धर्म की जिज्ञासा का समाधान करना। इसका प्रथम सूत्र 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इसी अर्थ का कथन करता है। जैसा कि शाबर भाष्य से ज्ञात होता है, धर्म की जिज्ञासा वेदाध्ययन के

---

१. न्यायसुधा (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९०२)।
२. जैमिनीयन्यायमालाविस्तर (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस)।
३. विधिरसायन (चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, काशी, १९०१)।
४. मीमांसान्यायप्रकाश (१. मैडिकल हॉल यन्त्र, काशी; २. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९२१, १९४९)।
५. अर्थसंग्रह (१. मास्टर खिलाड़ीलाल एण्ड सन्स, कचौड़ी गली बनारस, १९५३; २. चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी, १९७४)।
६. भाट्टदीपिका (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२२)।
७. भाट्टचिन्तामणि (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३३)।
८. मीमांसापरिभाषा (निर्णयसागर, बम्बई, १९५०)।
९. मानमेयोदय (अडयार, मद्रास, १९७५)।

अनन्तर की जाती है,[१] वेदाध्ययन धर्मजिज्ञासा का हेतु भी है[२]। जिस अर्थ का वेद द्वारा विधान किया गया है वह धर्म है[३]। धर्म अर्थात् श्रेयस्कर कर्म, जो श्रेयस्कर कर्म हैं उन्हें ही यहाँ धर्म शब्द से कहा गया है।[४] इसीलिये सूत्र में 'अर्थ' शब्द रक्खा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी वचन हैं जिनके अनुसार अनुष्ठान करके श्रेयस् की प्राप्ति नहीं होती, अर्थ की प्राप्ति नहीं होती; अपितु उलटे अनर्थ की प्राप्ति हो जाती है; जैसे 'श्येनेनाऽभिचरन् यजेत'। ये अभिचार कर्म इत्यादि धर्म नहीं कहलाते; क्योंकि ये श्रेयस्कर नहीं हैं।[५] वस्तुतः इनका कर्त्तव्य रूप में विधान नहीं किया गया है; अपितु केवल यह दिखलाया गया है कि जो हिंसा करना चाहता है उसके द्वारा श्येनयाग आदि किया जाया करता है। यह नहीं कहा गया कि अभिचार कर्म करना चाहिये[६]। वेद का प्रतिपाद्य विषय धर्म है और धर्म के ज्ञान के लिये वेदवाक्यों का विचार करना होता है जिसके लिये वेदाध्ययन की आवश्यकता है।[७] मीमांसाशास्त्रवेद के अर्थ-बोध का साधन है।

मीमांसासूत्रों में वेदविषय के विविध पक्षों पर विचार किया गया है, जैसे 'वेद नित्य हैं', 'वेद अपौरुषेय हैं', 'वे धर्म के विषय में प्रमाण हैं', 'वे ही धर्म में प्रमाण हैं प्रत्यक्ष आदि नहीं। इन्हीं सन्दर्भों में वेद-प्रामाण्य-विषयक मन्तव्य भी अभिव्यक्त हो जाता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, यह बतलाकर आगे कहा गया है—तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्।[८] इस वचन में ही वेद के स्वतः प्रामाण्य का संकेत देखा जाता है।

जैमिनि ने मीमांसासूत्रों में वेद-प्रामाण्य-विषयक आक्षेपों का निराकरण भी किया है। उदाहरणार्थ, तर्कपाद के अन्तिम अधिकरण में पूर्वपक्ष की ओर से कहा गया है कि वेद पौरुषेय हैं, अतः वञ्चक जनों के वाक्य के समान अप्रमाण हैं। वहाँ इस पूर्वपक्ष की शङ्का का निराकरण करके यह प्रतिपादित किया गया

---

१. तस्माद् वेदाध्ययनमेव पूर्वमभिनिर्वर्त्यानन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्यः। शाबरभाष्य (आनन्दाश्रम, पूना, १९७६), मी० सू०, १.१.१. पृ० ८।

२. एवमधीतो वेदो धर्मजिज्ञासायां हेतुर्ज्ञातः। वही, पृ० ९।

३. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। वही, १.१.२, पृ० १३।

४. य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते। वही, १.१.२, पृ० २०।

५. द्र०, वही, पृ० २१-२२।

६. नाभिचरितव्यम् इति। वही, पृ० २२।

७. धर्माय हि वेदवाक्यानि विचारयितुमनधीतवेदो न शक्नुयात्। वही, १.१.२, पृ० ९।

८. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। मीमांसासूत्र, १.१.५।

है कि वेद अपौरुषेय हैं; जिससे स्पष्ट है कि उनमें पुरुषकृत दोषों की संभावना ही नहीं है और वे प्रमाण हैं ।[1]

वेद की प्रामाणिकता तभी सिद्ध हो सकती है जब वेद-प्रतिपादित ज्ञान यथार्थ हो । किन्तु जैसा निरुक्त में भी पूर्वपक्ष के रूप में दिखलाया गया है, किन्हीं के मत में वेद-वाक्य अनर्थक हैं, उनके अर्थ ही नहीं होते, अथवा अनुचित और असंगत अर्थ होते हैं । जैमिनि के समक्ष भी यह प्रश्न था । इसी हेतु उन्होंने मन्त्रों, विधियों और अर्थवादों सभी की अर्थबोधकता=यथार्थबोधकता दिखलाई है ।

मन्त्र यथार्थ के बोधक हैं, इसे पूर्वपक्षी स्वीकार नहीं करता । उसका कथन है :—मन्त्र किस अर्थ को कहता है, यह ब्राह्मणवाक्यों द्वारा बतलाया गया है; जैसे—'उरु प्रथस्व' इस मन्त्र के विषय में ब्राह्मण कहता है—'पुरोडाशं प्रथयति' । यदि मन्त्र अर्थबोधक होते तो ऐसे ब्राह्मणवाक्य का क्या उपयोग था[2] ? मन्त्रों में शब्दों का क्रम नियत है; 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' इसी आनुपूर्वी में मन्त्र पढ़ना होता है । यदि यह अर्थ का बोधक होता तो व्युत्क्रम से भी पढ़ा जा सकता था, उससे भी अर्थ-बोध होना संभव था ।[3] जानी हुई बात को भी मन्त्र बतलाते हैं; जैसे अग्नीध्र नामक पुरोहित अपने कार्य को जानता है फिर भी 'अग्नीद् अग्नीन् विहर' ऐसा कहा जाता है ।[4] वेद में कहा गया है 'चत्वारि शृङ्गा' (इसके चार सींग हैं तीन पाद हैं); किन्तु ऐसी कोई वस्तु तो उपलब्ध नहीं होती ।[5] अचेतन पदार्थों को भी चेतन के समान कहा गया है; जैसे 'ओषधे त्रायस्वैनम्' (हे ओषधि, इसकी रक्षा करो) ।[6] परस्पर विरुद्ध बातें कही गई हैं; जैसे 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (अदिति द्यौ है वही अन्तरिक्ष है); जो अदिति द्यौ है वह अन्तरिक्ष कैसे हो सकता है ?[7] जिस प्रकार स्वाध्याय के समय मन्त्र किसी अर्थ का बोध नहीं कराते उसी प्रकार यज्ञकाल में भी नहीं करा सकते ।[8] इसके अतिरिक्त कुछ मन्त्रों का अर्थ तो जाना ही नहीं जाता; जैसे 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादि ।[9] और अनित्य

---

१. वही, १.१.२७-३२ ।
२. तदर्थशास्त्रात् । वही, १.२.३१ ।
३. वाक्यनियमात् । वही, १.२.३२ ।
४. बुद्धशास्त्रात् । वही, १.२.३३ ।
५. अविद्यमानवचनात् । वही, १.२.३४ ।
६. अचेतनेऽर्थबन्धनात् । वही, १.२.३५ ।
७. अर्थविप्रतिषेधात् । वही, १.२.३६ ।
८. स्वाध्यायवदवचनात् । वही, १.२.३७ ।
९. अविज्ञेयात् । वही, १.२.३८ ।

पदार्थों के साथ मन्त्रों का सम्बन्ध है, इसलिये भी वे (नित्य तथा अपौरुषेय नहीं हैं तथा) अनर्थक हैं; उदाहरणार्थ 'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः' इत्यादि मन्त्र में 'कीकट' नामक जनपद का उल्लेख है।[१] इससे विदित होता है कि इस जनपद की प्रसिद्धि के पूर्व यह मन्त्र नहीं था। फलतः मन्त्र अनर्थक हैं, वे अर्थ के बोधक ही नहीं, फिर वे प्रमाण (=यथार्थ के बोधक) कैसे हो सकते हैं?

पूर्वपक्षी की इन युक्तियों का मीमांसासूत्रों में विस्तार से निराकरण किया गया है:—

(क) जिस प्रकार लोक में वाक्य का अर्थ होता है इसी प्रकार वेद में भी वाक्य का अर्थ हुआ करता है।[२] इसलिये मन्त्र अर्थ के बोधक होते हैं अनर्थक नहीं।

(ख) मन्त्रों के सार्थक होने पर भी ब्राह्मणवाक्यों द्वारा उनके अर्थ का पुनः कथन किया गया है। क्यों? कहीं संख्या आदि गुण के बोध के लिये, कहीं अन्य अर्थ के निषेध के लिये और कहीं किसी अर्थवाद (स्तुति-निन्दापरक वचन) से सम्बन्ध दिखलाने के लिये।[३]

(ग) यह ठीक है कि मन्त्रों में आनुपूर्वी नियत है उनके शब्दों का क्रम बदला नहीं जाता; किन्तु इस बात का उनके सार्थक होने से कोई विरोध नहीं है। लोकभाषा में भी अनेक स्थलों पर पद, समास या वाक्य की आनुपूर्वी नियत होती है और वहाँ अर्थ-बोध हुआ ही करता है।[४]

(घ) जानी गई बात का मन्त्र द्वारा स्मरण करने से एक विशिष्ट धर्म हुआ करता है अतः वह भी अयुक्त नहीं है।[५]

(ङ) जो 'चत्वारि शृङ्गा', इत्यादि वचन हैं वहाँ गौण अर्थ समझना चाहिये। जैसे याज्ञिकों ने इसकी संगति यज्ञ के प्रसङ्ग में लगाई है— होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा यज्ञ के चार शृङ्ग हैं, प्रातः, मध्याह्न और सायम् इसके तीन पाद हैं इत्यादि।[६] वैयाकरणों ने इसकी व्याख्या शब्द के प्रसङ्ग में की है।[७]

---

१. अनित्यसंयोगात् मन्त्रानर्थक्यम्। वही, १.२.३९।
२. अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः। वही, १.२.४०।
३. द्र०, गुणार्थेन पुनः श्रुतिः। परिसंख्या। अर्थवादो वा। वही, १.२.४१-४३।
४. अविरुद्धं परम्। वही, १.२.४४।
५. संप्रैषे कर्म गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्। वही, १.२.४५।
६. सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका (भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी), पृ० २७।
७. महाभाष्य (व्याकरणप्रयोजन), १.१.१।

इसी प्रकार 'ओषधे त्रायस्व', 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादि वचन भी अर्थवाद के रूप में हैं; 'ओषधे त्रायस्व' का तात्पर्य है कि जिस वपन कार्य में ओषधि भी रक्षा करती है उसमें 'वपनकर्ता रक्षा करता है', इसका तो कहना ही क्या?[1]

(च) जो एक ही अदिति को द्यौ तथा अन्तरिक्ष कहा गया है उसमें भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वहाँ भी गौण अर्थ लेना चाहिये। इसी प्रकार लोक में भी कहा जाता है—'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' (तू ही माता है तू ही पिता है)।[2]

(छ) वेद-मन्त्रों के अर्थ को यज्ञ आदि के अवसर पर प्रकट किया जाता है यदि स्वाध्यायकाल में उनका अर्थ नहीं बतलाया जाता है तो इससे वे अनर्थक नहीं हो जाते।[3]

(ज) 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादि वचन भी सार्थक हैं; जैसे 'जर्भरी' का अर्थ है भरण करने वाले। इसका प्रयोग अश्विनों के विशेषण रूप में किया गया है।[4] मन्त्रों में किसी अनित्य पदार्थ का उल्लेख नहीं है, यह मीमांसासूत्र के प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में दिखलाया जा चुका है। वहाँ यह भी सिद्ध किया गया है कि वेद अपौरुषेय हैं।[5]

इस प्रकार पूर्वपक्षी की शङ्काओं का समाधान करके मीमांसासूत्रों में मन्त्रों की सार्थकता सिद्ध करने के लिये भी युक्तियाँ दी गई हैं, जैसेः—

(क) ब्राह्मण में विधान किया गया है 'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठते'—आग्नेयी ऋचा से अग्नीध्र स्थान (मण्डप-विशेष) में उपस्थित होता है। आग्नेयी शब्द का अर्थ है वह ऋचा जिसका देवता अग्नि है। इस शब्द के द्वारा 'अग्ने नय०' (ऋक्० १.१८९.१) इत्यादि मन्त्र का ग्रहण किया जाता है। ब्राह्मण में इस मन्त्र की प्रतीक नहीं दी गई, अपितु इसे 'आग्नेयी' ऋचा कहा गया है। इससे विदित होता है कि आग्नेयी शब्द से उस ऋचा का ग्रहण किया गया है जिसमें अग्नि देवता का प्रधान रूप से प्रतिपादन किया जाता है। अतः इस ब्राह्मण वचन से स्पष्ट है कि मन्त्रों का अर्थ हुआ करता है।[6]

---

१. अभिधानेऽर्थवादः। मीमांसासूत्र, १.२.४६।
२. गुणादविप्रतिषेधः स्यात्। वही, १.२.४७।
३. विद्यावचनमसंयोगात्। वही, १.२.४८।
४. सतः परमविज्ञानम्। वही, १.२.४९।
५. उक्तश्चानित्यसंयोगः। वही, १.२.५०।
६. लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्। वही, १.२.५१; द्र०, सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० ३१।

(ख) प्रकृति याग में जो मन्त्र पढ़ा जाता है जब वही विकृति याग में भी पढ़ना होता है तो अर्थ की संगति के लिये उसमें दूसरे पद की ऊहा करनी होती है। उदाहरणार्थ, प्रकृतियाग में एक पशु है अतः वहाँ 'अन्वेनं माता मन्यताम् अनु पिता' इत्यादि मन्त्र पढ़ा जाता है; किन्तु जिस विकृति याग में दो पशु हैं वहाँ 'अन्वेनौ माता मन्यताम्' इस मन्त्र की ऊहा की जाती है और इसी प्रकार बहुत पशु होने पर 'अन्वेनान् माता मन्यताम्' इस मन्त्र की। यदि मन्त्रों के अर्थ न हुआ करते तो दो पशु होने पर द्विवचन की तथा बहुत से पशु होने पर बहुवचन की ऊहा मन्त्र में क्यों की जाती ?[१] और,

(ग) ब्राह्मणग्रन्थों में मन्त्रों का अर्थ दिखलाया गया है, जिससे स्पष्ट है कि मन्त्र सार्थक होते हैं, अनर्थक नहीं। भाव यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों में मन्त्र के व्याख्यान रूप में कुछ शब्द हैं जो विधि शब्द कहे जाते हैं, जैसे 'शतं हिमाः', शतं वर्षाणि जीव्यास्म इत्येव एतदाह' (शत० ब्रा०, २.३.४.२१)। इस ब्राह्मणवाक्य में 'शतं हिमाः' यह मन्त्रांश है, अग्रिम अंश इसकी व्याख्या के रूप में है, जो इसके तात्पर्य को स्पष्ट करता है। यदि मन्त्र सार्थक न होते तो ब्राह्मणों में मन्त्रों का तात्पर्य कैसे दिखलाया जा सकता था ?[२]

इस प्रकार मन्त्र सार्थक हैं, उनके अर्थ हुआ करते हैं। अतः मन्त्रों को अनर्थक मानकर जो वेद की प्रामाणिकता पर आक्षेप किया गया है, वह युक्ति-युक्त नहीं है। मीमांसासूत्रों के अन्य भी कतिपय सन्दर्भों में वेद-प्रामाण्य पर किये गये आक्षेपों का निराकरण किया गया है और सुदृढ़ युक्तियों के आधार पर वेद की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। शाबर भाष्य में इन सूत्रों की विशद व्याख्या की गई है और अन्य स्थलों पर भी वेदप्रामाण्य पर विचार किया गया है।

३. शाबर भाष्य में वेद-प्रामाण्य-विचार

शाबर भाष्य में अनेक स्थलों पर वेद-प्रामाण्य का विचार किया गया है। यहाँ वेद-प्रामाण्य पर किये गये आक्षेपों का भी निराकरण किया गया है। मीमांसक की स्थापना है कि वेदवाक्य धर्म में प्रमाण हैं। इस पर शङ्का होती है—वेदवाक्य मिथ्या (अतथाभूत) अर्थ का भी कथन कर सकते हैं; जैसे,

---

१. ऊहः। वही, १.२.५२ (मि०, सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० ३०-३२)।
२. विधिशब्दाच्च। वही, १.२.५३ (मि०, सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० ३३)।

कोई लौकिक वाक्य है 'नदी के तीर पर फल हैं', यह वाक्य तथ्य भी हो सकता है, मिथ्या भी[1]। इसी प्रकार वेदवाक्य भी मिथ्या हो सकते हैं।

इस शङ्का का समाधान करते हुए शबर स्वामी कहते हैं—यह परस्पर विरुद्ध कथन है कि वेदवाक्य अर्थ को कहता है (ब्रवीति) और मिथ्या है।[2] कहता है (ब्रवीति) इसका अर्थ है बोध कराता है, अर्थबोध का निमित्त होता है। जिस निमित्त से बोध होता है वही बोध कराता है। यदि वेदवाक्य के द्वारा अग्निहोत्र से स्वर्ग होता है, इस प्रकार का बोध होता है तो यह कैसे कहते हो कि वैसा बोध नहीं होता। और, यदि वैसा बोध नहीं होता तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उससे बोध होता है। वेदवाक्य बोध कराता है, और, बोध नहीं कराता ये दोनों परस्पर-विरुद्ध कथन हैं।[3]

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक ज्ञान स्वभावतः प्रमाण होता है, ज्ञान स्वतः प्रमाण है, अतः वेद-प्रतिपादित ज्ञान भी प्रमाण है। शाबर भाष्य में आगे यह भी बतलाया गया है कि ज्ञान का अप्रामाण्य (मिथ्यात्व) कारणों पर आधारित होता है--अप्रामाण्य परतः होता है। यदि किसी वाक्य से ज्ञान न हो (ज्ञानाभाव) या सन्दिग्ध ज्ञान अथवा भ्रान्त ज्ञान हो तो उस वाक्य को अप्रामाणिक (अप्रमाण) कहा जाता है। अप्रामाण्य-निश्चय के कारण हैं – बाधकज्ञान और कारणदोष-ज्ञान। यदि इनमें से कोई होता है तो ज्ञान को अप्रमाण (मिथ्या) मान लिया जाता है।[4]

वेद-वाक्य से ज्ञान होता है, यह स्वीकार कर लेने पर यहाँ ज्ञान की अनुत्पत्ति (ज्ञानाभाव) नहीं है। मिथ्यात्व के अन्य रूपों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि वेद-वाक्य से उत्पन्न ज्ञान में संशय भी नहीं है; क्योंकि 'स्वर्ग-कामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला याग करे) इस वचन के द्वारा 'स्वर्ग होता है या नहीं', इस प्रकार का सन्दिग्ध ज्ञान नहीं होता, अपितु निश्चित ज्ञान होता है फिर यह वचन मिथ्या कैसे हो सकता है ?[5] वेद से उत्पन्न ज्ञान भ्रान्त भी

---

१. नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना यथा यत्किञ्चन लौकिकं वचनं 'नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति' तत्तथ्यमपि भवति वितथमपि भवतीति। शाबरभाष्य (आनन्दाश्रम पूना, १९५३), १.१.२, पृ० १३ (चतुर्थ वृत्ति, १९७६, पृ० १५)।

२. विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते ब्रवीति वितथं चेति। वही, पृ० १४ (१६)।

३. द्र०, वही, पृ० १४ (१६)।

४. तस्मात् यस्य च दुष्टं कारणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययः, नान्य इति। वही, १.१.५, पृ० २८ (३४)।

५. न च 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यतो वचनात् सन्दिग्धमवगम्यते' भवति वा स्वर्गो न वा भवती'ति न च निश्चितमवगम्यमानमिदं मिथ्या स्यात्। वही, पृ० १५ (१७)।

नहीं है; क्योंकि इस ज्ञान का बाधक कोई ज्ञान नहीं है। ऐसा नहीं होता कि स्वर्ग की कामना वाला याग करे, पहिले यह बोध हो जाता हो और उसके बाद उसके विपरीत ज्ञान होता हो।[1] जैसे पहिले शुक्ति (सीपी) में 'यह रजत है,' इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है फिर यह 'रजत नहीं शुक्ति है', इस प्रकार का ज्ञान होता है, वहाँ पहिला ज्ञान मिथ्या समझ लिया जाता है। वेदवाक्यों से होने वाले ज्ञान में यह बात नहीं है। वहाँ किसी समय किसी दूसरे व्यक्ति को अन्य अवस्था में या अन्य देश में उस ज्ञान के विपरीत ज्ञान नहीं देखा जाता। इसलिये वेद से होने वाला ज्ञान मिथ्या (अप्रमाण) नहीं है।[2] वेदवाक्य से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में कारण-दोष का ज्ञान भी नहीं है। पुरुषकृत वाक्य में ही यह हो सकता है कि कभी सत्य हो कभी मिथ्या हो जाये; किन्तु वेदवाक्य के मिथ्या होने में तो कोई प्रमाण है नहीं।[3]

वेद-वचन के मिथ्या होने में कोई प्रमाण नहीं, इस कथन की शाबर भाष्य में कुछ अधिक व्याख्या की गई है :—

(शङ्का) सामान्य रूप से देखे गये पुरुषवाक्य को मिथ्या पाकर वेद-वाक्य (इदम्) को भी मिथ्या जान लिया जायेगा। क्योंकि यह भी वाक्य है।[4]

(समाधान) यह ठीक नहीं; क्योंकि वेद-वाक्य पुरुषवचन से भिन्न है और, किसी अन्य के मिथ्या होने से दूसरे का मिथ्या होना सिद्ध नहीं हो सकता। यदि देवदत्त श्याम वर्ण का है तो इससे यज्ञदत्त का श्यामल होना तो सिद्ध नहीं होता।[5]

भाष्य के इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि दोषों का आश्रय पुरुष होते हैं अतः पुरुष के वचनों में कारण-दोष-ज्ञान होना सम्भव है। वेदवाक्य तो पुरुषकृत नहीं हैं। जब उनका कोई वक्ता ही नहीं है तो उनमें वक्ता के दोष से मिथ्यात्व होने की शङ्का ही नहीं की जा सकती। अतः कारण-दोष-ज्ञान से भी वेदवाक्य मिथ्या सिद्ध नहीं हो सकते—'न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किंचन प्रमाणमस्ति'।[6]

---

१. यो हि जनित्वा प्रध्वंसते नैतदेवमिति स मिथ्याप्रत्ययः। वही, पृ० १५ (१७)।
२. न चैष कालान्तरे पुरुषान्तरेऽवस्थान्तरे देशान्तरे वा विपर्येति। तस्मादवितथः। वही, पृ० १५ (१७)।
३. विप्लवते हि खल्वपि कश्चित् पुरुषकृताद् वचनात् प्रत्ययः। न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किंचन प्रमाणमस्ति। वही, पृ० १७ (१९)।
४. वही, पृ० १७ (१९)।
५. वही, पृ० १७ (१९)।
६. वही, पृ० १७ (१९)।

ऊपर चर्चित भाष्य में वेदवचनों की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये एक अनुमान की ओर संकेत किया गया है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होगा :—

वेदवचन मिथ्या है (प्रतिज्ञा),
क्योंकि वह वचन (वाक्य) है (हेतु),
सामान्य जन के वचन के समान (उदाहरण)।

शबर स्वामी का कथन है कि इस प्रकार के अनुमान से वेदवाक्यों की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। सभी वचन मिथ्या होते हैं—अप्रमाण होते हैं, ऐसा मानने में कोई युक्ति नहीं है। केवल समानता मात्र (साधर्म्य) के होने से तो किसी मन्तव्य की सिद्धि नहीं की जा सकती, एक मनुष्य काला है, इसके आधार पर यह तो सिद्ध नहीं किया जा सकता कि दूसरा भी काला ही होगा।

इस विषय में शाबर भाष्य में दूसरी युक्ति भी दी गई है, जो इस प्रकार है:—पुरुष-वचनों के समान होने से वेदवचन भी मिथ्या हैं, इस प्रकार की अनुमिति प्रयोग (व्यपदेश=अनुमान-प्रयोग) से होती है, किन्तु वेदवाक्यों से ज्ञान होता है, यह प्रत्यक्ष ही है। और प्रत्यक्ष-विरोधी अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता।[1] अभिप्राय यह है :—वेदवचनों से संशय या भ्रान्ति नहीं उत्पन्न होती; अपितु यथार्थ ज्ञान होता है, यह ऊपर दिखलाया जा चुका है। फिर पूर्वपक्षी पुरुष-वचनों के साधर्म्य से जो इनका मिथ्यात्व सिद्ध करना चाहता है, उसका तात्पर्य यही हो सकता है कि वेदवचनों से ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता, ज्ञानाभाव (अज्ञान) होता है। किन्तु यह सभी के अनुभव द्वारा सिद्ध है कि वेदवचनों से ज्ञान हुआ करता है। अतः पूर्वपक्षी का अनुमान प्रत्यक्ष द्वारा बाधित हो जाता है और उसके द्वारा वेदवचनों की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती।

जैमिनि के 'औत्पत्तिकस्तु०' इत्यादि सूत्र[2] के भाष्य में यह बतलाया गया है, वेद क्यों प्रमाण है? तथा वह कैसे स्वतः प्रमाण है? मीमांसक की दृष्टि में प्रमाण की दो विशेषताएँ कही जा सकती हैं—एक अज्ञात अर्थ की बोधकता और दूसरी दोषाभाव (बाध और कारणदोष-ज्ञान का अभाव)। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' (स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे) इत्यादि वेद-वाक्य धर्म का

---

१. अपि च पुरुषवचनसाधर्म्याद् वेदवचनं वितथमित्यनुमानं व्यपदेशादवगम्यते। प्रत्यक्षस्तु वेदवचनेन प्रत्ययः। न चानुमानं प्रत्यक्षविरोधि प्रमाणं भवति। वही, पृ० १७ (२०)।
२. मीमांसासूत्र, १.१.५।

बोध कराते हैं। अग्निहोत्र स्वर्ग का साधन है, यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता, अतः यह वाक्य अज्ञात अर्थ का बोधक है।[1]

इस वाक्य द्वारा बोधित जो अर्थ है वह दोष रहित भी है—यहाँ ज्ञान का अर्थ से व्यतिरेक (=भेद) नहीं है। उस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान (अर्थ के) विपरीत नहीं होता। और, जहाँ ज्ञान अर्थ के विपरीत नहीं होता, वहाँ यह नहीं कह सकते कि यह ऐसा नहीं है।[2] इसका उपसंहार करते हुए शबर स्वामी ने बतलाया है—वेद (वह) प्रमाण है, अनपेक्ष होने से।[3] 'तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्', इस जैमिनि वचन में शबर की दृष्टि से वेद का स्वतः प्रामाण्य बतलाया गया है। इसकी व्याख्या में वे कहते हैं—वेद-वाक्य से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा यथोक्त अर्थ की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा होने पर (एवं सति) इसके प्रामाण्य के लिये न अन्य ज्ञान की अपेक्षा होती है और न ही अन्य पुरुष की। यह तो स्वयं बोधक है।[4]

इस प्रकार वेद-प्रतिपादित ज्ञान अज्ञात (अनधिगत) अर्थ का बोध कराता है, वह किसी अन्य पुरुष या ज्ञान की अपेक्षा किये बिना ही अपने अर्थ का बोध कराता है और वह दोष-रहित है अतः प्रमाण है—यथार्थ ज्ञान है और वह स्वतः प्रमाण है; क्योंकि उसके प्रामाण्य के निश्चय के लिये अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। परवर्ती व्याख्याकारों ने शाबर भाष्य के इस प्रकार के वचनों द्वारा वेद का स्वतः प्रामाण्य तथा सभी ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया है।

४. वृत्तिकार और वेद-प्रामाण्य

शाबरभाष्य में जो वृत्तिकार[5] के मतानुसार अन्य प्रकार से तीन सूत्रों की व्याख्या दिखलाई गई है उसमें भी ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य तथा वेद का स्वतः

---

१. 'अर्थेऽनुपलब्धे' पद की व्याख्या में शबर स्वामी कहते हैं—तस्य अग्निहोत्रादिलक्षणस्य धर्मस्य निमित्तं प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्य। शाबरभाष्य, मीमांसासूत्र, १.१.५, पृ० २३-२४ (२८-२९)।

२. अव्यतिरेकश्च ज्ञानस्य। न हि तदुत्पन्नं ज्ञानं विपर्येति। यच्च नाम ज्ञानं न विपर्येति, न तच्छक्यते वक्तुं नैतदेवमिति। वही, पृ० २४ (२९)।

३. अनपेक्षत्वात्। वही, पृ० २४-२५ (२९)।

४. न ह्येवं सति प्रत्ययान्तरमपेक्षितव्यम्, पुरुषान्तरं वापि।
स्वयंप्रत्ययो ह्यसौ। वही, पृ० २५ (२९-३०); अयं प्रत्ययो 'पाठान्तर है।

५. यह माना जाता है कि वृत्तिकार के नाम से यहाँ उपवर्ष आचार्य का मत प्रस्तुत किया गया है। किन्हीं के अनुसार यह वृत्तिकार बोधायन हैं। उपवर्ष और बोधायन दोनों एक ही हैं या भिन्न-भिन्न हैं इस विषय में विद्वानों का मतभेद है। यह अग्रिम अनुसन्धान का विषय है। यह निश्चित ही है कि ये वृत्तिकार शबर स्वामी से प्राचीन हैं।

प्रामाण्य स्वीकारा गया है। वृत्तिकार कहते हैं—जिस ज्ञान का दोषयुक्त साधन होता है, और जहाँ ज्ञान होने के पश्चात् यह मिथ्या है इस प्रकार का निश्चय हुआ करता है वही ज्ञान अयथार्थ हुआ करता है, अन्य नहीं।[1] इससे यह स्पष्ट है कि सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं, यथार्थ होते हैं; किन्तु जिस ज्ञान के विषय में कारण-दोष-ज्ञान या बाध-ज्ञान हो जाता है उसे अयथार्थ मान लिया जाता है। फलतः सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं।

वृत्तिकार ने पूर्वपक्ष की ओर से वैदिक विधि-विधानों की अयथार्थता दिखलाकर शब्दमात्र की प्रामाणिकता में ही शङ्का प्रस्तुत की है और उसका समाधान किया है, जिसमें वेद का स्वतः प्रामाण्य प्रकट होता है :—

शङ्का का आशय यह है—(क) 'चित्रया यजेत पशुकामः, (पशु की कामना वाला चित्रा नामक याग करे) यह शास्त्र का विधान है; किन्तु चित्रा याग (नामक पशुकामेष्टि) करने पर भी पशुओं की प्राप्ति नहीं होती। अतः यह याग पशुफल प्रदान करने वाला नहीं है। फल तो कर्म करने के समय ही होना चाहिये; जैसे जब मर्दन किया जाता है तभी मर्दन का सुख प्राप्त हो जाता है। यदि कहो कि कालान्तर में पशुयाग का फल होता है, यह भी ठीक नहीं है। जब यह याग विद्यमान होता है तब तो फल प्रदान नहीं करता, फिर जब यह नहीं रहेगा तब कैसे फल प्रदान करेगा? किञ्च, शास्त्र-वचन से विदित होता है कि पशुफल प्रदान करने के लिये याग करण है और जब करण विद्यमान है तो फल भी होना चाहिये। इसके अतिरिक्त पशु-प्राप्ति तो अन्य कारणों से देखी जाती है (किसी को खरीदने से किसी को दान आदि में), जब दृष्ट कारण विद्यमान है तो अदृष्ट की कल्पना करना उचित नहीं, उसमें कोई प्रमाण ही नहीं है। जब वेद-वचनों में दृष्ट फल का व्यतिक्रम देखा जाता है तो स्वर्ग आदि जो अदृष्ट फल हैं, वे भी कैसे होंगे? इस प्रकार वेद-वचनों का अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा बाध हो जाता है।

(ख) कुछ वेद-वचन प्रत्यक्ष के भी विपरीत हैं, जैसे पात्रचयन का विधान करके कहा गया है—वह यह यज्ञ-पात्र वाला (यज्ञायुधी)[2] यजमान सहज ही स्वर्गलोक को चला जाता है। यहाँ 'एषः' (यह) शब्द द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई

१. यस्य च दुष्टं कारणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्ययः, नान्य इति। शाबर-भाष्य, पृ० २८ (३४)।

२. यज्ञायुधम् अस्त्यस्येति यज्ञायुधी। यहाँ यज्ञपात्र आदि को ही यज्ञायुध कहा गया है। द्र०, शाबरभाष्य व्याख्या, पृ० ४१ (४६)।

देने वाले शरीर को ही कहा गया है, और वह (शरीर) तो स्वर्गलोक को जाता नहीं, वह तो आँखों के सामने ही जला दिया जाता है।

इस प्रकार के प्रत्यक्ष-विरुद्ध वचन प्रमाण नहीं होते; जैसे कोई कहे कि तुम्बियां जल में डूब जाती हैं और पाषाण तैरते हैं।

(ग) जब अनुपलब्धि तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा वेद के कुछ वचनों की अप्रामाणिकता स्पष्ट ही है तो इन्हीं वचनों के समान 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे) इत्यादि वैदिक विधियाँ भी विश्वसनीय न होंगी। उनकी अप्रामाणिकता में यह अनुमान होगा :—

अग्निहोत्र आदि वचन प्रमाण नहीं (प्रतिज्ञा),
वेदवाक्य होने से (हेतु),
'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वेदवाक्य के समान (उदाहरण)।[1] 'चित्रया यजेत' इत्यादि का अप्रामाण्य अभी ऊपर दिखलाया गया है।

इस शङ्का का समाधान करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि शब्द का अर्थ के साथ स्वाभाविक (औत्पत्तिक) सम्बन्ध है, वेदवाक्यों से प्रत्यक्ष आदि के द्वारा अनवगत (अनधिगत) अग्निहोत्र आदि के विषय में ज्ञान उत्पन्न होता है अतः वेद-वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान सम्यग् ज्ञान है।[2] इस कथन की विस्तृत व्याख्या की गई है जिसका अभिप्राय यह है :—वेदवाक्य प्रमाण हैं; क्योंकि वे अनधिगत एवं असन्दिग्ध अर्थ के बोधक हैं। वे स्वतः प्रमाण हैं; क्योंकि अपौरुषेय होने से उनमें प्रवञ्चना और भ्रान्ति जैसे दोषों की आशङ्का नहीं, ये दोष तो पुरुष के वाक्यों में होते हैं। वेदवाक्यों का कभी बाध भी नहीं होता। वेद को मिथ्या सिद्ध करने के लिये जो पूर्वपक्षी ने अनुमान दिया है वह भी साक्षात् अनुभव के विपरीत होने से वेद-वाक्य-जनित ज्ञान का बाधक नहीं हो सकता। जिस ज्ञान के विषय में कारणदोष-ज्ञान या बाध-ज्ञान नहीं होता वह स्वतः प्रमाण हुआ करता है, यह मीमांसा का मन्तव्य है।[3] इस प्रकार वृत्तिकार ने जो मन्तव्य विस्तारपूर्वक प्रकट किये थे उन्हें प्रकारान्तर से शाबर भाष्य में कह दिया गया है और उन्हें परिष्कृत

---

१. अग्निहोत्रादिचोदना अप्रमाणं वेदवाक्यैकदेशत्वात्, चित्रादिचोदनावत्। व्याख्या, वही, पृ० ४१ (५०)।

२. अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः। तस्याग्निहोत्रादिलक्षणस्यार्थस्य ज्ञानं प्रत्यक्षादिभिरनवगम्य-मानस्य। तथा च चोदनालक्षणः सम्यक्संप्रत्यय इति। शाबरभाष्य, पृ० ४२ (५०-५१)।

३. वही, पृ० ४२ (५१)।

करने का भी प्रयास किया गया है। हाँ, इस विषय में यह विचारणीय ही है: मीमांसकों ने जो कहा है कि वेद के मिथ्यात्व को सिद्ध करने वाले अनुमान का प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा बाध हो जाता है, यह किस प्रकार संगत हो सकता है। उस प्रसङ्ग में कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर मिश्र आदि के तर्कों को देखना होगा।

५. कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर मिश्र के द्वारा वेद-प्रामाण्य की सिद्धि

कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर मिश्र ने शाबर भाष्य की व्याख्या की है, उसमें उठने वाली विविध शङ्काओं का समाधान किया है और अपनी नवीन युक्तियों से वेद-प्रामाण्य की सिद्धि की है। किन्हीं प्रसङ्गों में इन दोनों के मन्तव्यों में भेद भी है। इन सभी तथ्यों पर इनके मत के विवेचन से प्रकाश पड़ेगा।

शाबर भाष्य में पूर्वपक्षी की ओर से शङ्का की गई है कि वेदवाक्य मिथ्या अर्थ का भी कथन कर सकते हैं,[1] इस शङ्का के विषय में प्रश्न हो सकता है कि वेद तो नित्य निर्दोष हैं, शबर स्वामी भी ऐसा मानते हैं। फिर इस प्रकार की शङ्का करना कैसे संगत है। इस शङ्का का समाधान करते हुए कुमारिल भट्ट कहते हैं:- (१) वेद नित्य-निर्दोष हैं, यह बात तो पूर्वपक्षी की दृष्टि में सिद्ध नहीं हुई, असिद्ध है, अतः ऐसी शङ्का उचित ही है। अथवा (२) पूर्वपक्षी का आशय है कि यदि यह मान लिया जाये कि वेद नित्य है, अपौरुषेय है; तब तो वह प्रामाणिक हो ही नहीं सकता। क्यों? यदि वेद को पौरुषेय माना जाता है तो वह आप्त-वचन होने से किसी प्रकार प्रमाण भी हो सकता है; किन्तु वेद को अपौरुषेय मानने पर तो उसमें वक्ता के गुणों से भी प्रामाण्य नहीं आ सकता।[2]

पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है :—(क) शब्द सदा दूसरे प्रमाण द्वारा जाने गये अर्थ का बोध कराता है, वह स्मृति के समान ही स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता। आप्तोक्त होने से ही कोई वचन यथार्थ होता है। वेदवाक्य भी यदि आप्तकृत हैं तो प्रमाण हो सकते हैं अन्यथा नहीं। अथवा यदि शब्दजन्य ज्ञान

१. नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना। वही, १.१.२, पृ० १३ (१५)।
२. नित्यत्वादेरसिद्धत्वादभ्युपेत्योच्यतेऽथवा।
सुतरामप्रमाणत्वं वक्तृप्रामाण्यवर्जनात् ॥ श्लो० वा०, १.१.२.२१।

प्रत्यक्ष आदि के द्वारा यथार्थ सिद्ध हो जाता है तो वह प्रमाण हो सकता है, अन्यथा नहीं। किन्तु वेद-वाक्य-जन्य ज्ञान की यथार्थता प्रत्यक्ष आदि से सिद्ध नहीं होती, अतः यह प्रमाण नहीं हो सकता।[1] जब वेद अपौरुषेय हैं तो ये वाक्य भी बालक या उन्मत्त के वाक्य के समान हैं और प्रमाण नहीं हो सकते।

(ख) नित्य होने से कोई वस्तु प्रमाण नहीं होती; जैसे आकाश नित्य है उसे तो प्रमाण नहीं माना जाता है।[2]

(ग) शब्दों में वक्ता की अपेक्षा से प्रामाण्य या अप्रामाण्य होता है, वे स्वतः प्रमाण नहीं होते।[3]

शावर भाष्य में पूर्वपक्षियों की इस प्रकार की युक्तियों का निराकरण करने के लिये जो 'विप्रतिषिद्धम्' इत्यादि कहा गया है,[4] उसके विषय में कुमारिल भट्ट का कथन है कि यह जात्युत्तर है, प्रतिपक्षी का मुँह बन्द करने के लिए कह दिया गया है। इस कथन के आधार पर तो बुद्ध के वचन भी प्रमाण होने लगेंगे, वे भी तो अर्थ के बोधक होते हैं।[5] फिर प्रतिपक्षी की शङ्काओं का क्या समाधान है ? यह स्पष्ट करते हुए कुमारिल भट्ट ने प्रथमतः यह सिद्ध किया है कि सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं। अर्थ का बोधक होने से ही ज्ञान प्रमाण होता है; किन्तु यदि किसी ज्ञान के विषय में कारणदोषज्ञान या बाधज्ञान हो जाता है तो उसको अप्रामाणिकता मान ली जाती है। शब्द में दोषों की उत्पत्ति वक्ता (कारण) के दोषों से होती है। जब वेद का कोई वक्ता नहीं है, वेद अपौरुषेय हैं तो उनमें कारण-दोष की शङ्का भी नहीं हो सकती।[6] वस्तुतः जो नैयायिक आदि आप्तोक्त होने से किसी वाक्य को प्रमाण बतलाते हैं वहाँ भी वक्ता की आप्तता के कारण दोषों का अभाव सिद्ध हुआ करता है और दोषाभाव के कारण शब्दजन्य ज्ञान के विषय में कारणदोषज्ञान तथा बाधज्ञान का अभाव निश्चित कर लिया जाता है अतः उस ज्ञान को प्रमाण मान लिया जाता है। वेद अपौरुषेय हैं, वहाँ दोषों की संभावना भी नहीं की जा सकती। इस प्रकार दोषाभाव के कारण उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। वेद स्वतः प्रमाण हैं।[7]

१. द्र०, वही, १.१.२. २१-२४।
२. द्र०, वही, १.१.२.२७।
३. द्र०, वही, १.१.२.२८-२९।
४. विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते ब्रवीति वितथं चेति। शाबरभाष्य, पृ० १४ (१६)।
५. श्लो० वा०, १.१.२.३२।
६. वही, १.१.२. ६२-६३।
७. द्र०, वही, १.१.२. ६२-६५।

इस प्रकार शब्द के प्रामाण्य के लिये वक्ता के गुणों की अपेक्षा नहीं, उसके लिये दोषाभाव अपेक्षित है। वह दोषाभाव कहीं तो गुणवान् वक्ता के कारण हुआ करता है, कहीं अपौरुषेय होने के कारण। वेद अपौरुषेय हैं अतः उनमें अप्रामाणिकता की शङ्का भी नहीं हो सकती।[1] पूर्वपक्षी की युक्तियों का निराकरण करते हुए यह भी कहा गया है कि पौरुषेय वाक्यों में ही अन्य प्रमाणों की सङ्गति की अपेक्षा होती है; क्योंकि उनके मिथ्या होने की भी शङ्का हो सकती है, अपौरुषेय वाक्य में ऐसा नहीं होता।[2] अन्य प्रमाणों के साथ जो वेद-वाक्यों की संगति नहीं होती, उससे तो वेदवाक्यों की प्रामाणिकता ही सिद्ध होती है; क्योंकि जो ज्ञान अज्ञात अर्थ का बोधक होता है, वही प्रमाण हुआ करता है।[3]

कुमारिल भट्ट ने अनेक युक्तियों द्वारा ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध करके वेद के स्वतः प्रामाण्य का भी प्रतिपादन किया है। पूर्वपक्षी ने जो युक्तियाँ तथा अनुमान आदि वेद का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किये हैं, उनका भी उन्होंने निराकरण किया है तथा पूर्वपक्षी के अनुमान को अनुमानाभास बतलाया है।[4] कुमारिल भट्ट ने वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये जो तर्क प्रस्तुत किये हैं उनमें इस प्रकार के अनुमान प्रयोग देखे जा सकते हैं:--

(क) वेद-प्रतिपादित ज्ञान प्रमाण है (प्रतिज्ञा),
क्योंकि वह दोष-रहित कारणों से उत्पन्न होता है (हेतु),
अनुमान, आप्तवचन तथा प्रत्यक्ष से उत्पन्न ज्ञान के समान (उदाहरण)[5]।

(ख) वेदप्रतिपादित ज्ञान प्रमाण है (प्रतिज्ञा),
क्योंकि वह अनाप्तों की उक्ति से उत्पन्न नहीं होता (हेतु),
आप्तवचन से होने वाले ज्ञान के समान (उदाहरण)।
तथा

१. वही, १.१.२. ६८।
२. वही, १.१.२. ७१।
३. मि०, वही, १.१.२. ७२।
४. द्र०, वही, १.१.२.१८२।
५. चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः।
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाप्तोक्त्यक्षबुद्धिवत् ॥ वही, १.१.२. १८४।

(ग) वेदप्रतिपादित ज्ञान प्रमाण है (प्रतिज्ञा),
क्योंकि उसमें देश, काल आदि के भेद से भी बाध नहीं होता (हेतु),
आप्तवचन से होने वाले ज्ञान के समान (उदाहरण)[1]।

यहाँ वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए जो हेतु दिये गये हैं उन सब की सिद्धि वेद के अपौरुषेय होने के कारण ही हो जाती है।[2] कैसे? वेद अपौरुषेय हैं पुरुष के दोष से ही कोई वाक्य दोषयुक्त हुआ करता है; अतः वेदवाक्य दोषरहित हैं। अपौरुषेय होने से ही ये किसी अनाप्त जन द्वारा प्रणीत नहीं हैं, और इसी हेतु इनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान में बाध नहीं होता। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त हेतु सद्हेतु नहीं हैं।

शबर स्वामी ने जो कहा है 'प्रत्यक्षस्तु वेदवचनेन प्रत्ययः'—वेदवाक्य से होने वाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है, इसका अनुमान द्वारा बाध नहीं हो सकता। कुमारिल भट्ट की दृष्टि में यह वचन वेद से उत्पन्न ज्ञान की दृढ़ता, अनुमान की अपेक्षा मुख्यता और स्वरूप से प्रामाणिकता आदि को लक्षित करता है।[3] भाव यह है कि वेद-प्रतिपादित ज्ञान वस्तुतः प्रत्यक्ष तो नहीं है; किन्तु प्रत्यक्ष के समान ही दृढ़ है और अनुमान की अपेक्षा बलवत्तर है तथा स्वतः प्रमाण है। इसलिए प्रतिपक्षी के अनुमानों द्वारा उसका बाध नहीं हो सकता। फलतः भाष्य में उस ज्ञान को लक्षणा या गौणीवृत्ति से प्रत्यक्ष कह दिया गया है।

इस प्रकार कुमारिल भट्ट ने विविध युक्तियों से यह प्रतिपादित किया है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं।

प्रभाकर मिश्र ने भी शाबर भाष्य की बृहती नामक टीका में वेद-प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है। भाष्य में शङ्का की गई है कि वेदवाक्य मिथ्या अर्थ का भी कथन कर सकते हैं।[4] इसकी व्याख्या करते हुए प्रभाकर मिश्र लिखते हैं—इस वचन के द्वारा यह दिखलाया गया है कि शब्द तो अर्थ का स्पर्श ही नहीं करता; फिर शब्द रूप जो वेद-वाक्य हैं वे धर्म में प्रमाण कैसे हो सकते हैं?

---

१. तथाऽनाप्ताप्रणीतोक्तिजन्यत्वाद् बाधवर्जनात्।
देशकालादिभेदेन चाप्तोक्तिप्रत्ययो यथा॥ वही, १.१.२.१८५।

२. मि०, वही, १.१.२.१८६।

३. प्रत्यक्षस्त्विति दार्ढ्यं वा प्राथम्यं वापि लक्षयेत्।
स्वरूपतः प्रमाणत्वं मिथ्यात्वं पररूपतः। वही, १. १. २. १८७।

४. नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना। मीमांसादर्शन, भाष्यबृहतीपञ्जिकासहित (मद्रास विश्वविद्यालय, १९३४), पृ० २३।

प्रमाण तो वह होता है जो अर्थ से सम्बन्ध रखता है। यदि वह अर्थ से सम्बन्ध नहीं रखता तो प्रमाण ही नहीं हुआ करता। ऐसी स्थिति में उससे उत्पन्न ज्ञान का बाध हो जाने पर उसके द्वारा ज्ञान ही उत्पन्न नहीं होता; जैसे शुक्तिका में जो 'यह रजत है' इस प्रकार का चाक्षुष ज्ञान होता है, इसके पश्चात् 'यह रजत नहीं, शुक्तिका है' ऐसा ज्ञान हो जाने पर फिर रजत ज्ञान नहीं हुआ करता। दूसरी ओर, शब्द में यह बात नहीं है: शाब्दज्ञान का बाध हो जाने पर भी शब्द से ज्ञान हुआ ही करता है; उदाहरणार्थ, किसी ने कहा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथम्'—अंगुलि के अग्रभाग पर हाथियों के समूह स्थित हैं। यह वचन मिथ्या है, ऐसा स्पष्ट ही है। फिर भी इस वाक्य से शाब्दज्ञान होता ही है। फलतः शब्द का अर्थ से सम्पर्क नहीं है, वह अर्थ का स्पर्श भी नहीं करता—यह मानना होगा। और, जब वेदवाक्य अर्थ का स्पर्श भी नहीं करते तो वे धर्म में प्रमाण कैसे हो सकते हैं?[1]

भाष्यकार ने 'विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते' इत्यादि वचन द्वारा इस शङ्का का निराकरण करके धर्म में वेद की प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया है। उसके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए प्रभाकर मिश्र कहते हैं - शब्द द्वारा अर्थ का बोध होता है; किन्तु वह अर्थ का स्पर्श भी नहीं करता, यह कहना आश्चर्यजनक है। यदि पूर्वपक्षी का यह अभिप्राय है कि शब्द अर्थ का स्पर्श भी नहीं करता, यह बाधक ज्ञान के द्वारा निश्चित किया जाता है तो यह युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि बाधक ज्ञान के द्वारा यह नहीं जाना जाता कि पहला ज्ञान अर्थ से सम्बन्ध नहीं रखता। वस्तुतः पहिला ज्ञान प्रमाण-जन्य ज्ञान ही नहीं है वह तो स्मृति ज्ञान है। शुक्तिका को देखकर रजत की स्मृति हो जाया करती है। और, शुक्तिका में जो रजत की प्रतीति होती है वहाँ चाक्षुष प्रत्यक्ष का मिथ्यात्व नहीं होता। होता यह है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) यह ज्ञान 'इदम्' (=यह) इस अंश में चाक्षुष होता है जो अपने विषय में यथार्थ ही है; और 'रजतम्' यह दूसरा ज्ञान है जो स्मरण ज्ञान है। इस प्रकार वहाँ चाक्षुष ज्ञान (अनुभव) तथा स्मरण दो ज्ञान हैं। उन दोनों का विवेक-ग्रह=भेद-ग्रहण नहीं होता और दोनों को एक समझ लिया जाता है। इसी हेतु भ्रान्ति होती है। बाधक ज्ञान द्वारा अनुभव और स्मृति दोनों ज्ञानों का भेद (विवेक) करा दिया जाता है,[2] और भ्रान्ति दूर हो जाती है। किन्तु वेद में तो इस प्रकार का बाध भी नहीं देखा जाता।

१. वही, पृ० २४ (बृहती, ऋजुविमलासहिता, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १६२६, पृ० १६-२०)।

२. बाधकज्ञानमपि नैवार्थव्यभिचारितां दर्शयति, किन्तु ग्रहणस्मरणयोर्विवेकमवधारयति। शालिकनाथ, ऋजुविमला, पृ० २५ (२०)।

अतः वेद वाक्य किसी अर्थ का स्पर्श भी नहीं करते, ऐसी शङ्का का भी अवकाश नहीं है।[1] और, बाधज्ञान के द्वारा किसी बाह्य वस्तु का बाध नहीं हुआ करता, अपितु अन्य ज्ञान का बाध हुआ करता है। अतः अङ्गुलि के अग्रभाग पर हाथियों के समूह स्थित हैं इत्यादि स्थल पर भी वाक्यजन्य ज्ञान का बाध होता है, हस्तियूथ का नहीं, वह तो अपने स्थान पर है ही।[2] इस प्रकार इन युक्तियों से वेदवाक्य का मिथ्यात्व नहीं सिद्ध किया जा सकता।

शाबरभाष्य में पूर्वपक्षी की ओर से वेद का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए कुछ अनुमान दिये गये हैं और उनका निराकरण भी किया गया है। इसी प्रसङ्ग में 'प्रत्यक्षस्तु वेदवचनेन प्रत्ययः' यह कहा गया है।[3] प्रभाकर मिश्र ने अपने ढंग से इसकी व्याख्या की है। उसका क्या अभिप्राय है, यह विचारणीय ही है। प्रभाकर के अन्य मन्तव्यों के समान वेद-प्रामाण्यविषयक मन्तव्य को भी शालिकनाथ मिश्र द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अतः इन्हें कुछ अधिक स्पष्ट करने के लिए शालिकनाथ की प्रकरण-पञ्चिका का वेदप्रामाण्य सम्बन्धी निरूपण देखना आवश्यक है।

६. शालिकनाथ मिश्र और वेद-प्रामाण्य

परम्परा के अनुसार शालिकनाथ को प्रभाकर का शिष्य माना जाता है। इनका समय ७८०-८२५ ई० माना गया है। इनकी चार कृतियां हैं, जिनमें तीन टीकाग्रन्थ हैं; प्रभाकर मिश्र की लघ्वी पर दीपिका तथा बृहती पर ऋजुविमला टीकाएं हैं और शाबरभाष्य के तर्कपाद पर भाष्यपरिशिष्ट नामक व्याख्या है। इनकी 'प्रकरणपञ्चिका' एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है जिसमें प्रभाकर मिश्र के मन्तव्यों का संक्षेप में निरूपण किया गया है और उनका कुमारिल भट्ट के मन्तव्यों से अन्तर भी स्पष्ट किया गया है। प्रभाकर मत को समझने के लिये यही ग्रन्थ प्रमुख साधन है।[4] इसके आधार पर प्रभाकर का वेदप्रामाण्य सम्बन्धी मन्तव्य अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

प्रथमतः पूर्वपक्षी की ओर से यह कहा जाता है कि शब्द तो अर्थ का स्पर्श ही नहीं करता। अतः शब्द के द्वारा अर्थ का बोध नहीं होता और वह प्रमाण

---

१. वेदे पुनः बाधकज्ञानाभावाद् अर्थासंस्पर्शिताशङ्कापि नास्ति। बृहती, पृ० २४ (२०)।

२. अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतम् इति प्रमाणान्तरदर्शनमत्र बाध्यते, न पुनर्हस्तियूथशतम्। वही, पृ० २६ (२१)।

३. शाबरभाष्य, १.१.२, पृ० १७ (२०)।

४. मि०, सुब्रह्मण्य शास्त्री, प्रकरणपञ्चिका (काशी विश्वविद्यालय, १९६१), आङ्गलभाषाभूमिका, पृ० ८।

नहीं हो सकता। इसके उत्तर में शालिकनाथ ने दिखलाया है कि लौकिक शब्दों में ही इस प्रकार की शङ्का की जा सकती है; क्योंकि वे पुरुषकृत होते हैं। वैदिक वाक्य तो अपौरुषेय हैं, उनमें पुरुषकृत दोषों की आशङ्का भी नहीं हो सकती। वे तो ऐसे अर्थ का बोध कराते हैं जो अन्य प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जाता। अतः उनका अर्थ के साथ सम्बन्ध है ही और वे प्रमाण हैं।[1] एक अन्य स्थल पर अपौरुषेयता होने से वेद की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है और वहाँ वेद की अपौरुषेयता को सिद्ध करने का भी प्रयास किया गया है।[2]

फिर भी प्रश्न यह है कि जिस प्रकार सामान्य जनों के वचनों में अप्रामाणिक होने की शङ्का हुआ करती है, इसी प्रकार वेदवचनों में भी अप्रामाणिकता की शङ्का हो सकती है।[3] इसका समाधान करते हुए शालिकनाथ कहते हैं कि यह कहना उचित नहीं है। क्यों? किसी वाक्य की प्रामाणिकता में शङ्का तब होती है जब उसका अन्वय युक्तियुक्त न प्रतीत होता हो; किन्तु वेदवाक्यों में तो अन्वय का अनौचित्य बनता नहीं। लोक में देखा गया है कि यदि कोई वक्ता अशक्ति आदि दोषों से युक्त है तो वह अनन्वित अर्थ में वाक्य का प्रयोग कर देता है – असम्बद्ध बातें कह दिया करता है; किन्तु वेद का कर्ता तो कोई पुरुष है नहीं। इसलिये किसी वक्ता पुरुष में अन्वयरहित वाक्य-योजना आदि के कारण जिन दोषों की संभावना है, वेद में उन दोषों की शङ्का का भी अवसर नहीं है। फलतः वेदवाक्यों में अन्वय का निश्चय हो जाया करता है।[4]

पौरुषेय वाक्यों में दोष देखकर वैदिक वाक्यों के भी दोषयुक्त होने की शङ्का होने लगेगी, यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि शाब्दज्ञान में कहीं भी दोष नहीं देखा जाता। लोक में जो शब्द द्वारा ज्ञान होता है वहाँ तो शब्द लिङ्ग के द्वारा वक्ता के ज्ञान का निश्चय किया जाता है; अतः वह लैङ्गिक (=अनुमान) ज्ञान है, उसी में व्यभिचार देखा जाता है। और, अन्य प्रकार के ज्ञान में व्यभिचार देखकर दूसरे ज्ञान में व्यभिचार की शङ्का नहीं हुआ करती।[5]

---

१. तेन वेदे विसंवादशङ्का नास्ति कथंचन।
अर्थनिश्चयहेतुत्वादर्थसंस्पर्शिता स्थिता॥ प्रकरणपञ्चिका, पृ० ४१।

२. अपौरुषेये सम्बन्धे सिद्धे शब्दार्थयोर्द्वयोः।
प्रामाण्यं वेदवाक्यानामिति स प्रतिपाद्यते॥ वही, पृ० ३०१।

३. वही, पृ० २४५।

४. न च वेदे कर्ता पुरुषोऽस्ति, तेन तदाश्रितास्तावद्दोषा अनन्वितपदरचनादिहेतवो वेदे शङ्कामपि नावतारयन्ति, इत्यन्वयनिश्चयस्तावज्जायते। वही, पृ० २४५-२४६।

५. वही, पृ० २४६।

भाव यह है कि प्रभाकर-मत में शास्त्र-वाक्य-जन्य (वेद-जन्य) ज्ञान ही शाब्द ज्ञान—शब्दप्रमाणजन्य ज्ञान—कहलाता है। शास्त्रवाक्यों से भिन्न वाक्यों द्वारा जो ज्ञान होता है वह तो अनुमान के अन्तर्गत आता है।[1] वह शब्द प्रमाण में नहीं गिना जाता।[2] वहाँ होता यह है कि शब्द के द्वारा अनुमान से वक्ता का अभिप्राय जान लिया जाता है और उस अभिप्राय के द्वारा अनुमान से ही अर्थ का बोध हो जाता है। इसी से व्यवहार बन जाया करता है।[3] फलतः अपौरुषेय वाक्यों में जो व्यभिचार देखा जाता है वह शाब्दज्ञान या शब्दप्रमाण सम्बन्धी व्यभिचार नहीं है, अपितु लैङ्गिक ज्ञान सम्बन्धी व्यभिचार है और उसे देखकर शास्त्रीय वाक्यों में व्यभिचार की शङ्का करना उचित नहीं है।[4]

दृष्टार्थक वेदभाग के अनुसार तत्काल फल की प्राप्ति न होने से जो वेद-प्रामाण्य पर आक्षेप किया गया है उसका शाबरभाष्य में परिहार कर दिया गया था। उस विषय में शालिकनाथ ने आक्षेप तथा परिहार का निरूपण इस प्रकार किया है: –

पूर्वपक्षी का कहना है—'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि विधि के द्वारा ज्ञात होता है कि चित्रा याग से पशुओं की प्राप्ति होती है; किन्तु याग के अनन्तर फल नहीं प्राप्त होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कालान्तर में फल प्राप्त होता है; क्योंकि उस समय तो कर्म (याग) नहीं रहता; फिर उससे फल कैसे होगा? इसलिये प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों द्वारा बाधित हो जाने से शास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता।[5]

इसके उत्तर में कहा गया है:—शास्त्र में यह नहीं कहा गया कि याग के अनन्तर (एकदम पश्चात्) फल की प्राप्ति हो जाती है; अतः तत्काल फल न मिलने से भी शास्त्रवचन का बाध नहीं होता। और, यह कथन भी ठीक नहीं है कि कालान्तर में याग रूप कर्म नहीं रहता, अतः उससे फल मिलना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि याग से अपूर्व (धर्म) उत्पन्न होता है जो कालान्तर में स्थित रहता है, उसके द्वारा ही फल की उत्पत्ति हो सकती है। कालान्तर में जो दान या मूल्य आदि के द्वारा पशु आदि फल की प्राप्ति देखी जाती है उससे भी

१. न शास्त्रव्यतिरिक्तं शाब्दमस्ति। वही, पृ० २४२।
२. अत एव लौकिकं वचनं न शाब्दं प्रमाणम्। वही, पृ० २४४।
३. तदेवं लौकिकाद् वचसो लिङ्गभूताद् वक्तृज्ञानमनुमीयते। ततोऽर्थं निश्चित्य व्यवहारः प्रवर्तते। वही, पृ० २४३-२४४।
४. न चान्यत्र व्यभिचारदर्शनादन्यत्र व्यभिचारशङ्कोचिता। वही, पृ० २४६।
५. वही, पृ० २४८।

यह नहीं जाना जाता कि वहाँ अपूर्व फल-प्राप्ति का साधन नहीं है; क्योंकि दोनों ही फल-प्राप्ति के साधन हैं—शास्त्र द्वारा अपूर्व को फल का साधन बतलाया गया है, प्रत्यक्ष द्वारा दान आदि फल-प्राप्ति के साधन हैं, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यह भी शङ्का नहीं की जा सकती कि कालान्तर में होने वाले फल को याग का कर्ता नहीं भोग सकता; क्योंकि पुरुष ही फल का भोक्ता है और वह तो नित्य है। नित्य होने से ही वह कालान्तर में होने वाले फल को भोग सकता है।[1] इस प्रकार अन्य प्रमाण से बाध हो जाता है, यह मानकर भी शास्त्र की प्रामाणिकता पर आक्षेप नहीं किया जा सकता।[2]

शालिकनाथ ने पूर्वपक्षी के आक्षेपों का निराकरण करते हुए वेद की अपौरुषेयता पर बल दिया है और अपौरुषेय होने से केवल वेद का प्रामाण्य ही नहीं सिद्ध किया है; अपितु वेद के स्वतः प्रामाण्य का भी प्रतिपादन किया है। इस विषय में शालिकनाथ कहते हैं इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वेद अपौरुषेय हैं। जब ये अपौरुषेय हैं तो इन्हें प्रत्यक्ष के समान ही अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, अर्थात् ये स्वतः प्रमाण हैं। इसीलिये सूत्र में 'प्रमाणम् अनपेक्षत्वात्' यह कहा गया है।[3]

७. मण्डनमिश्र और वेद-प्रामाण्य

मण्डनमिश्र को भी कुमारिल भट्ट का शिष्य माना जाता है। उन्होंने विधि-विवेक, भावनाविवेक तथा विभ्रमविवेक आदि ग्रन्थों में कुमारिल भट्ट के मन्तव्यों का प्रतिपादन किया है, ब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ में वेदान्त के मन्तव्यों का निरूपण किया है और मीमांसानुक्रमणिका[4] नामक लघुग्रन्थ में मीमांसासूत्रों के अधिकरणों का संक्षेप में परिचय दिया है। यहाँ मीमांसानुक्रमणिका के आधार पर मण्डन-मिश्र द्वारा निरूपित वेदप्रामाण्य का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

मीमांसासूत्र में बतलाया गया है कि धर्म के विषय में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण नहीं हो सकते, वेदवचन ही धर्म में प्रमाण हैं। इस पर प्रश्न यह हो सकता है कि प्रमाण तो वह होता है जो यथार्थ ज्ञान का साधन हुआ करता है; जिसमें व्यभि-

---

१. वही, पृ० २४८-२४९।

२. न प्रमाणान्तरबाधादपि शास्त्रस्य प्रामाण्यमाक्षेप्तुं शक्यम्। वही, पृ० २४९।

३. अतः सिद्धमपौरुषेया वेदा इति। अपौरुषेयाश्चेन्नास्ति प्रमाणान्तरापेक्षा प्रत्यक्षवत्। अतः प्रमाणमनपेक्षत्वादित्युक्तम्। वही, पृ० २४८।

४. मीमांसानुक्रमणिका मीमांसामण्डनमण्डिता, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९२८।

चार नहीं देखा जाता; किन्तु वेद के विधिवचनों का तो व्यभिचार देखा जाता है अतः वे प्रमाण कैसे हो सकते हैं ?[1]

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि ज्ञान के हेतु में दोष होने से अथवा अन्य कारणों से ज्ञान में दोष हो जाया करता है। यदि शब्द के भी वक्ता में दोष होता है तो शब्दजन्य ज्ञान दोषयुक्त (=व्यभिचारी) हो जाता है। वेद का तो कोई वक्ता नहीं है, वेद तो नित्य हैं अपौरुषेय हैं अतः यहाँ कारणदोष से अप्रामाणिकता की शङ्का नहीं की जा सकती।[2]

वेद की प्रामाणिकता पर आक्षेप करते हुए पूर्वपक्षी ने जो यह दोष दिखलाया है कि वेद में 'चित्रायाग' का फल पशु-प्राप्ति बतलाया गया है; किन्तु 'चित्रायाग' के अनन्तर पशु-प्राप्ति नहीं होती अतः वेद-वचन मिथ्या हैं। इस आक्षेप का परिहार भाष्य में ही कर दिया गया है, जिसका आशय यह है—वेदविधि का अभिप्राय यह नहीं कि कर्म के अनन्तर ही फल-प्राप्ति हो जाती है अपितु उसका अभिप्राय तो यह है कि कर्म करने से फल-प्राप्ति हुआ करती है।[3]

इसी प्रकार पूर्वपक्षी ने 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्ग लोकं याति' इत्यादि वचन में प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध दिखलाया है; क्योंकि यजमान का शरीर तो प्रत्यक्षतः दग्ध हो जाता है, वह स्वर्ग को नहीं जाया करता। इस आक्षेप का परिहार करने के लिये शाबरभाष्य में नित्य एवं विभु आत्मा का प्रतिपादन किया गया है और कहा गया है कि 'यज्ञायुधी' शब्द से उसी आत्मा का ग्रहण होता है, अतः इस वचन का प्रत्यक्ष प्रमाण से कोई विरोध नहीं है।[4] वेद के प्रामाण्य के सन्दर्भ में वेदनित्यता और वेद की अपौरुषेयता की भी सिद्धि की गई है।[5]

मीमांसासूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के विस्तृत अर्थ को संक्षेप में मीमांसानुक्रमणिका में दिखला दिया गया है। वहाँ अर्थवाद आदि की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए मन्त्रों के अर्थ हुआ करते हैं,[6] यह सिद्ध किया गया है। इस प्रकार मन्त्र

---

१. प्रमाणानां प्रमाणत्वे हेतुरव्यभिचारिता। व्यभिचारवती तेन चोदना शिष्यते परैः॥ वही, पृ० ११।

२. वही, पृ० १२-१३।

३. वही, पृ० १३।

४. व्यभिचारविशेषोन्यो यज्ञायुधीवचोगतः।
तमिदानीं निराकर्तुं विभुरात्मा प्रसाध्यते॥ वही, पृ० १३।

५. वही, पृ० १४, १५।

६. मन्त्रस्यार्थो विवक्षितः। वही, पृ० १८।

अनर्थक हैं, अतः वे प्रमाण नहीं हो सकते, पूर्वपक्षी के इस आक्षेप का भी निराकरण हो जाता है। मीमांसानुक्रमणिका में शाबरभाष्य के विविध अधिकरणों का अभिप्राय अत्यन्त संक्षेप में किन्तु स्पष्टतः दिखलाया गया है। इसी दृष्टि से इसका महत्त्व है, नवीन विचारों की दृष्टि से इतना नहीं। अतः वेदप्रामाण्य के विषय में भी यहाँ शाबरभाष्य की युक्तियों का ही संक्षेप में निरूपण किया गया है।

८. पार्थसारथिमिश्र और वेद-प्रामाण्य

पार्थसारथिमिश्र का समय ईसा की ग्यारहवीं शती माना जाता है। इनके चार प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनमें 'न्यायरत्नाकर' श्लोकवार्त्तिक की टीका है और 'तन्त्ररत्न' मीमांसासूत्र भाष्य के अन्तिम नौ अध्यायों की व्याख्या है। 'शास्त्रदीपिका' एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। 'न्यायरत्नमाला' भी एक स्वतन्त्र कृति है जिसमें प्रभाकर के मन्तव्यों की समीक्षा है और कुमारिल भट्ट के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी। न्यायरत्नाकर जैसे टीका-ग्रन्थों में भी प्रसङ्गानुसार वेदप्रामाण्य का निरूपण किया गया है। फिर भी शास्त्रदीपिका में संक्षेप से किन्तु विशद रूप में एतद्विषयक विचार उपलब्ध होते हैं। अतः शास्त्रदीपिका के आधार पर ही यहाँ वेद-प्रामाण्य का संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है।

मीमांसासूत्र के प्रथमपाद (तर्कपाद) के प्रतिपाद्य विषय का दिग्दर्शन कराते हुए पार्थसारथिमिश्र ने बतलाया है :—

यहाँ धर्म के विषय में यह विचार किया गया है—क्या धर्म में कोई प्रमाण नहीं है ? अथवा प्रत्यक्ष आदि ही प्रमाण हैं ? या प्रवर्तक वाक्य (चोदना) ही प्रमाण है ? अथवा कहीं प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं और कहीं प्रवर्तक वाक्य, इस प्रकार विकल्प है ? अथवा प्रत्यक्ष आदि तथा वेदवाक्य सभी धर्म में प्रमाण हैं (समुच्चय) ?[1]

एक पक्ष यह है कि धर्म में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि शब्द तो अन्य प्रमाण से ज्ञात अर्थ का बोध कराता है, स्वयं प्रमाण नहीं होता और प्रत्यक्ष आदि धर्म का बोध कराने में समर्थ ही नहीं हैं।[2] धर्म तो इन्द्रियग्राह्य नहीं है; अतः प्रत्यक्ष द्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता तथा अनुमान आदि प्रमाण

१. शास्त्रदीपिका (विद्याविलास प्रेस, काशी, वि० सं० १९६४), पृ० ६४ (श्री साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय, ७/२३, सकरकन्द गली, वाराणसी, १९७७, पृ० २६)।

२. तत्र शब्दस्य प्रमाणान्तरप्राप्तप्रापकत्वेन स्वयमप्रमाणत्वात् प्रत्यक्षादीनां चासामर्थ्यादप्रमाणको धर्म इत्येकः पक्षः। वही, पृ० ६४-६५ (२६)।

प्रत्यक्ष पर ही आश्रित हैं। दूसरा मत यह है कि याग आदि ही तो धर्म हैं और उनका प्रत्यक्ष से ग्रहण होता ही है अतः धर्म का प्रत्यक्ष से ही ज्ञान हो जाता है।[१] तीसरा पक्ष यह है कि योगियों को तो धर्म का प्रत्यक्ष हो जाता है; किन्तु अन्य जनों को शास्त्र द्वारा धर्म का ज्ञान हुआ करता है।[२] इस प्रकार कहीं प्रत्यक्ष से धर्म का ज्ञान होता है, कहीं शास्त्र से। एक पक्ष यह भी है कि जगत् के वैचित्र्य को देखकर अर्थापत्ति द्वारा सामान्य रूप से यह जान लिया जाता है कि इसका कोई अदृष्ट कारण है; फिर शास्त्र के द्वारा अग्निहोत्र आदि धर्म है, यह विशेष रूप से जान लिया जाता है। इस प्रकार धर्म के ज्ञान में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों तथा शास्त्र का समुच्चय है। सभी मिल कर धर्म का बोध कराते हैं।[३]

इन सब मतों को पूर्वपक्ष के रूप में रखकर पार्थसारथिमिश्र ने मीमांसा का सिद्धान्त इस प्रकार दिखलाया है—शास्त्र (प्रवर्तक वाक्य=चोदना) ही धर्म में प्रमाण है और वह प्रमाण ही है, यह सिद्धान्त है।[४] इस प्रकार मीमांसा के द्वितीय सूत्र में[५] दो बातों का अवधारण किया गया है: एक तो यह कि धर्म में केवल शास्त्र ही प्रमाण है और दूसरा यह कि शास्त्र प्रमाण ही है अप्रमाण नहीं। निमित्तसूत्र[६] में यह दिखलाया गया है कि यह मीमांसासूत्र परीक्षाशास्त्र है, 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादि के समान उपदेशशास्त्र नहीं है, अर्थात् यहाँ धर्म क्या है? वेद उसका बोधक कैसे है? इत्यादि पर तर्क एवं युक्तियों से विचार किया गया है। प्रत्यक्ष सूत्र[७] में बतलाया गया है कि प्रत्यक्ष तो विद्यमान वस्तु का बोधक होता है वह भावी धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता, अन्य प्रमाण भी उस पर आश्रित हैं; अतः वे भी धर्म में प्रमाण नहीं हो सकते। इस प्रकार अन्य पक्षों का निराकरण हो जाता है और यह सिद्ध होता है कि वेद ही धर्म में प्रमाण है।

औत्पत्तिक सूत्र[८] में वेद का स्वतः प्रामाण्य दिखलाया गया है। कैसे?

---

१. प्रत्यक्षादिगम्य एवेत्येकः पक्षः। वही, पृ० ६५ (२६)।

२. योगिनां प्रत्यक्षगम्यः, अर्वाचीनानां तु चोदनागम्य इत्यपरः। वही, पृ० ६५ (२६)।

३. जगद्वैचित्र्यार्थापत्त्या किमप्यदृष्टमस्तीति सामान्येन प्रसिद्धो धर्मश्चोदनयाऽग्निहोत्रादिविशेषरूपेण गम्यते। तस्मात् समुच्चय इति पक्षान्तरम्। वही, पृ० ६५ (२६)।

४. चोदनैव, सा च प्रमाणमेवेति सिद्धान्तः। वही, पृ० ६५ (२६)।

५. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। मीमांसासूत्र, १.१.२।

६. तस्य निमित्तपरीष्टिः। वही, १.१.३।

७. सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्। वही, १. १. ४।

८. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। वही, १. १. ५।

बाधज्ञान और कारणदोष-ज्ञान से ही किसी ज्ञान का अप्रामाण्य सिद्ध होता है; किन्तु अग्निहोत्र आदि के विधायक जो वेदवाक्य हैं उनसे सन्देहरहित ज्ञान उत्पन्न होता है अतः वे स्वतः प्रमाण हैं। उनके विषय में न कहीं बाधज्ञान होता है और न ही कारण-दोष-ज्ञान; क्योंकि दोष तो पुरुष में हुआ करते हैं और वेद में पुरुष का सम्पर्क ही नहीं। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य तथा अपौरुषेय है। वेद अपौरुषेय हैं फिर इनमें दोष की शङ्का भी नहीं।[1]

वेद का प्रामाण्य किंवा स्वतः प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये उन्होंने विविध युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं; जैसे—

(क) शास्त्र द्वारा बोध उत्पन्न होता है और उसका कोई बाधक नहीं है अतः वह प्रमाण है। यह ठीक है कि अप्रमाण वाक्य भी बोधजनक होते हैं; किन्तु वहाँ बाधकज्ञान और कारणदोष-ज्ञान के द्वारा अप्रामाण्य का निश्चय कर लिया जाता है। वेद-वाक्यों के तो अप्रामाण्य का निश्चायक कोई है नहीं, अतः वेद स्वतः प्रमाण है।[2] वस्तुतः मीमांसा के अनुसार सभी ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः माना जाता है।[3]

(ख) यद्यपि लोक में आप्तवाक्य को ही प्रमाण माना जाता है और मीमांसा के अनुसार वेद आप्त-प्रणीत नहीं हैं अपौरुषेय हैं; तथापि उनका प्रामाण्य सुनिश्चित ही है; क्योंकि प्रामाण्य के लिये आप्तोक्तता की अपेक्षा नहीं है। वेदों में अनाप्तजन का स्पर्श भी नहीं है; अतः उनमें किसी प्रकार के दोष की आशङ्का नहीं हो सकती।[4]

तीन प्रकार से वेद में पुरुष के सम्बन्ध की शङ्का की जा सकती है :—

(१) पद-पदार्थ का सम्बन्ध करने के लिये, (२) वाक्य-वाक्यार्थ का सम्बन्ध करने के लिये अथवा (३) जिस प्रकार महाभारत आदि के कर्त्ता हैं इसी प्रकार वेद की रचना के लिये। इन तीनों प्रकार से ही वेद में पुरुष का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता; क्योंकि (१) मीमांसा का मन्तव्य है कि पद और पदार्थ का सम्बन्ध नित्य है, (२) वाक्यार्थ भी पदार्थों के आधार पर हो जाता है और (३) वेद ग्रन्थ का

---

१. द्र०, शास्त्रदीपिका, पृ० ६७ (२८)।
२. द्र०, वही, पृ० ७३ (३१)।
३. द्र०, वही, पृ० ७४···(३२ तथा आगे)।
४. अपौरुषेये तु वेदे यद्यप्याप्तप्रणीतत्वं नास्ति तथापि प्रामाण्यस्य तदपेक्षाभावादनाप्तस्पर्शनिमित्त-दोषाभावाच्चानपोदितं प्रामाण्यं भवति। वही, पृ० १५१ (७१)।

कर्ता कोई पुरुष नहीं है ।[1] मीमांसा में विस्तार से वेद की अपौरुषेयता सिद्ध की गई है ।

(ग) अपौरुषेय होने से वेद में कारणदोष की संभावना नहीं है । वेद-प्रतिपादित ज्ञान का कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाण साक्षात् रूप से बाधक भी नहीं है । और, वेद किसी प्रमाण द्वारा उपलब्ध अर्थ का बोधक नहीं है, अपितु अज्ञात अर्थ का बोधक है । इस प्रकार सूत्रकार ने 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है), 'अव्यतिरेकश्च' (वेदप्रतिपादित ज्ञान का बाध नहीं होता) और 'अर्थे अनुपलब्धे' (यह ज्ञान अज्ञात अर्थ का बोधक है) — इन तीन विशेषणों के द्वारा यह बतला दिया है कि वेद प्रमाण है । मीमांसा का मन्तव्य है कि जो ज्ञान कारण-दोष-ज्ञान और बाधक-ज्ञान से रहित होता है, अज्ञात अर्थ का बोधक होता है वही प्रमाण होता है।[2]

(घ) प्रत्यक्ष से विरोध होने के कारण जो वेद के प्रामाण्य में आक्षेप किया गया है उसका भी भाष्योक्त प्रकार से ही परिहार हो जाता है ।[3]

(ङ) सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण हैं । यदि किसी ज्ञान में बाधक-ज्ञान या कारणदोष-ज्ञान हो जाता है तो उसे अप्रमाण मान लिया जाता है । इस मन्तव्य के अनुसार वेद भी स्वतः प्रमाण हैं । वृत्तिकार के मत की व्याख्या करते हुए पार्थसारथिमिश्र कहते हैं — प्रत्यक्ष आदि प्रमाण स्वतः सिद्ध हैं, स्वतः प्रमाण हैं । उन्हीं के अन्तर्गत शास्त्र भी है । अतः वह भी स्वतः प्रमाण है ।[4] जब प्रमाण स्वतः सिद्ध है तो अन्य किसी प्रमाण के द्वारा उसके प्रामाण्य की परीक्षा नहीं की जाती । वह तो स्वतः ही अपने विषय का बोध करा देता है । और, यदि प्रमाण की भी परीक्षा अन्य प्रमाण से की जाये तो फिर अन्य प्रमाण की परीक्षा किसी दूसरे से करनी होगी और उसकी भी तीसरे से, इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी । इस लिये सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध होता है और वेद भी स्वतः प्रमाण है ।[5]

शास्त्रदीपिका में अन्य स्थलों पर भी वेद की अपौरुषेयता तथा वेद के स्वतः प्रामाण्य का निरूपण किया गया है ।

---

१. द्र०, वही, पृ० १५१-५२ (७१) ।
२. द्र०, वही, पृ० १५१-५२ (७१) ।
३. द्र०, वही, पृ० ३५४ ।
४. प्रसिद्धानि हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि तदन्तर्गतं च शास्त्रम्, अतस्तदपि प्रसिद्धमेव । वही, पृ० १६३ (७८) ।
५. वही, पृ० १६३ (७८) ।

९. मानमेयोदय[1] में वेद-प्रामाण्य का निरूपण

मानमेयोदय में मीमांसा सम्प्रदाय के अभिमत प्रमाण तथा प्रमेयों का संक्षिप्त किन्तु विशद निरूपण किया गया है। यह मीमांसा सम्प्रदाय का ऐसा प्रकरणग्रन्थ है, जिसमें अन्य मतों की समीक्षा करते हुए कुमारिल (भाट्टसम्प्रदाय) के मन्तव्यों को स्पष्ट किया गया है। इसके लेखक नारायण हैं। उन्होंने मीमांसा में प्रवेश के इच्छुक जनों के मार्गदर्शन के लिये इस ग्रन्थ की रचना की है[2]; फिर भी यह विद्वानों का भी पथप्रदर्शक कहा जा सकता है। मीमांसा के प्रमाण एवं तत्त्वों के विषय में यहाँ जो स्पष्ट विवेचन उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

मानमेयोदय में वेद-प्रामाण्य का निरूपण दो स्थलों पर उपलब्ध होता है, एक तो शब्द-प्रमाण[3] के सन्दर्भ में, दूसरे ईश्वर के प्रसंग में।[4] इनमें से दूसरे स्थल पर वेदों का अपौरुषेयत्व एवं प्रामाण्यवाद-सम्बन्धी विविध मत दिखलाये गये हैं तथा वेदों का प्रामाण्य भी।

यहाँ बतलाया गया है कि भाट्ट मत में :—

(क) सब प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः होता है और कारण के दोषों से अप्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है;[5] जैसे चक्षु आदि में पित्त आदि दोष होने पर 'शङ्ख पीला है' इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है, उसमें दोष न होने पर तो शङ्ख की वास्तविक श्वेतता का निश्चय होता है।[6]

(ख) कारण के गुणों से प्रामाण्य की उत्पत्ति या निश्चय नहीं होता, अपितु दोषाभाव से ही प्रामाण्य हुआ करता है।[7]

---

१. नारायण, मानमेयोदय (Adyar Library, Adyar, Madras, 600020, Second Ed. 1975).

२. आचार्यमतपाथोधौ बालानपि निनीषताम्। वही, पृ० १।

३. द्र०, वही, पृ० १०७-११०।

४. द्र०, वही, पृ० १६९-१८९।

५. अपि च स्वत एव सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यम् अप्रामाण्यं तु कारणदोषैरापद्यते। वही, पृ० १७९।

६. वही, पृ० १७९।

७. वही, पृ० १७८।

(ग) शब्द में पुरुष के निमित्त से दोष हुआ करते हैं।[१] वेद-रचना में तो पुरुष का सम्पर्क भी नहीं होता अतः वहाँ पुरुषकृत दोषों की आशङ्का भी नहीं है; फलतः वहाँ अप्रामाण्य की गन्ध भी नहीं मानी जा सकती।[२]

(घ) इस प्रकार गुणों का अभाव होने पर भी केवल दोषों का अभाव होने से ही वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।[३]

यहाँ मानमेयोदय में 'वेद ईश्वरप्रणीत हैं', न्याय आदि के इस मत का युक्तियों द्वारा निराकरण किया गया है।[४] यह भी दिखलाया गया है कि आप्तोक्त होने से वेदों की प्रामाणिकता नहीं बन सकती।

शब्द-प्रमाण के सन्दर्भ में प्रभाकरमत का दोष दिखलाते हुए यह प्रतिपादित किया गया है – प्रभाकर कहते हैं कि केवल वैदिक ज्ञान ही शाब्दज्ञान है, पुरुष के वचनों में तो वाक्यार्थ अनुमान का विषय होता है।[५] यह कहना युक्तियुक्त नहीं। क्यों? यहाँ आप्तोक्त होना पुरुषवचन को प्रमाण मानने का हेतु कहा गया है। भ्रान्ति आदि का अभाव ही आप्तता मानी गई है, किन्तु किसी पुरुष में भ्रान्ति नहीं है, यह कहीं भी निश्चित नहीं किया जा सकता, कहा ही जा चुका है कि ऋषियों में भी भ्रान्ति की शङ्का है, आधुनिकों (जनों) की तो बात ही क्या? ...अतः अन्त में इस वाक्यार्थ में इस व्यक्ति को भ्रान्ति नहीं है, इस प्रकार वाक्यार्थ-ज्ञान होने पर ही भ्रान्ति का निवारण करना होगा। इसलिये वाक्यार्थ-ज्ञान से पूर्व आप्तता सिद्ध ही नहीं होगी। फिर उससे अनुमान कैसे किया जा सकेगा?[६] फलतः आप्तोक्त होने से लौकिक वचनों की प्रामाणिकता का अनुमान किया जा सकता है, यह मन्तव्य युक्तिसंगत नहीं।

ईश्वरप्रणीत होने से वेद प्रमाण हैं, तार्किकों का यह मत भी युक्तियुक्त नहीं। कैसे? वेद ईश्वरकृत हैं, यह सिद्ध करने के लिये वेद को प्रमाण मानकर (वेद से ही) ईश्वर की सिद्धि होगी, और ईश्वर को प्रमाण मानकर ही वेद की प्रामाणिकता कही जायेगी। अतः इतरेतराश्रय अथवा चक्रक दोष होगा। इस दोष के कारण ईश्वरकृत होने से भी वेद-प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा।

---

१. पुरुषकृता हि शब्दे दोषाः। वही, पृ० १७८।

२. अतो न वेदवाक्यानां पुरुषानुप्रवेशाभावादप्रामाण्यगन्धोऽपि। वही, पृ० १७८।

३. तस्माद् गुणाभावेऽपि दोषाभावमात्रेण वेदानां प्रामाण्योपपत्तिः। वही, पृ० १७८।

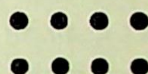
४. वही, पृ० १७५-१७८।

५. गुरुस्त्वाह-वैदिकमेव शाब्दमस्ति...अनुमेय एव नरवचःसु वाक्यार्थः। वही, पृ० १०५-१०६।

६. द्र०, वही, पृ० १०७-१०८।

इस विषय में अन्य मतों का निराकरण करते हुए नारायण ने मीमांसा का मत इस प्रकार दिखलाया है—जब शब्द में दुष्ट वक्ता द्वारा उक्त होने का दोष होता है तब पुरुष के वचनों में व्यभिचार भी हो सकता है; किन्तु अपौरुषेय वेद में तो पुरुष के सम्पर्क से होने वाले दोष की शङ्का भी नहीं की जा सकती तब उसमें व्यभिचार दोष कैसे होगा ?

इस प्रकार मानमेयोदय में अपौरुषेय होने से वेद की प्रामाणिकता बतलाई गई है।



परिच्छेद ९

वेदान्त में वेद-प्रामाण्य

१. वेदान्त सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय

आज वेदान्त के अनेक अवान्तर सम्प्रदाय उपलब्ध होते हैं। वे सभी प्रस्थानत्रयी का आश्रय लेते हैं। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र ये तीनों भारतीय दर्शन में प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सभी सम्प्रदायों का मूल स्रोत उपनिषद् हैं। विद्वानों का यह भी कथन है कि 'वेदान्त' यह उपनिषदों का ही नाम है; क्योंकि वेद नाम से विख्यात ग्रन्थों के अन्त में ये उपनिषद् आते हैं। उपनिषदों में ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या तथा अध्यात्मविद्या का प्रतिपादन किया गया है; किन्तु वहाँ व्यवस्थित रूप से स्पष्टतः दार्शनिक मन्तव्यों का विवेचन नहीं किया गया। इसी हेतु उत्तरवर्ती परस्पर-विरुद्ध विचारधाराओं का मूल भी उपनिषदों में दिखलाया जाता है। सांख्य के द्वैतवाद और शाङ्कर वेदान्त के अद्वैतवाद का ही आदि स्रोत उपनिषदों को नहीं माना जाता; अपितु चार्वाक दर्शन और विज्ञानवाद के बीज भी वहाँ खोजे जाते हैं। गीता तो एक अद्भुत ग्रन्थ है। इसकी विविध व्याख्याएं की गई हैं। वेदान्त के विविध सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इसके वचनों के अर्थ किये हैं और सांख्य आदि ने अपनी दृष्टि से। वेदान्त-विचारधारा का व्यवस्थित रूप ब्रह्मसूत्रों में मिलता है। ये ही आजकल वेदान्तसूत्र, वेदान्तदर्शन, वेदान्तशास्त्र या केवल वेदान्त नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं।

प्रचलित ब्रह्मसूत्र बादरायण के नाम से प्रसिद्ध हैं। बादरायण को व्यास या कृष्णद्वैपायन व्यास आदि नामों से भी याद किया जाता है। इन सूत्रों का समय क्या है? यह विद्वानों के विवाद का विषय है। हाँ, ब्रह्मसूत्रों और मीमांसासूत्रों में एक दूसरे के संकेत पाये जाते हैं, इससे यह विदित होता है कि ब्रह्मसूत्र भी मीमांसासूत्र के समकालीन ही हैं।

ब्रह्मसूत्रों का कोई प्राचीन भाष्य उपलब्ध नहीं होता। शङ्कर एवं रामानुज आदि के भाष्यों से ऐसा विदित होता है कि इन सूत्रों पर कोई प्राचीन भाष्य अवश्य थे। उनमें उपवर्ष तथा बोधायन की व्याख्याएं विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। यह भी कहा जाता है कि उनमें बोधायन की वृत्ति प्राचीन थी वह अत्यन्त

विस्तृत भी थी।[1] रामानुज ने अपने भाष्य के आरम्भ में लिखा है कि उनका भाष्य बोधायन वृत्ति पर आधारित है।[2] कुछ विद्वानों का विचार है कि उपवर्ष तथा बोधायन एक ही हैं। इस मत को अन्य विद्वान् स्वीकार नहीं करते।[3]

उपलब्ध भाष्यों में शङ्कराचार्यकृत भाष्य ही सबसे प्राचीन भाष्य है। यही विद्वानों का विशेष आदरभाजन है। इसे 'शारीरक भाष्य' नाम से भी जाना जाता है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों की अद्वैतवादी दृष्टि से व्याख्या की है। अतः शङ्कराचार्य को अद्वैत-वेदान्त मत का प्रवर्तक माना जाता है। यह भी कहा जाता है कि उनके परमगुरु गौडपाद ने माण्डूक्यकारिका में जिस अद्वैतभाव की स्थापना की थी, उसी भावना का विकास शङ्कराचार्य की कृतियों में हुआ है। कुछ विद्वानों का विचार है कि शङ्कर के अद्वैतवाद में बौद्धों के विज्ञानवाद और शून्यवाद तथा उपनिषद् के ब्रह्मवाद का समन्वित रूप है। आज शङ्कराचार्य का समय ८वीं-९वीं शती ई० माना जाता है।[4] संभवतः वे इससे भी प्राचीन रहे होंगे।[5]

शारीरक भाष्य पर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं तथा अद्वैत-वेदान्त के मन्तव्यों की व्याख्या करने के लिये अनेकानेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचना की गई है। शाङ्करभाष्य पर वाचस्पतिमिश्र (नवम शती) की भामती नामक टीका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।[6] स्वतन्त्र ग्रन्थों में श्रीहर्ष (१२वीं शती) का खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखाचार्य (१३वीं शती) की तत्त्वदीपिका या चित्सुखी, विद्यारण्य (१४ वीं शती) की पञ्चदशी, विवरणप्रमेयसंग्रह तथा जीवन्मुक्तिविवेक, सदानन्द (१६वीं शती) का वेदान्तसार तथा मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि आदि हैं। इन ग्रन्थों में अद्वैत-वेदान्त के मन्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है। धर्मराज अध्वरीन्द्र (१७ वीं शती)[7] की वेदान्तपरिभाषा अद्वैत-वेदान्त सम्बन्धी तर्कशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

ब्रह्मसूत्र पर अन्य भी अनेक भाष्य तथा वृत्तियां लिखी गईं, विविध

---

१. द्र०, उदयवीर शास्त्री, ब्रह्मसूत्र-विद्योदयभाष्य, भाष्यकार का निवेदन, पृ० ११।

२. श्रीभाष्य, भाग १, पृ० ६।

३. द्र०, प्रकरणपञ्चिका, प्रीफेस, पृ० iii.

४. द्र०, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग १, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-४, १९७८), पृ० ४२३।

५. द्र०, उदयवीर शास्त्री, वेदान्त दर्शन का इतिहास (विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, १९७०), पृ० ३१२-३५० तथा पृ० ४६५।

६. ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य (भामती सहित), निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३८।

७. द्र०, वेदान्तपरिभाषा (संस्कृत परिषद्, लखनऊ, २०२१ वि०), इन्ट्रोडक्शन, पृ० ४।

सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्याएं कीं। उन्होंने गीता और उपनिषदों की भी उसी प्रकार संगति लगाई और अपने मन्तव्यों के स्पष्टीकरण के लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे। शङ्कराचार्य के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्रों के अन्य कतिपय भाष्य विशेष प्रसिद्ध हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

भास्कराचार्य :—भास्कराचार्य का स्थितिकाल शङ्कराचार्य तथा रामानुजाचार्य के मध्य में है। एक ओर तो इन्होंने अपने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में अनेक स्थलों पर शङ्कर के मतों का निराकरण किया है, दूसरी ओर रामानुज ने कई स्थलों पर भास्कराचार्य के मतों का उल्लेख करके उनका निराकरण किया है। किञ्च, वाचस्पतिमिश्र ने भामती में भास्कराचार्य का मत प्रस्तुत किया है, अतः ये वाचस्पतिमिश्र से भी पूर्ववर्ती रहे होंगे।[1] वाचस्पति मिश्र का समय ८४१ ई० माना जाता है।[2] इन सब तथ्यों के आधार पर ही भास्कराचार्य का समय निश्चित किया जा सकता है। ब्रह्मसूत्र-भाष्य के अतिरिक्त इनके श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य आदि भी उपलब्ध हैं। इनका मत भेदाभेद नाम से प्रसिद्ध है जो अद्वैत-वेदान्त के समान विशेष प्रचलित नहीं हुआ।

रामानुज :—रामानुज का समय (१०३७-११३७ ई०) माना जाता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर श्रीभाष्य नामक भाष्य लिखा। भगवद्गीता पर भी इनका भाष्य है। इनके वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह तथा वेदान्तदीप आदि भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनका मत विशिष्टाद्वैत नाम से प्रसिद्ध है।

निम्बार्क :—इन्हें रामानुज का कनिष्ठ समकालीन माना जाता है। इनका समय १२ वीं शती है। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर वेदान्त-पारिजात-सौरभ नामक भाष्य लिखा। इनका मत द्वैताद्वैत कहलाता है।

मध्वाचार्य :—इन्हें पूर्णप्रज्ञ या आनन्दतीर्थ भी कहते हैं। इनका समय १३ वीं शताब्दी है। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य किया तथा उपनिषदों और गीता पर भी। इन्होंने अपने विचारों के लिये पुराणों का आश्रय अधिक लिया है।[3] इनका सम्प्रदाय दक्षिण में विशेष प्रचलित है। यह वेदान्त का द्वैतवादी सम्प्रदाय है।

वल्लभाचार्य :—इनका समय १५वीं १६वीं शताब्दी है। इनका भाष्य अणुभाष्य नाम से प्रसिद्ध है। इनका मत शुद्धाद्वैत कहलाता है। इस मत में कृष्ण की भक्ति का विशेष महत्त्व है। इसमें श्रीमद्भागवत को भी उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के समान ही सम्मान दिया जाता है। यह मत पुष्टिमार्ग नाम से भी प्रसिद्ध है।

---

१. द्र०, उपोद्घात, वेदार्थसंग्रह (तिरुमल-तिरुपति देवस्थान, तिरुपति, १९५३), पृ० ३८-४०।

२. श्रीनिवास शास्त्री, वाचस्पतिमिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन, पृ० २।

३. डॉ० भगवानदास, दर्शन का प्रयोजन (सं० २० १०), पृ० २७२।

विज्ञानभिक्षु :—ये वल्लभाचार्य के समकालीन हैं। इन्होंने सांख्य, योग तथा वेदान्त पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। वेदान्त पर इनका भाष्य 'विज्ञानामृत-भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने वेदान्त में कोई नया सम्प्रदाय नहीं चलाया; अपितु वेदान्त और सांख्य आदि की समन्वयात्मक दृष्टि से ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या करने का प्रयास किया है।

इन भाष्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य भाष्य भी ब्रह्मसूत्रों पर किये गये, जिनमें से अधिकांश अनुपलब्ध हैं, उनके उल्लेख मात्र ही मिलते हैं; कुछ अप्रसिद्ध ही हैं। उपर्युक्त भाष्यों में रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभाचार्य के भाष्य वैष्णव वेदान्त के अन्तर्गत आते हैं। इन सभी के मत शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न हैं; इनमें किसी न किसी रूप में द्वैत को स्वीकारा गया है। विज्ञानभिक्षु का अपना विशेष मत है। फिर भी ये सभी भाष्यकार तथा इनके अनुयायी वेद को प्रमाण मानते हैं, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ इनके दार्शनिक विचारों का विश्लेषण नहीं करना है, केवल यही विचार करना है कि वेदप्रामाण्य के विषय में इनकी क्या धारणाएं रही हैं।

२. ब्रह्मसूत्र तथा शारीरक भाष्य में वेद-प्रामाण्य

ब्रह्मसूत्रों का विषय है ब्रह्म के विषय में विचार करना। यह शास्त्र ब्रह्मजिज्ञासा का समाधान करने वाला है।[1] ब्रह्म का निरूपण करने के लिये यहाँ बतलाया गया है जिससे इस जगत् की उत्पत्ति आदि हुआ करती है वही ब्रह्म है।[2] इसी प्रसङ्ग में यह भी कहा गया है कि शास्त्र का कारण (=योनि) होने से भी ब्रह्म की सत्ता जानी जाती है—शास्त्रयोनित्वात्।[3] इस सूत्र का यह भी अर्थ किया गया है कि शास्त्र ही ब्रह्म के यथावत् स्वरूप-ज्ञान में प्रमाण (योनि) है।[4] यहाँ प्रथम अर्थ में यह विदित होता है कि ऋग्वेद आदि शास्त्र का कारण सर्वज्ञ ब्रह्म है। इस विषय का विशद विवेचन वेदों के प्रादुर्भाव के सन्दर्भ में किया जायेगा। हाँ, वेदप्रामाण्य के विषय में भी इस कथन से प्रकाश पड़ता है। वेदों का आविर्भाव सर्वज्ञ ब्रह्म से हुआ है, अतः ये प्रमाण हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार एक मात्र शास्त्र ही ब्रह्म के यथावत् बोध में प्रमाण है। इस कथन से दो परिणाम निकाले जा सकते हैं। एक तो यह कि शास्त्र प्रमाण है और दूसरा यह

---

१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३८), १.१.१.।

२. जन्माद्यस्य यतः। वही, १.१.२।

३. वही, १.१.३।

४. शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शारीरकभाष्य, १.१.३, पृ० ९९-१००।

कि वह स्वतः प्रमाण है अपने प्रामाण्य की सिद्धि के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता।

इस प्रकार का अर्थ भाष्यों और टीकाओं के आधार पर ही किया जा सकता है। वस्तुतः ब्रह्मसूत्रों में न प्रमाण का लक्षण किया गया है, न प्रमाणों का उल्लेख किया गया है। यहाँ प्रामाण्यवाद की तो चर्चा भी नहीं है। फलतः वेद-प्रामाण्य के विषय में सूत्रकार का क्या मत रहा होगा? यह उत्तरवर्ती व्याख्यानों के आधार पर कहा जा सकता है।

जैसा कि अभी कहा गया है, ब्रह्मसूत्रों पर उपलब्ध व्याख्याओं में सबसे प्राचीन शङ्कराचार्य का शारीरक भाष्य है। यहाँ भी वेदप्रामाण्य का विशद निरूपण नहीं किया गया है। शङ्कराचार्य के मत में एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थसत् है, इस समस्त जगत् के व्यवहार अविद्याकल्पित हैं। अविद्या से युक्त सांसारिक जनों के लिये ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्र हैं।[1] जब व्यक्ति को ब्रह्म की अनुभूति हो जाती है, 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव हो जाता है तब शास्त्र के विधि-विधानों तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का कोई उपयोग नहीं रहता।[2] इस प्रकार अद्वैतवेदान्त में प्रमाणों की केवल व्यावहारिकी सत्ता है। इसी हेतु यहाँ इनके विवेचन के लिये विशेष प्रयास नहीं किया गया अतः यहाँ प्रामाण्यवाद के व्यवस्थित निरूपण की संभावना भी कैसे की जा सकती है? फिर भी शारीरक भाष्य के कतिपय सन्दर्भों से वेद-प्रामाण्य के विषय में कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है।

शङ्कराचार्य ने 'शास्त्रयोनित्वात्' इस ब्रह्मसूत्र की दो प्रकार से व्याख्या की है। प्रथम व्याख्या के अनुसार—जो अनेक विद्यास्थानों से अभिनन्दित है, प्रदीप के समान समस्त अर्थों का प्रकाशक है सर्वज्ञ के समान है उस महान् ऋग्वेद आदि शास्त्र का कारण (=योनि) ब्रह्म है; क्योंकि सर्वज्ञ के गुणों से युक्त इस ऋग्वेद आदि शास्त्र का सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य किसी से आविर्भाव नहीं हो सकता।[3] वेद का कारण ब्रह्म ही है, इस मन्तव्य का शङ्कराचार्य ने युक्ति तथा प्रमाणों से प्रतिपादन किया है। इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि सर्वज्ञ ब्रह्म से

१. तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। वही, १.१.१, पृ० ४२।

२. तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः, सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि। वही, १.१.४, पृ० १५४।

३. महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य, प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। वही, १.१.३, पृ० ९६।

आविर्भूत होने के कारण शास्त्र प्रमाण हैं; किन्तु इस मन्तव्य का स्पष्ट निरूपण यहाँ नहीं किया गया।

इस सूत्र की दूसरी व्याख्या है : —

इस ब्रह्म के यथावत् स्वरूप-बोध में यथोक्त ऋग्वेदादि शास्त्र ही कारण या प्रमाण (=योनि) है। भाव यह है कि शास्त्र के प्रमाण से ही जगत् के जन्म आदि का कारण होने वाले ब्रह्म को जाना जाता है।[1] इस कथन से यह प्रकट होता है कि शास्त्र प्रमाण है; उसके द्वारा ही ब्रह्म जैसे अगम्य पदार्थों का बोध होता है 'तत्तु समन्वयात्' (१.१.४) सूत्र के भाष्य में स्पष्टतः दिखलाया गया है कि ब्रह्म सर्वत्र है, सर्वशक्तिमान् है, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है, यह वेदान्त शास्त्र से ही जाना जाता है।[2]

यहाँ मीमांसक की ओर से यह शङ्का की जाती है कि शास्त्र तो कर्म का विधान करने के लिये है अतः जो वाक्य कर्म के विधायक नहीं हैं वे अनर्थक हैं, प्रमाण नहीं हो सकते।[3] इस शङ्का का समाधान 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र में किया गया है इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं - यह ठीक है कि ब्रह्म सिद्ध वस्तु है, वह क्रियास्वरूप नहीं है फिर भी वह प्रत्यक्ष आदि का विषय नहीं होता, शास्त्र के विना उसका बोध नहीं हो सकता।[4] और, यद्यपि अन्य स्थलों पर यह देखा गया है कि विध्यर्थक वेदवाक्य ही प्रमाण होते हैं तथापि आत्मविषयक शास्त्र के प्रामाण्य का निराकरण नहीं किया जा सकता; क्योंकि आत्मज्ञान किसी कर्मविधि के साधनरूप में नहीं है अपितु वह पुरुषार्थ-सिद्धि का द्वार है।[5]

किञ्च, अन्य स्थलों में विध्यर्थक वेदवाक्य ही प्रमाण होते हैं अतः ब्रह्मबोधक वाक्य विध्यर्थक न होने के कारण प्रमाण ही नहीं होंगे, इस प्रकार की युक्ति तभी उचित मानी जा सकती थी, जब कि शास्त्र का प्रमाण्य अनुमान द्वारा सिद्ध किया जाता। किन्तु शास्त्र का प्रामाण्य अनुमान से नहीं निश्चित किया जाता;

---

१. अथवा यथोक्तमृग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शारीरकभाष्य, १.१.३, पृ० ९९-१००।

२. तत् =ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते वही, १.१.४, पृ० १०२।

३. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। मीमांसासूत्र, १.२.२।

४. शारीरक भाष्य, १.१.४, पृ० १०५-१०६।

५. द्र०, वही, १.१.४, पृ० १०८।

अतः अन्यत्र देखा गया दृष्टान्त यहाँ अपेक्षित नहीं है।[1] इसलिये शास्त्र के प्रमाण द्वारा ही ब्रह्म का बोध होता है, यह मानना चाहिये। इस कथन से यह स्पष्ट है कि शङ्कराचार्य की दृष्टि में शास्त्र का प्रामाण्य अनुमान द्वारा नहीं निश्चित किया जाता। उसके प्रामाण्य की सिद्धि के लिये किसी दृष्टान्त आदि की अपेक्षा भी नहीं होती। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि यहाँ वेद के स्वतः प्रामाण्य की ओर संकेत किया गया है। वाचस्पतिमिश्र आदि ने इन स्थलों की व्याख्या में वेद के स्वतः प्रामाण्य का प्रतिपादन भी किया है।[2]

अन्य स्थलों पर भी शङ्कराचार्य ने वेद-प्रामाण्य का निरूपण किया है। एक ब्रह्मसूत्र[3] के भाष्य में प्रत्यक्ष तथा अनुमान शब्दों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है 'प्रत्यक्ष' का अर्थ श्रुति है; क्योंकि वह अपने प्रामाण्य के लिये अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखती। 'अनुमान' का अर्थ है स्मृति; क्योंकि वह अपने प्रामाण्य में सापेक्ष है, वेदानुकूल होने से प्रामाणिक मानी जाती है।[4] इस कथन से स्पष्ट है कि श्रुति का प्रामाण्य किसी अन्य साधन से सिद्ध नहीं होता। श्रुति स्वतः प्रमाण है।

उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि ब्रह्मसूत्रों में वेद-प्रामाण्य के संकेतमात्र देखे जा सकते हैं; किन्तु शाङ्करभाष्य में ऐसे वचन भी उपलब्ध हैं जिनसे वेदप्रामाण्य किंवा वेद के स्वतः प्रामाण्य पर प्रकाश पड़ता है। फिर भी यहाँ वेदप्रामाण्य का स्वतन्त्र रूप में विशद विवेचन नहीं मिलता। उत्तरवर्ती व्याख्याओं में यह अधिक विशद होता गया है।

३. शाङ्करभाष्य की विविध टीकाएं और वेद-प्रामाण्य

(क) पद्मपादाचार्य की पञ्चपादिका :

शङ्कराचार्य के उदय के पश्चात् उनके द्वारा की गई व्याख्या ही वेदान्तमत के रूप में प्रसिद्ध हो गई, प्राचीन व्याख्याएं तो विस्मृतप्रायः ही हो गईं। फलतः शाङ्कर भाष्य ही वेदान्त का प्रमुख ग्रन्थ समझा जाने लगा। इसका महत्त्व इस तथ्य से भी विदित होता है कि शङ्कराचार्य के समय से ही शाङ्करभाष्य पर टीकाएं लिखी जाने लगीं और इस टीका तथा उपटीका की परम्परा अनेक शताब्दियों तक चलती रही।

---

१. न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्ष्येत। वही, १.१.४, पृ० १०८।

२. द्र०, भामती, वही, १.१.४, पृ० १०८।

३. शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। १.३.२८, पृ० ३२१।

४. प्रत्यक्षं श्रुतिः; प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्। शारीरकभाष्य, १.३.२८, पृ० ३२२।

पद्मपादाचार्य की पञ्चपादिका शाङ्कर भाष्य की सबसे प्राचीन टीका समझी जाती है। यह एक विस्तृत टीका है जो आज चतुस्सूत्री पर ही उपलब्ध है। इस पर भी टीका तथा उपटीकाओं की एक लम्बी परम्परा रही है। इसकी टीकाओं में प्रकाशात्मन् की पञ्चपादिकाविवरण नामक टीका विशेष महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। आगे चलकर जो अद्वैत वेदान्त के दो प्रस्थान हो गये — भामती प्रस्थान और विवरण प्रस्थान उनमें से विवरण प्रस्थान का मूल इसी टीका को माना जाता है।[1] इन दोनों प्रस्थानों के अनेक मन्तव्यों में पारस्परिक भेद है,[2] जिसका निरूपण करना यहाँ प्रासङ्गिक न होगा। यहाँ तो कुछ प्रमुख टीकाओं के आधार पर वेद-प्रामाण्य पर विचार करना ही वाञ्छनीय है।

'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र के शाङ्करभाष्य पर टीका करते हुए पद्मपादाचार्य ने दिखलाया है कि वेद में जो विषय नहीं है उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है; अतः सर्वविषयक होने से वेद को सर्वज्ञकल्प कहा गया है। इसके अनन्तर वेद की नित्यता, उसका ब्रह्म से प्रादुर्भाव और ब्रह्म की सर्वज्ञता का संक्षेप में निरूपण करके ऋग्वेद आदि की प्रामाणिकता की ओर संकेत किया गया है।[3] इसी प्रसङ्ग में वेद की अपौरुषेयता की ओर भी संकेत है जिसकी पञ्चपादिका-विवरण में विशद व्याख्या की गई है और वेद की पौरुषेयता के विषय में विविध मतों का निराकरण करते हुए अपौरुषेयता का प्रतिपादन किया गया है।[4]

यहां अपौरुषेयता को ही वेद-प्रामाण्य की सिद्धि का प्रमुख आधार माना गया है। पदमपादाचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार चक्षु अपने ज्ञान की उत्पत्ति में किसी की अपेक्षा नहीं रखती अतः वह प्रमाण होती है, यथार्थ की बोधक होती है; इसी प्रकार अपौरुषेय जो शब्द है वह ज्ञानोत्पत्ति में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता अतः वह अप्रमाण कैसे हो सकता है?[5] इस व्याख्या में मीमांसासूत्र[6] में दी गई युक्ति की छाया-सी दृष्टिगोचर होती है। वहां भी बादरायण के अनुसार शब्द को अनपेक्ष होने से ही प्रमाण किंवा स्वतः प्रमाण बतलाया गया है।

इस स्थापना में यह शङ्का होती है :—स्वस्थ मन वाले व्यक्ति को चक्षु

१. द्र०, पञ्चपादिका (मद्रास गवर्नमेंट ऑरियन्टल सीरीज, १९५८), प्रीफेस, पृ० १५।
२. वही, पृ० १८।
३. वही, षष्ठ वर्णक, पृ० ३१५।
४. पञ्चपादिकाविवरण, षष्ठ वर्णक, पृ० ६७७ तथा आगे।
५. अपौरुषेयशब्दे चक्षुषीव विज्ञानोत्पत्तावनपेक्षे कथमाप्रमाण्यमाशङ्क्येत। पञ्चपादिका, अष्टम वर्णक, पृ० ३२६।
६. तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। मीमांसासूत्र, १.१.५।

द्वारा स्पष्ट प्रकाश में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी कभी-कभी प्रमाण नहीं हुआ करता। उदाहरणार्थ, हम किसी चित्र को देखते है उसमें चक्षु के द्वारा ऊँचे-नीचे स्थल दिखलाई देते हैं, फिर उसी का स्पर्श द्वारा अनुभव करते हैं तो विदित होता है कि वहां ऊँचा-नीचा नहीं है, समतल है। इस प्रकार चाक्षुष ज्ञान का स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा संवाद या संगति न होने से हम निश्चय कर लेते हैं कि हमारा वह चाक्षुष ज्ञान प्रमाण नहीं था।[1]

इस शङ्का का समाधान करते हुए पद्मपादाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है। इस उदाहरण से वेदोत्पन्न ज्ञान अप्रमाण नहीं हो सकता। क्यों? वह दोषरहित कारण से उत्पन्न होता है। वेद अपौरुषेय है, उसमें पुरुषकृत दोषों की संभावना ही नहीं, अतः वह दोषरहित है। किन्तु यहां चित्र में जो चक्षु द्वारा ऊँचे-नीचे की प्रतीति हो रही है इसमें तो सामग्री-दोष है—चित्र में जो काली रेखाओं आदि का सन्निवेश किया गया है वह भी प्रत्यक्ष की सामग्री के अन्तर्गत आता ही है उसी के कारण चित्र कहीं ऊँचा कहीं नीचा दिखलाई देने लगता है अतः यहाँ कारण के दोष से मिथ्याज्ञान हो जाया करता है। वेद में तो कारणदोष होता नहीं; अतः वहाँ जो ज्ञान होता है वह यथार्थ ही होता है, उसका बाध नहीं होता, वह प्रमाण ही है।[2]

यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि किसी साधन द्वारा उत्पन्न ज्ञान की अन्य साधन द्वारा उत्पन्न ज्ञान के साथ संगति (संवाद) होने से प्रथम ज्ञान की प्रामाणिकता होती है, ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है; अपितु बोधक होने से ही ज्ञान की प्रामाणिकता होती है।[3] जो ज्ञान अज्ञात अर्थ का बोधक होता है तथा जिसके विषय में कारणदोष-ज्ञान या बाधज्ञान नहीं होता वह प्रमाण होता है। प्रत्यक्ष आदि में भी यही प्रमाणत्व है कि वे अज्ञात अर्थ के बोधक होते हैं और उनके विषय में कारणदोषज्ञान तथा बाधज्ञान नहीं होता।[4]

इस प्रकार अज्ञात अर्थ का बोधक होने से वेद प्रमाण है, अपौरुषेय होने के कारण वेदप्रतिपादित ज्ञान के विषय में कारणदोष की आशङ्का नहीं तथा

---

१. पञ्चपादिका, अष्टम वर्णक, पृ० ३२७।

२. द्र०, वही, पृ० ३२७।

३. (क) न च संवादलक्षणं प्रामाण्यम् अपितु बोधलक्षणमिति प्रमाणविदां स्थितिः। वही, पृ० ३२७-३२८।

(ख) प्रतीतिकृतत्वात् प्रामाण्यस्य। वही, पृ० ३२८।

४. प्रत्यक्षादिष्वप्येतदेव प्रमाणवृत्तं यदनवगतमवगम्यते। वही, पृ० ३२८।

बाध का भी अवसर नहीं। वेद के विधिवाक्यों के समान ही परिनिष्ठित अर्थ के बोधक या स्वरूप के बोधक वाक्य भी प्रमाण हैं ही, इस मन्तव्य का भी पञ्चपादिका में विशद विवेचन किया गया है और यह निर्णय किया गया है कि ब्रह्म में शास्त्र ही प्रमाण है।[1]

पञ्चपादिका पर जो विविध टीकाएं तथा उपटीकाएं उपलब्ध होती हैं उनमें से भी कतिपय टीकाओं में वेद-प्रामाण्य के विविध सन्दर्भों का विशद विवेचन किया गया है। ग्रन्थविस्तारभय से उस सब का निरूपण करना यहाँ सम्भव नहीं है।

(ख) कतिपय अन्य टीकाएं

(१) **रत्नप्रभा** :—श्रीगोविन्दानन्द प्रणीत रत्नप्रभा नामक टीका शाङ्कर भाष्य की एक प्राचीन टीका है,[2] जिस पर कई टीकाएं लिखी गई हैं। इस टीका में भी वेदप्रामाण्य के विषय में कुछ तथ्य उपलब्ध होते हैं।

प्रथमतः यह उल्लेखनीय है कि वेदों का प्रतिपाद्य विषय क्या है? इस विषय में श्रीगोविन्दानन्द ने तत्कालीन प्रचलित मन्तव्य का स्पष्टतः प्रतिपादन किया है। शङ्कराचार्य ने जो कहा है 'सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि' (सभी शास्त्रों का तात्पर्य विधि-प्रतिषेध तथा मोक्ष में है), इसकी टीका में कहा गया है –उनमें विधिनिषेधपरक ऋग्वेद आदि कर्मशास्त्र हैं तथा विधिनिषेध से रहित परब्रह्म में तात्पर्य रखने वाले वेदान्तवाक्य मोक्षशास्त्र हैं।[3] इस वचन में तत्कालीन धारणा प्रतिबिम्बित हो रही है। उस समय ऋग्वेद आदि का प्रतिपाद्य विषय केवल-कर्मकाण्ड माना जाता था। संभवतः 'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति' उपनिषद्[4] के इस उद्घोष को भुला दिया गया था। टीकाकार के अनुसार 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १.१.३) में शास्त्र शब्द का अर्थ है—हित का उपदेश करने वाला।[5]

शाङ्करभाष्य में ऋग्वेदादि का विशेषण दिया गया है—'अनेकविद्यास्थानोपबृंहित'— अनेक विद्यास्थानों द्वारा उपकृत, इस पद की टीका में दिखलाया

---

१. तस्मात् सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणत्वम्। वही, पृ० ३३०।

२. (क) ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, (रत्नप्रभासहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९८६ वि०)।
(ख) ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, रत्नप्रभा भामतीन्यायनिर्णय सहित (निर्णयसागर, १९३४)।

३. तत्र विधिनिषेधपराणि कर्मशास्त्राण्यृग्वेदादीनि विधिनिषेधशून्यप्रत्यग्ब्रह्मपराणि मोक्षशास्त्राणि वेदान्तवाक्यानीति विभागः। रत्नप्रभा (निर्णयसागर), पृ० २०।

४. कठोपनिषद्, १.२.१५।

५. हितशासनात् शास्त्रत्वम्। रत्नप्रभा, पृ० ५५।

गया है कि पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा वेद के ६ अङ्ग ये सब मिलकर दस विद्यास्थान हैं या कहिये कि वेदार्थ-ज्ञान के हेतु हैं। इनके द्वारा ऋग्वेदादि का उपकार किया जाता है, उनकी व्याख्या की जाती है। इस कथन से यह सूचित किया गया है कि मनु आदि के द्वारा परिगृहीत होने से वेद प्रमाण है।[1] किन्तु इस प्रकार की युक्ति वेदान्त के क्षेत्र में कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय ही है। यह युक्ति तो न्याय-वैशेषिक आदि के ग्रन्थों में दी गई है, जो वेद को परतः प्रमाण मानते हैं। वेदान्त की दृष्टि में तो वेद स्वतः प्रमाण है। सम्भवतः इसी हेतु रत्नप्रभा टीका में आगे कहा गया है – अबोधकता का अभाव होने से भी वेद का प्रामाण्य है, यह प्रदीपवत् शब्द से बतलाया गया है।[2]

टीकाकार का अभिप्राय यह समझा जाता है :—

वेद अपनी प्रामाणिकता के लिये किसी की अपेक्षा नहीं रखता अतः वह अप्रमाण नहीं हो सकता। मनु आदि के द्वारा परिगृहीत होने से भी अप्रमाण नहीं है। और, जिस प्रकार चक्षु आदि बोधक होने से प्रमाण होते हैं, इसी प्रकार बोधक होने से वेद भी प्रमाण है।[3]

वेद के स्वतः प्रामाण्य के विषय में रत्नप्रभा टीका में अधिक नहीं कहा गया। शङ्कराचार्य ने जो कहा था कि शास्त्र का प्रामाण्य अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं किया जाता।[4] इसकी व्याख्या करते हुए केवल यह बतलाया गया है :— चक्षु आदि के समान वेद के स्वतः प्रामाण्य का ज्ञान हो जाता है। उसके लिये व्याप्तिज्ञान तथा लिङ्गज्ञान आदि की अपेक्षा नहीं हुआ करती।[5] इस पर पूर्णानन्द लिखते हैं – दोषरहित वाक्य होने से ही वेद का स्वतः प्रामाण्य है और इसी से उस प्रामाण्य का निश्चय हो सकता है, अतः उसके लिये अनुमान की अपेक्षा नहीं है।[6]

इस प्रकार रत्नप्रभा में अत्यन्त संक्षेप से वेदप्रामाण्य किंवा वेद के स्वतः प्रामाण्य का उल्लेख किया गया है।

---

१. अनेन मन्वादिभिः परिगृहीतत्वेन वेदस्य प्रामाण्यं सूचितम्। वही, पृ० ५६।
२. अबोधकत्वाभावादपि प्रामाण्यमित्याह प्रदीपवदिति। वही, पृ० ५६।
३. तु०, पूर्णानन्दीया (रत्नप्रभा व्याख्या, बनारस), वही, पृ० ११८।
४. न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यम्। शारीरकभाष्य, १.१.४।
५. चक्षुरादिवद्वेदस्य स्वतः प्रामाण्यज्ञानान्न तद्व्याप्तिलिङ्गाद्यपेक्षा। रत्नप्रभा, १. १. ४, पृ० ६५।
६. पूर्णानन्दीया, वही (बनारस), पृ० १३७।

(२) **न्यायनिर्णय** :— इस टीका को आनन्दगिरीय भी कहा जाता है।[1] इससे विदित होता है कि इसके कर्ता आनन्दगिरि हैं। यह टीका किन्हीं सन्दर्भों में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देती है। वेदप्रामाण्य के विषय में भी यही बात है। शङ्कराचार्य ने जो कहा है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्र अविद्यायुक्त जनों के लिये हैं।[2] इसकी टीका में आनन्दगिरि ने परवर्ती वेदान्त ग्रन्थों में निरूपित दो प्रकार के प्रामाण्य का संकेत किया है। वह है व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रामाण्य। उन्होंने बतलाया है कि वेदान्त को प्रत्यक्ष आदि का तात्त्विक प्रामाण्य अभीष्ट नहीं है। उनका प्रामाण्य व्यावहारिक है; क्योंकि व्यवहार में उनका बाध नहीं होता।[3]

ऐसा मानने पर यह शङ्का उठती है कि यदि प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य वास्तविक नहीं है तो श्रुति का प्रामाण्य भी वास्तविक न होगा; क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष आदि के अन्तर्गत है। और, जब श्रुति का प्रामाण्य ही वास्तविक न होगा तो उससे वेदान्तियों के अभीष्ट की सिद्धि न हो सकेगी।

इसका समाधान करते हुए आनन्दगिरि कहते हैं कि ऐसी शङ्का करना युक्तियुक्त नहीं है। क्यों? श्रुति का प्रतिपाद्य अर्थ है—ब्रह्म; और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि के द्वारा उसे तात्त्विक दृष्टि से सत्य कहा गया है। अतः ब्रह्म की बोधक श्रुतियों का प्रामाण्य पारमार्थिक है, वास्तविक है, केवल व्यवहार की दृष्टि से नहीं है। इस मन्तव्य का न्यायनिर्णय तथा अन्य भामती आदि टीकाओं में भी विस्तार से विवेचन किया गया है। आगे चलकर वेदान्तपरिभाषा में इसका संक्षेप में स्पष्टतः निरूपण किया गया है।

शङ्कराचार्य ने जो शास्त्र का विशेषण दिया था—'अनेक विद्यास्थानोपबृंहित' (=अनेक विद्या स्थानों या दस विद्यास्थानों द्वारा समर्थित), इसकी व्याख्या में आनन्दगिरि कहते हैं कि इस कथन के द्वारा शास्त्र के अप्रामाण्य की शङ्का का भी निराकरण कर दिया गया है। कैसे? जो वेद शिष्टों द्वारा परिगृहीत है वह अप्रमाण कैसे हो सकता है? पुराण आदि के प्रणेता महर्षियों ने विविध प्रकार से वेदों की व्याख्या करते हुए तथा श्रद्धापूर्वक वेदों के अनुसार आचरण करते हुए इन्हें आदर दिया है; अतः इन्हें अप्रमाण मानना युक्तिसंगत

---

१. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, रत्नप्रभा-भामती-न्यायनिर्णय (आनन्दगिरीय) व्याख्यात्रयोपेत, निर्णयसागर, बम्बई, १९३४)।

२. तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। वही, शाङ्करभाष्य, १.१.१, पृ० २१।

३. न्यायनिर्णय, वही १. १. १, पृ० २२।

नहीं है।[1] वस्तुतः वेद प्रमाण ही हैं, वे न तो अर्थ के अबोधक हैं और न ही अस्पष्ट रूप में बोध कराते हैं[2], अपितु प्रदीप के समान समस्त अर्थों के प्रकाशक हैं। इस सन्दर्भ में वेद की अपौरुषेयता और सर्वज्ञकर्तृकता भी सिद्ध की गई है।

वेदप्रामाण्य अनुमान द्वारा नहीं सिद्ध किया जाता है,[3] शङ्कराचार्य के इस कथन की व्याख्या के प्रसङ्ग में भी आनन्दगिरि कहते हैं—यद्यपि शास्त्र की प्रामाणिकता अनुमान द्वारा भी जानी जाती है तथापि वह अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं की जाती (अपितु स्वतः सिद्ध है); अतः उसके लिये दृष्टान्त की अपेक्षा नहीं हैं।[4] और, वेदवाक्यों की प्रामाणिकता के लिये यह भी आवश्यक नहीं है कि वे किसी कर्तव्य का विधान करें - विधिपरक हों। वस्तुतः जो वाक्य बाधरहित, अज्ञात एवं असन्दिग्ध अर्थ के बोधक होते हैं वे विधि का स्पर्श न करते हुए भी प्रमाण हुआ करते हैं। उनका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। इस लिये ब्रह्म के बोधक जो वेदान्त वाक्य हैं वे भी स्वतः प्रमाण हैं, यह मानना होगा।[5]

इस प्रकार न्यायनिर्णय में वेदप्रामाण्य का निरूपण किया गया है तथा वेद का स्वतः प्रामाण्य दिखलाया गया है। शाङ्करभाष्य की अन्य टीकाओं में भी यथावसर वेदप्रामाण्य का निरूपण उपलब्ध होता है। इन सभी टीकाओं में कुछ बातें समान ही हैं। कहीं केवल प्रतिपादन शैली का भेद है तथा कहीं-कहीं नवीन युक्तियों एवं विचारों का भी समावेश किया गया है।

(ग) भामती टीका

वाचस्पतिमिश्र ने शाङ्कर भाष्य की व्याख्या करते हुए भामती टीका में वेदप्रामाण्य सम्बन्धी विचार को भी विशदतर करने का प्रयास किया है। प्रामाण्य या प्रामाणिकता का क्या अभिप्राय है? यह दिखलाते हुए उन्होंने कहा है अबाधित, अज्ञात तथा सन्देहरहित अर्थ का बोध कराना ही प्रामाणों का प्रामाण्य है।[6] इस कथन में एक ओर तो वेदान्त का अभिमत प्रमाण-लक्षण प्रस्तुत कर दिया गया है तथा दूसरी ओर प्रामाण्य का स्वरूप भी। उत्तरवर्ती वेदान्त सम्प्रदाय

---

१. वही, १. १. ३, पृ० ५३।
२. अबोधित्वास्पष्टबोधित्वयोरभावादपि वेदानां प्रामाण्यम्। वही, पृ० ५३।
३. न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यम्।· शाङ्करभाष्य, १. १. ४, पृ० ६५।
४. तस्मादनुमानेन ज्ञेयमपि शास्त्रप्रामाण्यं न तद्गम्यत्वेन भवतीति नास्ति दृष्टान्तापेक्षेत्यर्थः। न्यायनिर्णय, पृ० ६५।
५. द्र०, वही. पृ० ६५।
६. अबाधितानधिगतासंदिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम्। भामती, १. १. ४, पृ० १०८।

जो प्रमा या प्रमाण का लक्षण किया गया है वह इसका ही रूपान्तर कहा जा सकता है।[1] हाँ, वहाँ असन्दिग्ध पद छोड़ दिया गया है। क्यों? यह विचारणीय ही है। प्रमाणों द्वारा होने वाले इस ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। अतः ज्ञानों का याथार्थ्य ही प्रामाण्य कहलाता है, यह भी यहाँ प्रकट हो रहा है। प्रामाण्य का स्वरूप दिखलाकर वाचस्पतिमिश्र ने अत्यन्त संक्षेप में यह भी प्रतिपादित किया है कि ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है।[2]

भाष्य में शास्त्र शब्द का क्या अर्थ है? और, वह शास्त्र कैसे प्रमाण है? इस विषय का भामती में इस प्रकार विवेचन किया गया है:—

शासन या उपदेश करनेवाला शास्त्र कहलाता है, वह है ऋग्वेद आदि। उसका विषय महान् है; अतः उसे महत् कहा गया है। और, केवल विषय की महत्ता से ही वह महान् नहीं है; अपितु इसलिये भी महान् है क्योंकि अनेक अङ्ग तथा उपाङ्गों द्वारा उसका परिपोषण किया जाता है। पुराण, न्याय, मीमांसा आदि जो दस विद्यास्थान हैं उनके द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया जाता है। इस कथन से प्रकट होता है कि वेद समस्त शिष्टजनों द्वारा परिगृहीत है; अतः उसमें अप्रामाण्य की शङ्का भी नहीं की जा सकती। पुराण आदि के प्रणेता जो महर्षि हैं वे ही शिष्ट कहे जाते हैं। उन्होंने भिन्न-भिन्न विद्याओं द्वारा वेदों का व्याख्यान करके तथा आदरपूर्वक वेद-प्रतिपादित अर्थों का अनुष्ठान करके वेदों का भली-भांति ग्रहण किया है।[3] शिष्टों द्वारा वेदों के परिग्रहण से यह निश्चित होता है कि वेद सर्वथा प्रमाण हैं, वाचस्पतिमिश्र ने तथा अन्य आचार्यों ने भी न्याय-वैशेषिक आदि के व्याख्या ग्रन्थों में वेद-प्रामाण्य की सिद्धि के लिये यह हेतु प्रस्तुत किया है।[4]

अभी जो प्रामाण्य की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, वे तीनों ही वेदों में भी विद्यमान हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि वेद अज्ञात अर्थ के बोधक हैं, धर्म आदि का बोध वेद से ही होता है, अन्य प्रमाण से नहीं। ये अबाधित अर्थ के बोधक हैं, इनके द्वारा प्रतिपादित अर्थ का किसी प्रमाण द्वारा बाध नहीं होता। और, वह अर्थ सन्दिग्ध भी नहीं होता। ये तो स्पष्ट रूप से प्रदीप के समान सभी आवश्यक पदार्थों का बोध कराने वाले हैं, सर्वज्ञ के समान हैं। जिस प्रकार सर्वज्ञ

---

१. तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वम् अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम्। वेदान्तपरिभाषा (अड्यार लाइब्रेरी, १९४२), पृ० ३।

२. द्र०, भामती, १. १. ४, पृ० ११८।

३. वही, १. १. ३, पृ० ९६।

४. द्र०, यही, ऊपर परि० ६ अनु० १०(ख)।

का ज्ञान सर्वविषयक होता है उसी प्रकार शास्त्र के वचन भी सर्वविषयक हैं। अतः ये शास्त्र अप्रमाण नहीं हैं, अपितु प्रमाण ही हैं।[1]

इसी सन्दर्भ में वाचस्पतिमिश्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वेद की अपौरुषेयता तथा नित्यता का वेदान्त में क्या अभिप्राय है।[2]

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म की सत्ता में शास्त्र ही प्रमाण है; किन्तु मीमांसक इस मन्तव्य को स्वीकर नहीं करता। मीमांसक की शङ्का को संक्षेप में प्रस्तुत करके वाचस्पतिमिश्र ने वेदान्त की ओर से उसका समाधान किया है। मीमांसक का आशय यह है—ब्रह्म तो शुद्ध बुद्ध तथा उदासीन स्वभाव वाला है, वह न हेय है न उपादेय है, अपितु उपेक्षणीय है। जो वाक्य हेय या उपादेय अर्थ का विधान करते हैं, वे ही सार्थक होते हैं तथा प्रमाण होते हैं, यह जैमिनि ने कहा है।[3] वेदान्त तो यथाभूत पदार्थ ब्रह्म का बोध कराते हैं, पुरुषार्थ का उपदेश नहीं करते अतः निरर्थक हैं। और, यथाभूत-पदार्थ का उपदेश करने के कारण उनका विषय वही है जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का; क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी यथाभूत अर्थ का बोध कराने वाले होते हैं। फिर तो प्रत्यक्ष आदि के द्वारा ज्ञात पदार्थों का ही वेदान्त वाक्यों द्वारा कथन किया जाता है, और वे अनुवादक मात्र हैं, अज्ञात अर्थ के बोधक नहीं, अतः लौकिक वाक्यों के समान ही वे प्रमाण नहीं हो सकते। तब उनके स्वतः प्रमाण होने की तो बात ही क्या है? हाँ, उनका प्रामाण्य तभी स्वीकार किया जा सकता है यदि वे क्रियार्थक हों किसी कर्तव्य कर्म के विधायक हों। इसलिए यह मानना चाहिए कि वेदान्त वाक्यों के द्वारा अग्निहोत्र आदि कर्मों के कर्ता अथवा देवता आदि का प्रतिपादन किया जाता है। यदि वेदान्ती कहें कि ये वाक्य किसी अग्निहोत्र आदि कर्म के विधायक वाक्य से सान्निध्य नहीं रखते, उसके सन्दर्भ में भी नहीं कहे गये; फिर इनका उनके द्वारा विहित क्रिया से कैसे सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है तो मीमांसक का उत्तर है कि अग्निहोत्र आदि क्रिया से भले ही इनका सम्बन्ध न जोड़ा जा सके, उपासना-विधि से तो इनका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है, उपासना के सन्दर्भ में ही ये वाक्य हैं भी। इस प्रकार क्रियापरक होने से इनकी प्रामाणिकता सिद्ध हो सकेगी और स्वतः प्रामाण्य भी।[4]

वेदान्त की ओर से इसका समाधान इस प्रकार किया गया है :—पूर्वपक्ष

---

१. द्र०, भामती, १.१.३, पृ० ९६।
२. द्र०, वही, १. १. ३, पृ० ९८-९९।
३. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। मीमांसासूत्र, १. २. १।
४. द्र०, भामती, पृ० १००।

की शङ्का के दो अंश हो सकते हैं, एक तो यह कि वेदान्त यदि सिद्ध (परिनिष्ठित) वस्तु का बोध कराते हैं तो अन्य प्रमाण के प्रति सापेक्ष होंगे और किसी पुरुष के वाक्य के समान ही अप्रमाण होंगे। दूसरा, यह कि ब्रह्म तो हेय या उपादेय पदार्थ नहीं है फिर उसका उपदेश अनर्थक है—निष्प्रयोजन है।

शङ्का का प्रथम अंश युक्तियुक्त नहीं। क्यों? सिद्ध अर्थ का बोधक होने से कोई ज्ञान अप्रमाण नहीं हुआ करता, प्रत्यक्ष आदि सिद्ध अर्थ के बोधक होते हैं, फिर भी सभी वादियों के द्वारा उन्हें प्रमाण माना जाता है। यदि कहो कि हमारा अभिप्राय यह है कि जो वाक्य सिद्ध वस्तु के बोधक होते हैं वे पौरुषेय होते हैं—पुरुषबुद्धि द्वारा निर्मित होते हैं। अतः वेद भी पौरुषेय होंगे और अन्य पुरुषवाक्यों के समान ही अप्रमाण भी होंगे। यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वाक्यत्व हेतु के द्वारा वेदों की पौरुषेयता नहीं सिद्ध की जा सकती। वेद तो अपौरुषेय हैं, यह अन्यत्र विस्तारपूर्वक सिद्ध किया जा चुका है।[1] इस प्रकार वेदों की पौरुषेयता नहीं बनती और सिद्ध वस्तु के बोधक होकर भी वेदान्तों की प्रामाणिकता में कोई बाधा नहीं है।[2] यह कहना भी उचित नहीं कि यदि वेदान्तों को सिद्ध वस्तु का बोधक माना जायेगा तो वे अज्ञात अर्थ के बोधक न होंगे, अतः प्रमाण भी न होंगे। वस्तुतः जीव ब्रह्म ही है, इस तथ्य का बोध अन्य किसी प्रमाण से नहीं होता। अतः वेदान्त अज्ञात अर्थ के बोधक ही हैं और प्रमाण हैं।[3]

शङ्का का दूसरा अंश भी युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि (क) यह ठीक है कि ब्रह्म हेय उपादेय नहीं है किन्तु ब्रह्मज्ञान से समस्त क्लेशों का नाश हो जाता है; अतः वह दुःख-निवृत्ति करने के कारण पुरुषार्थ का साधन है ही।[4] (ख) जब आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान पुरुषार्थ-सिद्धि के साक्षात्साधन हैं तो तद्विषयक शास्त्र की प्रामाणिकता का विरोध नहीं किया जा सकता।[5] (ग) वस्तुतः किसी ज्ञान के प्रामाण्य के लिए उसका कर्मविधि से सम्बन्ध होना अनिवार्य नहीं है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, अबाधित, असन्दिग्ध तथा अज्ञात अर्थ का बोधक

---

१. द्र०, वही, पृ० १०५-१०६।

२. तेन पौरुषेयत्वेऽसिद्धे भूतार्थानामपि वेदान्तानां न सापेक्षतया प्रामाण्यविघातः। वही, पृ० १०६।

३. न चानधिगतगन्तृता नास्ति, येन प्रामाण्यं न स्यात्; जीवस्य ब्रह्मताया अन्यतोऽनधिगमात्। वही पृ० १०६।

४. हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धेः। शारीरकभाष्य, पृ० १०७ तथा भामती, पृ० १०७।

५. आत्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। शारीरक-भाष्य, पृ० १०८ तथा भामती, पृ० १०८।

ज्ञान ही प्रमाण होता है। जिस प्रकार विधि वाक्य कार्य का बोध कराते हैं; इसी प्रकार वेदान्तवाक्य ब्रह्म का प्रामाणिक बोध कराते हैं; अतः वे प्रमाण हैं।[1]

इस प्रकार प्रकरण का अनुसरण करते हुए यहाँ विशेषतः वेदान्त वाक्यों का प्रामाण्य ही सिद्ध किया गया है। किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि विधिपरक हों या सिद्ध वस्तु के बोधक हों सभी वेदवाक्य प्रमाण हैं। और, सभी प्रमाणों का प्रमाण्य स्वतः सिद्ध होता है; अतः वेद का भी स्वतः प्रमाण्य है ही। वाचस्पति-मिश्र बलपूर्वक यह घोषणा करते हैं — '**सर्वो वेदराशिः पुरुषार्थतन्त्रः**'[2] — समस्त वेद पुरुषार्थ के साधन हैं। और 'तत्रैकेनापि वर्णेन नापुरुषार्थेन भवितुं युक्तम्'[3] वहाँ एक भी वर्ण ऐसा नहीं जो पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये न हो।

४. अद्वैत वेदान्त के स्वतन्त्र ग्रन्थ और वेद-प्रामाण्य

इन टीका-उपटीकाओं के साथ ही अद्वैतवाद की व्याख्या के लिये अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे जाते रहे हैं। वस्तुतः भारतीय विद्वत्समाज में स्वतन्त्र-ग्रन्थ-लेखन का भी एक युग आया और अद्वैतवादी वेदान्त धारा भी उसके प्रभाव से अछूती न रही। केवल अद्वैतवाद के मन्तव्यों के समर्थन के लिये ही स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं रचे गये; अपितु अन्य मतों के निराकरण के लिये भी। उन अन्य मतों में बौद्ध जैसे वेद-बाह्य मत भी थे और न्यायवैशेषिक जैसे वेदानुसारी मत भी। खण्डनखण्डखाद्य जैसे ग्रन्थों में तो अन्य मतों का निराकरण ही विशेष रूप से समक्ष रक्खा गया। अन्य ग्रन्थों में अपने मन्तव्यों का समर्थन करने के लिये परमत का निराकरण भी किया जाता रहा।

वेदप्रामाण्य के सम्बन्ध में भी यही पद्धति दृष्टिगोचर होती है। इस प्रसङ्ग में अद्वैतवाद का क्या अभिमत है? प्रतिपक्षियों के आक्षेपों का परिहार करके उस मन्तव्य की किस प्रकार रक्षा की जा सकती है? यह सभी इन स्वतन्त्र ग्रथों में दिखलाया गया है। कहीं अत्यन्त संक्षिप्त रूप में कहीं विस्तार से भी; उदाहरणार्थ, चित्सुखाचार्य (१० म शती) ने चित्सुखी[4] में वेद-प्रामाण्य का निरूपण किया है, आनन्दपूर्ण विद्यासागर (१२७५-१३५० ई०) ने न्यायचन्द्रिका[5] में विस्तार से वेद की अपौरुषेयता तथा प्रामाण्य का विवेचन किया है। उन सभी ग्रन्थों के आधार पर वेद-

---

१. द्र०, भामती, पृ० १०८।

२. वही, पृ० १०८।

३. वही, पृ० १०८।

४. चित्सुखी (उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी, १९५६)।

५. न्यायचन्द्रिका, (मद्रास गवर्नमेन्ट ऑरियन्टल सीरीज़, मद्रास, १९५९)।

प्रामाण्य का विवेचन करना एक विशाल ग्रन्थ का कार्य है। किञ्च, उन ग्रन्थों में यह भी देखा जाता है कि एक ग्रन्थकार द्वारा दिखलाई गई युक्तियाँ ही भिन्न प्रकार से विस्तृत या संक्षिप्त रूप में दिखला दी गई हैं, अतः उन सबका निरूपण करना पिष्टपेषणमात्र ही है। इसलिये यहाँ अद्वैतवेदान्त के कतिपय प्रमुख स्वतन्त्र ग्रन्थों के आधार पर ही वेद-प्रामाण्य के विषय में विचार करना पर्याप्त होगा।

(क) विवरणप्रमेयसंग्रह (विद्यारण्य चतुर्दश शती)

विद्यारण्य का भारतीतीर्थ नाम से भी उल्लेख किया गया है। ये अद्वैत वेदान्त के विवरण सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं। उस सम्प्रदाय का विशद विवेचन विद्यारण्य के विवरणप्रमेयसंग्रह में उपलब्ध होता है। उस सम्प्रदाय की विशेषताओं पर यहाँ विचार करना अभीष्ट नहीं है, यहाँ तो विवरणप्रमेयसंग्रह के आधार पर संक्षेप में वेदप्रामाण्य पर विचार करना है।

शास्त्रयोनित्वात्[1] सूत्र के प्रसङ्ग में प्रथमतः यह विचार किया गया है कि वेद पौरुषेय हैं या अपौरुषेय। यहाँ यह भी दिखलाया गया है कि यदि वेदों को पौरुषेय माना जाये तो उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।[2] कारण, वेदों को पौरुषेय मानकर उनके प्रामाण्य की सिद्धि के लिये जो युक्तियां दी जाती हैं, उनसे वेद-प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता। उनमें से प्रमुख युक्ति यह है कि वेद आप्तप्रणीत हैं, नित्यज्ञान तथा इच्छा आदि वाले ईश्वर द्वारा प्रणीत हैं अतः प्रमाण हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि वेद ईश्वरप्रणीत हैं, यह भी आगम के बल पर ही सिद्ध किया जा सकता है, फिर ईश्वरोक्त होने से आगम का प्रामाण्य माना जाये तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वाचस्पतिमिश्र तथा उदयनाचार्य आदि ने महाजनों द्वारा परिगृहीत होने के कारण भी वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया है। वह भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि महाजनों द्वारा परिगृहीत होने पर भी बहुत से मन्तव्य प्रामाणिक नहीं होते, जैसे लोकायतों का विचार है कि देह ही आत्मा है, यह तो प्रमाण नहीं। वेदप्रामाण्य की सिद्धि के लिये यह भी तर्क दिया जाता है, जिस प्रकार स्मृति आदि के वाक्यों द्वारा प्रतिपादित अर्थ की प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा संगति हो जाती है, तथा उनका प्रामाण्य मान लिया जाता है उसी प्रकार वेद प्रतिपादित अर्थ की अन्य प्रमाण से सिद्धि होने के कारण वेद का प्रामाण्य भी सिद्ध होता है। यह तर्क भी संगत नहीं है; क्योंकि वेदप्रतिपादित

१. ब्रह्मसूत्र, १.१.३।

२. एवं तर्हि वेदस्य पौरुषयेत्वप्रसङ्ग इष्टः, इति चेत् न, प्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गात्। विवरणप्रमेयसंग्रह (आन्ध्र विश्वकलापरिषद्, वाल्टेर, १९४१), पृ० २७८।

अर्थ धर्म है या ईश्वर है, इनका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा ग्रहण हो ही नहीं सकता।[1] इस प्रकार वेद को पौरुषेय मानने पर उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है। इसी लिये बौद्ध तथा जैन आदि कहते हैं कि वेद प्रमाण नहीं है।[2]

इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए विद्यारण्य ने बतलाया है कि वेदान्ती वेद की पौरुषेयता नहीं स्वीकार करते। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वेदान्ताभिमत अपौरुषयेता का मीमांसक द्वारा स्वीकृत वेद की अपौरुषयेता से क्या अन्तर है।[3] इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जायेगा। संक्षेप में अन्य प्रमाणों द्वारा किसी अर्थ को जानकर जो रचना की जाती है वह पौरुषेय कहलाती है।[4] वेद तो ऐसे नहीं हैं। इस पर पूर्वपक्षी की ओर से शङ्का की जाती है कि जो प्रमाण द्वारा ज्ञात अर्थ का कथन करता है, वही आप्त कहलाता है, भ्रान्ति से जाने गये या स्वकल्पित अर्थ का वक्ता तो आप्त होता नहीं; इस प्रकार यदि वेद आप्तप्रणीत नहीं हैं तो वे प्रमाण नहीं हो सकते; जैसे उन्मत्त का प्रलाप प्रमाण नहीं हुआ करता; अतः वेद प्रमाण नहीं, आप्तों के द्वारा अप्रणीत वाक्य होने से उन्मत्त के वाक्यों के समान।[5]

पूर्वपक्षी के आक्षेप का परिहार करते हुए विद्यारण्य ने वेद-प्रामाण्य की सिद्धि के लिए यह अनुमान दिखलाया है

वेद प्रमाण है (प्रतिज्ञा),
अनाप्त द्वारा अप्रणीत वाक्य होने से (हेतु),
मनु आदि के वाक्य के समान (उदाहरण)।[6]

अब प्रश्न यह है कि वेद की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता दोनों की सिद्धि करने वाले दो अनुमान-प्रयोग विद्यमान हैं, इनमें से किसे युक्तियुक्त माना जाये। इसके उत्तर में वेद का प्रामाण्य किंवा वेद का स्वतः प्रामाण्य इस प्रकार दिखलाया गया है—

---

१. द्र०, वही, पृ० २७८।
२. तस्मात् पौरुषयेत्वे वेदस्य प्रामाण्यं दुःसंपादम्। अत एव सुगता आर्हताश्च अप्रमाणं वेदमाहुः। वही, पृ०, २७८।
३. वही, पृ० २७९-२८०।
४. मानान्तरेणार्थं बुद्ध्वा रचितत्वं पौरुषयेत्वम्। वही, पृ० २८०।
५. द्र०, वही, पृ० २८०।
६. वेदः प्रमाणम्, अनाप्ताप्रणीतवाक्यत्वात् मन्वादिवाक्यवत। वही, पृ० २८०।

हमारा सिद्धान्त है कि (ज्ञानों का) प्रामाण्य स्वतः सिद्ध होता है और अप्रामाण्य का निश्चय कारणदोष से हुआ करता है। भ्रान्ति या स्वकल्पना से होने वाला दुष्ट ज्ञान उन्मत्त-वाक्य का आधार होता है, अतः वह अप्रमाण है, यह कहना उचित है। मनु आदि का वचन स्वतः ही प्रमाण है। उसमें आप्त-प्रणीतता (आप्तोक्तता) नामक जो गुण है वह प्रामाण्य के विरोधी कारणदोष का निवारण कर देता है, यही उसका उपयोग है।[1] वह प्रामाण्य का साधक हेतु नहीं, अपितु प्रतिबन्धक का निवारकमात्र है। वेद के प्रामाण्य का तो कोई प्रतिबन्धक नहीं है, इसलिए किसी गुण के बिना ही उसका स्वतः प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।[2]

भाव यह है कि जो बोधक है वह प्रमाण है, यदि उसमें कारणदोष का ज्ञान हो जाता है तो उसके प्रामाण्य का बाध हो जाता है। कारणदोष किसी ज्ञान के प्रामाण्य का प्रतिबन्धक है। जिन वाक्यों का कोई पुरुष वक्ता होता है उनमें ही कारणदोष हो सकता है; क्योंकि दोष पुरुष में ही होते हैं। वेद तो पुरुष-निर्मित नहीं है। उसमें कारण-दोष की शङ्का भी नहीं हो सकती। इसलिए उसका प्रामाण्य स्वतः ही सिद्ध है। नैयायिक आदि ने जो आप्तोक्त होने से किसी वचन का प्रामाण्य स्वीकार किया है, वहाँ यह समझना चाहिये कि आप्तोक्तता जो गुण है वह प्रामाण्य की सिद्धि का कारण नहीं है, अपितु दोष के निवारण का हेतु है। वेद में दोष की सम्भावना ही नहीं है। इस प्रकार आप्त-प्रणीत न होने पर भी वेद प्रमाण है।

प्रश्न यह है कि यदि आप्तोक्तता को वाक्य की प्रामाणिकता का हेतु न माना जायेगा तो जब कोई व्यक्ति घट का स्मरण कर लेगा तभी घट की शाब्दी प्रमा होने लगेगी; परन्तु ऐसा तो माना नहीं जाता। अतः आप्त द्वारा प्रयुक्त वाक्य को ही प्रमाण मानना होगा।

इस पर विद्यारण्य का कथन है कि यदि आप्तों द्वारा प्रयुक्त वाक्यों को ही प्रमाण माना जाये तो भी वेद-प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं है। कैसे? आप्त-प्रयोग दो प्रकार से हो सकता है। मनु आदि ने तो अन्य प्रमाण से अर्थ को जानकर वाक्य-प्रयोग किया है; किन्तु वेद-वाक्यों का पूर्व-पूर्व प्रयोग का अनुस्मरण करके आप्तों द्वारा प्रयोग किया गया है। फलतः दोनों प्रकार के वाक्य ही आप्त-प्रयुक्त हैं तथा दोनों को प्रमाण्य माना जाता है। इसके विपरीत उन्मत्त

---

१. वही, पृ० २८०।

२. वेदस्य तु प्रतिबन्धासंभवात् अन्तरेणैव गुणं स्वतः प्रामाण्यं सिद्ध्यति। वही, पृ० २८०।

के जो वाक्य होते हैं वे तो इन दोनों प्रकारों में से किसी में भी नहीं आते अतः वे प्रमाण नहीं होते।[1]

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न हो सकता है कि यदि पूर्व-पूर्व प्रयोगों का अनुस्मरण करके वेद वाक्यों का प्रयोग किया जाता रहा है, इनका कोई आप्तजन प्रणेता नहीं है तो वेदवाक्यों का प्रयोग अन्धानुकरण मात्र होगा और इनके प्रामाण्य की स्वीकृति भी अन्ध-परम्परा मात्र होगी। विद्यारण्य का कथन है कि ऐसा नही हैं। क्यों? वस्तुतः तात्पर्य भी शाब्दबोध में हेतु होता है। स्मर्यमाण (याद किया जाता हुआ) जो घट आदि शब्द है उसमें तात्पर्य नहीं होता अतः उससे घट की शाब्दी प्रमा नहीं हुआ करती; किन्तु वेदवाक्यों में तात्पर्य होता है अतः वे बोधक होते हैं।[2] पुरुषकृत न होने से उसमें कारणदोष की संभावना नहीं होती। इसीलिये वे स्वतः प्रमाण होते हैं, यह ऊपर बतला दिया गया है।

यहाँ तात्पर्य का क्या अभिप्राय है? विद्यारण्य को वाक्यार्थज्ञान में तात्पर्य को भी हेतु मानना अभीष्ट है या नही? इत्यादि प्रश्नों पर वेदान्तपरिभाषा के वेदप्रामाण्य विचार के सन्दर्भ में चर्चा की गई है।[3]

(ख) वेदान्तपरिभाषा (धर्मराज अध्वरीन्द्र सप्तदश शती)

यह एक प्रकरण ग्रन्थ है जिसमें प्रमाण-निरूपण को प्रमुख स्थान देते हुए अद्वैत वेदान्त के मन्तव्यों का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवेचन किया गया है। इसमें वेदान्ताभिमत ६ प्रमाणों के प्रसङ्ग में आगम प्रमाण का भी विशद वर्णन है। उसी सन्दर्भ में वेदप्रामाण्य के विषय में वेदान्त का मन्तव्य दिखलाया गया है,[4] तथा स्वतः प्रामाण्यवाद के प्रसङ्ग में सभी प्रमाणों के स्वतः प्रामाण्य का प्रतिपादन किया गया है।[5]

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार प्रमा का करण ही प्रमाण है और अज्ञात तथा अबाधित अर्थ का बोधक ज्ञान प्रमा (यथार्थ अनुभव) कहलाता है। मतान्तर के अनुसार केवल अनुभव ही प्रमा नहीं होता; अपितु स्मृति भी प्रमा हो सकती है अतः जिस ज्ञान का बाध नहीं होता वह प्रमा कहा जाता है।[6]

---

१. द्र०, वही, पृ० २८०।
२. वही, पृ० २८०-२८१।
३. द्र०, यही, परि० ६, अनु० ४ (ख)।
४. वेदान्तपरिभाषा (अड्यार लाइब्रेरी अड्यार, १६४२), चतुर्थ परिच्छेद।
५. वही, सप्तम परिच्छेद।
६. वही, उपोद्घात, पृ० ३।

प्रमाण के इस लक्षण की दृष्टि से ही आगम प्रमाण का स्वरूप दिखलाया गया है, तदनुसार किसी वाक्य का तात्पर्य जिस (अन्वित) अर्थ का बोध कराने में होता है, यदि वह अर्थ अन्य प्रमाण से बाधित नहीं होता तो वह वाक्य प्रमाण कहलाता है।[1]

भाव यह है : वाक्य से होने वाले ज्ञान में चार हेतु होते हैं :—आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान। आकाङ्क्षा इत्यादि की विविध व्याख्याएँ की गई हैं। संक्षेप में वाक्य के शब्दों में जो एक दूसरे के साथ अन्वित होने का सामर्थ्य होता है वह आकाङ्क्षा है; जैसे 'गाम् आनय' (गाय को लाओ), यहाँ गाम् पद की आनय पद में आकाङ्क्षा है। यदि कहा जाये 'गौः, आनय, पुरुषः', इन पदों में परस्पर आकाङ्क्षा न होगी। पदों के पारस्परिक सम्बन्ध में बाध न होना योग्यता है; जैसे 'जलेन सिञ्चेत्' यहाँ जल से सींचने को कहा गया है। जल सींचने का साधन होता ही है अतः कोई बाधा नहीं, यहाँ योग्यता है। किन्तु यदि 'अग्निना सिञ्चेत्' (अग्नि से सींचे) ऐसा कहा जायेगा तो योग्यता न होगी। आसत्ति का अर्थ है पदों के अर्थ-बोध के बीच में कोई व्यवधान न होना। यदि 'गाम्' (गाय को) इस पद के अर्थ-बोध के कई दिन बाद 'आनय' (लाओ) पद का अर्थबोध होगा तो वाक्यार्थ-बोध न हो सकेगा। अतः पदों के अर्थबोध में आसत्ति (सन्निधि) होना आवश्यक है।[2] आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति से युक्त पद जब किसी वाक्यार्थ का बोध कराने में समर्थ होते हैं तो यही सामर्थ्य तात्पर्य कहलाता है।[3]

आकाङ्क्षा आदि चारों वाक्यार्थ के बोध में निमित्त हुआ करते हैं। वेद-वाक्यों के अर्थ-बोध में भी ये निमित्त होते ही हैं। किञ्च, वही वाक्य प्रमाण होता है जिसके तात्पर्य का विषय होने वाला अन्वित अर्थ अन्य प्रमाण द्वारा बाधित नहीं होता। और, अपने अर्थ का बोध कराने की योग्यता ही तात्पर्य कहलाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार वेद ब्रह्म के निश्वास के समान हैं, बुद्धिपूर्वक रचना नहीं। अतः यहाँ तात्पर्य का अर्थ वक्ता का तात्पर्य—किसी अर्थ की प्रतीति कराने की इच्छा नहीं है अपितु किसी अर्थ का बोध कराने की योग्यता ही तात्पर्य है। मीमांसा के परिशोधित न्यायों के द्वारा ही वेद के वाक्यों का तात्पर्य निश्चित किया जाता है। उस तात्पर्य का विषय जो वाक्यार्थ होता है उसमें किसी प्रकार का बाध नहीं होता; अतएव वे प्रमाण हैं।[4]

---

१. यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। वही, चतुर्थ परिच्छेद, पृ० ६५।

२. द्र०, वही, पृ० ६५-६८।

३. तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्। वही, पृ० ८१।

४. द्र०, वही, पृ० ८०-८४।

वेदवाक्यों द्वारा बोधित अर्थ में बाध क्यों नहीं हो सकता ? इस विषय का वेदान्तपरिभाषा में स्पष्टतः विवेचन नहीं किया गया। यहाँ यह अवश्य बतलाया गया है कि नैयायिक के अनुसार नित्य सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा प्रणीत होने से वेद प्रमाण हैं और मीमांसक के मत में वेद नित्य हैं अतः वे पुरुष के निमित्त से होने वाले सभी दोषों से रहित हैं इसी हेतु वे प्रमाण हैं; किन्तु वेदान्त के मत में तो मीमांसक के समान वेदनित्यता मानी नहीं जाती।[1]

इस कथन से विदित होता है कि धर्मराज अध्वरीन्द्र के मत में वेद-वाक्यों को इसलिए प्रमाण माना जाता है क्योंकि उनके तात्पर्य का विषय होने वाला अर्थ अन्य प्रमाण द्वारा बाधित नहीं होता। वह क्यों बाधित नहीं होता ? इसलिए कि वह पुरुष की अपेक्षा नहीं रखता, अपौरुषेय है। पुरुषकृत वाक्यों में ही दोषों की सम्भावना होती है। वेदवाक्यों में दोषों की आशङ्का ही नहीं हो सकती। इस अभिप्राय को वेदान्तपरिभाषा में स्पष्ट नहीं किया गया, केवल वेदान्त की रीति से वेदों की अपौरुषेयता दिखला दी गई है।[2]

वेदान्तपरिभाषा से वेदान्त के वेदप्रामाण्य-विषयक कतिपय अन्य मन्तव्यों पर भी प्रकाश पड़ता है; जैसे (१) वेदवाक्य दो प्रकार के हैं एक वे जो किसी कार्य का विधान करते हैं, विध्यर्थक हैं—कार्यपरक हैं, दूसरे वे जो सिद्ध पदार्थ का बोध कराते हैं। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य सिद्ध वस्तु का बोध कराने वाले हैं। ये दोनों ही प्रकार के वेदवाक्य प्रमाण होते हैं; अतः ब्रह्म वस्तु का बोध कराने वाले वाक्य भी प्रमाण हैं ही।[3] (२) सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध होता है अतः आगम का प्रामाण्य भी स्वतः सिद्ध है, उसकी सिद्धि के लिए किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। फलतः अपौरुषेय आगम जो वेद है उसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है।[4] (३) प्रमाणों का प्रामाण्य दो प्रकार का होता हैं एक व्यावहारिक दृष्टि से दूसरा पारमार्थिक दृष्टि से। ब्रह्म के स्वरूप का बोध कराने वाले प्रमाणों का प्रामाण्य पारमार्थिक दृष्टि से है; क्योंकि वे जीव और ब्रह्म की एकता का बोध कराते हैं—जीव और ब्रह्म की एकता उनका विषय है और इस विषय का कभी बाध नहीं होता। अन्य प्रमाणों के विषय का सांसारिक दशा में

१. तत्र वेदानां (वेदान्तानां) नित्यसर्वज्ञपरमेश्वरप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिति नैयायिकाः। वेदानां नित्यत्वेन निरस्तसमस्तपुंदूषणतया प्रामाण्यमिति मीमांसकाः। अस्माकं तु मते वेदो न नित्यः। वही, पृ० ८५।
२. वही, पृ० ८७-८८।
३. द्र०, वही, पृ० ८४।
४. वही, सप्तम परिच्छेद, पृ० १०६।

तो बाध नहीं होता; किन्तु अविद्या की निवृत्ति होने पर तो बाध हो ही जाता है अतः प्रत्यक्ष आदि के विषयों की व्यावहारिकी सत्ता है और इनका प्रामाण्य व्यावहारिक दृष्टि से ही है। ये व्यावहारिक दृष्टि से ही अबाधित अर्थ के बोधक हैं, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं।[1]

इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अनुसार वेदान्त=उपनिषद् भी वेद है। यह वेद का ऐसा भाग है जो परमार्थसत् वस्तु=ब्रह्म का प्रतिपादन करता है, जीव और ब्रह्म की एकता को बतलाता है। इसके प्रतिपाद्य विषय का तीनों कालों में बाध नहीं होता। अतः इसकी तीनों कालों में प्रामाणिकता बनी रहती है। इसलिए इसका प्रामाण्य पारमार्थिक दृष्टि से है। अन्य जो वेद भाग है जो विविध प्रकार के कर्म आदि का विधान करता है, उसकी प्रामाणिकता केवल व्यावहारिक दृष्टि से है।

५. भास्कराचार्य तथा वेद-प्रामाण्य

भास्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के आरम्भ में ब्रह्मसूत्र के कर्ता बादरायण को नमस्कार किया है और ब्रह्मसूत्र की उस समय प्रचलित व्याख्या को सूत्रों के अभिप्राय से पृथक् (हटा हुआ) बतलाकर उसके निराकरण के लिये अपना भाष्य प्रस्तुत किया है।[2] विद्वानों का मत है कि उस समय शाङ्कर-भाष्य ही प्रचलित था उसी की ओर ग्रन्थ के आरम्भ में संकेत किया गया है। ग्रन्थ के अनुशीलन से भी यही विदित होता है कि भास्कराचार्य ने विविध स्थलों पर शङ्कराचार्य के मतों का निराकरण किया है।[3]

भास्कराचार्य वेदानुयायी हैं अतः वेदप्रामाण्य के विषय में उनका कोई मत-भेद नहीं है। किञ्च, वे ज्ञान-कर्म-समुच्चय को मोक्ष का साधन मानते हैं।[4] और, कर्म के साथ उपासना का भी समुच्चय करते हैं।[5] इसलिये वेदों के ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड सभी की प्रामाणिकता पर बल देते हैं। किन्तु उन्होंने वेदप्रामाण्य का पृथक् रूप से विशद निरूपण नहीं किया है; अपितु प्रसङ्गवश कुछ ऐसे वचन कह दिये हैं जिनके आधार पर उनका एतद्विषयक मन्तव्य जाना जा सकता है।

---

१. द्र०, वही, अष्टम परिच्छेद, पृ० ११३।

२. सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये॥
ब्रह्मसूत्रभाष्य (चौखम्भा सं० बुक डिपो, बनारस, १९०३), मङ्गलश्लोक।

३. रामानुज, वेदार्थसंग्रह (तिरुमल, तिरुपति देवस्थान प्रेस, तिरुपति, १९५३), उपोद्घात पृ० ३९।

४. अत्र हि ज्ञानकर्मसमुच्चयान्मोक्षप्राप्तिः सूत्रकारस्याभिप्रेता। ब्रह्मसूत्रभाष्य, १.१.१. पृ० २।

५. कर्मोपासनयोश्च समुच्चयं वक्ष्यते। वही, पृ० ३।

'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्रह्मसूत्र १.१.३) सूत्र के भाष्य में वे कहते हैं—शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्य तदिदं शास्त्रयोनि ब्रह्म'; अर्थात् शास्त्र है योनि=प्रमाण जिसमें वह ब्रह्म शास्त्रयोनि कहा गया है। ब्रह्म में शास्त्र ही प्रमाण है इससे यह तो स्पष्ट है कि शास्त्र या वेद प्रमाण है, किन्तु वह क्यों प्रमाण है? इसका निरूपण यहां नहीं किया गया।

प्रमाण किसे कहते हैं? इसका उत्तर भास्कराचार्य के मत में होगा—अज्ञात अर्थ के बोधक को प्रमाण कहते हैं।[2] अथवा कहिये कि अज्ञात अर्थ का बोधक ज्ञान प्रमाण होता है, यथार्थ होता है यदि उसमें कोई दोष न हो। यद्यपि यह बात आचार्य ने शब्दों से नहीं कही तथापि उनकी व्याख्या से ऐसा ही विदित होता है। कर्तव्यविधायक वेदवाक्य ही प्रमाण होता है, स्वरूपबोधक नहीं, पूर्व-मीमांसा के इस मत का निराकरण करते हुए आचार्य ने बतलाया है कि ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि वेद को अपौरुषेय होने से प्रमाण माना जाता है और वह अपौरुषेयता जिस प्रकार कर्तव्यविधायक (कार्यपरक) वेद-वाक्यों में है उसी प्रकार ब्रह्म आदि के स्वरूप का बोध कराने वाले वाक्यों में भी विद्यमान है।[3] यहाँ वेद में अपौरुषेयता का कथन करके उसकी दोष-शून्यता प्रकट की गई है, जैसा कि वेद को अपौरुषेय मानने वाले सभी आचार्यों ने स्वीकारा है। अपौरुषेय होने से वेद प्रमाण है, इस कथन का आशय है कि वेद अपौरुषेय है—पुरुषकृत दोषों से रहित है, साथ ही वह अज्ञात (अनधिगत) ब्रह्मतत्त्व का बोध कराता है; अतः वह प्रमाण है।

प्रमाण का कार्य है अज्ञात अर्थ का बोध कराना। वह अपने इस कार्य में अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता। इसी हेतु उसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। यही प्रामाण्य का स्वतस्त्व कहा जाता है। भास्कराचार्य को वेद का स्वतः प्रामाण्य अभिमत है, यह उनके वचनों से विदित होता है। वेदान्त वाक्यों की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए वे कहते हैं—यदि वेद इसलिये प्रमाण (स्वतः प्रमाण) है कि वह अपौरुषेय है तथा किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता तब तो वेदान्त भी प्रमाण है ही, क्योंकि अनपेक्षता तो वेदान्त में भी विद्यमान है।[4]

शब्द प्रमाण के विषय में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है: समान रूप से लोक और वेद में सभी पद अपने अर्थ का बोध कराने में अनपेक्ष होते हैं अतः

---

१. वही, १.१.३, पृ० ६।
२. अनधिगतार्थगन्तृत्वम्। वही, १.१.४, पृ० १२।
३. अपौरुषेयत्वं हि प्रामाण्ये कारणं तच्चाविशिष्टम्। वही, पृ० १२।
४. अथापौरुषेयत्वे सत्यनपेक्षत्वात् प्रमाणता तदप्यनपेक्षत्वं वेदान्तेऽपि तुल्यम्। वही, पृ० १२।

वे सभी पदार्थ-बोधन में प्रमाण होते ही हैं। किन्तु वाक्य के विषय में कुछ भेद है। वाक्य तो पदों का समूह है। लौकिक वाक्यों में तो वही वाक्य प्रमाण होता है जिसका अर्थ अन्य प्रमाणों के अनुकूल हुआ करता है। उससे भिन्न वाक्य प्रमाण नहीं होता; जैसे आकाशकुसुम विद्यमान है, आकाशकुसुम को देखो, इस प्रकार के वाक्य प्रमाण नहीं होते; क्योंकि इनके अर्थ की प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से संगति नहीं होती। वेद में ऐसा नहीं है। सभी वेदवाक्य प्रमाण हैं। वे तो अपौरुषेय हैं तथा अन्य प्रमाणों द्वारा अज्ञात अर्थ का बोध कराते हैं, अतः वे अपने अर्थ का बोध कराने में किसी की अपेक्षा नहीं रखते।[1]

मीमांसकों के मत का निराकरण करते हुए उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वेदवाक्य विधिपरक होने से प्रमाण नहीं होते, अपितु अज्ञात अर्थ का बोध कराने से प्रमाण होते हैं।[2] 'स्वर्गकामो यजेत, अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्य भी अन्य प्रमाणों द्वारा अज्ञात अर्थ के बोधक हैं, अपौरुषेय होने से दोष रहित हैं, इसीलिये प्रमाण हैं। यदि किसी कार्य का विधान करने से ही कोई वाक्य प्रमाण मान लिया जाये तो 'चैत्यं वन्देत' इत्यादि वाक्य भी प्रमाण होने लगेंगे।।

इस प्रकार भास्कराचार्य के मत में वेद प्रमाण है; क्योंकि अज्ञात अर्थ का बोधक है और अपौरुषेय है। वह स्वतः प्रमाण है; क्योंकि अर्थबोधन में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता।

६. आचार्य रामानुज और वेद-प्रामाण्य

रामानुज ने श्रीभाष्य के आरम्भ में बतलाया है—भगवान् बोधायन-प्रणीत विस्तृत ब्रह्मसूत्रवृत्ति का पूर्व आचार्यों ने संक्षेप कर दिया था, उसके मतानुसार ही यहाँ सूत्राक्षरों की व्याख्या की जायेगी।[3] इस कथन से यह ज्ञात होता है कि रामानुज अपनी व्याख्या को ही पूर्वाचार्य-सम्मत मानते हैं। यह कहाँ तक स्वीकार्य है ? इस विचार का यहाँ अवसर नहीं है। एक बात अवश्य प्रतीत होती है कि रामानुज ने अन्य आचार्यों के समान परम्परागत विचारधारा को ही एक नवीन रंग दिया था। विशेष रूप से अपने परमगुरु यामुनाचार्य के विचारों का उन पर गहन प्रभाव पड़ा

---

१. द्र०, वही १.१.४, पृ० १३।

२. नापरिनिष्ठितत्वं कार्यत्वं वा प्रामाण्यकारणं किं त्वनधिगतार्थगन्तृत्वम्। वही, पृ० १३।

३. भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः। तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते। श्रीभाष्य, (गूढार्थसंग्रह सहित) भाग १ (श्री परकाल मुत्त, मैसूर १९५९), पृ० ९।

होगा। यामुनाचार्य पञ्चरात्र तन्त्र के पोषक थे। उनका रामानुज ने बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है—'तदुक्तं परमगुरुभिः भगवद्यामुनाचार्यपादैः'।[1] रामानुज ने अपने मन्तव्यों के प्रचार-प्रसार के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनके अनन्तर उनके शिष्य, प्रशिष्य भी इस कार्य में तत्पर रहे।

रामानुज के वेदान्त सम्प्रदाय में शङ्कर के मायावाद का प्रतिवाद किया गया है। शङ्कराचार्य की यह घोषणा थी कि अविद्या से युक्त जनों के लिए ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्र हैं।[2] यहाँ उसका प्रतिवाद करते हुए कहा गया है यदि यह माना जाए कि शास्त्र या वेदवाक्य अविद्या से युक्त जनों के लिए ही हैं तो वेद का प्रामाण्य ही सुरक्षित न रह सकेगा। अद्वैत वेदान्तियों की यह धारणा है कि प्रामाण्य दो प्रकार का है व्यावहारिक और पारमार्थिक, जीव ब्रह्म की एकता का बोधक जो वेदभाग है परमार्थतः उसकी ही प्रामाणिकता है; अन्य वेदवाक्यों का प्रामाण्य तो व्यावहारिक दृष्टि से ही है।[3] यह धारणा भी युक्तियुक्त नहीं। कारण? व्यावहारिक और पारमार्थिक का विभाग बौद्ध आदि अवैदिक मतों द्वारा किया गया है, किसी वेदानुयायी को यह अभिमत नहीं है। अतः सभी वेदवाक्यों का एक प्रकार का प्रामाण्य है, दो प्रकार का नहीं।[4]

अब प्रश्न यह है कि रामानुज के वेदान्त सम्प्रदाय में वेद का प्रामाण्य कैसे स्वीकारा गया है? ऐसा प्रतीत होता है कि रामानुज ने तार्किक शैली में वेद-प्रामाण्य पर विचार नहीं किया। हाँ, किन्हीं सन्दर्भों में एतद्विषयक संकेत अवश्य उपलब्ध होते हैं। वेदान्त के तीसरे सूत्र[5] के भाष्य में वे कहते हैं—शास्त्र जिस में योनि=कारण अर्थात् प्रमाण है उसे शास्त्रयोनि कहा गया है।[6] इसी प्रकार ब्रह्म में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है, यह बतलाते हुए उन्होंने 'यतो वा इमानि भूतानि' यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन उद्धृत किया है।[7] इससे दो तथ्य प्रकट होते हैं, एक तो यह कि वे ब्रह्मज्ञान में शास्त्र को प्रमाण मानते हैं और दूसरा यह कि उपनिषद् भी उस शास्त्र के अन्तर्गत हैं। गूढार्थसंग्रहनामक टीका में यह भी कहा

---

१. वेदार्थसंग्रह, पृ० १९७।

२. अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। शारीरकभाष्य, १.१.१, पृ० ४२।

३. मि०, वेदान्तपरिभाषा, अष्टम परिच्छेद, पृ० ११३।

४. द्र०, श्रीभाष्य, गूढार्थसंग्रह, भाग १, पृ० ८ ख।

५. शास्त्रयोनित्वात्। ब्रह्मसूत्र, १.१.३।

६. शास्त्रं यस्य योनिःकारणं प्रमाणं तच्छास्त्रयोनि। श्रीभाष्य, भाग २, पृ० ३४।

७. वही, पृ० ३५।

गया है कि यहाँ शास्त्र शब्द का अर्थ वेद है।[1] फिर भी इस प्रसङ्ग से यह विदित नहीं होता कि वेद का प्रामाण्य किस आधार पर स्वीकारा गया है।

आगे चलकर रामानुज ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका की रीति से पूर्वपक्ष की रचना की है और उसका निराकरण करते हुए इस सिद्धान्त की स्थापना की है कि परमेश्वर की सत्ता में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है (अनुमान नहीं)।[2] इसी सन्दर्भ में गूढार्थसंग्रह में यह दिखलाया गया है कि आचार्य रामानुज को वेद का अपौरुषेयत्व तथा स्वतः प्रामाण्य अभिमत हैं, यह प्रस्तुत सन्दर्भ से विदित होता है।[3]

'तत्तु समन्वयात्' (ब्रह्मसूत्र १.१.४) के श्रीभाष्य और वेदान्तसार तथा वेदान्तदीप व्याख्याओं में यह भी दिखलाया गया है कि केवल प्रवृत्ति-निवृत्ति के बोधक वेद-वाक्य ही प्रमाण नहीं होते, अपितु ब्रह्म के बोधक वाक्य भी प्रमाण होते ही हैं; क्योंकि ब्रह्म-बोधक वाक्यों का पुरुषार्थ-सिद्धि में ही तात्पर्य है, वे वाक्य निरतिशय आनन्दरूप परब्रह्म का बोध कराते हैं। वेदार्थसंग्रह नामक ग्रन्थ में भी इस विषय का विस्तृत विवेचन करके उपसंहार रूप में कहा गया है – शब्द में परिनिष्पन्न वस्तु का बोध कराने की शक्ति भी निश्चित की जाती है; इसलिए समस्त वेदान्त वाक्य उस ब्रह्म के बोधक हैं जो सकल जगत् का कारण है, सब कल्याणों और गुणों का आकर है।[4]

वेदार्थसंग्रह में अपने मतानुसार वेदों की अपौरुषेयता और नित्यता का संक्षेप में विवरण दिया गया है।[5] वहाँ यह भी बतलाया गया है कि परब्रह्मरूप नारायण के स्वरूप का, उसकी आराधना की रीति का और आराधित परब्रह्म से फलविशेष की प्राप्ति का बोध वेद ही कराते हैं।[6]

वेदार्थसंग्रह में वेद-प्रामाण्य के विषय में भी कुछ अधिक विचार उपलब्ध होते हैं। ब्रह्मसूत्रों के एक प्राचीन भाष्यकार द्रमिडाचार्य[7] का उद्धरण देते हुए रामानुजाचार्य ने दिखलाया है—भाष्यकार ने कहा है कि शास्त्र यथार्थ (यथाभूत)

---

१. अतश्च शास्त्रपदस्य वेद एवार्थः। गूढार्थसंग्रह, वही, पृ० ३४।
२. इति शास्त्रैकप्रमाणकः परब्रह्मभूतस्सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमः। वही, पृ० ५१।
३. द्र०, गूढार्थसंग्रह, वही, पृ० ४५।
४. वेदार्थसंग्रह, पृ० २७५-२७६।
५. वही, पृ० ३३८।
६. वही, पृ० ३३८।
७. अग्रिम वचन में 'भाष्यकार' शब्द का अभिप्राय 'द्रमिडाचार्य' से है। द्र०, तात्पर्यदीपिका, वही, पृ० ३३२।

का कथन करता है।[1] इस वचन से स्पष्ट है कि वेद प्रमाण हैं। आगे रामानुज कहते हैं जब वेद प्रमाण हैं तो वे विधि, अर्थवाद तथा मन्त्रों में स्थित सभी अपूर्व, अविरुद्ध अर्थ का यथार्थरूप में ही बोध कराते हैं।[2] वेदों का प्रामाण्य ही नहीं स्वतः प्रामाण्य है, उनमें स्वाभाविक रूप से प्रामाणिकता है, यह मीमांसासूत्र का उद्धरण देते हुए कहा गया है—वेदों का प्रामाण्य औत्पत्तिकस्तु०[3] इत्यादि के द्वारा बतलाया गया है, जिस प्रकार अग्नि आदि में स्वाभाविक रूप से उष्णता आदि शक्ति है, जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों में ज्ञान विशेष को उत्पन्न करने की शक्ति स्वाभाविक रूप से है उसी प्रकार शब्द में भी बोधकता शक्ति स्वाभाविक रूप से है।[4] इस विवेचन से यह भी विदित होता है कि रामानुज की दृष्टि में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है तथा वेद स्वतः प्रमाण हैं। उन्होंने आगे विस्तार से यह प्रतिपादित किया है कि शब्द में बोधकता शक्ति स्वाभाविक है।[5]

वेदप्रामाण्य में किये कतिपय आक्षेपों का भी रामानुज ने परिहार किया है। उदाहरणार्थ, कहीं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार की श्रुति उपलब्ध होती है; अन्य स्थल पर 'पृथग् आत्मानं प्रेरितारं च मत्वा'—आत्मा को पृथक् तथा प्रेरक मानकर, इस प्रकार की श्रुति है। इनमें से एक श्रुति अभेद का कथन करती है, दूसरी भेद का; अतः ये परस्परविरुद्ध हैं। इसी प्रकार अन्य वैदिक वाक्यों में भी परस्पर-विरोध दिखलाई देता है।[6]

इस आक्षेप का परिहार करते हुए रामानुज कहते हैं यदि दो तुल्यों का—समान बल वालों का—विरोध हो तो उनके विषय का इस प्रकार विवेचन करना चाहिए जिससे विरोध दूर हो जाए।[7] उपरिनिर्दिष्ट वाक्यों का जब इस दृष्टि से विवेचन किया जाता है तो इनमें कोई विरोध नहीं रहता। कैसे? 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वचनों में बतलाया गया है कि नाना आकार वाला जगत् ब्रह्म द्वारा रचित है और वह सब ब्रह्म के ही भीतर है। 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' में दिखलाया गया है कि ईश्वर ही सबका स्वामी है, प्रेरक है। ऐसा स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं रहता। इसी प्रकार जहां अपौरुषेय वेद-वाक्यों में

---

१. यथाऽऽह भाष्यकारः यथाभूतवादि हि शास्त्रम् इति। वही, पृ० ३३४।
२. वही, पृ० ३३५।
३. मीमांसासूत्र, १.१.५।
४. वेदार्थसंग्रह, पृ० ३३५।
५. वही, पृ० ३३६ तथा आगे।
६. द्र०, वही, पृ० १७८।
७. द्वयोः तुल्ययोः विरोधे सति, अविरोधेन तयोः विषयः विवेचनीयः। वही, पृ० १८४।

विरोध सा भासित होता है वहाँ विविध प्रमाणों के आधार पर तात्पर्य का निश्चय कर लेने पर वस्तुतः विरोध नहीं रहता।[1]

७. निम्बार्काचार्य और वेद-प्रामाण्य

वैष्णव वेदान्तियों में निम्बार्काचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने वेदान्त-पारिजात-सौरभ नाम से ब्रह्मसूत्रों का भाष्य लिखा है।[2] इनके नाम तथा जीवन के विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं।[3]

निम्बार्काचार्य ने स्पष्टतः वेद-प्रामाण्य का विवेचन नहीं किया। फिर भी, उनके भाष्य के अनेक सन्दर्भों से यह विदित होता है कि वे वेद को परम-प्रमाण मानते हैं। 'शास्त्रयोनित्वात्' (१.१.३) सूत्र के भाष्य में वे बतलाते हैं—ब्रह्म में क्या प्रमाण है? इस आकाङ्क्षा में सिद्धान्त बतलाया गया है कि शास्त्र ही उसके बोध का कारण है।[4] 'तत्तु समन्वयात्' (१.१.४) के भाष्य में मीमांसा के मत का निराकरण करते हुए दृढ़तापूर्वक यह कहते हैं कि शास्त्र के प्रमाण से ब्रह्म ही जाना जाता है कर्म आदि नहीं[5] अथवा वेदों का प्रतिपाद्य वही है, समस्त शास्त्र उसी में समन्वित होता है। वह एकमात्र वेद-रूपी प्रमाण से ही जाना जाता है।[6] कहना न होगा कि उन्होंने श्रुति शब्द से उपनिषदों का भी ग्रहण किया है। इसीलिये अनेक स्थलों पर उपनिषदों के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।[7]

अन्य स्थलों पर वेदान्त-सम्बन्धी स्वमन्तव्य की सिद्धि के लिये उन्होंने श्रुति का प्रमाण रूप में निर्देश किया है; जैसे—(१) सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सर्वेश्वर, चेतन को ही श्रुति में कारण कहा है।[8] (२) ब्रह्म से ही सृष्टि होती है इस विषय में श्रुति को ही प्रमाण माना है।[9] (३) ब्रह्म से जगत् भिन्न नहीं अनन्य है, यह दिखलाने के लिये सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, इत्यादि श्रुति को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।[10] (४) ब्रह्म में पक्षपात और निर्दयता नहीं है; क्योंकि वह

---

१. तात्पर्यनिश्चयाद् अविरोधः। वही, पृ० २०८।
२. वेदान्तपारिजातसौरभ, विद्या विलास यन्त्रालय, वाराणसी, १९६७ वि०।
३. वही, भूमिका, पृ० १-४।
४. किंप्रमाणकमित्याकाङ्क्षायां सिद्धान्तमाह—शास्त्रमेव योनिस्तज्ज्ञप्तिकारणम्। वही, १.१.३।
५. शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्मैव न कर्मादि। वही, १.१.४।
६. द्र०, वही, १.१.४।
७. द्र०, वही, २.३.१, २, १७ इत्यादि।
८. श्रुतत्वाच्च। वही, १.१.१२।
९. द्र०, वही, २.१.२७।
१०. वही, २.१.१७।

पुण्य-पाप के अनुसार फल देता है, यह दिखलाने के लिये भी श्रुति उद्धृत की है।[१] (५) जीव की उत्पत्ति नहीं होती, वह नित्य है तथा अणु है, इत्यादि सिद्ध करने के लिये श्रुति के प्रमाण उद्धृत किये हैं।[२] (६) ब्रह्म ही विभिन्न फल के अधिकारियों को उसी प्रकार का फल देता है, यह दिखलाते हुए भी उन्होंने श्रुति को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।[३] (७) इसी प्रकार पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये ज्ञान और कर्म दोनों अपेक्षित हैं यह दिखलाते हुए स्थान-स्थान पर श्रुति को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है।[४] साथ ही जीव के शरीर से उत्क्रमण और परजन्म-ग्रहण में श्रुति का आश्रय लिया है।[५] मोक्ष के स्वरूप का निर्देश करते हुए भी श्रुति को उद्धृत किया है।[६]

उन्होंने वेद को प्रत्यक्ष के समान प्रमाण माना है, नित्य वाणी कहा है[७], और स्मृति उद्धृत करते हुए यह भी बतलाया है कि वेद से ही नाम रूप की व्याकृति की गई।[८]

इसके अतिरिक्त अन्य मतों का निराकरण करने के लिये भी श्रुति को ही प्रमाण रूप में दिखलाया गया है। उदाहरणार्थ, अचेतन प्रकृति जगत् का कारण है, सांख्य के इस मत का निराकरण करने के लिये कहा गया है कि प्रधान में तो श्रुति का कोई प्रमाण नहीं है।[९] परमात्मा को जगत् का कारण मानने पर प्रधान की भी अपेक्षा होगी, सांख्य की इस शङ्का का निराकरण करने के लिये भी 'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुति को उद्धृत किया है।[१०] सांख्य के प्रधान-कारणवाद का निराकरण करते हुए बतलाया है कि वेदोक्त चेतन-कारणवाद से इसका बाध हो जाता है।[११] इसी प्रकार तर्क के आधार पर की गई शङ्काओं

१. पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा पापः पापेनेति श्रुतिः। वही, २.१.३३।
२. द्र०, वही, २.३.१८-२६; २.४.१६।
३. श्रुतत्वाच्च। वही, ३.२.४१।
४. द्र०, वही, ३.४।
५. द्र०, वही, ४.२.३।
६. द्र०, वही, ४.४.१८, १६।
७. सूत्र के 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' शब्द का 'श्रुतिस्मृतिभ्याम्' अर्थ किया है। वही, १.३.२८। इसी प्रकार ३.२.३० सूत्र के प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' शब्द का भी 'श्रुतिस्मृतिभ्याम्' अर्थ किया है; ४.४.१० में भी 'प्रत्यक्षानुमाने' का अर्थ 'श्रुतिस्मृती' किया है।
८. अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ वही, १.३.२८।
९. प्रधानं तु अशब्दम्, श्रुतिप्रमाणवर्जितम्। वही, १.१.५।
१०. वही, १.१.१६।
११. द्र०, वही, २.१.१।

का भी वेद के आधार पर ही समाधान किया है।[1] शक्ति-कारणवाद का भी श्रुति और स्मृति के आधार पर ही खण्डन किया है।[2] ज्योतिष्टोम आदि अशुद्ध कर्म हैं; क्योंकि इनमें हिंसा का सम्बन्ध है, इस शङ्का का निराकरण करते हुए कहा गया है कि वे अशुद्ध नहीं हैं; क्योंकि विधि-शास्त्र के अनुकूल हैं। यहाँ भी शास्त्र की प्रामाणिकता दिखलाई गई है।[3]

इस प्रकार निम्बार्काचार्य ने अपने मन्तव्यों का विश्लेषण करने के लिये तथा दूसरे के मतों का निराकरण करने के लिये श्रुति का आश्रय लिया है। उन्होंने सूत्र में आये प्रत्यक्ष शब्द का श्रुति ही अर्थ किया है। साथ ही वेद और स्मृति के विरोध में वेद का प्रामाण्य होता है[4], यह स्पष्टतः कहा है। इससे स्पष्ट है कि वेद का प्रामाण्य सर्वोपरि है, वे यह स्वीकार करते हैं; किन्तु किस आधार पर? यह स्पष्ट नहीं है।

८. मध्वाचार्य तथा वेद-प्रामाण्य

मध्वाचार्य (जो पूर्णप्रज्ञ तथा आनन्दतीर्थ नाम से भी प्रसिद्ध हैं) ने ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या अत्यन्त संक्षेप में की है, सूत्र के शब्दों का अर्थमात्र दिखलाकर शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा उसका स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है। पुराणों के सन्दर्भों को बाहुल्येन उद्धृत किया है। यह भाष्य विशेषतः विष्णु की भक्ति का प्रतिपादन करता है। यहाँ दार्शनिक विश्लेषण का प्राधान्य नहीं है, और प्रामाण्य जैसे विषय का तो यत्र-तत्र स्पर्शमात्र ही किया गया है। उसी में वेदप्रामाण्य-विषयक कुछ संकेत मिल सकते हैं।

शास्त्रयोनित्वात् (१.१.३) सूत्र के भाष्य में कहा गया है—'शास्त्रं योनिः प्रमाणमस्येति'[5]—शास्त्र है योनि अर्थात् प्रमाण जिसमें, विष्णु में शास्त्र ही प्रमाण है वही विष्णु का बोधक है।[6] यहाँ शास्त्र शब्द से क्या अभिप्राय है? इसका स्पष्टीकरण करने के लिये मध्वाचार्य ने स्कन्द पुराण को उद्धृत किया है जिसके अनुसार ऋग्, यजुः, साम, अथर्व, भारत (महाभारत), पञ्चरात्र

---

१. द्र०, वही, २.१.११।
२. द्र०, वही, २.२.४५।
३. द्र०, वही, ३.१.२५।
४. वेदविरुद्धस्मृतेरप्रामाण्यम्। वही, २.१.२।
५. आनन्दतीर्थ, ब्रह्मसूत्रभाष्य तत्त्वदीपिकासहित (अखिल भारतीय मध्व महामण्डल, उडुपी, १९५७ ई०), पृ० ३७।
६. त्रिविक्रमपण्डित, तत्त्वदीपिका, वही, पृ० ३७।

तथा मूलरामायण शास्त्र कहे जाते हैं और जो इनके अनुकूल हैं वे भी शास्त्र हैं, उनसे अन्य ग्रन्थ शास्त्र नहीं।[1]

मध्वाचार्य ने प्रमाणों की बलवत्ता तथा निर्बलता के विषय में भागवततन्त्र एवं पुरुषोत्तमतन्त्र के कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं जिनसे उनके वेदप्रामाण्य-विषयक विचारों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। तदनुसार, यदि वेद और वेदानुसारी ग्रन्थों में विरोध दिखलाई दे तो अन्य अर्थ की कल्पना करनी चाहिये। अन्य ग्रन्थों के विरोधी वचनों को भ्रान्तिमात्र समझना चाहिये। वस्तुतः शास्त्र-प्रतिपादित अर्थ से युक्त जो अनुभव है वही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है, केवल आगम मध्यम प्रमाण है और केवल प्रत्यक्ष अधम प्रमाण है। यदि दो प्रत्यक्षों में या दो आगम वचनों में विरोध हो तो अनुमान आदि के द्वारा निश्चय किया जाता है। यही अनुमान आदि का प्रामाण्य है, स्वतन्त्र रूप से ये प्रमाण नहीं।[2]

इस कथन से यह विदित होता है कि सभी प्रमाणों में वेद का प्रामाण्य वरिष्ठ है। मध्वाचार्य यह भी बतलाते हैं कि वेद और वेदानुसारी स्मृतियों में अप्रामाण्य नहीं हो सकता। कारण यह है कि वेद तो नित्य हैं। नित्य वाक्यों में दोषों की कल्पना नहीं की जा सकती।[3] विप्रलम्भ आदि दोष तो पुरुषकृत वाक्यों में हो सकते हैं, वेद में नहीं। वेद नित्य हैं, यह भी श्रुति तथा स्मृति से जाना जाता है।[4] फलतः वेद-वाक्यों में कहीं भी अप्रामाण्य नहीं है, वे सर्वत्र प्रमाणभूत हैं।

वेदों का प्रामाण्य किसी अन्य प्रमाण के द्वारा नहीं सिद्ध करना होता, वेद तो स्वतः प्रमाण हैं।[5] भाल्लवेय श्रुति में कहा गया है कि चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ, तर्क या स्मृति वेदों के प्रामाण्य का बोध नहीं कराते; अपितु वेद ही स्वतः इसका बोध कराते हैं।[6] मध्वाचार्य ने भविष्यत्पुराण का उद्धरण देकर भी यह स्पष्ट किया है कि वेद किसे कहते हैं? उसमें अप्रामाण्य क्यों नहीं होता और स्वतः प्रामाण्य कैसे होता है? तदनुसार ऋग्, यजुः, साम, अथर्व

---

१. ऋग्यजुः सामाथर्वाश्च भारतं पञ्चरात्रकम्।
मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते।
यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम्॥ स्कन्दपुराण, वही, पृ० ३५।

२. वही, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २.१.१८, पृ० १७८-१७९।

३. नहि नित्ये दोषाः कल्प्याः। वही, २.१.४, पृ० १६५।

४. (क) वाचा विरूपनित्यया।
(ख) अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। वही, २.१.४, पृ० १६६।

५. स्वतश्च प्रामाण्यम्। वही, पृ० १६५।

६. न चक्षुर्न श्रोत्रं न तर्को न स्मृतिर्वेदा ह्येवैनं वेदयन्तीति, भाल्लवेयश्रुतेश्च। वही, पृ० १६६।

तथा मूलरामायण, भारत (महाभारत) और पञ्चरात्र ये वेद शब्द से कहे जाते हैं और विद्वज्जन जिन पुराणों को वैष्णवपुराण मानते हैं (वे भी)। ये सब स्वतः प्रमाण हैं, इस विषय में विचार की आवश्यकता नहीं। यदि कहीं इनमें प्रतिपादित अर्थ वस्तुतः उपलब्ध नहीं होता तो वहाँ पूर्वकर्म को कारण समझना चाहिये; क्योंकि इनमें अप्रामाणिकता नहीं हो सकती। हाँ, अन्य ग्रन्थों का प्रामाण्य इन्हीं के द्वारा निश्चित किया जाता है, वे स्वतः प्रमाण नहीं हैं। इसलिये यदि वे ऐसे अर्थ का कथन करते हैं जो उपलब्ध न हो सके तो उन्हें निःसन्देह अप्रमाण मान लेना चाहिये।[1]

मध्वाचार्य ने वेदप्रामाण्य के विषय में किये गये कुछ आक्षेपों का भी परिहार किया है। उदाहरणार्थ, वेद में कहा गया है—'मृद् अब्रवीत्'—मिट्टी बोली, 'आपोऽब्रुवन्'—जल बोले इत्यादि। ये वचन युक्तिविरुद्ध हैं; क्योंकि मिट्टी इत्यादि जो अचेतन पदार्थ हैं वे बोल नहीं सकते। इसका परिहार ब्रह्मसूत्र में किया गया है।[2] उस सूत्र के भाष्य में मध्वाचार्य ने बतलाया है—वहाँ तो मृद् (मिट्टी) आदि के अभिमानी देवता का कथन किया गया है। ऐसे सभी स्थलों पर उन देवताओं के सामर्थ्य और उपस्थिति (अनुगति) का बोध होता है। इसलिये उन देवताओं के विषय में जो कहा गया है वह सब युक्तिसंगत ही है।[3] इसी प्रकार अन्य सन्दर्भों में भी जो वेद में युक्तिविरुद्ध वचन दिखाये गये हैं उनका भी समाधान किया जा सकता है।

मध्वाचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर जो त्रिविक्रम पण्डित की तत्त्वदीपिका नामक टीका है, उसमें कई स्थलों पर वेदप्रामाण्य का स्पष्टतः विवेचन किया गया है, प्रथम सूत्र की टीका में ही आगम के अप्रामाण्य की शङ्का करके टीकाकार ने विविध मन्तव्यों पर प्रकाश डाला है; जैसे (१) शब्द से अर्थज्ञान होता है, अपने अर्थबोध में वह स्वतः प्रमाण है। केवल उसकी निर्दोषता के निश्चय के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा होती है।[4] (२) वस्तुतः सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः होता है, दोष का ज्ञान होने से किसी ज्ञान को अप्रमाण मान लिया जाता है।[5] (३) वेद अपौरुषेय हैं, उनमें दोषों की संभावना भी नहीं की जा सकती अतः वे स्वतः प्रमाण हैं।[6]

---

१. वही, ब्रह्मसूत्र, २.१.५, पृ० १६६।
२. अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्। ब्रह्मसूत्र, २.१.६।
३. वही, २.१.६, पृ० १६७।
४. अतः आगमस्य स्वार्थे प्रामाण्यमङ्गीकार्यम्। वही, पृ० १२।
५. वही, पृ० १२।
६. किं पुनर्वेदस्यापौरुषेयत्वेनासंभाव्यदोषस्य। वही, पृ० १२।

इस सन्दर्भ में टीकाकार ने वेद की अपौरुषेयता तथा नित्यता का भी निरूपण किया है।[1] तदनन्तर सिद्ध अर्थ का बोधक शब्द भी प्रमाण होता है, यह दिखलाया है।[2] और, अन्त में पुराण आदि का प्रामाण्य सिद्ध किया है, जिसमें दो युक्तियां दी हैं—एक, क्योंकि ये पुराण आदि वेद का अनुसरण करते हैं और दूसरी यह कि छान्दोग्य आदि में पुराणों को आदर दिया गया है, यहाँ तक कहा गया है—इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।[3] इन दोनों युक्तियों में भी वेद का स्वतः प्रामाण्य प्रकट होता है। वेद प्रमाण हैं, इसी आधार पर उनका अनुसरण करने वाले अन्य शास्त्र भी प्रमाण हैं और वेद स्वतः प्रमाण हैं, यह ऊपर कहा ही जा चुका है।

६. वल्लभाचार्य और वेद-प्रामाण्य

वल्लभाचार्य ने भी प्रसङ्गानुसार वेदप्रामाण्य के विषय में कुछ वचन कहे हैं।[4] उन्हीं के आधार पर उनके एतद्विषयक मन्तव्य का निर्धारण किया जा सकता है।

उनके मत में अज्ञात अर्थ का बोधक ही प्रमाण कहलाता है।[5] ब्रह्म प्रत्यक्ष आदि से अवगत नहीं होता केवल उपनिषद् से ही जाना जाता है, कहा भी गया है 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' उस उपनिषदों में चर्चित पुरुष को पूछता हूँ। अतः ब्रह्म का बोधक होने से वेद प्रमाण हैं।[6] उन्होंने वेदान्त के द्वितीय तथा तृतीय सूत्र को एक सूत्र के रूप में रक्खा है।[7] यहाँ शास्त्र का अर्थ किया है वेद, शास्तीति शास्त्रं वेदः।[8] किञ्च, वेदान्तों=उपनिषदों को भी वेद माना है।[9]

वल्लभाचार्य कहते हैं कि वेद प्रमाण हैं—वेदाश्च प्रमाणभूताः (पृ० १४०), इनका प्रामाण्य प्रत्येक तन्त्र में स्वीकृत किया गया है अतः उस पर यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है।[10] अभिप्राय यह है कि सभी आस्तिक दर्शनों ने किसी न

---

१. वही, पृ० १२-१३।
२. इति सिद्धेऽर्थे प्रामाण्यं सुस्थितम्। वही, पृ० १६।
३. वही, पृ० १६।
४. अणुभाष्य (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९०५), १.१.१-५।
५. अनधिगतार्थगन्तृ च प्रमाणम्। वही, पृ० १३६।
६. द्र०, वही, पृ० ७८-८०।
७. जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्। वही, पृ० ५१।
८. वही, पृ० ६२।
९. वही, पृ० ६६-६७।
१०. वही, पृ० ४५।

किसी रूप में वेद का प्रामाण्य स्वीकारा है और यहाँ आचार्य आस्तिकों के लिये ही ब्रह्म के विचार में प्रवृत्त हुए हैं अतः वेद-प्रामाण्य के विचार की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

किन्तु प्रश्न है वेद प्रामाणिक क्यों है? किस आधार पर वेद का प्रामाण्य माना गया है? जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, वेद अज्ञात अर्थ का बोधक है अतः वह प्रमाण है ही। यदि कोई वेद के अप्रामाण्य की शङ्का करे तो उसके प्रति यह कहा जा सकता है:—कोई ज्ञान तभी अप्रमाण हो सकता है जब वह (१) अपने अर्थ का बोधक न हो, या (२) उसके द्वारा बोधित अर्थ में सन्देह हो, अथवा (३) उसके द्वारा बोधित अर्थ का किसी अन्य प्रमाण से बाध हो जाये।

वल्लभाचार्य ने प्रसङ्गवश यह दिखला दिया है कि वेद-प्रतिपादित ज्ञान में ये सभी बातें नहीं हैं। कैसे? (१) समस्त वेद अपने अर्थ का बोधक है ही, वेद-प्रतिपादित ज्ञान का जो विषय है उसका वह बोध कराता है।[1] (२) वेद परम आप्त है यथार्थ कथन करने वाला है, वह एक अक्षर भी अन्यथा नहीं कहता।[2] जब वेदानुयायियों को यह निश्चय है कि वेद में असत्य ज्ञान का लेश भी नहीं है तब वेद-प्रतिपादित अर्थ में सन्देह कैसे हो सकता है।[3] पूर्वपक्षी की यह शङ्का हो सकती है, वेद में जो उपाख्यान हैं वे असत्य अर्थ का भी कथन करते हैं, किसी की स्तुति या निन्दा दिखलाने के लिये अयथार्थ बात भी कह देते हैं; फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि वेद में अक्षर मात्र भी असत्य अर्थ का कथन नहीं करता। इसके उत्तर में वल्लभाचार्य कहते हैं: –वैदिक उपाख्यान भी मिथ्या नहीं हैं। यदि उन्हें मिथ्या माना जायेगा तो समस्त वेद ही मिथ्या होने लगेगा।[4] वे यह भी बतलाते हैं कि बुद्ध के जन्म से पूर्व किसी ने भी वैदिक आख्यानों को मिथ्या नहीं बतलाया तथा उन्हें मिथ्या कहना युक्तियुक्त नहीं है।[5] (३) वेद-प्रतिपादित अर्थ में बाध भी नहीं देखा जाता।[6] इस प्रकार अप्रामाण्य का निश्चायक कोई भी निमित्त वेद के विषय में उपलब्ध नहीं होता अतः वेद प्रमाण ही हैं।

---

१. प्रमाणं च सर्वोऽपि वेदः स्वार्थे। वही, पृ० ६७।
२. वेदश्च परमाप्तोक्षरमात्रमप्यन्यथा न वदति। वही, पृ० ५५।
३. वेदेऽक्षरमात्रस्याप्यसत्यार्थज्ञानस्याभावाद् वैदिकानां न सन्देहोऽपि। वही, पृ० १६।
४. न चोपाख्यानानां मिथ्यात्वम्, तथा सति सर्वत्रैव मिथ्यात्वं भवेद् विशेषाभावात्। वही, पृ० १८।
५. न ह्युपाख्यानानां मिथ्यार्थत्वं बुद्धजन्मनः पुरोक्तं युक्तं वा। वही, पृ० १०८।
६. बाधितार्थवचनं वेदे नास्ति। वही, पृ० ६६।

वेद का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है । इसके प्रामाण्य की सिद्धि के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती । भाव यह है— चक्षु आदि का प्रामाण्य तो अन्य-सापेक्ष है । यदि चक्षु आदि सत्त्वगुण-विशिष्ट होते हैं तो वे यथार्थ के प्रकाशक होते हैं अन्यथा नहीं ।[1] उनका प्रामाण्य स्वतः नहीं होता । यदि उनका प्रामाण्य स्वतः हुआ करता तो कहीं भ्रान्ति न हुआ करती । अतः सत्त्व-विशिष्ट होने पर ही उनका प्रामाण्य हुआ करता है ।[2] वेद के विषय में ऐसा नहीं है । वेदान्त के मत में वेद भगवान् के निश्वास रूप हैं वे स्वभावतः ही प्रमाण हैं, उन्हें अपने प्रामाण्य की सिद्धि के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती । वे स्वतः प्रमाण हैं ।[3]

किन्तु प्रश्न यह है कि वेद तो शब्द रूप हैं, कोई शब्द तभी बोधक होता है जब पद और पदार्थ का सम्बन्ध ज्ञात हुआ करता है, और पद तथा पदार्थ का सम्बन्ध व्यवहार आदि के द्वारा जाना जाता है अतः वेदार्थ को जानने के लिये भी अन्य साधन की अपेक्षा होगी ही; फिर निरपेक्ष होने से वेद स्वतः प्रमाण है, यह कैसे कहा जा सकता है । इसका उत्तर वल्लभाचार्य के इस कथन में मिलता है कि वेदवेत्ताओं ने प्रथमतः वैदिक प्रसङ्गों में ही पद और पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान कर लिया था । अतः उसके ज्ञान के लिये व्यवहार की अपेक्षा नहीं थी ।[4] भाष्य-प्रकाश नामक व्याख्या में इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि वेदवेत्ताओं ने प्रथमतः भगवान् की शिक्षा से, या भगवत्प्रदत्त अपनी बुद्धि से अथवा भगवान् की इच्छा मात्र से ही वैदिक प्रपञ्च में ही पद और पदार्थ के सम्बन्ध को जान लिया था । इसलिये न तो वेद अबोधक है और न ही उसका अर्थ-बोध करने के लिये लौकिक व्यवहार की अपेक्षा है । फलतः अन्यनिरपेक्ष होने से वेद का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है ।[5]

इस प्रकार वल्लभाचार्य के मतानुसार अज्ञात अर्थ का बोधक होने से वेद प्रमाण है उसमें प्रामाण्य के विरोधी अज्ञान, सन्देह तथा बाध का दर्शन नहीं होता, वह अपने प्रामाण्य के लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा भी नहीं रखता । इसलिये वेद स्वतः प्रमाण है ।



१. द्र०, भाष्यप्रकाशटीका, अणुभाष्य, पृ० १३५ ।
२. अणुभाष्य, पृ० १३४–१३५ ।
३. अतो निरपेक्षा एव भगवन्निः श्वासरूपवेदा एव प्रमाणम् । वही, पृ० १३५ ।
४. सङ्केतग्रहस्तु वैदिक एव वेदविद्भिः कृतः । वही, पृ० १३५ ।
५. द्र०, भाष्यप्रकाश, अणुभाष्य, पृ० १३५-१३६ ।

परिच्छेद १०

पाश्चात्त्य विद्वान् तथा वेद-प्रामाण्य

१. संक्षिप्त परिचय

१७वीं तथा १८वीं शताब्दी में यूरोप के लोगों ने भारतीय साहित्य से परिचय प्राप्त करना आरम्भ किया। प्रारम्भ में ईसाई मिशनरियों ने भारतीय साहित्य को विश्व के समक्ष लाने का प्रयास किया। उस समय धर्मशास्त्र, हितोपदेश जैसे कथाग्रन्थ तथा महाभारत का शकुन्तलोपाख्यान जैसे ग्रन्थों का यूरोप की भाषाओं में अनुवाद किया गया और संस्कृत-व्याकरण की रचना हुई। विलियम जोन्स (१७४६-१७६४) ने सर्वप्रथम प्राच्य-शोध के लिये एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना की। उन्होंने शकुन्तला नाटक, ऋतुसंहार तथा मनुस्मृति आदि के अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराये। इससे अन्य विद्वानों को भी इस विषय में प्रेरणा मिली।

हेनरी टामस कोलब्रुक (१७६३-१८३७) ने भारतीय साहित्य के अन्वेषण में अत्यधिक उत्साह दिखलाया। उन्होंने भारतीय दर्शन, धर्म, व्याकरण आदि पर कुछ निबन्ध लिखे। कुछ ग्रन्थों का सम्पादन किया, अभिलेखों का अनुवाद भी किया और 'ऑन दी वेदाज़' नामक निबन्ध के द्वारा पाश्चात्त्यों को वेदों के विषय में परिचय कराया। इसी समय विलियम जोन्स के ग्रन्थों के अनुवाद जर्मनी में पहुँचे और जर्मन विद्वानों का ध्यान भारत की ओर आकृष्ट हुआ।

फ्रीड्रिख श्लीगल (१७७२-१८२६) पहला जर्मन विद्वान् था जिसने कोलब्रुक की तरह संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद किये तथा संस्कृत के अन्वेषण में परिश्रम किया। श्लीगल के भाई विल्हेम ने भाषाविज्ञान तथा व्याकरण के सम्बन्ध में विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे। उसी समय फ्रैंज बॉप (१७६१-१८६७) ने कालेज दी फ्रांस में संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष ए० एल० शेजी की छत्रछाया में संस्कृत शोध का कार्य आरम्भ किया। बॉप ने संस्कृत-व्याकरण तथा संस्कृतकोश की रचना की; किन्तु इस समय तक यूरोप के विद्वानों का ध्यान लौकिक संस्कृत साहित्य की ओर ही विशेष रूप से रहा। यद्यपि कोलब्रुक के निबन्धों से तथा उपनिषदों के फारसी अनुवादों से वेद के विषय में कुछ परिचय पाश्चात्त्य जगत् को मिल चुका था।

१८३८ ई० में लन्दन में फ्रीड्रिख रोजेन का ऋग्वेद प्रथम अष्टक प्रकाशित हुआ। वैदिक अनुशीलन की इस परम्परा को फ्रांस के महान् प्राच्य-विद् (१९वीं शती) यूजीन बर्नफ ने आगे बढ़ाया। बर्नफ के शिष्यों में से ही एक रुडोल्फ रॉथ (१८३१-१८९५) थे, जिन्होंने जर्मनी में वैदिक अनुसन्धान की परम्परा चलाई।[1] बर्नफ के दूसरे शिष्य मैक्समूलर (१८२३-१९००) थे, जो प्राच्य विद्याओं के विषय में विश्वविख्यात हैं।[2] रॉथ और मैक्समूलर की वेद-विषयक धारणाओं में कुछ अन्तर था जिसका आगे उल्लेख किया जायेगा।

इस समय वेदों के अनुवाद और व्याख्याओं के साथ-साथ उनके मूल ग्रन्थों के संस्करण भी निकाले जाते रहे। १८५० ई० में विलसन ने सायण भाष्य के आधार पर ऋग्वेद का अंग्रेजी में अनुवाद किया। ग्रासमान ने १८७३ में ऋग्वेद सम्बन्धी कोश की रचना की तथा १८७६-७७ में ऋग्वेद का पद्यात्मक अनुवाद जर्मन भाषा में किया। लुड्विग ने ऋग्वेद का गद्य में अनुवाद तथा व्याख्या प्रस्तुत की। गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस के अध्यक्ष डा० ग्रिफ़िथ (१८२६-१९०६) ने चारों वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। १९०५ में लेनमान और व्हिटनी नामक अमरीकी विद्वानों ने समीक्षात्मक भूमिका और टिप्पणी सहित अथर्ववेद का अनुवाद प्रस्तुत किया। जर्मन विद्वान् ओल्डनबर्ग ने ऋग्वेद की विवेचनापूर्ण व्याख्या (१९०९-१२) में प्रकाशित कराई। ए०बी० कीथ ने तैत्तिरीय संहिता का अंग्रेजी अनुवाद किया तथा वेद के विषयों की समीक्षा करते हुए कुछ अन्य ग्रन्थ भी लिखे। इन्होंने ऋग्वेद के दोनों ब्राह्मणों का समीक्षात्मक भूमिका के साथ अनुवाद भी प्रस्तुत किया। इसी प्रकार डा० कैलेन्ड ने ताण्ड्य महाब्राह्मण का अनुवाद (बिब्लिका० कलकत्ता, १९३२) प्रस्तुत किया।[3]

इसी समय वेद-सम्बन्धी विविध विषयों पर भी पाश्चात्त्य विद्वानों ने बहुत से ग्रन्थ लिखे। बोह्लिंग तथा रॉथ ने संस्कृत-जर्मन-कोश (संस्कृत वेर्स्तेरबुख) का प्रणयन किया। ग्रासमान का वैदिक-कोश, ब्यूहलर का 'एन्सायक्लोपीडिया ऑफ इण्डो आर्यन रिसर्च' तथा मैक्डॉनल और कीथ का वैदिक इण्डेक्स भी इसी प्रकार के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार कुछ वेद-सम्बन्धी व्याकरण तथा वैदिक साहित्य के इतिहास आदि भी लिखे गये, जिनके विषय में यथासम्भव आगे बतलाया जायेगा।

---

१. द्र०, विन्टरनिट्ज़, प्राचीन भारतीय साहित्य-१ (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली), पृ० ८-१६।

२. बर्नफ की प्रेरणा से मैक्समूलर ने सायण-भाष्य-सहित ऋग्वेद को प्रकाशित करने की योजना बनाई। ऋग्वेद का यह संस्करण १८४९-७५ में प्रकाशित हुआ।

३. द्र०, बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति (१९५८), पृ० ५०-५१।

वेद-प्रामाण्य के प्रसङ्ग में तो विशेष रूप से कुछ विशिष्ट वेद के व्याख्याकार पाश्चात्य विद्वानों के एतद्विषयक मत ही दिखलाने अभीष्ट हैं। उन विद्वानों में से अनेकों के पृथक्-पृथक् मत की चर्चा आगे की जा रही है। किन्तु उनके वेद-प्रामाण्य सम्बन्धी मतों का विश्लेषण करने से पूर्व यह विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि वेद के अर्थ के विषय में उनकी क्या धारणाएं हैं।

२. पाश्चात्य विद्वानों की वेदार्थ-विषयक-धारणाएं

वेद के अर्थ गहन हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि वेद रहस्यों से भरे हैं। निरुक्त तथा उसकी टीकाओं के अनुशीलन से यह भी धारणा होती है कि वेदार्थ की त्रिविध-प्रक्रिया मानी जाती रही।[1] मन्त्रों का अर्थ याज्ञिक प्रक्रिया, दैवत प्रक्रिया एवं अध्यात्म प्रक्रिया में होता है, यह माना जाता रहा; किन्तु तीनों प्रक्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाले प्राचीन भाष्य उपलब्ध नहीं होते। यह कहना कठिन है कि वेद के अर्थ को समझाने का पहला प्रयास कौन सा था। यों तो, ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी ऐसे कुछ सन्दर्भ मिलते हैं जिनसे ब्राह्मणों को वेद-व्याख्यान माना जाता है; फिर भी विद्वानों ने माना है कि यास्क के निरुक्त में ही प्रथमतः वेद के किन्हीं अंशों की विस्तृत व्याख्या उपलब्ध होती है। पाश्चात्य विद्वानों ने निरुक्त की व्याख्याओं में भी कुछ दोष खोजे हैं और उनका कहना है कि इसकी व्याख्याओं या व्याख्या-पद्धति पर निर्भर रहना वैज्ञानिक-पद्धति के अनुकूल नहीं है। यास्क ने किसी भी वेद के सभी मन्त्रों का अर्थ भी नहीं दिखलाया।

परवर्ती भाष्यकार स्कन्द, वेङ्कटमाधव, उवट, सायण तथा महीधर आदि ने जो वेदों पर भाष्य किये हैं—एक तो वे सभी सप्तम शताब्दी ई० के पश्चात् के हैं अतः वैदिक अर्थों की परम्परा से दूर ही जा पड़ते हैं। दूसरे, उन्होंने वेदों की व्याख्या करते समय व्यापक दृष्टि से काम नहीं लिया। इन भाष्यों में १४वीं शताब्दी में लिखे गये सायणकृत भाष्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। किन्तु, सायण ने भी विशेषकर याज्ञिक-पद्धति से भाष्य किये हैं; वेदार्थ की त्रिविध-प्रक्रिया को नहीं अपनाया। इन भाष्यों में भी भाष्यकार की दृष्टि एकाङ्गी रही है। अन्य भी कुछ दोष हैं। उदाहरणार्थ—यहाँ परवर्ती साहित्य के आधार पर वेदार्थ कर दिया गया है। इन वेद-भाष्यकारों की अपूर्णताओं की ओर भी पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान गये विना नहीं रहा। उन्होंने सभी बातों

---

१. द्र०, निरुक्त, १.२० तथा दुर्गाचार्य कृत भाष्य, १.१८।

का ध्यान रखते हुए वेदों के नवीन संस्करण, अनुवाद तथा व्याख्या ग्रन्थ प्रकाशित कराये।

वेदों के अनुवाद तथा व्याख्या करने वाले पाश्चात्त्य विद्वानों को तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है—(क) प्रथम वर्ग के अनुसार वेद भारतीयों की सम्पत्ति है। भारत में वेदार्थ की परम्परा प्रचलित रही है। इस परम्परा से विलग होकर वेदों का अर्थ नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि भारतीय भाष्यकारों के भाष्यों में अनेक अपूर्णताएँ हैं फिर भी वे हेय नहीं हैं। इस प्रकार की धारणाओं के आधार पर इस वर्ग के विद्वानों ने प्राचीन भाष्यकारों के भाष्य का विविध भाषाओं में अनुवाद करना ही श्रेयस्कर समझा। इन विद्वानों में विल्सन, ग्रिफ़िथ, मैक्समूलर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।[1]

(ख) दूसरे वर्ग में वे विद्वान् हैं, जिन्होंने प्राचीन भाष्यकारों के दोष दिखला कर उनकी व्याख्याओं को हेय समझा और बतलाया कि तुलनात्मक, भाषावैज्ञानिक और ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर वैदिक मन्त्रों का अर्थ सायण आदि की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। वेदार्थ की यह पद्धति समीक्षात्मक-पद्धति (Critical method) अथवा ऐतिहासिक पद्धति (Historical method) के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ अन्य विद्वानों ने इस वेदार्थ-पद्धति का महत्त्व स्वीकार किया; किन्तु पाश्चात्त्य प्रतिभा भी इससे पूर्णतया सन्तुष्ट न हो सकी।[2]

(ग) तीसरा वर्ग मध्यम मार्ग को स्वीकार करता है। उसके विचार में यह तो ठीक है कि भारतीय भाष्यकारों का अन्धानुसरण न किया जाये। फिर भी, भारत में प्राचीन वेदार्थ की परम्परा का कुछ अंश अवश्य ही सुरक्षित रहा होगा। अतः भारतीय परम्परा का आश्रय लेते हुए ही आज भी जो वेदार्थ किया जायेगा वही अधिक सङ्गत होगा। इस वर्ग के अनुसार आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से वेदों का भाष्य करते हुए भी सायण आदि भाष्यकारों से जो सहायता मिल सकती है, वह लेनी ही चाहिये। इन मध्यम मार्गियों में एक

---

१. द्र०, (क) मैक्डॉनल, संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४९।
(ख) विन्टरनिट्ज़, प्राचीन भारतीय साहित्य-१, पृ० ५३।
(ग) रामगोपाल, वैदिक व्याख्या विवेचन, भूमिका, पृ० १०।

२. द्र०, (क) मैक्डॉनल, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४९-५२।
(ख) विन्टरनिट्ज़, प्राचीन भारतीय साहित्य-१, पृ० ५३-५४।
(ग) रामगोपाल, वैदिक व्याख्या विवेचन, भूमिका, पृ० १०।

विद्वान् लुड्विग हैं। पिशल तथा गैल्डनर आदि भी इसी मार्ग का अनुसरण करते हैं।[1]

इन तीनों वर्गों के विद्वानों की दृष्टि में वेदों की प्रामाणिकता का आधार क्या हो सकता है, इस पर अग्रिम अनुच्छेदों में विचार किया जा रहा है।

३. कोलब्रुक (H. T. Colebrooke, 1763-1837)

विन्टरनिट्ज़ के शब्दों में हेनरी थामस कोलब्रुक को "भारतीय भाषा-विज्ञान तथा पुरातत्त्व का संस्थापक कहा जा सकता है"।[2] मैक्डॉनल का कथन है- "कोलब्रुक एक अद्भुत परिश्रम करने वाले विद्वान् हुए जिनमें अत्यन्त विशद बुद्धि एवं सन्तुलित समीक्षा की क्षमता का दुर्लभ समन्वय था—परवर्ती विद्वानों के द्वारा संस्कृत विद्या के प्रसार की वास्तविक नींव ही उन्होंने डाली थी।"[3] "कोलब्रुक १७ वर्ष की वयस् में भारत में सरकारी कर्मचारी होकर आया। भारत-निवास के प्रथम ११ वर्षों में उसका संस्कृत व संस्कृत-साहित्य की ओर ध्यान नहीं गया। जब १७९४ में विलियम जोन्स का देहावसान हुआ तो कोलब्रुक ने संस्कृत भाषा का अध्ययन अभी समाप्त ही किया था तथा विलियम जोन्स के मार्ग-निर्देशन में कानून की एक संस्कृत पुस्तक का अनुवाद शुरु किया था"।[4]

कोलब्रुक ने भारतीय साहित्य की गवेषणा में अथक उत्साह से कार्य किया। उन्होंने भारतीय कानून पर अनेक ग्रन्थ लिखे और संस्कृत के वैज्ञानिक साहित्य को अपना क्षेत्र बनाया। उन्होंने दर्शन, धर्म, व्याकरण, ज्योतिर्विज्ञान तथा गणित पर भी कार्य किया। अमरकोश जैसे कतिपय शब्दकोशों, पाणिनीय व्याकरण, हितोपदेश तथा किरातार्जुनीय का सम्पादन किया। कुछ शिलालेखों का सम्पादन तथा अनुवाद भी किया। विभिन्न विषयों की पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह पाण्डुलिपि-संग्रह आज लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय की अमूल्य निधि है।

---

१. द्र०, (क) मैक्डॉनल, वैदिक रीडर, इन्ट्रोडक्शन, पृ० XXX-XXXIII.
 (ख) विन्टरनिट्ज, प्राचीन भारतीय साहित्य-१, पृ० ५४।
 (ग) रामगोपाल, वैदिक व्याख्या विवेचन, पृ० १०-११।

२. द्र०, प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास-१ (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७५), पृ० ६।

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास-१ (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९६२), पृ० ३।

४. विन्टरनिट्ज, प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास-१, पृ० ६।

कोलब्रुक के वेद-सम्बन्धी विचारों को जानने का प्रमुख स्रोत है–

Essay on the Vedas (Published in Asiatic Researches, Calcutta, 1805) Vol. VIII, pp. 369-76.

यह निबन्ध तथा अन्य दार्शनिक, धार्मिक एवं सामाजिक विषयों पर लिखे गये कुछ निबन्ध Essays on the Religion and Philosophy of Hindus नाम से संकलित करके प्रकाशित कराये गये हैं।[1] वेदों पर (On the Vedas) नामक निबन्ध में कोलब्रुक ने भारतीयों के प्राचीन युग का महत्त्वपूर्ण परिचय दिया है।

वेदों के प्रतिपाद्य विषय पर कोलब्रुक ने प्रस्तुत निबन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। उसी के आधार पर उनके वेद-प्रामाण्य सम्बन्धी विचार खोजे जा सकते हैं। यह निबन्ध यूरोप के विद्वानों को वेद की ओर आकृष्ट करने वाले निबन्धों में से अन्यतम है। उस समय पाश्चात्त्य विद्वान् वेद के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में ऊहापोह कर ही रहे थे।

कोलब्रुक की दृष्टि में जिन मन्त्रों पर जो ऋषि लिखे हैं वे ही उनके रचयिता हैं। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों के कर्त्ता राजघराने से भी हैं।[2] इन सन्दर्भों में कुछ स्थलों पर उन राजाओं के नाम की ओर सङ्केत हैं जिनके नाम भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। अन्य स्थलों पर उन राजाओं का स्पष्ट वर्णन है।[3] अनेक स्थलों पर विविध राजाओं के सम्वादों का वर्णन है।

कोलब्रुक ने वैदिक देवों के विषय में भी अपने विचार प्रकट किये हैं। निरुक्त में बतलाये गये तीन देवों का वर्णन करके[4] उन्होंने दिखलाया है कि वेद-मन्त्रों में इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि को अनेक बार सम्बोधित किया गया है।[5] उन्होंने ऐसे अनेक सूक्तों और मन्त्रों को उद्धृत भी किया है।[6] इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी स्तुतियाँ हैं जिनका शत्रु के विनाश-सम्बन्धी

१. Ashok Publications 548, Moti Bagh South, New Delhi-110023, Indian Edition, 1976.

२. Essays on the Religion and philosophy of Hindus, p. 10.

३. The text itself, in some places, actually points, and in others obviously alludes to monarchs, whose names are familiar in the indian heroic history. वही, पृ० १०।

४. द्र०, वही, पृ० १२।

५. द्र०, वही, पृ० १३।

६. द्र०, वही, पृ० १४।

अनुष्ठानों में प्रयोग किया जाता था।[1] यहाँ सृष्टि-रचना-सम्बन्धी भी कुछ सूक्त हैं।[2]

उनके अनुसार शुक्ल यजुर्वेद में विशेष रूप से यज्ञों का वर्णन है।[3] इसमें देवताओं के लिये प्रार्थनाएँ भी हैं।[4] यहाँ अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध और पितृमेध आदि का वर्णन भी है।[5] इसके अन्तिम पाँच अध्यायों का ऋषि अथर्वन् का पुत्र या सन्तान दध्यच् है। इनमें से चार में विविध धार्मिक कृत्य सम्बन्धी स्तुतियाँ हैं।[6] कोलब्रुक ने कुछ मन्त्रों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये हैं जिनमें अग्नि आदि की स्तुतियाँ हैं। यह भी कहा है कि किन्हीं मन्त्रों में परमात्मा-सम्बन्धी सङ्केत भी मिलते हैं।[7]

सामवेद के प्रतिपाद्य विषय पर लेखक ने इतना ही प्रकाश डाला है— इसमें ऐसी स्तुतियाँ हैं जिनका गान किया जाता रहा है।[8]

अथर्ववेद के विषय में लेखक का कथन है—जैसा कि प्रसिद्ध है, अथर्ववेद में शत्रु के नाश के लिये अनेक अभिचार मिलते हैं। किन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगाया जाना चाहिये कि इस वेद का यही मुख्य विषय है; क्योंकि इस वेद में अत्यधिक संख्या में सुरक्षा-सम्बन्धी एवं आपत्तियों के निवारण-सम्बन्धी स्तुतियाँ हैं और अन्य वेदों के समान ही देवता-सम्बन्धी अनेक सूक्त हैं। साथ ही यज्ञों के अतिरिक्त विविध संस्कारों तथा धार्मिक कृत्यों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्र भी हैं।[9]

---

१. द्र०, वही, पृ० १५।
२. द्र०, वही, पृ० १७-१८।
३. द्र०, वही, पृ० ३१।
४. द्र०, वही, पृ० ३२।
५. द्र०, वही, पृ० ३१-३२।
६. द्र०, वही, पृ० ३२।
७. द्र०, वही, पृ० ३२-३३।
८. द्र०, वही, पृ० ४७-४८।
९. The Atharva-Veda, as is well known, contains many forms of imprecation for the destruction of enemies. But it must not be inferred, that such is the chief subject of the Veda; since it also contains a great number of prayers for safety and for at averting of calamities; and, like the other Vedas, numerous hymns to the Gods, with Prayers to be used at solemn rites and religious exercises, excepting such as are named Yajnya. वही, पृ० ५४।

कतिपय उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय पर विचार करते हुए लेखक ने वेदोक्त धर्म के बारे में भी कुछ सङ्केत दिये हैं। उनके अनुसार वेदों में राम और कृष्ण की विष्णु के अवतार के रूप में पूजा का कोई सङ्केत नहीं। यद्यपि वेद में अनेक देवों के सङ्केत हैं तथापि देवरूप में किसी व्यक्ति की पूजा अथवा देवों का अवतार लेना आदि वहाँ नहीं है।[1]

इस प्रकार कोलब्रुक के अनुसार ऐतिहासिक और धार्मिक विषयों के कुछ संकेत वेदों में मिलते हैं। उन्हीं विषयों में इन्हें प्रमाण कहा जा सकता है। परवर्ती विद्वानों के समान उन्होंने वेद के प्रतिपाद्य विषयों पर विस्तृत प्रकाश नहीं डाला।

४. विल्सन (Horace Hayman Wilson, Sept. 26, 1786 — May 8, 1860)

वेद के पश्चिमी विद्वानों में विल्सन का नाम भी उल्लेखनीय है। उनका जन्म २६ सितम्बर, १७८६ को हुआ। उनकी शिक्षा लन्दन में हुई और वे १८०८ में चिकित्सा-सेवा के लिए कलकत्ता में आये। १८११-३३ तक वे एसियाटिक सोसाइटी बंगाल के सचिव रहे। उन्होंने लगन से संस्कृत पढ़ी और १८१३ में मेघदूत का अनुवाद किया। उन्होंने विविध विषयों पर महत्त्वपूर्ण कार्य किए और यूरोप के विज्ञान तथा अंग्रेजी साहित्य का यहाँ की शिक्षा में समावेश कराया। वे संस्कृत कालेज के भी निरीक्षक रहे। १८३२ में उन्होंने भारत छोड़ दिया और १८३३ में आक्सफोर्ड में संस्कृत के बाडन प्रोफेसर नियुक्त हुए।[2] विल्सन ने एक अफसर के रूप में काम करते हुए निरन्तर भारतीय साहित्य का अध्ययन किया। उन्होंने हस्तलिपियों का एक समृद्ध भण्डार बनाया और बड़ी मात्रा में साहित्य की रचना की।[3]

उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती वेद-भाष्य तथा अनुवादों का आश्रय लिया है; फिर भी उनका अनुवाद विशेषकर सायण-भाष्य का अनुसरण करने वाला कहा

१. द्र०, वही, पृ० ६८।

२. द्र०, (क) Indian Studies Abroad, (Asia Publishing House, New York, 1964).
(ख) Wilson, Religious Sects of the Hindus (Sushil Gupta, Calcutta, 1859), Preface.

३. द्र०, वही, Preface.

जा सकता है।[1] विल्सन उन विद्वानों में हैं जो सायण-भाष्य का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—यद्यपि सायण की व्याख्या पर कहीं-कहीं प्रश्न चिह्न लगाये जा सकते हैं; फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रदर्शित वेद-ज्ञान की अपेक्षा सायण बहुत अधिक वेदों का ज्ञान रखते थे।[2] ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने संस्कृतकोश की रचना की थी तथा हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था।

विल्सन के वेदसम्बन्धी विचार उनके निम्नलिखित ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं :—

(1) Ṛg-Veda Saṁhitā (English Translation Notes and Appendices etc., Nag Publishers, Jawahar Nagar, Delhi -7, 1977).

(2) Hindu Religions (Bharatiya Book Corporation, Delhi—7, India, 1977).

ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद के आरम्भ में उन्होंने जो एक विस्तृत भूमिका (Introduction) दी है उससे ही यह जाना जा सकता है कि वेदों में किन विषयों का वर्णन मिलता है। विल्सन कहते हैं—हमें हिन्दू धर्म के इतिहास में ऋग्वेद का अत्यधिक महत्त्व मानना पड़ता है।[3] वस्तुतः हम हिन्दुओं की धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप का यथार्थ तथा प्राचीनतम ज्ञान प्राप्त करने के लिए मुख्यरूप से ऋग्वेद का आश्रय ले सकते हैं।[4]

विल्सन ने ऋग्वेद को अपने समय के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा सामाजिक अवस्था आदि का बोधक ग्रन्थ माना है।[5] वे बतलाते हैं—वेद के सूक्तों में विस्तार से भेंट (आहुति), प्रार्थना, तथा स्तुति आदि का वर्णन किया

---

१. द्र०, बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति (शारदा मन्दिर, काशी, द्वि० सं०, १९५८), पृ० ५०।

२. Although the interpretation of Sayana may be occasionally questioned, he undoubtedly had a knowledge of his text for beyond the pretensions of any European scholar. Introduction to English Translation of Ṛgveda Saṁhitā (Nag Publishers, Jawahar Nagar, Delhi—7, 1977). p. xlviii.

३. We must naturally infer... It's greater importance to the history of the Hindu religion. Intro. p. vii.

४. In truth, it is to the Rig-Veda that we must have recourse principally, if not exclusively, for correct notions of the oldest and most genuine forms of the institutions, religious or civil, of the Hindus. वही, पृ० vii.

५. द्र०, वही, पृ० xx.

गया है।[1] वहाँ किसी मन्दिर का संकेत नहीं, न ही पूजा के किसी सार्वजनिक स्थान का ही। यह स्पष्ट है कि उस समय पूजा नितान्त घरेलू कार्य था।[2] सामान्यरूप से यज्ञ घृत और सोमरस से सम्पन्न किये जाते थे, किन्तु पशु-बलि और मानव-बलि से भी लोग अपरिचित नहीं थे।[3] सामान्यतः सम्पत्ति, अन्न, जीवन, सन्तान, पशु तथा शत्रुओं पर विजय आदि की प्रार्थनाएँ की जाती थीं। कुछ ऐसे भी सङ्केत हैं जिनमें अमरता और भावी आनन्द की आशाएँ की गई हैं।[4] वहाँ नैतिक हितों के लिए बहुत कम प्रार्थना की गई हैं। फिर भी कुछ सन्दर्भों में असत्य के प्रति घृणा और पाप से बचने की इच्छा प्रकट की गई है।[5] हाँ, इन प्रार्थनाओं का मुख्य उद्देश्य सांसारिक और शारीरिक लाभ है।[6]

विल्सन ने यह भी विचार किया है कि जिन देवों की स्तुति और प्रार्थना की गई है वे कौन हैं। वे इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि ऋग्वेद के आख्यान और वीरकाव्य एवं पुराणों की कथाओं में अन्तर है।[7] उन्होंने एक-एक देव को लेकर विस्तार से विवेचन किया है[8] और यह भी कहा है कि वेद के मुख्य देवता, अग्नि और इन्द्र हैं।[9] उन्होंने सभी वर्णित देवों को तीन वर्गों में रखते हुए निरुक्तकार यास्क का मत भी दिखलाया है[10], और कहा है कि विश्व की एक आत्मा का विचार यहाँ स्पष्टरूप से नहीं प्रकट हुआ।[11]

---

१. द्र०, वही, पृ० xxi.

२. There is no mention of any temple, or any reference to a public place of worship, and it is clear that the worship was entirely domestic· वही, पृ० xxii.

३. द्र०, वही, पृ० xxii.

४. There are a few indications of a hope of immortality and of future happiness. वही, पृ० xxiii.

५. There is little demand for moral benefactions, Although in some few instances hatred of untruth and abhorrence of sin are expressed. वही, पृ० xxiii.

६. The main objects of the prayers, however, are benefits of a more worldly and physical character. वही, पृ०xxiii-xxiv.

७. We find also a striking difference between the mythology of the Rig-veda and that of the heroic poems and Puranas· वही, पृ० xxiv.

८. द्र०, वही, पृ० xxiv-xxxvii.

९. द्र०, वही, पृ० xxv.

१०. द्र०, वही, पृ० xxvii-xxviii.

११. द्र०, वही, पृ० xxviii.

उस समय के लोगों की सामाजिक और राजनैतिक दशा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि उस समय के हिन्दू खानाबदोश नहीं थे, वे ग्रामों और नगरों में रहते थे, किसी अंश तक उनका जीवन चरागाह का जीवन था; किन्तु अधिकांश में उनका व्यवसाय कृषि था, साथ ही उनमें शिल्प-कला का भी विकास हुआ था, वस्त्र बुनना, लकड़ी का काम तथा सोने की गढ़ाई आदि से वे परिचित थे, उनमें सामान्य व्यापारी भी थे और समुद्र के व्यापारी भी।[1]

विल्सन का विचार है कि ऋग्वेद में हिन्दुओं की राजनैतिक अवस्था के विषय में विशेष सूचनाएँ नहीं मिलतीं। हाँ, कुछ राजाओं के नाम अवश्य मिलते हैं जो परवर्ती वीर-काव्य तथा पुराणों से भिन्न हैं। उस समय की प्रदेशों की स्थिति भी परवर्ती स्थिति से भिन्न थी।[2]

जातियों का भेद कम से कम प्रथम अष्टक में स्पष्ट नहीं है। यहाँ जो 'पञ्चक्षितयः' शब्द आया है इसका कुछ व्याख्याकारों ने चार वर्ण और पञ्चम निषाद अर्थ किया है।[3]

इसका उपसंहार करते हुए विल्सन कहते हैं कि ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का परिशीलन करने पर कितने ही प्रश्नों के उत्तर नहीं मिलते। फिर भी ये मन्त्र धार्मिक पूजा, सामाजिक दशा आदि का जो विवरण प्रस्तुत करते हैं वह अन्य हिन्दू शास्त्रों के समान नहीं है।[4]

इस प्रकार विल्सन की दृष्टि में वेदों से उस समय के लोगों के धार्मिक एवं सामाजिक सन्दर्भों में कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। फलतः उसी विषय में उन्हें प्रमाण कहा जा सकता है।

५. रुडोल्फ रॉथ तथा ग्रासमान (Rudolph Roth, 1821-1895; H. Grassmann)

भाषा-विज्ञान की कसौटी पर वेदों के सच्चे अनुसन्धान की परम्परा १८३८ में लन्दन में छपे फ्रीड्रिख रोजेन के ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के साथ होती है।

१. द्र०, वही, पृ० xl.

२. द्र०, वही, पृ० xli.

३. द्र०, वही, पृ० xlii.

४. It is indisputably evident that the hymns it comprises represent a form of religious worship, and a state of society, very dissimilar to those we meet with in all the other scriptural authorities of the Hindus. वही, पृ० xliii.

"दुर्भाग्य से रोजेन अपने संस्करण को पूर्ण करने से पूर्व ही स्वर्ग सिधार गया, सो यूरोप में वैदिक अनुशीलन की आधारशिला का श्रेय फ्रांस के महान् प्राच्य-विद् (जो १९वीं सदी के पंचम दशक में कालेज दे फ्रांस में संस्कृत प्रोफेसर थे) यूज़ीन बर्नूफ को है। यूज़ीन ने संस्कृत तथा वैदिक में शिष्यों की एक विशिष्ट परम्परा (को) तैयार किया जो आगे चलकर सभी प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् बन गए। बर्नूफ के इन्हीं शिष्यों में एक रुडोल्फ रॉथ था जिसने १८४६ में जर्मनी में वैदिक अनुशीलन की आधुनिक परम्परा चलाई।"[1]

इनकी रचनाएँ जर्मन भाषा में हैं, जिनके अंग्रेजी आदि में अनुवाद हो चुके हैं। इनकी विशिष्ट कृतियाँ हैं—

१. Literature and History of the Vedas (1846).

२. Sanskrit Worterbuch (St. Peter's Berg Dictionary by Bohtlingk and Roth.) यह संस्कृत कोश १८५२-७५ में सात जिल्दों में प्रकाशित हुआ।[2]

३. गेटिंगेन (निरुक्त संस्करण १८४८-५२)।[3]

४. अथर्ववेद (शौनक शाखा) सम्पादित, रॉथ तथा व्हिटनी (बर्लिन, १८५६)।[4]

रॉथ ने अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का भी अन्वेषण किया।[5]

वेदों के अर्थ के विषय में रुडोल्फ रॉथ का विचार है कि "वर्तमान भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक आलोचना शास्त्र से सुसज्जित-समर्थित पाश्चात्त्य मेधावी उस ग्रन्थ का कहीं अधिक गम्भीर, एवं सत्य, अन्वेषण कर सकते हैं।"[6] "कारण, उसका निर्णय ईश्वरवादी परम्परा से जकड़ा हुआ नहीं है, उसके पास भाषा की प्रकृति का मापदण्ड है। उसका बौद्धिक क्षितिज कहीं अधिक विस्तृत और वैज्ञानिक रीति से भासमान है। शास्त्रज्ञता का बल उसके पास पर्याप्त है··· उन्होंने संस्कृत भाषा के दायरे में ही ऋग्वेद का ऐतिहासिक रीति से अध्ययन

---

१. विन्टरनिट्ज़, प्राचीन भारतीय साहित्य (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, लाजपतरायकृत हिन्दी अनुवाद, १९६१), पृ० १७।

२. वही, पृ० १८।

३. वेबर, भारतीय साहित्य (किताब महल, इलाहाबाद, १९६५), पृ० ३६ टिप्पणी।

४. द्र०, मैक्डॉनल, संस्कृत साहित्य का इतिहास—१, सन्दर्भ ग्रन्थ, पृ० २६४।

५. Indian Studies Abroad (Asia Publishing House, New York, 1964), p. 26.

६. विन्टरनिट्ज़, प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० ५३-५४।

किया। इसके पश्चात् उन्होंने तुलनात्मक पद्धति की भी सहायता ली।"[1] रॉथ ने एक-एक शब्द का निर्वचन करके वैदिक संहिताओं के वैज्ञानिक अर्थ निकालने का प्रयास किया। उनके एक शिष्य और अनुयायी ग्रासमान ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद किया।[2]

ग्रासमान किसी हाईस्कूल में गणित के अध्यापक थे। उन्होंने समस्त ऋग्वेद का पद्यमय जर्मन भाषा में अनुवाद किया है जो दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ। इस भाष्य में सायण-भाष्य की उपेक्षा करते हुए रॉथ की पद्धति से स्वतन्त्र-भाष्य किया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रासमान ने एक वैदिक कोश[3] भी तैयार किया जिसमें पूर्ण सन्दर्भों सहित ऋग्वेद के शब्दों का अर्थ-निर्णय किया गया है।[4]

रॉथ की वेद-व्याख्यान-पद्धति के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इनके वेदार्थ में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को अधिक महत्त्व दिया गया है और उसका आधार मुख्यरूप से इतिहास ही कहा जा सकता है। फलतः इस पद्धति के अनुसार वेदों का ऐतिहासिक दृष्टि से ही प्रामाण्य देखा जा सकता है।

६. मैक्समूलर (Max Muller, 1823-1900)

पाश्चात्य संस्कृत विद्वानों, विशेषकर वेदज्ञों में मैक्समूलर का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। उन्होंने वेद के विषय में नाना ग्रन्थों की रचना की, वेदोक्त धर्म तथा संस्कृति आदि की व्याख्या प्रस्तुत की और अन्य विद्वानों को भी वेद-विषयक अध्ययन करने की प्रेरणा दी। फलतः उन्हें जर्मन पण्डित की मानद उपाधि से विभूषित किया गया।

मैक्समूलर का जन्म १८२३ में हुआ। जब ये ४ वर्ष के थे तभी उनके पिता का देहावसान हो गया। आरम्भ में उन्होंने ग्रामर स्कूल में पढ़ना आरम्भ किया। फिर लिपझिग विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होकर लेटिन और ग्रीक का अध्ययन किया। तत्पश्चात् प्रो० Brockhaus से संस्कृत का अध्ययन आरम्भ किया। बर्लिन विश्वविद्यालय में कई विशिष्ट विद्वानों के साथ उन्होंने भाषा-विज्ञान

---

१. मैक्डॉनल, संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग (चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, वि० सं० २०१६), पृ० ५२।

२. विन्टरनिट्ज, प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० ५४।

३. Worterbuch Zum Rigveda. Otto Harrasowitz, Leipzig, 1936., R.N. Dandekar, Vedic Bibliography (Bombay, 1946), 93.2.

४. Indian Studies Abroad, p. 26.

और दर्शन का विशेष अध्ययन किया। तदनन्तर पैरिस में जाकर रॉथ के साथ प्रो० बर्नफ से वेदाध्ययन की प्रेरणा प्राप्त की।[1] पैरिस से मैक्समूलर इंग्लैण्ड गये और आक्सफोर्ड में निवास करने लगे। उन्होंने अपने जीवन का बड़ा भाग पौरस्त्य विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन में व्यतीत किया। वे जीवन-पर्यन्त वेद के विविध विषयों का अध्ययन करते रहे और वैदिक साहित्य के भण्डार को भरते रहे।

भारतीय विद्याओं के क्षेत्र में उनका कार्य अनुपम है। 'Sacred Books of the East' की जिल्दों का सम्पादन अपने आप में एक बेजोड़ कार्य है। इसके अतिरिक्त सायण-भाष्य-सहित ऋग्वेद का अनुवाद उनकी कीर्ति का उद्घोष करता है। उनकी विशिष्ट कृतियाँ इस प्रकार हैं—

1. Critical Edition of Ṛgveda with Sayana's Commentary (1849-74).
2. Ṛgveda (A text alone 1873).
3. Text of the Prātiśākhyas (with translation 1856-69).
4. Six systems of Indian Philosophy (1899).
5. Chips from a German Workshop (Collection of his articles).[2]
6. History of Ancient Sanskrit Literature (1859).[3]
7. The Vedas (A collection of Max Muller's six lectures).[4]
8. India—What can it teach us (1882).

इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ग्रन्थों के सम्पादन किये, अनुवाद किये तथा वेद के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे। वेदों की व्याख्या के विषय में उनके विविध ग्रन्थों, भूमिकाओं तथा व्याख्याओं से उनके वेद-प्रामाण्य-विषयक विचारों का ज्ञान होता है। वे मानते हैं कि मानवता के

---

१. द्र०, (क) Nanda Mookerjee, F. Max. Muller (Shakuntala Publishing House, Bombay, 1970), p. 2.
   (ख) विन्टरनिट्ज़, प्राचीन भारतीय साहित्य (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली), प्रस्तावना, पृ० १७।

२. द्र०, The Vedas (Susil Gupta, Calcutta-12, 1956), p. ix.

३. द्र०, मैक्डॉनल, संस्कृत साहित्य का इतिहास-१ (चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१, १९६२), भूमिका, पृ० च।

४. इस संकलन में ६ व्याख्यान हैं—(1) The Veda and Zend-Avesta, (2) What is the Veda ?, (3) Hymns of the Vedas, (4) The Religion of the Veda, (5) Vedic Deities, (6) Veda and Vedanta.

विशेषकर आर्य जाति के अध्ययन के लिये संसार में वेद के समान महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं है।[1] वे यह भी मानते हैं कि जो अपने पूर्वजों, अपने इतिहास और बौद्धिक विकास का ज्ञान करना चाहता है उसके लिये वैदिक साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है।[2]

ऋग्वेद के एक सूक्त (१०.७५) की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि यह वैदिक कवियों तथा वातावरण के विषय में हमारे धुंधले विचारों को वास्तविकता प्रदान करने में सहायक है। यहाँ वर्णित नदियाँ, पञ्जाब की असल नदियां हैं और यह काव्य एक ग्रामीण चारण (भाट) के वचनों की अपेक्षा एक स्पष्ट भौगोलिक क्षेत्र का वर्णन करता है।[3] ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं कि ये (सिन्धु, गङ्गा, यमुना आदि) नदियों के व्यक्तिवाचक नाम हैं और इससे एक पर्याप्त, विकसित सभ्य जीवन का बोध होता है।[4]

मैक्समूलर ने इन नदियों की भौगोलिक स्थिति की सिकन्दर-कालीन विवरण से तुलना करते हुए अपने कथन की पुष्टि की है।[5]

उनकी दृष्टि में वेदों से कुछ भौगोलिक, कुछ ऐतिहासिक और कुछ धार्मिक तथ्यों का ज्ञान होता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७५वें सूक्त को उद्धृत करते हुए वे इस सूक्त को चुनने के दो आधार बतलाते हैं—एक तो यह कि यह सूक्त वैदिक कवि के विस्तृत भौगोलिक वातावरण को दिखलाता है, दूसरा यह कि यह सूक्त वैदिक युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालता है।[6] इस प्रकार यह भारत के तत्कालीन निवासियों के जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है। वेदोक्त धर्म का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह विचार किया है कि वेद में एकदेववाद या बहुदेववाद नहीं माना जा सकता अपितु हीनोथीज्म (Henotheism) मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।[7] भाव यह है कि कवि जिस देव के प्रति भक्तिभाव प्रकट करता है उसे ही श्रेष्ठ समझ लेता है।

---

१. For a study of man, or, if you like, for a study of Aryan humanity. there is nothing in the world equal in importance to the Veda. The Vedas, Introduction, p. ix.

२. द्र०, वही, पृ० ix.

३. द्र०, वही, 'The Religion of the Veda', पृ० ६६।

४. द्र०, वही, पृ० ६६।

५. द्र०, वही, पृ० १०२-१०३।

६. द्र०, वही, पृ० १०३।

७. द्र०, वही, पृ० ८५।

इस प्रकार का भक्तिभाव एकदेववाद से भिन्न है। जहाँ एकदेववाद में केवल एक ब्रह्म या ईश्वर के प्रति भक्ति का भाव है वहाँ हीनोथीज्म में किसी एक उपास्य देव को सर्वश्रेष्ठ मान लिया जाता है। (Henotheism=उपास्य-श्रेष्ठतावाद)[१]।

इस प्रकार मैक्समूलर की दृष्टि से वेद तत्कालीन भूगोल, इतिहास, धर्म, संस्कृति आदि के ज्ञान के विषय में प्रमाण कहे जा सकते हैं, इनका प्रामाण्य ऐतिहासिक दृष्टि से ही है।

७. टी० एच० ग्रिफ़िथ (Ralph T.H. Griffith, 1826-1906)

ये संस्कृत कालेज बनारस में प्रिंसिपल के पद पर कार्य करते रहे। इन्होंने वाल्मीकि रामायण का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा चारों वेदों का अनुवाद अंग्रेजी में प्रस्तुत किया। इन्हें आधुनिक युग का सायण कहा जाता है। स्वामी दयानन्द ने जो नमूने का भाष्य लाहौर में पंजाब गवर्नमेन्ट को भेजा था उस पर भी ग्रिफ़िथ साहब ने विचार प्रस्तुत किये थे। और, उसके पश्चात् भी राजा शिवप्रसाद तथा स्वामी दयानन्द के विचार-विनिमय में ग्रिफ़िथ साहब का नाम लिया जाता रहा।

ग्रिफ़िथ साहब ने सायण-भाष्य का आश्रय लेते हुए भी यूरोप के विद्वानों की व्याख्याओं का यथोचित उपयोग किया है। वे लिखते हैं—मेरा अनुवाद जो मैक्समूलर के अनुपम छः जिल्दों वाले संस्करण का अनुसरण करता है, आंशिक रूप में महान् विद्वान् सायण के कार्य पर आधारित है।[२] वे यह भी बतलाते हैं कि इस अनुवाद में सायण-भाष्य को बौद्धिक सम्भावना, प्रसङ्ग और समान शब्दों तथा अवतरणों की तुलना से संशोधित तथा नियन्त्रित भी किया गया है। इसके लिये यूरोप के वेद-भाष्यकारों की सहायता ली गई है।[३] ऋग्वेद के अनुवाद के समान ही उन्होंने अन्य वेदों के अनुवादों में भी मध्यकालीन वेद-भाष्यों का आश्रय लिया है। यजुर्वेद के अनुवाद के विषय में वे कहते हैं कि इसमें

---

१. मि०, वही, पृ० ८५।

२. My translation, which follows the text of Maxmuller's splendid six-volume edition, is partly based on the work of the great scholiast. Sāyaṇa......The Hymns of the Ṛgveda translated with a popular commentary (Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi-1, Edition fifth, 1971). Preface to the first Edition, p. xiii.

३. वही, पृ० xvii-xviii.

महीधर भाष्य का आश्रय लिया गया है।[१] इसी प्रकार, जैसा कि प्रस्तावनाओं से विदित होता है, सामवेद के अनुवाद में भी सायण भाष्य का तथा अथर्ववेद के अनुवाद में भी मध्यकालीन भाष्यों का, और आधुनिक यूरोप के विचारों का भी आश्रय लिया गया है।[२]

ग्रिफ़िथ वेदों में प्राचीन आर्यों के धार्मिक विश्वासों और ऐतिहासिक तथ्यों की कुछ सूचनाएँ स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं - ऋग्वेद के कुछ मन्त्र आर्यों के भारत में पूर्ण रूप से बस जाने से पहिली अवस्था को प्रकट करते हैं।[३] उन्होंने वेबर का मत दिखलाते हुए यह भी बतलाया है कि आर्यों का उत्तरी भारत में फैलना सरस्वती के पार गङ्गा तक पहुँचना इत्यादि वेदों में उपलब्ध होता है।[४] उनकी दृष्टि में काव्यात्मकता की अपेक्षा वेद का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है।[५] वेद में वर्णित धार्मिक विश्वास इत्यादि ईसाई मत के आरम्भ से पूर्व के यूरोपीय देशों के धर्म पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।[६] साथ ही तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का ज्ञान वेद के अध्ययन के विना सम्भव नहीं है।[७]

ग्रिफ़िथ ने उपर्युक्त विषयों में ही ऋग्वेद की प्रामाणिकता स्वीकार की है और वेद-व्याख्या के विषय में विविध विद्वानों के मत भी प्रकट किये हैं।[८]

यजुर्वेद के अनुवाद की प्रस्तावना (Preface) में उन्होंने यजुर्वेद आदि का अर्थ दिखलाकर बतलाया है—यद्यपि भारतीय वेद-गणना में यजुर्वेद को दूसरे स्थान पर रखा गया है तथापि इससे जातियों और उपजातियों का पूर्ण विकास तथा

---

१. द्र०, The Text of the White Yajurveda, translated with a popular commentary (Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, Edition fourth, 1976), Preface, p. xix.

२. द्र०, (a) Preface to the Hymns of the Samaveda, translated with a popular commentary (Chowkhamba Sanskrit Series office, Varanasi-I, Edition fourth, 1963).
(b) Preface to the Hymns of the Atharva-veda, translated with a popular Commentary (Medical Hall, Benares, Second Edition, 1916).

३. ...representing the condition of the Aryans before their final settlement in India. Preface to the Hymns of the Ṛgveda, p. ix.

४. द्र०, वही, पृ० xi.

५. The great interest of the Ṛgveda is, in fact, Historical rather than poetical. वही, पृ० xiii.

६. द्र०, वही, पृ० xiii.

७. द्र०, वही, पृ० xiii.

८. द्र०, वही, पृ० xiv-xvii.

कला, विज्ञान, व्यापार शिल्प और व्यवसायों की पर्याप्त प्रगति का बोध होता है। अतः स्पष्ट है कि यह अथर्व से भी परवर्ती रहा होगा।[१] इस प्रकार यजुर्वेद ऋग्वेद की अपेक्षा एक उन्नत सभ्यता एवं संस्कृति का बोध कराता है। यजुर्वेद सम्बन्धी अन्य जानकारी के लिये ग्रिफ़िथ ने प्रो० वेबर की हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर तथा प्रो० मैक्समूलर की हिस्ट्री ऑफ एनश्येन्ट संस्कृत लिटरेचर का नाम लिया है।[२]

सामवेद के अनुवाद के आरम्भ में जो संक्षिप्त प्रस्तावना (Preface) दी गई है उसमें ग्रिफ़िथ ने बतलाया है—सामसंहिता में उद्गाता द्वारा विशेषकर सोमयागों में गाये जाने वाले मन्त्रों का संकलन किया गया है। इसमें मुख्य रूप से ऋग्वेद के उन मन्त्रों का संग्रह है जिनका विविध धार्मिक अनुष्ठानों में विनियोग किया जाता है।[३] सामसंहिता के संकलन की तिथि का कोई संकेत नहीं मिलता, न ही इसके संकलयिता का नाम ज्ञात होता है। जब आर्य लोग प्रथमतः भारत में आये उस आरम्भिक काल में इस प्रकार के ग्रन्थ (Manual) की आवश्यकता न रही होगी; किन्तु अपने नवीन प्रदेश में फैलने और व्यवस्थित रूप से बस जाने के बाद उन आक्रान्ताओं का कर्मकाण्ड विस्तृत हो गया तथा उस जटिल (उलझे) कर्मकाण्ड में मार्ग-दर्शन के लिये ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता हुई।[४] इस प्रकार के विवेचन से प्रतीत होता है कि सामवेद के द्वारा भारतीय आर्यों के ऋग्वेद से परवर्ती धर्मानुष्ठान के विषय में जानकारी मिलती है।

ग्रिफ़िथ ने अथर्ववेद के अनुवाद की विस्तृत (पृ० iii से xviii) प्रस्तावना लिखी है। यहाँ सभी वेदों के नाम विषय् आदि का निरूपण करके अथर्ववेद के विविध नामों का भी उल्लेख किया है।[५] उनके अनुसार अथर्ववेद मुख्यतया यज्ञ के चार होताओं में से ब्रह्मा का वेद है। यह प्रार्थना-सम्बन्धी ज्ञान की व्याख्या करता है जिसमें आशीर्वाद, जादू-टोना आदि भी हैं। इसी प्रकार मित्रों के मङ्गल और शत्रुओं के विनाश आदि का भी इसमें विश्लेषण है। साथ ही परम तत्त्व ब्रह्म तथा आत्मा आदि का यहाँ निरूपण किया गया है।[६]

ग्रिफ़िथ ने विविध प्रमाणों तथा अनेक मतों के आधार पर यह भी बतलाया है कि अथर्ववेद को वेदों में स्थान कैसे मिला, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के प्रतिपाद्य

१. Preface to the white Yajurveda, p. xvii.
२. वही, पृ० xviii.
३. Preface to the Hymns of the Samaveda, p. iii.
४. वही, पृ० iii, iv.
५. Preface to the Hymns of the Atharva-Veda, p. iii.
६. द्र०, वही, पृ० iv, vi.

विषय में क्या अन्तर है ।[1] उनके मत में ऋग्वेद में हम जनता को यथेच्छ क्रिया-कलाप में तत्पर पाते हैं; दूसरी ओर अथर्ववेद में हम देखते हैं कि जनता परम्पराओं तथा अन्धविश्वासों की बेड़ियों में जकड़ी हुई है ।[2]

ग्रिफ़िथ का विचार है कि अथर्ववेद के विचित्र संकलन में बहुत सी दुर्बोध अगम्य सामग्री है । फिर भी, इसका कुछ आध्यात्मिक भाग ऐसा है जो परम्परा-वादी हिन्दुओं को आकृष्ट करता है । इसके कुछ भाग सामान्य जन के दैनिक जीवन, यातनाओं और आमोद-प्रमोद, आशा और आशङ्का तथा सुख और दुःख पर प्रकाश डालते हैं ।[3] यहाँ हम मध्यमवर्गीय आर्यों के जन्म से मृत्यु पर्यन्त के आचार-व्यवहार—जैसे बालक के जन्म से पूर्व के मङ्गल, सद्योजात शिशु के प्रति आशीर्वाद, युवकों के विवाह सम्बन्धी रीति-रिवाज आदि का ज्ञान प्राप्त करते हैं ।[4] वस्तुतः वह युवक कृषक है हम उसे खेत जोतते हुए और इन्द्र तथा पूषन् आदि देवों से आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हुए पाते हैं ।[5] उसकी बार-बार की प्रार्थनाओं के फलस्वरूप सम्पत्ति और परिवार की समृद्धि होती है और वह एक विशाल भवन बनवाने का आयोजन करता है । यहाँ गृह-प्रवेश-संस्कार आदि के विषय में भी अथर्ववेद से कुछ सामग्री प्राप्त होती है ।[6] इसी प्रकार ग्राम और ग्रामसभा तथा अन्य ग्रामीण जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ विवरण यहाँ मिलता है ।[7]

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में छोटे-छोटे व्यापारियों का विवरण भी मिलता हैं जो अपनी स्वल्प पण्य-सामग्री के साथ यात्रा करते हैं । ये व्यापारी भिन्न-भिन्न देवों से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएं करते हैं ।[8] अथर्ववेद में स्त्रियों के जीवन के विषय में अधिक विवरण नहीं मिलता, फिर भी अनेक मन्त्र उनके विषय में हैं, जिन में कुछ विवाह-सम्बन्धी औपचारिकताएँ दिखाई देती हैं; और जिनसे विदित होता

---

१. वही, पृ० v,vi.

२. In the Rik we find the people in a state of free activity and Independence; in the Atharvan we see it bound in the fetters of the hierarchy and superstition. वही, पृ० v.

३. द्र०, वही, पृ० vii-ix.

४. द्र०, वही, पृ० ix.

५. द्र०, वही, पृ० ix.

६. द्र०, वही, पृ० x.

७. द्र०, वही, पृ० xi.

८. द्र०, वही, पृ० xii.

है कि गृह स्वामिनी के अनेक कर्त्तव्य थे, उसके जीवन में कुछ कठिनाइयाँ और आमोद-प्रमोद भी थे तथा कभी-कभी वह भयावह रूप भी धारण करती थी।[1]

इस प्रकार ग्रिफ़िथ के अनुसार चारों वेदों से आर्यों के विभिन्न कालों के आचरण, विश्वास तथा व्यवहार आदि का बोध होता है। इन्हें ऐतिहासिक और धार्मिक अवस्थाओं के ज्ञान के लिए ही प्रमाण माना जा सकता है।

८. व्हिटनी (William Dwight Whitney, 1827-1894)

संस्कृत के अनेक क्षेत्रों में व्हिटनी की विशिष्ट देन है। वेद के क्षेत्र में भी उनके कुछ उल्लेखनीय कार्य हैं। उन्होंने वैदिक ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य किया है और वेद-संहिता का अनुवाद भी किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने वैदिक विषयों पर कुछ लेख भी लिखे हैं। संक्षेप में उनकी वेदविषयक विशेष कृतियाँ इस प्रकार हैं :—

१. Atharva-veda Saṁhitā[2] (Prof. Rudolf Von Roth and W.D. Whitney, Berlin, 1856.)

२. The Śaunakīya Chaturadhyāyikā or the Atharva Veda Prātiśākhya.[3] (Text, translation, and notes, Journal of the American Oriental Society, Vol. VII, 1862).

३. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (Ed., JAOS, 1871).[4]

४. (i) Vedic Researches in Germany.
   (ii) History of the Vedic Texts (First published in the Journal of the American Oriental Society, Vol. III & IV).[5]

इसके अतिरिक्त व्हिटनी ने अथर्ववेद संहिता का अनुवाद किया था, जो बाद में उनके शिष्य द्वारा १९०५ में (२ जिल्दों में) प्रकाशित कराया गया।[6]

---

१. द्र०, वही, पृ० xiii.

२. द्र०, Ralph, T.H. Griffith, The Hymns of the Atharva-veda (Benares, 1916), Preface, xiii.

३. वही, Preface, xiv.

४. द्र०, मैक्डॉनल, संस्कृत साहित्य का इतिहास-१, परिशिष्ट ९.४, पृ० २९९।

५. ये दोनों लेख 'On the Vedas' नाम से संस्कृत पुस्तक भण्डार, कलकत्ता-६, १९७२ में प्रकाशित किये गये हैं।

६. On the Vedas, Publisher's Note.

व्हिटनी की दृष्टि में वेद वह आधार प्रस्तुत करते हैं, जिस पर प्राचीन और अर्वाचीन भारत-सम्बन्धी ज्ञान का प्रासाद निर्मित किया जा सकता है। उन्होंने वेदविषयक पाश्चात्य विद्वानों के विचारों की समीक्षा भी की है। उनके अध्यवसाय की प्रशंसा करते हुए भी वे कहते हैं कि कोलब्रुक द्वारा किया गया वैदिक विषयों का विवेचन किसी अंश में त्रुटिपूर्ण है।[1] इसी प्रकार प्रो० रॉथ और डा० वेबर के वेद-विषयक प्रतिपादन पूर्ण नहीं कहे जा सकते।[2]

व्हिटनी ने वेदों के प्रतिपाद्य विषय पर विचार करते हुए वेदों से प्रकट होने वाली भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार वेदों में आर्यों के भारत में प्रथमतः आगमन काल के मुख्य स्थानों का वर्णन उपलब्ध होता है। फलतः यहाँ सिन्ध और पञ्जाब आदि का वर्णन है। गङ्गा का उल्लेख तो है, किन्तु दसवें मण्डल में ही।[3]

वे बतलाते हैं—आर्य लोग पूर्ववर्ती जनों को दस्यु कहते थे। वे लोग गोत्र अथवा कबीलों में विभक्त थे। प्रत्येक गोत्र या कबीला एक दूसरे से पृथक् था। किन्तु वंश, भाषा, धर्म तथा पूर्ववर्ती लोगों के साथ शत्रुता आदि के द्वारा वे एक दूसरे से सम्बद्ध थे।[4] परिवार का मुखिया जो सम्पत्ति का स्वामी था वही राज्य या सरकार का अङ्ग कहा जा सकता है।[5]

वे पूर्णतया कृषक नहीं थे। यद्यपि अनुकूल परिस्थिति पाकर खेती भी करते थे। उनकी मुख्य सम्पत्ति पशुओं का समुदाय था। सींग वाले पशु उनकी मुख्य सम्पत्ति थी। गाय वैदिक युग का प्रमुख पशु था। अश्व को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। इसका मुख्य रूप से युद्धों में प्रयोग किया जाता था। सम्भवतः उस समय के लोग हाथी से कम ही परिचित थे। जङ्गली जानवरों में वृक्, सिंह और व्याघ्र का नाम अधिक लिया गया है, रीछ का उल्लेख कम है।[6]

व्हिटनी का कहना है—यद्यपि उस समय के लोग पूर्णतया खेतीहर नहीं थे फिर भी वे किसी प्रकार भी घुमन्तू जाति के नहीं थे। हाँ, अपने पशुओं के

१. द्र०, वही, पृ० २१।
२. द्र०, वही, पृ० २३।
३. द्र०, वही, पृ० ४१-४२।
४. द्र०, वही, पृ० ४२।
५. द्र०, वही, पृ० ४२।
६. द्र०, वही, पृ० ४३।

लिये चरागाह की खोज में उन्हें स्थान बदलना पड़ता था। वे साथ-साथ खुले ग्रामों में रहते थे और पुरों में भी। वे युद्धप्रिय लोग थे। वे अपने देवताओं से युद्ध में सफलता की प्रार्थना भी करते थे।[1]

उनके हथियार तलवार, धनुष, भाला आदि थे। शान्तिकालीन कलाएँ उनमें उतनी प्रचलित नहीं थीं जितनी अन्य प्राचीन जातियों में।[2] अवश्य ही काव्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। गीतिकाव्य की रचना को अत्यधिक पुरस्कृत किया जाता था। जैसा कि कवियों ने स्वयं ही मन्त्रों में अनेक बार कहा है, काव्य की रचना के लिये सम्पन्न और सम्मानित जनों द्वारा रुचिपूर्वक पुरस्कार दिये जाते थे।[3]

सामाजिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक युग में जाति-प्रथा नहीं थी। उन परिस्थितियों में जाति-प्रथा सङ्गत ही नहीं थी। उत्तरकाल में जातिप्रथा विकसित तो हुई; किन्तु सभी भेद-भावों के साथ नहीं। व्हिटनी ने वर्णों के विकास का विस्तृत वर्णन किया है और बतलाया है कि वेद में शूद्र शब्द बहुत कम प्रयुक्त हुआ है।[4]

उनके अनुसार वेदों से प्राचीन भारतीय धर्म के विषय में सबसे अधिक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। मानव जाति के धर्म का सामान्य इतिहास खोजने के लिए भी इसका कम महत्त्व नहीं है।[5] वैदिक देवताओं का वर्गीकरण भी अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक मन्त्रों में तीन प्रकार के देवों के सङ्केत मिलते हैं। वे हैं—पृथ्वीस्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और द्युस्थानीय। इन तीनों प्रकार के देवों पर व्हिटनी ने विस्तार से विचार किया है।[6]

वे यह भी कहते हैं कि वेदों में पुनर्जन्म आदि के उल्लेख नहीं मिलते; अपितु एक ऐसे सामान्य विश्वास का भास होता है कि यह सांसारिक जीवन मनुष्य का अन्तिम जीवन नहीं है, मरण के पश्चात् वह ऊपर के सुखी लोक में चला जाता है। उस लोक का मुख्य व्यक्ति यम है। जो सामान्य रूप से मृतकों

---

१. द्र०, वही, पृ० ४३-४४।

२. द्र०, वही, पृ० ४४।

३. Poetry is, of course, in full bloom; the art of lyrical composition is highly prized, and its productions, as the poets themselves in their hymns not seldom boast, are dearly paid for by the rich and great. वही, पृ० ४४।

४. द्र०, वही, पृ० ४६।

५. द्र०, वही, पृ० ४६-४८।

६. द्र०, वही, पृ० ४८-५६।

का मुखिया और शासक है।[1] व्हिटनी ने यहाँ यम-यमी सूक्त का भी उल्लेख किया है।[2]

वेदों के प्रतिपाद्य विषय की चर्चा का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं—विषय का यह प्रस्तुतीकरण चाहे अपूर्ण ही हो तथापि प्राचीन इतिहास, सभ्यता तथा धर्म के विद्यार्थियों को वेदों का अत्यधिक महत्त्व दिखलाने में पर्याप्त होगा।[3] व्हिटनी की दृष्टि में भारत के ही नहीं, इण्डो-यूरोपियन के विषय में भी वेदों से कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु विन्टरनिट्ज़ इस मत से पूर्णतया सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं—हमें तो व्हिटनी की यह उक्ति अतिशयोक्ति लगती है कि वेदों को भारतीय साहित्य का अङ्ग न मानकर एक इण्डो-यूरोपियन ग्रन्थ मानना युक्ततर प्रतीत होता है।[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि व्हिटनी की दृष्टि में वेदों से प्राचीन मानव विशेषकर आर्यों के धर्म, सभ्यता, भौगोलिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों आदि के विषय में कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। अतः उसी विषय में इन्हें प्रमाण कहा जा सकता है।

६. लुड्विग, पिशल तथा गैल्डनर (Alfred Ludwig, Dr. R. Pischel, 1849-1909; Geldner)

इन तीनों जर्मन विद्वानों की गणना विख्यात प्राच्य-विद्या-वेत्ताओं में की जाती है। लुड्विग ने समस्त ऋग्वेद का अनुवाद[5] किया जो विस्तृत टिप्पणियों से युक्त है। यह अनुवाद प्राग से १८७६-८८ में प्रकाशित हुआ। इसकी विस्तृत भूमिका में उनके वेद-सम्बन्धी विचार देखे जा सकते हैं। पिशल का परिचय प्राकृत भाषाओं का व्याकरण नामक ग्रन्थ के आदि में अनुवादक हेमचन्द्र जोशी ने दिया है।[6] तदनुसार पिशल सरल तथा विनम्र भी थे। ये प्रारम्भिक शिक्षाकाल में ही संस्कृत के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुए। इन्होंने De Kalidasse

---

१. द्र०, वही, पृ० ५६।

२. द्र०, वही. पृ० ५६-६०।

३. This presentation of the subject, however imperfect, may suffice to show their high importance to all students of antiquity, of civilization, of religions. वही, पृ० ६०।

४. द्र०, प्राचीन भारतीय साहित्य (मोतीलाल बनारसी दास), भाग-१, पृ० ५६।

५. जर्मन गद्यानुवाद, भाग-१-६, द्र०, मैक्डॉनल, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २६२।

६. द्र०, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ३, १९५८), पृ० १-३।

Cakuntali Recensionibus नामक कृति पर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। ये ब्रेजला-विश्वविद्यालय में भारतीय-विद्या-विभाग के रीडर पद पर नियुक्त हुए और बाद में कील विश्वविद्यालय में संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष रहे। वेबर के पश्चात् ये बर्लिन विश्वविद्यालय में चले गये। अपने जीवन काल में पिशल कितनी ही विश्व-विख्यात संस्थाओं के सदस्य रहे। इन्होंने जर्मन भाषा में प्राच्य-विद्याओं के विषय में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। वेद के विषय में इनकी प्रसिद्ध कृति है :—

Pischel-Geldner : Vedische Studien (Vedic Studies) Stuttgart, 1889-1897, 2 Vols.

प्राकृत भाषाओं का व्याकरण नामक ग्रन्थ पिशल की श्रेष्ठ कृति मानी जाती है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद हो चुका है।[1] इनमें वैदिक स्टडीज़ नामक कृति पिशल तथा गैल्डनर के नाम से प्रसिद्ध है।[2]

गैल्डनर ने अपने जीवन का बहुत समय वैदिक अध्ययन में लगाया। उनकी कृतियों में ऋग्वेद का सटिप्पण जर्मन अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है जो उनके देहावसान के पश्चात् प्रकाशित हुआ।[3]

पिशल तथा गैल्डनर ने वैदिक स्टडीज़ नाम से जो ग्रन्थ प्रकाशित किया उसमें वेदों की परम्परागत व्याख्याओं के महत्त्व और विश्वसनीयता के विषय में एक लम्बे विवाद का वर्णन भी मिलता है।[4] कुछ परवर्ती इतिहासों से वेद के प्रतिपाद्य विषय तथा वेद-प्रामाण्य-विषयक इनकी धारणाओं का परिचय मिल सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है--वेद के अर्थ के विषय में पाश्चात्त्य विद्वानों की तीन प्रकार की धारणाएँ मिलती हैं। रॉथ जैसे विद्वान् मानते हैं कि भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक आलोचना शास्त्र के आधार पर वेदों का कहीं अधिक गम्भीर एवं यथार्थ तात्पर्य दिखलाया जा सकता है। आज के अनुसन्धान कर्त्ता इस विषय में मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं। इनके अनुसार

---

१. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (अनुवादक डा० हेमचन्द्र जोशी), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-३, १९५८।

२. द्र०, Indian Studies Abroad, p. 27.

३. Geldner, Karl Friedrich, Der Rig-Veda (ausdem Sanskrit ins Deutsche ubersetzt und mit einem laufenden Kommentar Ver Sehen), Harvard Oriental Series, Vol. 33-36. R.N. Dandekar, Vedic Bibliography (Second Volume, University of Poona, 1961), 1.3.

४. द्र०, Indian Studies Abroad, p. 27.

भारतीय परम्परा और पाश्चात्त्य अन्वेषण दोनों के आधार पर ही वेदों का यथार्थ तात्पर्य खोजा जा सकता है। इन मध्यमार्गियों में लुड्विग प्रमुख हैं। उनके परवर्ती पिशल तथा गैल्डनर ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है।[1]

इस विषय में पिशल तथा गैल्डनर के कुछ विचार वैदिक स्टडीज़ में उपलब्ध होते हैं। उनका विचार है कि ऋग्वेद के समय भारतीय जन जिस संस्कृति के उत्कर्ष पर पहुँच गए थे वह उस संस्कृति से कुछ विशेष भिन्न नहीं है, जो भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय थी।[2] इस विचार की विन्टरनिट्ज़ ने समीक्षा की है।[3] इससे यह विदित होता है कि इन सभी के विचार में वेदों से कुछ ऐतिहासिक और धार्मिक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं और उसी विषय में ये प्रमाण माने जा सकते हैं।

१०. आर्थर एण्टनी मैक्डॉनल (**A.A. Macdonell, 1854-1930**)

आरम्भ से ही ऐतिहासिक विवेचन की ओर पाश्चात्त्य विद्वानों की प्रवृत्ति रही। मैक्समूलर, श्रेडर, श्लीगल तथा वेबर आदि विद्वानों ने तो इस विषय में मौलिक प्रयास किया। फिर भी ये प्रयास अधूरे ही रहे। संस्कृत वाङ्मय के नवीनतम अन्वेषण से उपलब्ध होने वाले सभी तथ्यों का इनमें निरूपण अथवा समीक्षण न किया जा सका। अतः अनुसन्धान की बढ़ती हुई रुचि के साथ इतिहासकारों का क्षेत्र और दृष्टिकोण भी अधिकाधिक व्यापक होता गया। फलस्वरूप मैक्डॉनल जैसे विद्वानों ने उपलब्ध सामग्री के आधार पर संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन को नई दिशा प्रदान करने का प्रयास किया।

आर्थर एण्टनी मैक्डॉनल का जन्म ११ मई, १८५४ को हुआ था। वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में बोडन (Boden) प्रोफेसर रहे तथा संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष भी। उन्होंने संस्कृत वाङ्मय विशेषकर वैदिक साहित्य का सतत अनुसन्धान करके कितने ही ग्रन्थ-रत्न हमें प्रदान किये। उनकी प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं :—

१. Critical Edition of Sarvānukramaṇī.
२. A History of Sanskrit Literature.
३. Critical Edition and Translation of Bṛhaddevatā.

---

१. द्र०, विन्टरनिट्ज़, प्राचीन भारतीय साहित्य-१, पृ० ५४।
२. प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास-१, पृ० ५३।
३. वही, पृ० ५३।

४. Vedic Grammar.
५. Vedic Index (Joint Editor).
६. Vedic Mythology.
७. A Vedic Reader.

उनके प्रायः सभी ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में हैं जिनमें से अधिकांश का हिन्दी भाषा में अनुवाद हो चुका है।[1]

यहाँ उनके सभी कार्य का विवेचन करना वाञ्छनीय नहीं है, अपितु यही विचार करना है कि वेद-प्रामाण्य के विषय में उनका क्या मन्तव्य है। यद्यपि उन्होंने स्पष्टतः वेद-प्रामाण्य पर अपना मत प्रकट नहीं किया तथापि उनके द्वारा प्रणीत संस्कृत साहित्य का इतिहास एवं वैदिक रीडर आदि ग्रन्थों के आधार पर उनके एतद्विषयक मन्तव्यों को देखा जा सकता है।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि यह रही है कि जिस प्रकार साहित्य के किसी अन्य अङ्ग में तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का प्रतिबिम्ब होता है, इसी प्रकार वेदों में भी विद्यमान है। इस धारणा के अनुसार वेद भी अपने समय की धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का बोध कराते हैं, हाँ, कहीं-कहीं वेद के वर्णन अलङ्कारात्मक हैं या मिथ (माइथोलाजिकल) मात्र हैं; वहाँ ये धार्मिक या सामाजिक दशा का भी यथार्थ चित्रण नहीं करते। मैक्डॉनल भी इसी धारणा के आधार पर किन्हीं सन्दर्भों में वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं—पुरातन युग की अन्य साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में मानवों की धार्मिक विचार धारा को अङ्कित करने वाले ये ही दो ग्रन्थ (ऋग्वेद, अथर्ववेद) कहे जा सकते हैं, और इनका महत्त्व उन पाठकों के

---

१. १. ... ...
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास (अनुवादक चारुचन्द्र शास्त्री), चौखम्बा विद्याभवन, १९६२।
३. वैदिक व्याकरण (अनु० डॉ० सत्यव्रत शास्त्री), मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली १९७१।
४. वैदिकनामों और विषयों की व्याख्यात्मक अनुसूची (अनु० रामकुमार राय), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२।
५. (क) वैदिक देवशास्त्र (अनु० सूर्यकान्त), श्री भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड, अनसारी रोड, नया दरियागंज, दिल्ली-६, १९६१
(ख) वैदिक पुराकथाशास्त्र (अनुवादक रामकुमार राय), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१।
६. ... ...

लिये अपरिमित है जो मानव जाति के धार्मिक विश्वासों के विकास का अध्ययन करना चाहते हैं।[1] इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में वे कहते हैं—"विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध धार्मिक विधियों पर रचित ग्रन्थों में से सर्व-प्राचीन होने के नाते ये ग्रन्थ विश्व धर्म के इतिहास के अध्येता के लिये अत्यन्त उपादेय हैं। इनमें भारतवर्ष की प्राचीन परिस्थिति के अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है"।[2]

यहाँ पर ध्यातव्य है कि मैक्डॉनल जैसे पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा पूर्वमीमांसा आदि की भारतीय धारणाओं से नितान्त भिन्न है। पूर्वमीमांसा आदि की धारणा है कि वेद धर्म के प्रतिपादक हैं वे धर्म का विधान करते हैं जो वेद-विहित है वही धर्म है और जो वेद द्वारा प्रतिषिद्ध है वह अधर्म है। इस दृष्टि में वेद एवं ब्राह्मण सभी धर्म के निर्देशक हैं, प्रेरक हैं वे किसी समाज के मानवों द्वारा आचरित धर्म का विवरण नहीं देते; अपितु विशेष मानवों के लिये ही सही, धर्म का विधान करते हैं, अधर्म का प्रतिषेध करते हैं। पाश्चात्य विचार-पद्धति में वेद तथा ब्राह्मण ऐसे दस्तावेज हैं—जिनसे मानव जाति के किसी वर्ग-विशेष के धार्मिक-विश्वासों एवं आचारों का बोध होता है; ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार किसी कथा, आख्यायिका, नाटक या महाकाव्य से। वे यह भी मानते हैं कि "ऋग्वेद का अधिकांश धार्मिक सूक्तों से भरा हुआ है"।[3]

ऋग्वेद के स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्होंने बतलाया है कि "ऋग्वेद के कथानक अपेक्षाकृत मानव-विकास की बहुत प्राथमिक अवस्था का निर्देशन करते हैं। तत्रापि यह स्पष्ट है उनमें और भी पूर्वतन युगों की प्रतिच्छाया अङ्कित है।"[4] इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी उन्होंने ऋग्वेद को भारतीय इतिहास के ज्ञान का साधन बतलाया है—भारतीय आर्य उस समय आदिवासियों के साथ युद्ध में तत्पर थे, यहाँ उन पर की गई अनेक विजयों का वर्णन है।[5] ऐतिहासिक

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२), पृ० २६।

२. वही, पृ० २७।

३. वही, पृ० ५३।

४. वही, पृ० ५६।

५. The historical data of the Hymns show that the Indo-Aryans were still engaged in war with the aborigines, many victories over these foes being mentioned. A Vedic Reader (Oxford University Press, 1976), Introduction, p. xxvii.

विवरणों के साथ-साथ वेद में भौगोलिक तथ्य भी उन्होंने माने हैं; वे कहते हैं कि उसमें अनेक नदियों के नाम हैं, कुछ पेड़-पौधे और पक्षियों के भी नाम हैं।[१]

उनके विचार में वेद में इधर-उधर बिखरे हुए सन्दर्भों से उस समय की सामाजिक दशा का बोध होता है, जैसे—पुरुषसूक्त से वर्ण-व्यवस्था, व्यवसाय आदि का, कुछ अन्य सूक्तों से स्त्रियों की अवस्था का तथा विशिष्ट आभूषणों का भी ज्ञान होता है।[२] वे कहते हैं—"भारतीय विचार परम्परा एवं सभ्यता के इतिहास की दृष्टि से कुछ मन्त्र तो निश्चय ही बड़े महत्त्व के हैं।[३]

वेदों में दार्शनिक तत्त्वों का विचार करते हुए उन्होंने बतलाया है कि "ऋग्वेद काल के समाप्त होते-होते ऋषियों का बहुदेववाद एकेश्वरवाद में परिणत हो रहा था।"[४] वे यह भी कहते हैं—(क) "ऋग्वेद में, अथवा अन्य वेदों में कहीं भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ओर संकेत नहीं मिलता"।[५] (ख) ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में सृष्टि की उत्पत्ति और तीन पृथक्-पृथक् अवस्थाओं का वर्णन है। "यहां भी सृष्टिवाद के साथ विकासवाद ओतप्रोत है"।[६]

ऋग्वेद के समान ही उन्होंने अन्य वेदों को भी वाङ्मय का ऐसा अङ्ग माना है जिनसे किन्हीं अंशों में भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक परिस्थितियों का बोध होता है। सामवेद के सम्बन्ध में वे कहते हैं—"सामवेद कहीं अधिक मात्रा में ऋग्वेद से सम्बद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से सामवेद का इतना महत्त्व नहीं।"[७] उनकी दृष्टि में यजुर्वेद ऋग्वेद की अपेक्षा किसी नये युग के भारत की परिस्थितियों का वर्णन करता है—"यजुर्वेद न केवल ऋग्वेद से भिन्न भौगोलिक क्षेत्र से ही हमें परिचित कराता है, अपितु भारतीय धार्मिक एवं सामाजिक जीवन के एक बिलकुल नये युग की सूचना देता है।"[८] यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने बतलाया है कि "शुक्ल यजुर्वेद संहिता के विभिन्न अंश भारत की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति के विभिन्न युगों को प्रतिबिम्बित करते हैं।"[९]

१. वही, पृ० XXVI.
२. वही, पृ० XXVII.
३. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ११२।
४. वही, पृ० ५८।
५. वही, पृ० १०२।
६. वही, पृ० १३१।
७. वही, पृ० १६०।
८. वही, पृ० १६२।
९. वही, पृ० १६५।

उनका कहना है कि कालक्रम से जो धार्मिक मान्यताओं में विकास हो रहा था उसकी झलक हमें ऋग्वेद और यजुर्वेद के अनुशीलन से मिलती है; जैसे ऋग्वेद के पिछले सूक्तों में प्रजापति का केवल आभास मिलता है; किन्तु यजुर्वेद में वह मुख्य देवता के पद पर प्रतिष्ठित हो गया है। ऋग्वेद की अपेक्षा यजुर्वेद में विष्णु को अधिक महत्त्व दिया गया है। यजुर्वेद के युग तक कुछ नई धार्मिक मान्यताएँ विकसित हो गई हैं और पुरानी मान्यताओं में परिवर्तन भी हुआ है।[1]

अथर्ववेद के प्रतिपाद्य-विषय पर विचार करते हुए उन्होंने यह भी दिखलाया है कि वह किस प्रकार की सामाजिक और धार्मिक अवस्था का परिचय देता है। वे कहते हैं—"अथर्ववेद निश्चय ही ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक मूढ़ ग्रहों से अनुप्राणित है। इसमें ब्राह्मण धर्म के विशेष उन्नत विचार नहीं पाये जाते।"[2] उनकी दृष्टि में अथर्ववेद मन्त्र-तन्त्रों का एक प्रकीर्ण सङ्ग्रह है। यह वेद प्रागैतिहासिक युग की अपरिष्कृत भावनाओं से अनुप्राणित है।[3] इसी प्रकार उन्होंने अथर्ववेद में भौगोलिक सामग्री की कमी पाई है।[4] उन्होंने यह भी कहा है कि अथर्ववेद में ज्योतिर्विद्या, वैद्यविद्या,[5] शाप-अभिचार[6] इत्यादि अनेक विषयों का वर्णन है। वे किन्हीं अंशों में अथर्ववेद को अपेक्षाकृत उन्नत युग की रचना मानते हैं—"ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद भारतीय धार्मिक विचारों के अर्वाचीन एवं प्रगतिशील युग का प्रतिनिधित्व करता है।"[7] इसीलिए यह भी कहते हैं कि इसमें अन्य वैदिक संहिताओं की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक विचार उपलब्ध होते हैं। उनकी दृष्टि में प्राचीन सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अथर्ववेद का ऋग्वेद से अधिक महत्त्व है—"सभ्यता के इतिवृत्त के अध्ययन के लिये ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उपलभ्यमान सामग्री कहीं अधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है"।[8] उनके सामने यह भी प्रश्न उपस्थित रहा है कि अथर्ववेद को प्रामाणिक रूप से वेद माना जा सकता है या नहीं। इस प्रश्न पर उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थ महाभारत और पुराणों के आधार पर विचार किया है और चारों वेदों में अथर्ववेद की गणना उसी आधार पर बतलाई है।[9]

---

१. द्र०, वही, पृ० १६८-१६९।
२. वही, पृ० १७१।
३. वही, पृ० १७१।
४. अथर्ववेद में भौगोलिक सामग्री बहुत ही कम है। वही, पृ० १७९।
५. वही, पृ० १७७।
६. वही, पृ० १८१।
७. वही, पृ० १७२।
८. वही, पृ० १७२।
९. द्र०, वही, पृ० १७८।

इस प्रकार मैक्डॉनल की दृष्टि में वेदों का प्रामाण्य ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टि से ही कहा जा सकता है। इनमें भिन्न-भिन्न युगों की मानव जाति के धार्मिक विश्वासों, सामाजिक आचारों और देश की विभिन्न भौगोलिक अवस्थाओं का वर्णन है। उसी के विषय में ये काव्य आदि के समान प्रमाण कहे जा सकते हैं, किन्तु इनमें जो कहीं-कहीं केवल आलङ्कारिक वर्णन हैं, अथवा मिथक हैं; वे स्वतन्त्र रूप से अपने प्रतिपाद्य विषय में प्रमाण नहीं हैं।

११. ओल्डनबर्ग (Hermann Oldenberg)

जर्मनी के वैदिक विद्वानों में ओल्डनबर्ग का नाम उल्लेखनीय है। वे भारतीय विद्याओं के बहुमुखी विद्वान् थे। उनके अनेक लेख तथा ग्रन्थ वैदिक विषयों पर उपलब्ध होते हैं। उन्होंने ऋग्वेद पर बड़ी मार्मिक तथा विवेचनापूर्ण व्याख्या की है तथा ऋग्वेद के छन्द तथा अन्य विषयों का भी विवेचन किया है।[1] उनके ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका है। उनके कतिपय वेद-विषयक ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१. Hymnen des Ṛgveda.
२. Vedic Hymns (Motilal Banarsidass, Delhi, 1973).
३. The Religion of the Veda (Religion des veda).
४. Ancient India, Its language and Religion.[2]

ओल्डनबर्ग केवल वैदिक विषयों के ही विद्वान् नहीं हैं, पालि भाषा के भी वे माने हुए विद्वान् हैं। उनका विनयपिटक का संस्करण, उसका विद्वत्तापूर्ण अनुवाद तथा अन्य लेख इस विषय में उल्लेखनीय हैं। उनका 'Buddha, His Life, His Teachingo' नामक ग्रन्थ बौद्ध-मत के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देता रहा है। यहाँ तो केवल ओल्डनबर्ग के उन विचारों को प्रस्तुत किया जा रहा है जिनसे उनकी वेद-सम्बन्धी धारणाओं का परिचय मिल सकता है।

सामान्यतः ओल्डनबर्ग ने ऋग्वेद के विषय में 'रिलिजन देस वेद' नामक

---

१. द्र०, (क) Indian Studies Abroad, p. 27.
(ख) बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति (१९५८), पृ० ५१।

२. Ancient India (Punthi Pustak, Calcutta, 4, 1962).
इसमें ओल्डनबर्ग के तीन लेख संकलित हैं—The Study of Sanskrit, The Religion of the Veda, Buddhism.
इसका हिन्दी अनुवाद ('प्राचीन भारतीय भाषा और धर्म,' अनु० डा० उमेशचन्द्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, १०८, कचौड़ी गली, वाराणसी १, प्र०सं०, १९७१) भी हो चुका है।

निबन्ध में इस प्रकार के विचार प्रकट किये हैं—"भारतीय साहित्य के इस प्राचीनतम ग्रन्थ में हमें उत्तरोत्तर बौद्धिक शक्तिहीनता के दर्शन होते हैं। वैदिक आर्यों के पूजा-मन्दिर नहीं होते थे। वे खुले मैदान में घास बिछाकर यज्ञाग्नि प्रज्वलित करते थे और वे जंगली पुरोहित अपने जंगली देवताओं का आह्वान करते थे। वेदों में वर्णन है कि वे देवता अपने रथों पर बैठकर आकाश मार्ग से आते थे और यज्ञ में पुरोडाश, घी और मांस का भक्षण करते थे और मादक सोमरस पीकर साहस और दिव्यशक्ति प्राप्त करते थे। ऋग्वेद के कवि प्राचीनकाल की परम्परा का अनुकरण करते हुए महान् धूमधड़ाके वाले सोमयाग के लिये मन्त्र-रचना करते थे। वे देवताओं के लिये अतिशयोक्तिपूर्ण लच्छेदार विशेषण पर विशेषण दिये जाते थे। ऐसी कविता कर्मकाण्ड में दक्ष पुरोहित वर्ग में ही जन्म ले सकती है।"[१]

इस विषय में केगी (Kaegi) के विचारों को प्रस्तुत करते हुए विन्टरनिट्ज़ ने इन दोनों के विचारों को ही परस्पर विरोधी दो छोरों के विचार कहा है।[२] वस्तुतः इस प्रकार के विचार अतिशयोक्तिपूर्ण ही कहे जा सकते हैं। ओल्डनबर्ग के 'दि रिलिजन ऑफ दि वेद' (रिलिजन देस वेद) नामक निबन्ध से उनके वेदविषयक अन्य विचारों का भी परिचय मिलता है।

---

१. द्र०, (क) He sees already in this oldest document of Indian literature and religion "the clear trace of an ever-increasing intellectual enervation." He speaks of the "sacrificial songs and litanies, with which the priests of the vedic Aryans on a tempteless place of sacrifice, at the sacrificial fires strewn around with grass, invoked their gods—barbarian priests—the barbarian gods, who with horses and chariots came driving through the sky and air in order to feast on the sacrificial cake, butter, and meat; and to imbibe, with the intoxicating soma juice, courage and divine strength. The singers of the Ṛgveda, in a manner inherited of old, composing for the great and pompous...soma sacrifice, do not want to tell of the god whom they are honouring but they want to praise this god...so they heap upon him all the glorifying epithets which are at the disposal of the grossly flattering garrulousness of an imagination which loves the bright and the garish." M. Winternitz, History of Indian Literature, Vol. I, (Munshiram Manoharlal, Rani Jhansi Road, New Delhi, 1972), p. 73.

(ख) प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास, भाग-१, खण्ड-१ (मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९७५), पृ० ५२।

२. द्र०, प्राचीन भारतीय साहित्य, भाग-१ (अनु० लाजपत राय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१), पृ० ५५।

ओल्डनबर्ग के अनुसार वैदिक देवता एवं वैदिक यज्ञ धर्म की मौलिक रचनात्मक शक्ति के आदिम तथा पारदर्शक रूप नहीं हैं अपितु सूक्ष्म परीक्षण से प्रतीत होता है कि ये अधिकांश भागों में पुरातन, धुंधली और जटिल रचना के रूप में उभर कर आते हैं।[1] वे यह भी कहते हैं—सुदूर अतीत से वैदिक काल पर्यन्त किसी प्रकार रहने वाला भारत के प्रारम्भिक धर्म का स्वरूप अवश्य ही असभ्य धर्म का रूप है।[2] उन्होंने अपने इस मन्तव्य की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है और उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

ओल्डनबर्ग ने वेद के धर्म पर विचार करते हुए वैदिक देवताओं पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। वे कहते हैं—संभवतः, सभी नहीं तो अधिकांश वैदिक देवताओं का आधार प्राकृतिक शक्तियों का दिव्य रूप में मानवीकरण है।[3] इसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने बतलाया है—इससे हम प्रथमतः ही यह देख लेते हैं कि वेद के द्वारा हम विकास के उस स्तर का विचार करते हैं जिससे पूर्व एक लम्बा इतिहास बीत चुका था।[4] वेद में असभ्य जातियों के विश्वास भी दृष्टि-गोचर होते हैं।[5] उन्होंने वेद के धर्म, पूजा-पद्धति और देवताओं का विस्तार से वर्णन किया है।[6] उनकी दृष्टि में वेद में एकेश्वरवाद नहीं है,[7] अपितु बहुदेववाद है।[8]

---

१. The Vedic divinities, the vedic sacrifices, are not primitive and transparent products of the original creative force of religion, but for the most part turn out, on close scrutinisation, to be ancient, obscure, and complex creations. Ancient India, p. 64; हिन्दी अनुवाद, पृ० ५५।

२. द्र०, The fundamental nature of the primary Indian religion, surviving from the very remotest antiquity and rising to the surface of the vedic times as a more or less ruinous wreckage, is, as we have seen essentially that of the savage's religion. वही, पृ० ६५; हिन्दी अनुवाद, पृ० ५५।

३. द्र०, Not all, perhaps, but yet all the chief and dominant of the Vedic divinities are based upon a personification of natural forces, in forms of superhuman magnitude. वही, पृ० ६९; हिन्दी अनुवाद, पृ० ५९।

४. द्र०, From it all, we see at the first glance that with the Veda we are dealing with a stage of development which must have been preceded by a long prior history.
वही, पृ० ७०; हिन्दी अनुवाद, पृ० ५९।

५. द्र०, वही, पृ० ७१; हिन्दी अनुवाद, पृ० ६०।

६. द्र०, वही, पृ० ७१-७४; हिन्दी अनुवाद, पृ० ६०-६३।

७. द्र०, वही, पृ० ७४; हिन्दी अनुवाद, पृ० ६३।

८. द्र०, वही, पृ० ७६; हिन्दी अनुवाद, पृ० ६४।

यज्ञों तथा प्रार्थनाओं का उचित ढंग से अनुष्ठान करना ऋग्वेद का मुख्य उद्देश्य है इसी के चारों ओर कवियों का आध्यात्मिक जीवन घूमता है।[1]

वेद के धर्म और संस्कृति का जो उन्होंने विवेचन किया है उसका उपसंहार करते हुए वे कहते हैं— इस प्रकार, वेद का धर्म और पूजा-पद्धति एक ओर तो अतीत के असभ्य धर्म की ओर सङ्केत करते हैं दूसरी ओर वे आगे की ओर भी सङ्केत करते हैं। अधिकांश वैदिक देवता बहुत समय से अपने मौलिक अर्थ खो चुके हैं। जैसे—इन्द्र आगे गर्जना करने वाला मात्र नहीं रह गया, इत्यादि।[2]

ओल्डनबर्ग के इस प्रकार के विचारों से यह विदित होता है कि ऋग्वेद की प्रामाणिकता केवल ऐतिहासिक दृष्टि से मानी जा सकती है। यह भारतीय साहित्य और धर्म की प्राचीनतम कृति है। अतः इसमें पूर्ववर्ती असभ्य लोगों के धर्म एवं संस्कृति के सङ्केत भी हैं और विकसित होती हुई आर्य संस्कृति के भी। इस प्रकार के विचारों की परवर्ती पाश्चात्त्य तथा भारतीय विद्वानों के द्वारा समीक्षा की जाती रही है। विन्टरनिट्ज़ जैसे इतिहासकार भी इसे अतिशयोक्तिपूर्ण ही मानते हैं।[3]

१२. ब्लूमफील्ड (Maurice Bloomfield, 1855-1928)

ब्लूमफील्ड ने भारतीय विद्याओं में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन में उनका बड़ा हाथ रहा है। साथ ही वेद-मन्त्रों का अनुवाद भी उन्होंने किया है, वेद के विषय में कुछ विवेचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं तथा अन्य विषयों पर भी कार्य किया है।

ब्लूमफील्ड की कतिपय रचनाओं का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है :—

१. अथर्व संहिता[4] (पिप्पलाद शाखा) — (प्रो० ब्लूमफील्ड तथा डा० गार्बे, जर्मनी, १९०१)

---

१. द्र०, The art of properly performing these sacrifices and prayers is the main theme about which the whole spiritual life of the poets of the Rig-Veda revolves. वही, पृ० ८०; हिन्दी अनुवाद, पृ० ६८।

२. द्र०, Thus, the religion and the cult of the Veda point on the one hand to the past of the savage religion; on the other hand, they point forward. We have seen that the majority of the Vedic divinities had long since lost their original meaning, Indra is no more the thunderer. वही, पृ० ८३; हिन्दी अनुवाद, पृ० ७१।

३. द्र०, प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास, भाग-१, पृ० ५२।

४. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, १९५८, पृ० ४९।

२.	Hymns of the Atharva-Veda (Sacred Books of the East-Vol. XLII)	(Motilal Banarsidass, Delhi, 1973.)
३.	Vedic Concordance	(Harvard Oriental Series, Vol. X, 1906.)
४.	Ṛgvedic Repetitions	(Harvard Oriental Series, Vol. XX, XXIV.)
५.	The Atharva-Veda and Gopatha Brāhmaṇa.[1]	
६.	The Vedic Variants (M. Bloomfield & Edgerton, F.)	(Ling. Soc. Am., 1930-34.)

इनके अतिरिक्त ब्लूमफील्ड की अन्य भी कृतियाँ हैं; जैसे ब्यूहलर की एनसाइक्लोपीडिया में ब्लूमफील्ड द्वारा संकलित 'दि अथर्ववेद' में विषय-सूची है।

ब्लूमफील्ड ने विशेष रूप से अथर्ववेद के वर्ण्य विषय पर ही विचार किया है और वह भी शौनकीय शाखा के अथर्ववेद के वर्ण्य विषय पर। वे बतलाते हैं कि अथर्ववेद का अधिकांश भाग ऋग्वेद से लिया गया है और इसका कुछ प्रतिपाद्य विषय ऋग्वेद के समान ही है। इस वेद में मङ्गलकारी और विनाशकारी अभिचार देखे जाते हैं तथा कुछ अन्य विषय भी।[2]

ब्लूमफील्ड ने 'सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' (४२) में अथर्ववेद के सूक्तों को दस वर्गों में विभक्त किया है; किन्तु अथर्ववेद एवं गोपथ-ब्राह्मण में इसका चौदह वर्गों में विभाग किया गया है।[3] इन सभी विषयों को संक्षेप में कुछ वर्गों में रखखा

---

१. हिन्दी अनुवाद, सूर्यकान्त, अथर्ववेद एवं गोपथ-ब्राह्मण, (चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी-१, १९६४)।

२. द्र०, अथर्ववेद एवं गोपथ-ब्राह्मण, पृ० ९३।

३. चौदह वर्गों के नाम आदि इस प्रकार हैं —(१) रोगों एवं दानवों से मुक्ति की प्रार्थनाएँ, (२) दीर्घायु एवं स्वास्थ्य के लिये प्रार्थनाएँ, (३) राक्षसों, अभिचारकों एवं शत्रुओं के प्रतिकूल अभिचार, (४) स्त्रीविषयक अभिचार, (५) सामञ्जस्य प्राप्त करने एवं सभा में प्रभाव डालने के अभिचार, (६) राज-विषयक अभिचार, (७) ब्राह्मणों के हित में प्रार्थनाएँ एवं अभिशाप, (८) संपन्नता-प्राप्ति एवं भय से मुक्ति के अभिचार, (९) पाप एवं दुष्कर्म के लिये प्रायश्चित्त-विषयक अभिचार, (१०) सृष्टि-विषयक एवं आध्यात्मिक सूक्त, (११) याज्ञिक एवं सामान्य-विषयक सूक्त, (१२) व्यक्तिगत विषयों की विवेचना करने वाले काण्ड (काण्ड १३-१८), (१३) बीसवाँ काण्ड, (१४) कुन्ताप सूक्त (द्र०, वही, पृ० ११९-१२०)।

जा सकता है, जैसे—(१) अमङ्गल-निवारण, (२) उत्कर्ष की कामना, (३) स्त्री-सम्बन्धी, (४) यज्ञ-सम्बन्धी, (५) मनोरञ्जन-सम्बन्धी, (६) दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सन्दर्भ आदि ।

(१) **अमङ्गल-निवारण**—अथर्ववेद के कुछ सूक्तों में ऐसे अभिचार कर्म का वर्णन है जिससे विविध प्रकार के रोग तथा प्रेत आदि से मुक्ति दिलाई जा सकती है । ब्लूमफील्ड ने अनेक मन्त्रों और सूक्तों के सन्दर्भ में इस विषय का विवेचन किया है ।[१] कुछ सूक्तों में दैत्यों, अभिचारकों तथा शत्रुओं से बचाव के लिये भी किन्हीं अभिचारों का वर्णन देखा गया है ।[२] इसी प्रकार किन्हीं सूक्तों के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि वहाँ पाप एवं अशुद्धि के दुष्परिणाम से बचने के लिये प्रायश्चित्तों का विधान है ।[३] "दुःस्वप्नों एवं स्वप्नकल्पित भयों के विरुद्ध प्रयुक्त अभिचार भी इसी क्षेत्र में आ जाते हैं ।"[४]

(२) **उत्कर्ष की कामना**—उनके अनुसार कुछ सूक्तों में दीर्घायु के लिये प्रार्थना की गई है । कुछ में स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिये भी ।[५] सामाजिक और राजनैतिक जीवन में सफलता, सभा में प्रभाव आदि के विषय में भी कुछ मन्त्र उपलब्ध होते हैं ।[६] राजकर्म-विषयक मन्त्र[७] तथा ब्राह्मणों के हित के लिये की गई प्रार्थनाएँ भी इसी वर्ग में रक्खी जा सकती हैं ।[८] किन्हीं सूक्तों में समृद्धि प्राप्त करने और विपत्ति से छुटकारा पाने के लिये अभिचार कर्म का वर्णन दिखलाई देता है ।[९]

(३) **स्त्री-सम्बन्धी**—यद्यपि स्त्री-सम्बन्धी मन्त्रों एवं सूक्तों को प्रथम वर्ग में ही रक्खा जा सकता है, तथापि किन्हीं विशेषताओं के कारण इन्हें अलग रक्खा गया है । इन सूक्तों में विवाह-मन्त्र, स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण करने वाले मन्त्र (वशीकरण अभिचार) इत्यादि को रक्खा गया है ।[१०]

(४) **यज्ञ-सम्बन्धी**—अथर्ववेद का श्रौत अनुष्ठानों से क्या सम्बन्ध रहा है ? इस पर विचार करके लेखक ने बतलाया है कि इस वेद का श्रौत विधियों से

१. द्र०, वही, पृ० १२०-१३० ।
२. द्र०, वही, पृ० १३४-१४२ ।
३. द्र०, वही, पृ० १७२-७८ ।
४. वही, पृ० १७८ ।
५. द्र०, वही, पृ० १३०-१३४ ।
६. द्र०, वही, पृ० १४८-१५२ ।
७. द्र०, वही, पृ० १५२-५८ ।
८. द्र०, वही, पृ०, १५८-१६४ ।
९. द्र०, वही, पृ० १६४-१७२ ।
१०. द्र०, वही, पृ० १४२-४८ ।

पर्याप्त परिचय है, ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी, श्रौत सूत्रों में वर्णित क्रिया-कलाप के आधार पर ही यज्ञ-सम्बन्धी सन्दर्भों की व्याख्या की जा सकती है।[1] ब्लूमफील्ड ने बहुत से सूक्तों में हविष् आदि के वर्णन दिखलाये हैं और कहा है—इन स्थलों में विशेष प्रकार की याज्ञिकता उभरी है।[2]

(५) **मनोरञ्जन-सम्बन्धी**—इस प्रकार के सन्दर्भों में ब्लूमफील्ड ने विशेष रूप से कुन्ताप सूक्तों का उल्लेख किया है। कुन्ताप शब्द का वास्तविक आधार स्पष्ट नहीं है। । इन सूक्तों में कुछ पहेलियाँ हैं, कुछ रोचक आख्यान हैं और कुछ हंसी ठट्ठे; कुछ अश्लील वचन भी यहाँ मिलते हैं।[3] ये मनोरञ्जन के साधन कैसे हैं? यह दिखलाते हुए लेखक ने कहा है—"कुन्तापवर्ग के हास्योत्पादक और नीरस साहित्य का दानस्तुति, नाराशंसी और आख्यान से गठ-जोड़ प्रतीत होता है…इस प्रकार दानस्तुतियाँ तथा नाराशंस्य उन आनन्दमय तत्त्वों में से हैं, जो यज्ञ के गम्भीर पावन अनुष्ठानों को उस जन-क्रिया-कलाप के साथ मिलाते हैं, जिसे हम किसी उपयुक्त शब्द के अभाव में याज्ञिक मनोरञ्जन कह कर पुकार सकते हैं।"[4]

(६) **दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सन्दर्भ**—इनमें कुछ सृष्टि-विषयक सूक्त हैं। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त (ऋ० १०.९०) अथर्ववेद (१९.६) में भी कुछ पाठान्तर के साथ मिलता है। इसके समान कुछ अन्य सूक्त भी हैं। "यहाँ सर्ग के हेतु पुरुष की उत्पत्ति, स्वरूप, उसके शरीर के अङ्गों और उसके अन्य शारीरिक स्वरूप के विषय में अनूठा चिन्तन है।"[5] कुछ सूक्तों में पूछे गये प्रश्न प्रजापति ब्रह्मा को लक्ष्य करते हैं। लेखक की दृष्टि में कुछ सूक्त आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य स्थापित करते हैं, जिनकी भावना उपनिषदों के समान है। स्कम्भ के प्रति जो दो सूक्त (१०.७,८) कहे गये हैं इनमें सृष्टि के चरम कारण का अधिक सूक्ष्म सङ्केत है। इसी प्रकार कुछ सूक्तों में आत्मा के ज्ञान को मानव जीवन का लक्ष्य बतलाया गया है और कहीं ब्रह्म को सर्वोच्च तत्त्व कहा गया है।[6]

इस प्रकार ब्लूमफील्ड की दृष्टि में अथर्ववेद में कुछ ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक सन्दर्भ मिलते हैं। इन सबसे इस वेद का

---

१. द्र०, वही, पृ० १८७-९४।
२. द्र०, वही, पृ० १९३-१९४।
३. द्र०, वही, पृ० १९९-२१०।
४. द्र०, वही, पृ० २११।
५. वही, पृ० १८२।
६. द्र०, वही, पृ० १८२-१८३।

इन्हीं विषयों में प्रामाण्य सूचित होता है। अन्य वेदों के विषय में भी सम्भवतः यही कहा जा सकता है।

१३. एम० विन्टरनिट्ज़ (M. Winternitz, 1863 – 1937)

विन्टरनिट्ज़ ने उपलब्ध वेद-सम्बन्धी ऐतिहासिक ग्रन्थों में कुछ अपूर्णताएँ देखीं और भारतीय साहित्य का समीक्षात्मक परिचय देने के लिये 'INDISCHE LITTERATURE' नाम का ग्रन्थ जर्मन भाषा में लिखा, जिसके अंग्रेजी तथा हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवाद किये गये। इस ग्रन्थ में लेखक का लक्ष्य यह रहा है—"भारतीय वाङ्मय का इतिहास साथ ही साथ भारतीय वाङ्मय की एक रूपरेखा भी हो—जरूरी है।"[१] इसके अतिरिक्त उनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी हैं जिनमें कोष-ग्रन्थ, काव्य-समीक्षा, धर्म-मीमांसा के साथ-साथ वैदिक सूक्तों की व्याख्या भी सम्मिलित है। विन्टरनिट्ज़ की विशेष कृतियाँ इस प्रकार हैं :

१. Ein Hymnus an Savitar,[२] (Arch. Or 3, 1931).

२. Ancient Indian Ballad Poetry,[३] (CR, Dec. 1923).

३. A Concise Dictionary of Eastern Religions,[४] (being the index volume to Sacred books of the East Series, London, 1925).

४. Race and Religion,[५] (Pr. Bh. 42, Aug. 1937).

५. Ethics in Brāhmanical literature,[६] (Pr.Bh.41, Feb. 1936).

६. Indian under Westen,[७] (Arch. Or 7, 1935).

७. A History of Indian Literature,[८] (Calcutta University, 1927-33).

१.(क) प्राचीन भारतीय साहित्य-१, निवेदन, पृ० ३।
(ख) द्र०, A History of the literature must be at the same time a description of the literature. History of Indian Literature. Vol. I. (Munshiram Manoharlal, Delhi, 1972), Preface, P. XI.

२. R.N. Dandekar, Vedic Bibliography (Bombay, 1946), 5.40.

३. वही, ६२.१०।

४. वही, ६३.१८।

५. वही, १११.२३।

६. वही, १२७.२१।

७. वही, १५०.८७।

८. वही, १५१.११।

८. Indologica Pragnesia,[१] Edited Winternitz, M. and Stein, O. (Pub. Rohrer, Brunn, 1929).

ऋग्वेद में क्या है ? इस विषय में केगी तथा ओल्डनबर्ग के विचारों की समीक्षा करते हुए वे कहते हैं —"इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इन सूक्तों की प्रचुर संख्या का वैदिक यज्ञ-याग से कुछ सम्बन्ध नहीं है—उनमें सचमुच उस प्राचीन युग की धार्मिक भावना अब भी प्राणवती है।"[२] वेदों का प्रामाण्य किस विषय में है यह बतलाते हुए उन्होंने कहा है—"भारतीय धर्म के प्राचीन उदय एवं विकास को जानने के लिये तथा इण्डो-यूरोपियन जातियों के गाथा-विज्ञान को समझने के लिए और विश्व भर के प्रागैतिहासिक मन को हृद्गत करने के लिए ऋग्वेद के इन गीतों से बढ़कर और कोई प्रमाण-ग्रन्थ हमारे पास अभी तक नहीं है।'[३] उनकी दृष्टि में ऋग्वेद से प्रारम्भिक देव-गाथाओं का ज्ञान भी प्राप्त होता है।[४] वेद के कुछ देवों तथा धार्मिक धारणाओं का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है—"प्राचीन आर्यावर्त के धार्मिक विश्वासों का प्रथम रूप जानने के लिए इन वैदिक सूक्तों का महत्त्व बहुत अधिक है। काव्यदृष्टि से भी इनका विश्व साहित्य में अपना ही स्थान है।"[५]

विन्टरनिट्ज़ के अनुसार आर्यावर्त के प्राचीन धार्मिक विश्वासों के साथ-साथ कुछ अन्य तथ्यों का भी वेद से ज्ञान होता है। उनकी दृष्टि में सभी वैदिक सूक्त यज्ञ-याग आदि के लिए नहीं हैं। कुछ सूक्त विशुद्ध देव-स्तुति के लिए लिखे गये हैं।[६] और, ये जो देव-स्तुतियाँ हैं उनमें प्रयुक्त देवता कोई प्राकृतिक तत्त्व भी हो सकता है। उदाहरणार्थ—इन्द्र और वृत्र के युद्ध का यथाश्रुत वर्णन करते हुए वे कहते हैं—"उसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्द्र-वृत्र के इन युद्धों में कोई बड़ी प्राकृतिक घटना ही निबद्ध है।"[७] इस विषय में उन्होंने भिन्न-भिन्न इतिहासकारों के मत भी प्रस्तुत किये हैं कि इन्द्र से उन्हें क्या अभिप्राय लेना अभीष्ट है। इन देव-सम्बन्धी वैदिक वर्णनों में आलङ्कारिक वर्णन भी हैं—'सचमुच, यदि इन अग्निगाथाओं का विश्लेषण किया जाए, तो इनका स्पष्ट उद्भव कवियों के इन्हीं रूपकों तथा अन्य अलङ्कारों में हम पाएँगे।"[८]

१. वही, १६६.१५।
२. प्राचीन भारतीय साहित्य-१, पृ० ५५।
३. वही, पृ० ५६।
४. द्र०, वही, पृ० ५६।
५. वही, पृ० ५९।
६. वही, पृ० ५६, ५९-६१।
७. वही, पृ० ६२।
८. वही, पृ० ६८।

वेद के संवाद-सूक्तों के विषय में भी विन्टरनिट्ज़ ने विस्तार से विचार किया है। ओल्डनबर्ग के अनुसार इन्हें आख्यान-सूक्त कहा जा सकता है। अन्य कुछ विद्वान् भी इनसे सहमत हैं। किन्तु हर्टर और श्रैडर की स्थापना है कि ये सूक्त वैदिक कर्मकाण्डों के प्रसङ्ग में खेले गये नाटकादि के अवशेष हैं।[1] विन्टरनिट्ज़ का मत है—"यह संवाद-साहित्य वस्तुतः भारत की प्राचीन वीर-गाथाकाव्य हैं, जिसके उदाहरण हमें अन्य देशों के साहित्य में भी मिलते हैं।"[2] उन्होंने वेद के इस प्रकार के कई सूक्तों का विश्लेषण भी किया है; जैसे पुरूरवस् और उर्वशी के आख्यान का और यम-यमी के आख्यान का।[3]

ऋग्वेद के कुछ सूक्तों से लौकिक तथा तन्त्र-मन्त्र सम्बन्धी विषयों का भी ज्ञान होता है, जैसे—द्यूत सम्बन्धी सूक्त (१०.३४) से द्यूत के परिणाम तथा द्यूतकर की कर्मदशा का परिचय मिलता है।[4] कुछ सूक्तों से मुर्दे को गाड़ने का संकेत मिलता है।[5] सूर्यासूक्त (१०.८५) आदि से विवाह-पद्धति-सम्बन्धी कुछ संकेत मिलते हैं। विवाह-सम्बन्धी आशीर्वादों में कुछ तन्त्रात्मक बातें भी हैं।[6] ऐसे तन्त्रात्मक विषय धार्मिक गीतों तथा यज्ञपरक मन्त्रों के बीच में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं।[7] कुछ सूक्त ऐसे भी हैं जिनसे धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के विषयों का ज्ञान होता है "ऋग्वेद की विषय-वस्तु के प्रसङ्ग में हम अन्त में दानस्तुतियों को लेते हैं, जो धार्मिक तथा लौकिक काव्य को जोड़ने वाली एक कड़ी हैं।"[8]

ऋग्वेद से तत्कालीन दार्शनिक विचारों का भी कुछ बोध होता है। वहाँ सृष्टि और स्रष्टा के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन मिलता है।[9] "ऋग्वेद के सूक्तों से सम्पूर्ण चराचर की एकात्मता का पूर्वाभास हमें मिल जाता है।"[10]

ऋग्वेद की विषय-वस्तु का विहङ्गम दृष्टि से अवलोकन करते हुए भी

---

१. द्र०, वही, पृ० ७६।
२. वही, पृ० ७६।
३. द्र०, वही, पृ० ८०-८४।
४. द्र०, वही, पृ० ८७।
५. वही, पृ० ७४-७५।
६. द्र०, वही, पृ० ८३-८४।
७. द्र०, वही, पृ०, ८६।
८. वही, पृ० ८६।
९. द्र०, वही, पृ० ७८।
१०. वही, पृ० ७८।

उन्होंने ऋग्वेद किस विषय में प्रमाण हो सकता है, यह दिखलाया है।[१] वेद में काव्यात्मकता,[२] आलङ्कारिकता, आख्यानात्मकता होते हुए भी प्राचीन आर्यों के विश्वासों, संस्कृति और सभ्यता के विवरण प्राप्त होते हैं। उस विषय में ये प्रमाण हैं ही। किन्तु विन्टरनिट्ज़ का विचार है—"ऋग्वेद, और कुछ हो-सो-हो एक नीति-रत्न-माला कदापि नहीं है"।[३] वे वैदिक कालीन आर्यों को असभ्य गड़रिये तथा जंगली मानने वाले या उन्हें अत्यन्त सुसंस्कृत समझने वाले विद्वानों के साथ अपनी असहमति प्रकट करते हैं।[४]

अथर्ववेद पर विचार करते हुए वे इसमें धार्मिक, लौकिक, भौगोलिक और ऐतिहासिक अनेक विषय देखते हैं। उनके अनुसार अथर्ववेद में गङ्गा की घाटी के कुछ सङ्केत मिलते हैं —"वैदिक आर्य लोग अब दक्षिण-पूर्व की ओर गङ्गा के क्षेत्र तक पहुँच चुके हैं।"[५] उस स्थल के चीते-शेर जैसे पशुओं का भी इस वेद से ज्ञान होता है। अथर्ववेद में ऋग्वेद के देवताओं का स्वरूप बदल गया है—"अथर्ववेद के मन्त्र उनकी स्तुति-उपासना विशेषतः भूतों-प्रेतों, बीमारियों को भगाने व नष्ट करने के लिए ही करते हैं।"[६] अथर्ववेद में लोकप्रिय-धर्म, जन-धर्म, का विवरण है। "एक ऐतिहासिक के लिए अथर्ववेद का महत्त्व क्या है, यह अथर्ववेद की विषय-सूची पर एक विहङ्गम दृष्टि डालने से ही स्पष्ट हो जाता है।"[७]

अथर्ववेद के मुख्य अङ्गों में से एक बीमारियों का इलाज करने के मन्त्र तन्त्र हैं। बीमारी को दूर करने की प्रार्थनाओं में कहीं-कहीं काव्यात्मकता भी आ गई है।[८] यहाँ बीमारी की जड़ भूत-प्रेत समझे गये हैं और उन्हें भगाने का भी अनेक मन्त्रों में उल्लेख है।[९] अथर्ववेद का दूसरा प्रसङ्ग आयुष सूक्तों का है

१. वही, पृ० ६४।

२. हमारा तो विचार है कि वैदिक सूक्तकारों में जहाँ कुछ बढ़ई भी थे, कुछ सच्चे कवि भी अवश्य थे। वही, पृ० ६०।

३. वही, पृ० ६०।

४. द्र०, We need not, therefore, imagine the people of the Ṛgveda either as an innocent shepherd people, or as a hord of rough savages, nor, on the other hand as a people of ultra-refined culture. History of Indian literature, Vol. I. p. 68.

५. वही, पृ० ९८।

६. वही, पृ० ९९।

७. वही, पृ० १०२।

८. द्र०, वही, पृ० १०२-१०४।

९. द्र०, वही, पृ० १०६।

जिनमें स्वास्थ्य तथा दीर्घ आयु के लिए प्रार्थना की गई है। इसी प्रसङ्ग में पौष्टिक सूक्त भी विद्यमान हैं; किन्तु इन मन्त्रों में कवित्व का अभाव है।[1] कुछ सूक्त प्रायश्चित्त का विधान करते हैं। अनेक मन्त्र जादू-टोने आदि से भी सम्बन्ध रखते हैं और जादू की बुरी निगाहों से बचने के लिए भी कुछ मन्त्र हैं।[2]

विन्टरनिट्ज़ के अनुसार अथर्ववेद के कुछ प्रसङ्गों से सम्बद्ध कथाएँ वैदिक न होकर लौकिक साहित्य से अधिक सम्बन्ध रखती हैं।[3] इसी प्रकार यद्यपि अथर्ववेद के पिछले भागों में विशुद्ध यज्ञ-विनियोग सम्बन्धी मन्त्र विद्यमान हैं तथापि इसमें लौकिक विषय का अधिकतर प्रतिपादन किया गया है।[4] कहीं क्षात्रधर्म अथवा राजकर्म का वर्णन है, कहीं अन्त्येष्टि-परक सूक्त हैं और कहीं पितरों की पूजा-सम्बन्धी तथा कहीं दान-स्तुतियाँ भी हैं।[5] कुछ सूक्तों में धर्मशास्त्र तथा सृष्टि का भी विवेचन है।[6] कहीं-कहीं दार्शनिकता की अपेक्षा रहस्यात्मकता अधिक दृष्टिगोचर होती है।[7] विन्टरनिट्ज़ ने डाऊसन के मत की समीक्षा करते हुए कई सूक्तों की परीक्षा की है और दिखलाया है कि विश्व के दर्शनशास्त्र को इनकी कोई नई देन प्रतीत नहीं होती।[8]

सामवेद के प्रतिपाद्य-विषय का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा है—"सामवेद संहिता का महत्त्व जहाँ भारतीय यज्ञ-परम्परा और जादू-परम्परा के इतिहास के लिए अपरिहेय है वहाँ भारतीय संगीत-शास्त्र की उत्पत्ति पर भी उससे बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है। ···साहित्यिक रूप में, वैसे, सामवेद का महत्त्व नगण्य है।"[9]

यजुर्वेद में अध्वर्यु की सुगमता के लिए वैदिक प्रार्थनाएँ संगृहीत हैं। यहाँ अश्वमेध तथा पुरुषमेध जैसे अनेक यज्ञों का वर्णन है। पुरुषमेध में जो अनेक प्रकार के मनुष्यों का एक साथ देवार्पित करना दिखलाया गया है उसमें "मूल भावना साङ्केतिक प्रतीत होती है।"[10] इनसे यह भी विदित होता है कि "यज्ञ-याग

१. द्र०, वही, पृ० १०८-१०९।
२. द्र०, वही, पृ० ११५।
३. द्र०, वही, पृ० ११४।
४. द्र०, वही, पृ० १२१।
५. द्र०, वही, पृ० १२१।
६. द्र०, वही, पृ० १२१।
७. द्र०, वही, पृ० १२४।
८. वही, पृ० १२७।
९. वही, पृ० १३८।
१०. वही, पृ० १४३।

का पूर्ण आडम्बर मूल रूप में रहस्यात्मक ही अधिक था।"[1] पुरुष-सूक्त से भी इस कल्पना की पुष्टि होती है। यजुर्वेद में कुछ परस्पर असङ्गत वस्तुओं को जोड़ देने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है।[2] इस प्रकार के वचनों को देखकर श्रेडर ने कहा है—"प्रायः हमें यह सन्देह भी हो उठता कि क्या ऐसे वाक्य किसी बुद्धिमान् (व्यक्ति अथवा) जाति की रचना हो सकते हैं।"[3]

यजुर्वेद में कुछ पहेलियाँ भी हैं।[4] इसके अतिरिक्त कुछ रहस्यात्मक प्रसङ्ग भी यजुर्वेद में मिलते हैं।[5] यहाँ कुछ अन्धविश्वास के सङ्केत भी देखे जा सकते हैं।[6] साहित्यिक दृष्टि से यजुर्वेद संहिताओं का महत्त्व नहीं है।[7] धार्मिक दृष्टि से तुलनात्मक धर्म के अध्ययन के लिए यजुर्वेद का विशेष महत्त्व है।[8]

अन्त में, वे सभी संहिताओं का महत्त्व दिखलाते हुए कहते हैं–"स्वयं भारत के परतर दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य को सही समझने के लिए संहिताओं का महत्त्व कभी भी कम नहीं हो सकता।"[9] विन्टरनिट्ज़ के इस विवेचन से प्रतीत होता है कि वेदों के कुछ प्रतिपाद्य-विषय ऐतिहासिक, भौगोलिक या धार्मिक तथ्यों के अनुसन्धान में पर्याप्त सहायक हैं और इसी दृष्टि से वेदों की प्रामाणिकता है।

१४. ए०बी० कीथ (Arthur Berriedale Keith, 1879-1944)[10]

प्रोफ़ेसर कीथ अपनी अनूठी प्रतिभा और गहन विद्वत्ता के कारण संस्कृत जगत् में प्रसिद्ध हैं।[11] उन्होंने वाडन संस्कृत स्कालर के रूप में कार्य किया तथा

१. वही, पृ० १४३।
२. द्र०, वही, पृ० १४८।
३. वही, पृ० १४६।
४. द्र०, वही, पृ० १५०।
५. द्र०, वही, पृ० १५२।
६. द्र०, वही, पृ० १५२।
७. द्र०, वही, पृ० १५२।
८. द्र०, वही, पृ० १५२-१५३।
९. वही, पृ० १५३।
१०. द्र०, राजवंशसहाय हीरा, संस्कृतसाहित्यकोश (चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी-१, १९७३), पृ० १३९।
११. द्र०, मङ्गलदेव शास्त्री, संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), प्रस्तावना, पृ० १।

ग्राक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत के कार्यवाहक डिप्टी प्रोफेसर के रूप में भी।[१] उन्होंने कई ग्रन्थों के सम्पादन किये हैं, कई के अनुवाद किये हैं और कितने ही खोजपूर्ण ग्रन्थ तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है। उनके वेदविषयक विचारों के ज्ञान के लिये उनकी निम्नलिखित रचनाएँ देखी जा सकती हैं :—

1.	The Aitareya Āraṇyaka	Oxford University Press, London, 1969.
2.	Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads	Harvard University Press, London, 1925.
3.	Rigveda Brahmanas: The Aitareya and Kauṣītaki Brāhmaṇas of Rigveda.	Motilal Banarsidass, Delhi, 1971.
4.	Veda of Black Yujus school entitled Taittiriya Samhita (Tr.)	Harvard Oriental Series, 18, 1967.
5.	Śāṁkhāyana Āraṇyaka with an Appendix on the Mahavrata	The Royal Asiatic Society, 1908.
6.	Aitareya Āraṇyaka (ed.)	Oxford Clarendon Press, London, 1909.
7.	Vedic Index of names and Subjects (Macdonell & Keith)	Motilal Banarsidass, Delhi, 1958.

इनके अतिरिक्त उनकी अनेक शोधात्मक रचनाएँ हैं जिनमें से कुछ लेख विभिन्न शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।[२] इनमें से संख्या २ का "वैदिक धर्म एवं दर्शन" नाम से हिन्दी भाषा में अनुवाद हुआ है।[३]

वैदिक धर्म एवं दर्शन नामक ग्रन्थ से प्रोफेसर कीथ के वेद-विषयक विचारों का ज्ञान प्राप्त होता है। उनकी दृष्टि में ऋग्वेद संहिता भारतीय धर्म का प्राचीनतम स्रोत है। ऋग्वेद एक ऐतिहासिक संहिता है।[४] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल पर विचार

---

१. द्र०, वैदिक इण्डैक्स (मोतीलाल बनारसीदास, १९५८), मुख पृष्ठ।

२. द्र०, Vedic Bibliography (Bombay, 1946)।

३. वैदिक धर्म एवं दर्शन (सूर्यकान्त कृत हिन्दी रूपान्तर, २ जिल्दों में, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३, १९६५)।

४. द्र०, वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग-१, पृ० १।

करते हुए वे कहते हैं—"धार्मिक विकास के साथ ही साथ इस मण्डल में सामाजिक विकास भी पाया जाता है…इसी मण्डल में हमें सर्वप्रथम चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने विकसित रूप में देखने को मिलते हैं।"[१] एक मत के अनुसार ऋक्-संहिता का धर्म आर्य धर्म नहीं अपितु आदिवासियों का धर्म ठहरता है।[२] ऋग्वेद में तत्कालीन लोक धर्म का संकेत मिलता है।[३] साथ ही यहाँ ऐसे सूक्त भी हैं जिनका सम्बन्ध पितृ-पूजा के साथ है। वस्तुतः "ऋग्वेद एक ऐतिहासिक संकलन है न कि याज्ञिक और इसकी व्याख्या इसी दृष्टि से करनी वाञ्छनीय है।"[४]

परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों के समय कर्म-काण्ड का विस्तार होने लगा। भिन्न-भिन्न पुरोहित अथवा ऋत्विज् होने लगे। पौरोहित्य का विभाजन कार्य-विभाजन के आधार पर हुआ। यजुर्वेद में अध्वर्यु द्वारा प्रयुक्त मन्त्रों का सङ्कलन किया गया। यजुर्वेद की कृष्ण और शुक्ल दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। यज्ञों में गाये जाने वाले मन्त्र सामवेद में सुरक्षित किये गये हैं। बड़े यज्ञों में उद्गाता सामगान करता था, होता शस्त्र पाठ करता था। शस्त्र ऋग्वेद से लिये गये मन्त्रों से बने हैं। अथर्ववेद का सम्बन्ध ब्रह्मा से कहा जाता है, ब्रह्मा प्रायः समस्त कार्यों का निरीक्षण करता था।[५]

कीथ का विचार है कि यद्यपि सभी संहिताओं में यातु-क्रियाएँ किसी अंश में विद्यमान हैं तथापि अथर्ववेद का इनसे गहन सम्बन्ध है और यज्ञ-क्रियाओं से कम। अथर्ववेद में जीवन के विविध पक्षों का सङ्कलन है। स्वास्थ्य, अपत्य-प्राप्ति, प्रेम-प्रसङ्ग, रोग-निवारण, धन-प्राप्ति तथा कुछ सिद्धियों का भी यहाँ वर्णन है। विवाह और अन्त्येष्टि आदि के सूक्त यहाँ अधिक विस्तृत हो गये हैं[६]। "निश्चय ही अथर्ववेद में धार्मिक जीवन के अपेक्षाकृत निम्न स्तर की साधनाओं का उल्लेख है[७]।"

प्रो० कीथ ने चारों मन्त्र-संहिताओं के काल में अन्तर दिखलाते हुए उनसे

---

१. वही, पृ० ३।
२. वही, पृ० १२।
३. द्र०, वही, पृ० १७।
४. वही, पृ० १८।
५. द्र०, वही, पृ० २०-२१।
६. द्र०, वही, पृ० २२।
७. वही, पृ० २३।

प्रकट होने वाले धर्म और संस्कृति में भी अन्तर स्पष्ट किया है।[१] वेदों के आधार पर उन्होंने भौगोलिक स्थिति में भी भेद दिखलाया है। वे कहते हैं कि वेदकालीन संस्कृति का केन्द्र सतलज और जमुना की मध्यस्थ कुरुभूमि थी, किन्तु ब्राह्मणों में पञ्चाल आदि प्रदेश को भी महत्त्व दिया जाने लगा था।[२] वृक्षों, पशु-पक्षियों तथा सामाजिक परिस्थिति पर भी वेदों से प्रकाश पड़ता है। उनका कहना है कि उत्तरोत्तर वर्ण-व्यवस्था अधिकाधिक उलझती गयी।[३] "यजुर्वेद में बहुसंख्यक वर्णों की सूची मिलती है जो कुछ हद तक वंशानुगत अथवा जन्मजात प्रतीत होती है।"[४] उनका यह भी कहना है कि सामाजिक विकास के साथ-साथ धन-सम्पत्ति की वृद्धि हुई और यज्ञों का भी अधिक विस्तार होता गया।

कीथ का कहना है कि वैदिक देवताओं का स्वरूप तथा महत्त्व भी संहिताओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से देखा जाता है। धर्म के विकास की अवस्था भी वेदों के अनुशीलन से स्पष्ट होती है। परवर्ती संहिताओं में देवाख्यान और धर्म के ऊँचे स्तर के विषय में कम सामग्री मिलती है और यज्ञानुष्ठान के विषय में अधिक। साथ ही वहाँ यातु-विद्या अत्यधिक मात्रा में है।[५]

प्रो० कीथ के विचारों से यह स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में वेद से कुछ भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक तथ्यों का बोध होता है। फलतः वेद इन्हीं विषयों में प्रमाण कहे जा सकते हैं।



१. द्र०, वही, पृ० २३।
२. द्र०, वही, पृ० २७-२८।
३. द्र०, वही, पृ० २७-२९।
४. वही, पृ० २८।
५. द्र०, वही, पृ० २९-३२।

परिच्छेद ११

वेद-प्रामाण्य तथा ऋषि दयानन्द

१. स्वामी दयानन्द की जीवनी तथा कृतियों में वेद-प्रामाण्य के सन्दर्भ

स्वामी दयानन्द के जीवन में अनेक ऐसे प्रसङ्ग आये थे, जहाँ उन्होंने स्वयं या उनके विषय में अन्य किसी ने यह स्पष्टरूप से कहा है अथवा सङ्केत किया है कि स्वामी दयानन्द वेद को परम प्रमाण मानते थे। वस्तुतः गुरुदक्षिणा के पश्चात् स्वामी विरजानन्द के आशीर्वाद में ही उन्हें यह शिक्षा मिली थी कि ऋषि-शैली प्रचलित करके वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में लोगों को प्रवृत्तिशील बनाओ।[1] कतिपय सन्दर्भों से इस तथ्य पर अधिक प्रकाश पड़ता है।

सन् १८६६ में जब वे अजमेर गये तब पादरी जान रावसन से उनका विचार-विनिमय हुआ था। रावसन ने हिन्दू धर्म व ख्रीस्तधर्म (Hinduism and Christianity) नामक अपनी पुस्तक में उनके विषय में बहुत कुछ लिखा है और यह भी बतलाया है—"वेदों में उनका दृढ़ विश्वास था"...वह कहते थे मेरा विश्वास है कि वेदों में एक भी भ्रान्तिमूलक बात नहीं है[2]।" सन् १८६७ की हरिद्वार की घटना है कि उन्होंने गोसाईं लोगों से कहा था "हम तो सत्य के पक्षपाती हैं और जो वेद में लिखा है उसके अनुयायी हैं"।[3]

जब स्वामी जी काशी में गये तो वहाँ की पण्डित-मण्डली से उनका विचार-विनिमय हुआ। पण्डितों ने पूछा—आप कितने ग्रन्थ प्रामाणिक मानते हैं? स्वामी जी ने उत्तर में चार वेद, चार उपवेद, छः वेदाङ्ग, छः उपाङ्ग और मनुस्मृति - ये २१ ग्रन्थ लिख दिये।[4] इसी प्रकार सन् १८७३ में जब राज-

---

१. स्वामी सत्यानन्द, श्रीमद्दयानन्दप्रकाश (गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-६, १९७३), पृ० ७३।

२. पं० घासीराम, महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित-१ (आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, २०१८ वि०), पृ० १२४।

३. वही, पृ० १३६।

४. श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृ० १६२; मि०, जी० च०-१, पृ० २७१।

पण्डित ताराचरण तर्करत्न से प्रतिमा-पूजा के विषय में हुगली में उनका शास्त्रार्थ हुआ तो उस समय दोनों की ओर से यह माना गया था—"प्रमाण में चार वेद, छः अङ्ग और छः उपाङ्ग ही लिये जावेंगे और किसी ग्रन्थ का प्रमाण न लिया जावेगा"।[1] जब तर्करत्न जी ने अपने कथन की सिद्धि में वाचस्पतिमिश्र को प्रमाण रूप में उद्धृत किया तब स्वामी जी ने यही उत्तर दिया—"आप पहले मान चुके हैं कि हम शास्त्रार्थ में वेदादि सच्छास्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रमाण न देंगे[2]।"

सन् १८७३ में पटना में स्वामी जी ने अपने कथन की पुष्टि में एक वेद-मन्त्र प्रस्तुत किया। जब जिज्ञासु ने पूछा कि वेद का क्या प्रमाण है? तो स्वामी जी ने उत्तर दिया—"वेद स्वतः प्रमाण हैं, जैसे सूर्य्य का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उसे दीपक के दिखाने की आवश्यकता नहीं होती ऐसे ही वेद को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती"।[3]

सन् १८७४ में बम्बई में जब वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों ने कुछ प्रश्न लिखकर उनके पास भेजे, तब उनकी ओर से पण्डित पूर्णानन्द ने उन प्रश्नों के उत्तर में एक विज्ञापन दिया जिसमें लिखा था—"स्वामी जी प्रत्यक्षादि प्रमाण मानते हैं, चारों वेद संहिताओं का (परिशिष्ट भाग को छोड़कर) प्रामाण्य स्वीकार करते हैं···ब्राह्मण ग्रन्थ, शिक्षा आदि वेदाङ्ग के ग्रन्थ, पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा आदि के वेद-उपाङ्ग, मनुस्मृति का प्रमाण वहीं तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक वह वेद के अनुकूल है"।[4]

सन् १८७४-७५ में राजकोट के राजकुमार कालेज में जब उनके व्याख्यान हुए तभी वहाँ के प्रिंसिपल ने मैक्समूलर सम्पादित ऋग्वेद उन्हें भेंट किया था। "उस समय स्वामी जी वेद-संहिता की प्रामाणिकता पर ही बल देते थे, और ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रामाणिकता केवल उसी अंश तक स्वीकार करते थे, जिस तक वह वेदानुकूल सिद्ध हों"।[5]

सन् १८७७ में रावलपिंडी में स्वामी जी ने कहा था "जो ईश्वरोक्त सत् विद्याओं से युक्त ऋक्, यजु, साम, अथर्व, चार पुस्तक हैं और जिनसे मनुष्य को

---

१. जी० च०-१, पृ० २७१।
२. वही, पृ० २७२।
३. वही, पृ० २७७।
४. वही, पृ० ३२३।
५. वही, पृ० ३५४।

सत्य सत्य ज्ञान होता है उन को वेद कहते हैं" ।[१] स्वामी दयानन्द ने सन् १८८० में मेरठ में एक विज्ञापन निकलवाया था, उसमें लिखा गया था—"सबको विदित हो जो-जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं उनको मैं मानता हूँ, विरुद्ध बातों को नहीं···जो-जो बात वेदार्थ से निकलती हैं, उन सब का प्रमाण करता हूँ" ।[२]

सन् १८८२ में उदयपुर के जज मौलवी अब्दुर्रहमान से धर्म के विषय में स्वामी जी का वार्तालाप हुआ। मौलवी साहब ने सात प्रश्न रक्खे जिनके स्वामी जी ने उत्तर दिये उसी प्रसङ्ग में यह भी कहा—"वेद स्वतः प्रमाण है" ।[३]

स्वामी दयानन्द के जीवनचरित से यह भी प्रतीत होता है कि उस समय के कुछ पत्र-पत्रिकाओं में भी स्वामी जी के वेद-सम्बन्धी मन्तव्यों की चर्चा का जाती थी, और उनके वेद-प्रामाण्य सम्बन्धी विचारों की भी। ब्रह्म-समाज-पत्रिका कलकत्ता ने (सन् १८७२-७३) लिखा था—"उनके मत में वेद का मन्त्र-भाग अभ्रान्त है।"[४]

इनके अतिरिक्त ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन नामक ग्रन्थ में भी कुछ सन्दर्भ ऐसे हैं जिनसे वेद-प्रामाण्य के विषय में स्वामी जी का मन्तव्य प्रकट होता है। सन् १८६९ में कानपुर में जो विज्ञापन निकाला गया था उसमें कहा गया है कि ये २१ शास्त्र सत्य जानने चाहियें। इन शास्त्रों में चारों वेदों का नाम सर्वप्रथम रक्खा गया है।[५]

सन् १८७४ में प्रयाग में जो विज्ञापन स्वामी जी ने दिया था उसमें अपने अनुभव का उल्लेख करते हुए उन्होंने बतलाया था—"सो यह ठीक-ठीक निश्चय हृदय में भया कि वेद और सनातन ऋषि-मुनियों के शास्त्र सत्य हैं।"[६] सन् १८७८ में अमृतसर में निकाले गये एक विज्ञापन में उन्होंने लिखा था—"जो-जो बात वेदार्थ से निकलती हैं उन सब को प्रमाण करता हूँ क्योंकि वेद ईश्वर वाक्य होने से सर्वथा मुझको मान्य है।"[७] सन् १८८० में राजा शिवप्रसाद जी को स्वामी जी

१. जी० च०-२, पृ० ८०।
२. वही, पृ० २४८।
३. वही, पृ० ३०८।
४. जी० च०-१, पृ० २६५।
५. द्र०, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन (रामलालकपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९५५), पृ० १-२।
६. वही, पृ० २१।
७. वही, पृ० ६४।

ने जो पत्र लिखा था उसमें उनके प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा था—"वेद स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण हैं।"[१]

स्वामी दयानन्द के जीवनचरित तथा पत्र और विज्ञापनों के अतिरिक्त उनके लिखे ग्रन्थों में भी स्थान-स्थान पर वेद-प्रामाण्य के सम्बन्ध में स्वामी जी के मन्तव्य उपलब्ध होते हैं। उन्होंने वेद को प्रमाण न मानने वाले, वेद को परतः प्रमाण मानने वाले और वेद को स्वतः प्रमाण मानने वाले सभी मतों का निरूपण करके वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी अपना मत भी प्रकट किया है। इन सभी विषयों का आगे निरूपण किया जा रहा है।

२. वेद-प्रामाण्य-विरोधी मतों का निराकरण

जैसा कि ऊपर निरूपण किया गया है, चार्वाक, बौद्ध और जैन दार्शनिक प्रस्थानों को अवैदिक दर्शन के नाम से कहा जाता है। ये तीनों ही वेद की प्रामाणिकता का विरोध करते हैं। स्वामी दयानन्द ने इन सभी के एतद्विषयक मत का पृथक्-पृथक् विवेचन नहीं किया, अपितु विशेष रूप से चार्वाक-मत-समीक्षा में ही बौद्ध और जैन का भी उल्लेख कर दिया है—"नास्तिकता-वेद-ईश्वर की निन्दा, परमतद्वेष,...जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, इत्यादि बातों में सब एक ही हैं।"[२] चार्वाक मत का परिचय देते हुए स्वामी जी कहते हैं—"कोई एक बृहस्पति नामा पुरुष हुआ था जो वेद, ईश्वर और यज्ञादि उत्तम कर्मों को भी नहीं मानता था।"[३] वेद के विरोध में चार्वाक की कई प्रकार की युक्तियाँ थीं; जैसे—(१) तीनों वेदों के कर्त्ता, भाण्ड, धूर्त और निशाचर हैं इसीलिए जर्फरी, तुर्फरी आदि पण्डितों के धूर्तता युक्त वचन हैं।[४] (२) उन भाण्डों ने अत्यन्त अश्लील और असम्भव विधान वेदों में दिखलाएँ हैं; उदाहरणार्थ—उस (घोड़े) के साथ समागम यजमान की स्त्री से कराना, कन्या से ठट्ठा आदि लिखना धूर्तों के विना नहीं हो सकता।[५] (३) और, जो मांस का खाना लिखा है वह वेद-भाग राक्षस का बनाया है।[६] (४) इसी प्रकार वेदानुयायियों के

१. द्र०, वही, पृ० १८६।
२. सत्यार्थप्रकाश (रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, १९७२), समु० १२, पृ० ६१८।
३. वही, पृ० ६०९।
४. त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त्तनिशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥ वही, पृ० ६१४।
५. द्र०, अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम्॥ वही, पृ० ६१४।
६. द्र०, मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्। वही, पृ० ६१४।

अनेक विश्वासों, मन्तव्यों और क्रिया-कलापों की खिल्ली उड़ाते हुए चार्वाक ने श्राद्ध, अग्निहोत्र, त्रिदण्ड-धारण, भस्मावलेपन इत्यादि का भी खण्डन किया है और कहा है कि यह सब बुद्धि और पुरुषार्थ रहित पुरुषों ने जीविका बना ली है।[1] (५) यज्ञों में पशु-बलि का विरोध भी उन्होंने किया है।[2]

स्वामी दयानन्द ने चार्वाक के इस प्रकार के आक्षेपों का निराकरण किया है—

(१) "भाण्ड धूर्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्त्तता है, वेदों की नहीं।"[3]

(२) इस प्रकार की बातें वेदों में देखना टीकाकारों की ही भूल है। वेद-मन्त्रों की इस प्रकार की व्याख्या करना वाममार्गी लोगों का काम है अन्यों का नहीं।[4]

(३) स्वामी दयानन्द मांस-भक्षण को वेद-प्रतिपादित नहीं मानते। वे कहते हैं—"जो मांस खाना है, यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है। इसलिए उनको राक्षस कहना उचित है। परन्तु वेदों में कहीं मांस का खाना नहीं लिखा।"[5]

(४) जहाँ तक मृतक श्राद्ध की बात है पुराणमतानुयायी इसे वेद-सम्मत बतलाते हैं और इसका विविध युक्तियों से समर्थन करते हैं; किन्तु दयानन्द की दृष्टि में तो यह वेद-प्रतिपादित नहीं है अतः चार्वाक का आक्षेप व्यर्थ है। दयानन्द कहते हैं—"मृतकों का श्राद्ध-तर्पण करना कपोल-कल्पित है, क्योंकि यह वेदादि सत्यशास्त्रों के विरुद्ध होने से भागवतादि पुराण मत वालों का मत है। इसलिए इस बात का खण्डन अखण्डनीय है"[6] और भी "हाँ ब्राह्मणों ने प्रेत कर्म

---

१. द्र०, (१) मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्॥ वही, पृ० ६१३।
(२) अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥ वही, पृ० ६१२।

२. द्र०, वही ६१३-१४।

३. वही, पृ० ६१६।

४. विना इन महापापी वाममार्गियों के भ्रष्ट, वेदार्थ से विपरीत, अशुद्ध व्याख्यान कौन करता। वही, पृ० ६१७।

५. वही, पृ० ६१७।

६. वही, पृ० ६१६।

अपनी जीविकार्थ बना लिया है, परन्तु वेदोक्त न होने से खण्डनीय है।"[1]

(५) यज्ञों में पशु-बलि के विषय में स्वामी दयानन्द का मन्तव्य स्पष्ट है : वे यज्ञों की पशु-बलि को वैदिक नहीं मानते--"पशु मारके होम करना वेदादि सत्यशास्त्रों में कहीं नहीं लिखा।"[2]

इस विषय में ऋषि दयानन्द ने यह स्पष्टतः कहा है कि जिन बुराइयों का विरोध इन नवीन मतों ने किया था, वे बुराइयाँ वेद-प्रतिपादित नहीं थीं, अपितु वेद के टीकाकारों ने वेद में दिखलाई थीं। स्वामी जी लिखते हैं—"जो वाममार्गियों ने मिथ्या कपोल-कल्पना करके वेदों के नाम से अपना प्रयोजन सिद्ध करना अर्थात् यथेष्ट मद्यपान, मांस खाने और परस्त्रीगमन करने आदि दुष्ट कामों की प्रवृत्ति होने के अर्थ वेदों को कलङ्क लगाया, इन्हीं बातों को देख कर चार्वाक, बौद्ध तथा जैन लोग वेदों की निन्दा करने लगे और पृथक् एक वेदविरुद्ध अनीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक मत चला लिया।"[3]

स्वामी जी ने यह भी कहा है कि वाममार्गियों की टीकाओं के आधार पर वेद की निन्दा करना बुद्धिमत्ता नहीं है उन विद्वानों को वेदसंहिताओं का अनुशीलन करना चाहिए था और वेदार्थ के तथ्यातथ्य पर स्वयं विचार करना चाहिये था।[4] वे वेदों की निन्दा करने वाले सभी मतों के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए यही कहते हैं—"शोक है चार्वाक, आभाणक, बौद्ध और जैनियों पर, कि इन्होंने मूल चार वेदों की संहिताओं को भी न सुना, न देखा और न किसी विद्वान् से पढ़ा। इसीलिए नष्ट-भ्रष्टबुद्धि होकर ऊट-पटांग वेदों की निन्दा करने लगे।"[5] वे सभी को यह सुझाव देते हैं कि विचार कर ही, बुद्धि से विवेचन करके ही किसी बात को स्वीकार करना चाहिए और तभी सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करना चाहिए।[6]

३. वेदार्थ और वेद-प्रामाण्य

जैसा कि आगे दिखलाया जायेगा, स्वामी दयानन्द वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हैं, उनकी दृष्टि में वेद के विषय में अप्रामाण्य की शङ्का भी नहीं

---

१. वही, पृ० ६१६।
२. वही, पृ० ६१६।
३. वही, पृ० ६१७-६१८।
४. द्र०, वही, पृ० ६१६-६१७।
५. वही, पृ० ६१७।
६. द्र०, वही, पृ० ६१७।

हो सकती। ऐसी अवस्था में प्रश्न यह हो सकता है कि फिर वेद-विरोधियों ने वेद में अनेक दोषों की शङ्का कैसे की है। यदि एक वाक्य में स्वामी जी की ओर से इसका उत्तर दिया जाये तो यही कहा जा सकता है कि यह सब वेद की व्याख्याओं के कारण ही हो सका है। वे यही कहते दिखलाई देते हैं—

"दुष्ट वाममार्गियों की प्रमाण-शून्य कपोल-कल्पित भ्रष्ट टीकाओं को देखकर वेदों से विरोधी होकर अविद्या रूपी अगाध समुद्र में जा गिरे।"[1]

स्वामी दयानन्द ने कतिपय प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों द्वारा किये गये वेदार्थ के दोष दिखलाये हैं। नमूने के अङ्क में उन्होंने यह भी कहा था कि "रावण, उवट, सायण और महीधर वेदों के व्याख्या करने वाले हैं, इनमें से एक के खण्डन से इस प्रकार के अन्य का भी खण्डन सर्वत्र जान लेना। और, जहाँ-जहाँ उनमें बड़ा दोष है, उस-उस का अलग-अलग खण्डन किया जायेगा। वैसे ही आर्यभाषा दक्षिणभाषा किंवा अन्य भाषा तथा अंग्रेज़ी भाषा में किये व्याख्यान का भी खण्डन जानना।"[2] इसी प्रकार उन्होंने ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में भी कहा है और यह स्पष्ट निर्देश किया है कि रावण, उवट, सायण और महीधर के अर्थ वेद-विरुद्ध हैं उनका अनुसरण करने वाले इंग्लैण्ड और जर्मनी आदि देशों के विद्वानों के तथा भारतीय विद्वानों के वेद-विषयक व्याख्यान भी अनर्थों से भरे हुए हैं।[3]

सायणाचार्य कृत भाष्य के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए वे कहते हैं—जो सायणाचार्य ने वेदों के परमार्थ को न जान कर यह कहा है कि सब वेद क्रिया-काण्ड परक हैं यह मिथ्या है, क्योंकि वेद तो सब विद्याओं से युक्त हैं।[4]

नमूने के अङ्क में स्वामी जी ने कहा है कि यहाँ सायणाचार्य आदि ने अग्नि शब्द से भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है, यह ठीक नहीं है।[5] इसी प्रकार वे कहते हैं—इन्द्रं मित्रं इस मन्त्र का अर्थ (सायण ने) अन्यथा ही किया है। जैसे—कि उन्होंने इन्द्र शब्द यहाँ विशेष्य रूप में लिया है और मित्र आदि विशेषण रूप में। वस्तुतः यहाँ विशेष्य अग्नि शब्द है जो इन्द्र आदि विशेषणों

१. वही, पृ० ६१७।

२. दयानन्दीय लघु-ग्रन्थ-सङ्ग्रह (रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, १९७५), पृ० १४९।

३. द्र०, ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका (रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९६७), पृ० ३६४।

४. यत् सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डपराः सन्ति इत्युक्तम्, तदन्यथास्ति। कुतः? तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्। वही, पृ० ३६४।

५. द्र०, द०ल०, पृ० १४६ (सं०)।

के साथ अन्वित होकर फिर वही सद्वस्तु ब्रह्म का विशेषण होता है। इस प्रकार विशेष्य प्रत्येक विशेषण के प्रति बार-बार अन्वित हुआ करता है, विशेषण नहीं।[1] इसी प्रकार जहाँ एक विशेष्य के शत या सहस्र विशेषण हों, वहाँ विशेष्य का पुनः पुनः उच्चारण होता है विशेषण का एक बार ही, उसी प्रकार इस मन्त्र में विशेषण और विशेष्य के अभिप्राय से परमेश्वर ने अग्नि शब्द का दो बार उच्चारण किया है। यह सायणाचार्य ने नहीं जाना अतः उसे भ्रान्ति हो गई। निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य रूप में ही वर्णित किया है।[2]

सायण भाष्य के कतिपय अन्य दोषों की ओर ध्यान दिलाते हुए स्वामी जी कहते हैं—इसी प्रकार सायणाचार्यकृत भाष्य के बहुत से दोष हैं।[3]

महीधर आदि के वेदभाष्य के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए स्वामी जी ने बतलाया है कि महीधर ने महान् अनर्थ रूप, वेद के अर्थ को दूषित करने वाला वेददीप नामक व्याख्यान किया।[4] महीधर के वेदभाष्य से स्वामी जी ने कई सन्दर्भ दिये हैं और उनके भाष्य का खण्डन करते हुए ब्राह्मणादि के प्रमाण प्रस्तुत करके उन मन्त्रों का अर्थ दिखलाया है। स्वामी जी ने अपना यह अर्थ वास्तविक अर्थ (सत्योऽर्थः) शब्द से दिखलाया है।[5] महीधरकृत वेदार्थ का खण्डन करके अन्त में उन्होंने कहा है—इतने खण्डन से ही महीधरकृत वेददीप नामक (भाष्य) का खण्डन सब जनों को जान लेना चाहिए।[6]

स्वामी जी के समक्ष इस प्रसङ्ग में यह शङ्का उठाई गई है कि सायणाचार्य आदि ने निरुक्तादि के प्रमाणों से युक्त भाष्य किया है, फिर वह दोषयुक्त कैसे हो सकता है? इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं—निरुक्तादि के वचन

---

१. एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम्। ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, पृ० ३६५। (यहाँ संस्कृत की शैली और हिन्दी अनुवाद के आधार पर यही अर्थ संगत प्रतीत होता है)।

२. द्र०, वही, पृ० ३६५ (सं०)।
(यहाँ 'निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः,' इस प्रकार का पाठ है, किन्तु हिन्दी में 'निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है,' ऐसा पाठ है। इसी के आधार पर उपर्युक्त अर्थ किया गया है। अथवा इसका अभिप्राय है—इन्द्र आदि की अपेक्षा से 'अग्नि' शब्द को विशेष्य रूप में तथा सद्वस्तु ब्रह्म की अपेक्षा से विशेषण रूप में वर्णित किया है। द्र०, वही, टि० पृ० ४२६)

३. द्र०, वही, पृ० ३६५।

४. एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं कृतम्। वही, पृ० ३६७।

५. द्र०, वही, पृ० ३६८-३८०।

६. एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य वेददीपाख्यस्य खण्डनं सर्वेर्जनैर्बोद्धव्यमिति। वही, पृ० ३८०।

तो लिखे हैं, किन्तु वे भाष्य उन वचनों से विरुद्ध ही हैं; जैसे— (निरुक्त का वचन है) 'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति'। यहाँ अग्रणी शब्द का अर्थ है—सबसे उत्तम, आगे=सर्वोत्तम ले जाता है। इस वचन से परमेश्वर का ही ग्रहण होना उचित है अन्य का नहीं; क्यों कि गौण और मुख्य में से मुख्य में ही कार्य का ज्ञान हुआ करता है (गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः) इस व्याकरण के न्याय से परमेश्वर से अग्रणी या मुख्य कोई भी नहीं है। इस प्रकार उनके भाष्य में विरोध ही है।[1]

सायण आदि के भाष्यों का दोष दिखलाकर, उन्होंने कहा है कि इतने से ही पूर्ववर्ती जनों के जो इस प्रकार के भाष्य थे, जो किये जा रहे हैं और जो आगे किए जाएँगे उन सभी का खण्डन जानना चाहिए।[2] साथ ही उन्होंने पाश्चात्त्य विद्वानों के किए गये अर्थों का भी खण्डन किया है, जिसका आगे विस्तृत विवेचन किया जायेगा। उपसंहार रूप में उन्होंने यह भी कहा है कि इस प्रकार के व्याख्यानों का आश्रय आर्यों को नहीं लेना चाहिए। उनके आश्रय से वेदों के सत्य अर्थ की हानि होती है और अनर्थ का प्रकाश होता है-- वेद तो सब विद्याओं से पूर्ण हैं, उनमें कुछ भी मिथ्या नहीं है।[3]

इसी प्रकार वे कहते हैं—यदि आर्यदेश निवासी सायण, महीधर आदि की व्याख्याओं में ऐसी मिथ्या गति है तो यूरोपखण्ड-निवासियों और उनका अनुसरण करके अपनी भाषा में वेद के अर्थ की व्याख्याओं में जो अनर्थ होगा उसका कहना ही क्या[4]? वे यह भी बतलाते हैं कि सायणाचार्य आदि के भाष्य के आधार पर यूरोपदेशवासियों को वेदों में भ्रान्ति हो गई—"तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति'।"[5] उन्होंने अन्य स्थलों पर भी यूरोपखण्ड के विद्वानों के वेदार्थ का खण्डन किया है।[6]

वेदों को सत्य विद्याओं से पूर्ण तथा प्रमाण मानने के लिए उनके ऐसे अर्थ होना आवश्यक है कि जो मानवमात्र के कल्याण के लिए हों, बुद्धि-सङ्गत हों तथा शास्त्र-सम्मत भी। वस्तुतः स्वामी जी ने सत्य की परीक्षा के लिए जो कसौटी

---

१. द्र०, ऋग्वेदभाष्य नमूने का अङ्क, द०ल०, पृ० १४७ (सं०)।

२. द्र०, वही, पृ० १४७ (सं०)।

३. वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति, नैव किञ्चित् तेषु मिथ्यात्वमस्ति। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० ३८०-३८१।

४. द्र०, ऋग्वेदादि०, पृ० ३८० (सं०)।

५. वही, पृ० ३८३।

६. द्र०, ऋग्वेदभाष्य नमूने का अङ्क, द०ल०, पृ० १५१ (सं०)।

दिखलाई है,[1] यदि वेद के अर्थ उस कसौटी पर सही उतरते हैं तभी वे सत्य-विद्या के प्रकाशक हैं। स्वामी दयानन्द ईश्वर के अनुग्रह से ऐसा वेदभाष्य करने का संकल्प करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि आर्यों, ऋषि-मुनियों की जो सनातन व्याख्या-पद्धति है उसका आश्रय लेकर मेरे द्वारा मन्त्रों के अर्थ किये जायेंगे[2] उसके लिए वे अनेक बार विघ्न-निवारण के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।[3]

४. पाश्चात्त्य विद्वान् और स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द ने कितने ही प्रसङ्गों में पाश्चात्त्य विद्वानों के मत का निराकरण किया है। उन स्थानों में कहीं-कहीं उनके मतों का स्पष्टतः उल्लेख किया गया है, कहीं केवल निराकरण मात्र ही, इसी प्रकार कहीं-कहीं किन्हीं पाश्चात्त्य विद्वानों के नाम का उल्लेख किया गया है और कहीं केवल यूरोप-खण्ड-निवासी इत्यादि शब्दों के द्वारा उनका बोध कराया गया है।

सायण आदि के भाष्यों का दोष दिखलाते हुए उन्होंने कहा है—जो रावण, उवट, सायण, महीधर आदि ने वेदार्थ के विरुद्ध भाष्य किये हैं और जो इनका अनुसरण करके इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि देशों में उत्पन्न यूरोपखण्ड के निवासियों ने स्वल्प व्याख्यान किए हैं और उसी प्रकार आर्यावर्त्त देश के किन्हीं जनों ने उनका अनुसरण करके लोक-भाषा में व्याख्यान किये हैं या किए जा रहे हैं, वे सब अनर्थों से भरे हैं, यह सब सज्जनों के हृदय में यथावत् प्रकाश हो जायेगा।[4]

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में कई स्थलों पर सामान्यतः यूरोपखण्डवासी विद्वानों के मत का उल्लेख किया है—इस समय के कुछ आर्य और यूरोपखण्डवासी जो कहते हैं कि भौतिक देवताओं का पूजन वेदों में है, वह मिथ्या है। इसी

---

१. द्र०, सत्यार्थ०, समु० ३, पृ० ८० तथा आगे।

२. मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः।
ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥
आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥
ऋग्वेदादि०, पृ० १।

३. द्र०, वही, पृ० ३, ७ (सं०)

४. वही, पृ० ३६४ (सं०)।

प्रकार बहुत से यूरोपखण्डवासी कहते हैं कि पहले आर्य भौतिक देवताओं की पूजा करते थे। उनकी पूजा करते करते फिर बहुत काल पश्चात् उन्होंने परमेश्वर को पूज्य जाना था, यह भी ठीक नहीं।[1] अन्य स्थलों पर भी उन्होंने यूरोप-देशनिवासियों के वेद-सम्बन्धी व्याख्यानों को ठीक नहीं बतलाया।[2] कई स्थलों पर इंग्लैण्ड आदि देशों का नाम भी लिया है। सायण आदि कृत भाष्यों के दोषों का उल्लेख करते हुए कहा है—उसी से आर्य भाषा तथा इंग्लैण्ड की (अंग्रेजी) भाषा आदि में किये गए व्याख्यान का भी खण्डन समझना चाहिए।[3] इसी प्रकार ऋग्वेद भाष्य के नमूने के अङ्क में उन्होंने अंग्रेजी भाषा की व्याख्याओं के दोषों की ओर संकेत किया है।[4] ऋग्वेद के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए कई स्थलों पर विलसन के वेदार्थ का भी खण्डन किया है।[5] वेदार्थ के विषय में ही नहीं, वेद के विषय में भी विलसन आदि के मन्तव्यों का निराकरण किया है। उदाहरणार्थ—वेद मनुष्यकृत हैं, इस मन्तव्य का निराकरण ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में किया है।[6] आर० ग्रिफ़िथ (तत्कालीन प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज बनारस) के आक्षेपों के उत्तर में लिखे गये पत्र में उन्होंने विलसन के साथ-साथ मैक्समूलर के भाष्य को भी युक्तियुक्त नहीं माना। उन्होंने कहा है—"उवट, सायण, महीधर, रावण आदि के रचे हुए भाष्य प्राचीन भाष्यों से सर्वथा विपरीत हैं। केवल इन्हीं भाष्यों का उल्था अंग्रेजी में विलसन और मैक्समूलर आदि प्रोफेसरों ने किया है। इसीलिए मैं उनके भाष्यों को भी शुद्ध और न्यायकारी नहीं कह सकता।"[7]

मैक्समूलर के वेदार्थ-विषयक कई मत उन्होंने प्रस्तुत किये हैं और उनका निराकरण भी किया है। उदाहरणार्थ—'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—"भट्टमोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक ठीक नहीं जाना है।"[8] दूसरे स्थल पर वे कहते हैं—इस प्रकार भट्टमोक्षमूलर ने ऋग्वेद के अंग्रेजी व्याख्यान में जो अश्व पशु

---

१. द्र०, वही, पृ० ८० (सं०)।
२. द्र०, वही, पृ० ८८ (आर्यभाषा)।
३. तेनैवार्येङ्गलैण्डभाषादिनिर्मितस्य व्याख्यानस्यापि खण्डनं बोध्यम्। ऋग्वेदभाष्य नमूने का अङ्क, द०ल०, पृ० १४६।
४. वही, पृ० १५१ (सं०)।
५. द्र०, वही, पृ० १४७ (सं०); १५३ (सं०); १५५ (सं०); १५७ (सं०); १६१ (सं०) इत्यादि।
६. ऋग्वेदादि०, पृ० २९।
७. द०प०, पृ० १७७।
८. ऋग्वेदादि०, पृ० ८८।

का ही ग्रहण किया है वह भ्रान्तिमूलक ही है। सायणाचार्य ने इस मन्त्र की व्याख्या में आदित्य का ग्रहण किया है। अतः उनकी व्याख्या एक अंश में ठीक है। किन्तु पता नहीं भट्टमोक्षमूलर ने यह अर्थ आकाश से लिया या पाताल से। इसीलिए अपनी कल्पना से लिखा होगा, यह जानकर प्रमाण के योग्य नहीं है।[1] मैक्समूलर के कुछ मन्तव्यों का उन्होंने नामोल्लेख करते हुए निराकरण किया है। जैसे—वेद मनुष्य-रचित हैं, इस मन्तव्य का निराकरण करते हुए उन्होंने मैक्स-मूलर का भी नाम लिया है।[2] यह भी कहा है—जो भट्टमोक्षमूलर ने बतलाया है कि आर्यों को पहले ईश्वर का ज्ञान नहीं था फिर क्रम से हुआ वह भी शिष्टों के ग्रहण के योग्य नहीं है।[3]

इनके अतिरिक्त उन्होंने कई स्थलों पर अन्य पाश्चात्त्य विद्वानों के वेदार्थ की भी समीक्षा की है। उनके समक्ष अनेक पाश्चात्त्य विद्वानों के वेदार्थ विद्यमान थे। जैसे—बाप्प, बर्नफ, श्लेगल, विलसन, वेबर, मैक्समूलर इत्यादि।[4] फिर भी, उन्होंने कुछ विद्वानों का नामोल्लेख करके उनके वेदार्थ-सम्बन्धी मन्तव्यों का निराकरण किया है, सभी के मतों का नहीं। ऋग्वेदभाष्य के नमूने के अङ्क को देखकर कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों ने उसके विरोधी भाव प्रकट किये; मुख्यतः आर० ग्रिफ़िथ (प्रिंसिपल, बनारस कॉलेज) तथा सी०एच० टानी (प्रिंसिपल, प्रेजीडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता) के नामों का उल्लेख स्वामी जी ने उनके आक्षेपों का उत्तर देते हुए किया है। और, यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनका अपना भाष्य वेदार्थबोधक है तथा प्राचीन व्याख्याकारों के अनुकूल है।[5] स्वामी जी ने आर० ग्रिफ़िथ तथा सी० एच० टानी का नाम भ्रान्ति-निवारण की भूमिका में भी दिखलाया है।[6] भ्रान्ति-निवारण में पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न के प्रश्नों का उत्तर देते हुए वे कहते हैं—"पण्डित जी आर० ग्रिफिथ साहब और सी० एच० टानी साहबों के पीछे-पीछे चलते हैं सो इसका कारण यह है कि पण्डित जी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है, और उक्त साहबों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उल्थे अंग्रेजी में देख लिये होंगे।[7]"

---

१. द्र०, वही, पृ० १८५ (सं०)।
२. वही, पृ० २६।
३. वही, पृ० ८३ (सं०)।
४. द्र०, वेदभाष्य-सम्बन्धी पत्र, द०ल०, पृ० १८४।
५. द्र०, वही, पृ० १७७-१७६।
६. भ्रान्ति-निवारण, भूमिका, द०ल०, पृ० १६४।
७. वही, पृ० २०५।

वे यह भी कहते हैं—"और डाक्टर एम० (हाग) साहब की अशुद्ध टीका का जो हवाला देते हैं, तो यह पण्डित जी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़कर इधर-उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम० (हाग) साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं।"[1]

इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों के मतों का निराकरण करने के साथ-साथ उन्होंने तत्कालीन भारतीय विद्वानों के वेदार्थ-विषयक मतों की भी समीक्षा की है।

५. तत्कालीन भारतीय विद्वान् और स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द ने अपने समय के भारतीय विद्वानों के वेद-सम्बन्धी मतों की कई अवसरों पर समीक्षा की है। उनमें से शास्त्रार्थ आदि के अथवा उपदेश आदि के अवसरों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यहाँ विशेषकर उन्हीं सन्दर्भों का विवेचन किया जा रहा है जो आज दयानन्दकृत वाङ्मय के नाम से उपलब्ध ग्रन्थों में मिलते हैं।

स्वामी जी ने सायण आदि के भाष्यों तथा पाश्चात्य विद्वानों के वेदार्थों की समीक्षा करते हुए कई स्थलों पर इनका अनुसरण करने वाले अन्य विद्वानों के मतों का भी निराकरण किया है। उदाहरणार्थ—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्ति के कालविषयक पाश्चात्त्यों के मत का निराकरण करते हुए वे कहते हैं—(१) उसी प्रकार लोकभाषाओं में व्याख्या करने वालों ने भी ऐसा कहा है, वह भी भ्रान्ति ही है। (२)[2] इस समय के कुछ आर्य तथा यूरोपखण्डवासी भी कहते हैं कि वेदों में भौतिक देवताओं की पूजा कही गई है, यह भी मिथ्या ही है।[3]

स्वामी जी ने उस समय वेदार्थयत्न[4] में प्रकाशित विचारों का भी अनेक

---

१. वही, पृ० २०७।

२. तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च। ऋग्वेदादि०, पृ० २६।

३. वही, पृ० ८० (सं०)

४. पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार "ऋषि दयानन्द के समय में महाराष्ट्र से 'वेदार्थयत्न' के नाम से ऋग्वेद का एक भाष्य अङ्कों के रूप में छपता था। उसमें संस्कृत, मराठी और अंग्रेजी भाषा में भाष्य छपता था"। द्र०, ऋग्वेदभाष्य, नमूने का अङ्क, द०ल०, पृ० १४६, टि० २।

स्थानों पर निराकरण किया है; जैसे—(१) इन्द्र शब्द का अर्थ शिष्टसंमत नहीं[१]; (२) ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के द्वितीय मन्त्र की व्याख्या वेदार्थयत्न आदि में असङ्गत है।[२] (३) ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के तृतीय मन्त्र का व्याख्यान भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ ईश्वर और पदार्थ विद्या को छोड़ दिया गया है।[३] (४) चतुर्थ मन्त्र के भाष्य में अग्नि शब्द का अर्थ भौतिक अग्नि लिया गया है जो ठीक नहीं; क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है और वह सर्वव्यापक भी नहीं।[४] (५) षष्ठ मन्त्र के भाष्य में कहा है कि इस मन्त्र का वेदार्थयत्न में ठीक व्याख्यान नहीं किया गया।[५]

उन्होंने कतिपय स्थलों पर कुछ भारतीय विद्वानों का नामोल्लेख करते हुए उनके वेद-सम्बन्धी मतों का निराकरण किया है। स्वामी दयानन्द ने जो ऋग्वेद के भाष्य के नमूने का अङ्क प्रस्तुत किया था उस पर पाश्चात्य विद्वानों के साथ-साथ कुछ भारतीय विद्वानों ने भी आक्षेप किये थे। उदाहरणार्थ—(१) पण्डित गुरुप्रसाद हेड-पण्डित ओरियंटल कालिज लाहौर ने वेद के शब्दों के अर्थ-सम्बन्धी, व्याकरण-सम्बन्धी, तथा छन्द-सम्बन्धी कई दोष स्वामी जी के भाष्य में दिखलाये थे। स्वामी जी ने उन सभी दोषों का परिहार किया था।[६] (२) पण्डित हृषीकेश भट्टाचार्य द्वितीय पण्डित ओरियंटल कालिज लाहौर ने व्याकरण-सम्बन्धी दोष दिखलाया था, जिसका परिहार स्वामी जी ने किया था।[७] (३) पण्डित भगवानदास असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत गवर्नमेण्ट कालिज लाहौर ने भी कुछ आक्षेप किये थे जो उपर्युक्त दोनों पण्डितों के समान ही थे और जिनका स्वामी जी ने पृथक् उत्तर देना आवश्यक नहीं समझा।[८] (४) पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न आफीसियेटिंग प्रिंसिपल कलकत्ता ने भी स्वामी जी के वेद-भाष्य के विषय में कुछ आक्षेप किये थे जिनका उत्तर उन्होंने भ्रान्ति-निवारण नामक पुस्तिका में दिया।[९] इस पुस्तिका में स्वामी जी के कुछ मन्तव्य उभर कर सामने आये हैं, जैसे—(क) "अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसा पर्यन्त

---

१. द्र०, वही, पृ० १४७।
२. द्र०, वही, पृ० १५१।
३. वही, पृ० १५३ (सं०)।
४. वही, पृ० १५५ (सं०)।
५. द्र०, वही, पृ० १६०।
६. द्र०, वही, पृ० १८०-८१।
७. वही, पृ० १८१।
८. वही, पृ० १८१।
९. द्र०, भ्रान्ति-निवारण, भूमिका, द०ल०, पृ० १६४-६५।

अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।[१]" (ख) "मेरा मत वेद पर है। इसलिए जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल है उस सबको मानता हूँ, उससे विरुद्ध को नहीं।[२]" (ग) "मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता।[३]" (घ) "अग्नि शब्द से आग और ईश्वर दोनों का ग्रहण है।[४]" इस मन्तव्य का स्वामी जी ने विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है।[५]

वस्तुतः स्वामी दयानन्द के 'ऋग्वेद-भाष्य नमूने का अङ्क' पर आक्षेप करते हुए पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न ने वेदभाष्य-परक एक प्रश्न-पुस्तिका लिखी थी।[६] उसके प्रश्नों का उत्तर देते हुए स्वामी जी ने भ्रान्ति-निवारण नामक पुस्तिका में अनेक वेद-सम्बन्धी अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं और अन्त में ग्रिफ़िथ साहब, पण्डित गुरुप्रसाद और पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न से मिलकर वेदविषय में वार्त्तालाप करने की इच्छा भी प्रकट की है।[७]

काशी में स्वामी दयानन्द का स्वामी विशुद्धानन्द और पण्डित बालशास्त्री आदि से वेद-सम्बन्धी कई विषयों पर जो शास्त्रार्थ हुआ उस का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। उसी सन्दर्भ में स्वामी जी ने राजा शिवप्रसाद के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कुछ वेद-सम्बन्धी मन्तव्य भी प्रकट किये हैं जो भ्रमोच्छेदन नामक लघुग्रन्थ में विद्यमान हैं। इनमें से उल्लेखनीय हैं—(क) प्रश्न—"आप वेद किसको मानते हैं?" उत्तर —"संहिताओं को"।[८] (ख) "वेद स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण हैं।"[९] इसी प्रकार "जितने ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं, वे सब ऋषि मुनि-प्रणीत और संहिता ईश्वरप्रणीत हैं।"[१०] इस मन्तव्य का उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है और यह भी बतलाया है कि केवल संहिता वेद है ब्राह्मण और उपनिषद् नहीं।[११] (ग) वेदों में परा और अपरा दोनों विद्याएँ हैं।[१२] उनके किन्हीं मन्तव्यों

---

१. वही, पृ० १९८।
२. वही, पृ० १९९।
३. वही, पृ० १९९।
४. वही, पृ० २०२।
५. द्र०, वही, पृ० २०१-२३४।
६. द्र०, वही, पृ० १९६।
७. द्र०, वही, पृ० २४०।
८. वही, पृ० २५५।
९. वही, पृ० २५५।
१०. वही, पृ० २५५।
११. द्र०, वही, पृ० २५५-६२।
१२. द्र०, वही, पृ० २६२-६३।

का स्पष्टीकरण भ्रमोच्छेदन के परिशिष्ट (अनुभ्रमोच्छेदन) में भी मिलता है। वहाँ स्वामी जी की ओर से राजा शिवप्रसाद के इतिहासतिमिरनाशक नामक ग्रन्थ में आये कुछ मतों की भी समीक्षा की गई है। वेदों के विषय में स्वामी जी का अनेक भारतीय विद्वानों से विचार-विनिमय हुआ था। इस प्रसङ्ग के कतिपय सन्दर्भ प्रस्तुत अध्याय के प्रथम अनुच्छेद में दिये जा चुके हैं। अन्य सन्दर्भों में भी इसी प्रकार किन्हीं भारतीय विद्वानों के मतों का निराकरण और स्वामी जी के वेद-सम्बन्धी मन्तव्यों का उल्लेख देखा जा सकता है।

६. वेद की प्रामाणिकता में प्रस्तुत किये गये विभिन्न मत

स्वामी दयानन्द ने वेद-नित्यता का प्रतिपादन करते हुए वैदिक दर्शनों के वेद-प्रामाण्य-विषयक मन्तव्य भी दिखलाये हैं। आधुनिक व्याख्याकारों के अनुसार वेद के अनुयायी दार्शनिक सम्प्रदाय वेद-प्रामाण्य के विषय में भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। वैदिक दर्शनों के वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी विचारों को दो वर्गों में रक्खा जा सकता है। न्याय, वैशेषिक और योग—तीनों के अनुसार वेद ईश्वरोक्त होने से ही प्रमाण हैं। इनका अभिप्राय है कि आप्तों का वचन प्रमाण होता है। वेद भी परमाप्त ईश्वर के वचन हैं; अतः वे प्रमाण हैं। न्याय-वैशेषिक तथा योग के अनेक विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया है। यदि आप्तोक्त होने से वेद की प्रामाणिकता है तो वेद परतः प्रमाण होंगे।

दूसरे वर्ग में मीमांसा, सांख्य और वेदान्त को रक्खा जा सकता है। मीमांसा के ग्रन्थों में वेद को अनेक स्थलों पर स्वतः प्रमाण सिद्ध किया गया है। मीमांसासूत्र में ज्ञान तथा वेद के स्वतः प्रामाण्य का बीज मिलता है।[1] शाबर-भाष्य तथा श्लोकवार्त्तिक में इस विषय का विशद विवेचन किया गया है। इनका अभिप्राय है—वेद अपौरुषेय हैं अतः समस्त दोषों से रहित हैं और स्वतः प्रमाण हैं। वेदान्त के ग्रन्थों में वेदों की अपौरुषेयता और नित्यता की व्याख्या मीमांसा की अपेक्षा कुछ भिन्न प्रकार से की गई है। जहाँ मीमांसक की दृष्टि में वेद का कोई कर्त्ता नहीं, वे नित्य हैं और जगत् के समान अनादि हैं; वहाँ वेदान्ती की दृष्टि में संसार स्वरूप से नहीं, प्रवाह से अनादि है। इसी प्रकार वेद भी। ईश्वर सर्वज्ञ है पूर्व-पूर्व सर्ग के समान ही अग्रिम-अग्रिम सर्गों में वेद की रचना किया करता है। वह वेद की रचना में स्वतन्त्र नहीं है। रचना में उसकी स्वतन्त्रता का न होना ही वेद की अपौरुषेयता है।[2] मीमांसा और वेदान्त के

---

१. तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। मीमांसासूत्र, १.१.५।

२. द्र०, वाचस्पतिमिश्र, भामती, ब्रह्मसूत्र, १.१.३।

समान सांख्य भी वेद को स्वतः प्रमाण मानता है। स्वामी दयानन्द सभी दर्शनों का समन्वय करते हैं। उनमें परस्पर कोई वैमत्य नहीं देखते। अतः उन्होंने समान रूप से ही सबका अभिप्राय दिखलाया है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेद-नित्यत्व-विषयक विवेचन में उन्होंने दार्शनिक सम्प्रदायों के वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी मतों का उल्लेख किया है। यह वेद-नित्यता का प्रकरण है अतः स्वामी जी[1] ने जैमिनि के अनुसार केवल वेदों की नित्यता का ही उल्लेख किया है।[2] उन्होंने इस विषय में विचार नहीं किया कि मीमांसा-दर्शन में वेदों का प्रामाण्य किस आधार पर माना गया है। वैशेषिक के मत का निरूपण करते हुए स्वामी जी ने 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' यह वैशेषिक-सूत्र[3] उद्धृत किया है। इस का अर्थ करते हुए वे कहते हैं—उन दोनों धर्म और ईश्वर के कथन से अर्थात् धर्म का कर्त्तव्य रूप में प्रतिपादन करने से तथा ईश्वरोक्त होने से आम्नाय=वेदचतुष्टय का प्रामाण्य सबको नित्य रूप से स्वीकार करना चाहिए। इस वचन को स्वामी जी ने वेद की नित्यता सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के भाषार्थ से भी यही विदित होता है। वैशेषिक-सूत्रों के उपस्कार-भाष्य आदि से तो यह प्रतीत होता है कि यहाँ वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये दो युक्तियाँ दी गई हैं। एक तो यह कि ईश्वर-प्रणीत होने से वेद-प्रमाण हैं। दूसरी, यह कि धर्म का प्रतिपादन करने से वेद प्रमाण हैं।[4]

गौतम मुनि ने वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये कहा है—मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्,[5] अर्थात् मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान उस (वेद) का भी प्रामाण्य है, आप्तों का प्रामाण्य होने से। इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी जी कहते हैं—इसका यह अर्थ है: उन नित्य तथा ईश्वरोक्त वेदों का प्रामाण्य सबको स्वीकार करना चाहिए। क्यों? आप्तों का प्रामाण्य होने से। क्योंकि धर्मात्मा, कपट-छल आदि दोष रहित, दयालु,

---

१. ऋग्वेदादि० में जिस क्रम से वैदिक दर्शनों के मत का निरूपण किया गया है उसी क्रम से यहाँ विवेचन किया जा रहा है।

२. द्र०, ऋग्वेदादि०, पृ० ३५।

३. वैशेषिक-सूत्र, १.१.३।

४. तथा च तद्वचनात्तेनेश्वरेण प्रणयनादाम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्। यद्वा तदिति सन्निहितं धर्ममेव परामृशति तथा च धर्मस्य वचनात् प्रतिपादनात् आम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्, यद्धि वाक्यं प्रामाणिकमर्थं प्रतिपादयति तत्प्रमाणमेव यत इत्यर्थः। वैशेषिकसूत्रोपस्कार, १.१.३।

५. न्यायसूत्र, २.१.६९।

सत्य का उपदेश करने वाले त्रिद्यापारंगत, महायोगी सभी ब्रह्मा आदि आप्तों ने वेदों का प्रामाण्य स्वीकार किया है। किस प्रकार? मन्त्र, आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान, जैसे सत्य पदार्थ-विद्या के प्रकाशक मन्त्रों अर्थात् विचारों की सत्य होने से प्रामाणिकता होती है। और, जैसे आयुर्वेद के एक भाग में कहे गये औषध के सेवन से रोग की निवृत्ति हो जाने के कारण उसके दूसरे भाग की भी प्रामाणिकता मानी जाती है उसी प्रकार वेदोक्त अर्थ के एक भाग का प्रत्यक्ष हो जाने से अन्य जो वेद भाग है, जिसके अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, उसका भी प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये।[1]

स्वामी जी की इस व्याख्या में वात्स्यायनभाष्य की अपेक्षा कुछ भिन्नता सी प्रतीत होती है। संभवतः यहाँ स्वामी जी ने 'ईश्वरोक्तानाम्' पद वेदों की नित्यता का बोध कराने के लिये जोड़ दिया है; क्योंकि यह वेदनित्यता का ही प्रकरण है। 'आप्तप्रामाण्यात्' शब्द की व्याख्या स्वामी जी की अपनी प्रतीत होती है, जिसका भाव है—क्योंकि आप्तों ने वेदों का प्रामाण्य स्वीकार किया है अतः सभी को इनका प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये। उनकी अग्रिम व्याख्या से तथा हिन्दी अर्थ से भी यही भाव प्रकट होता है।[2]

इस सूत्र के भाष्य का कुछ अंश भी स्वामी जी ने उद्धृत किया है। उसका आशय यह है—द्रष्टा और प्रवक्ता की समानता होने से वेद के प्रामाण्य का अनुमान होता है। जो आप्त जन वेद के अर्थ के द्रष्टा तथा प्रवक्ता हैं वे ही आयुर्वेद आदि के (प्रवक्ता) हैं। इसलिये आयुर्वेद आदि के समान वेदों के प्रामाण्य का भी अनुमान कर लेना चाहिये।[3] अन्त में अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए स्वामी जी कहते हैं जिस प्रकार आप्तों द्वारा उपदिष्ट शब्द प्रमाण होता है उसी प्रकार सर्वथा आप्त जो परमेश्वर है उसके द्वारा उपदिष्ट वेदों को सब आप्त पुरुषों ने प्रमाण माना है, अतः वेद प्रमाण हैं यह जानना चाहिए।[4]

न्याय-वैशेषिक की दृष्टि में आप्तवचन होने से ही कोई शब्द प्रमाण होता है। वेद ईश्वरोक्त है और ईश्वर तो परम आप्त है, अतः वेद प्रमाण है। जैसा कि वात्स्यायन मुनि ने कई बार कहा है, वेदों के प्रामाण्य का अनुमान

---

१. ऋग्वेदादि०, वेदनित्यत्व, पृ० ३७ (सं०)।
२. द्र०, वही, पृ० ३७-३८।
३. वही, पृ० ३७ (सं०)।
४. वही, पृ० ३७ (सं०)।

किया जाता है।[१] अनुमान का प्रकार है—वेद प्रमाण हैं, क्योंकि वे परम आप्त ईश्वर के वचन हैं।

योग में भी इसी प्रकार वेदों का प्रामाण्य स्वीकारा गया है। योग के 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'[२] इस सूत्र को उद्धृत करते हुए स्वामी दयानन्द ने इसकी व्याख्या की है और वेद की नित्यता दिखलाई है। साथ ही योग के ईश्वरविषयक दो अन्य सूत्रों[३] का आधार लेकर योग की दृष्टि में वेद के प्रामाण्य का निरूपण किया है। उनका कथन है—"वह (ईश्वर) अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी वासनाओं के भोगों से अलग है जिसमें अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।[४]"

यहाँ भी वेदों के प्रामाण्य (सत्यार्थपना) में दो हेतु स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं—एक ईश्वर का क्लेश आदि दोषों से अलग होना और दूसरा उसमें नित्य निरतिशय ज्ञान होना। व्यासभाष्य आदि के अनुशीलन से भी यही विदित होता है कि ईश्वरीय ज्ञान होने से ही शास्त्र प्रमाण है।[५]

सांख्य का मत दिखलाते हुए दयानन्द ने 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्'[६] यह सांख्यसूत्र उद्धृत किया है। और, कहा है—इसका अर्थ है निज शक्ति से अभिव्यक्त होने से अर्थात् पुरुष (परमेश्वर) के साथ रहने वाली प्रकृति के सामर्थ्य से प्रकट होने के कारण वेदों का स्वतः प्रामाण्य तथा नित्यत्व स्वीकार करना चाहिये।[७] यहाँ यह स्पष्ट है कि सांख्य की दृष्टि में वेदों का स्वतः प्रमाण्य है। उसमें हेतु है 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः'। सांख्यसूत्र के इस पद की व्याख्याकारों ने विभिन्न व्याख्याएँ की हैं। दयानन्द की उपर्युक्त व्याख्या के साथ उन व्याख्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से सांख्य का एतद्विषयक मन्तव्य स्पष्ट हो सकता है।

वेदान्तशास्त्र का मत दिखलाते हुए स्वामी जी ने वेदान्त के दो सूत्र उद्धृत

१. द्र०, वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र, २.१.६६।
२. योगसूत्र, १.२६।
३. वही, १.२४; १.१५।
४. ऋग्वेदादि०, वेदनित्यत्व, पृ० ३८।
५. द्र०, व्यासभाष्य, योगसूत्र, १.२४।
६. सांख्यसूत्र, ५.५१।
७. ऋग्वेदादि०, वेदनित्यत्व, पृ० ३८ (सं०)।

किये हैं।[1] उन्होंने अपनी व्याख्या में बतलाया है—"ईश्वरोक्तत्वात् नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतः प्रामाण्यम्"[2] अर्थात् ईश्वरोक्त होने से तथा नित्य होने से वेदों का स्वतः प्रामाण्य (सभी को मानना चाहिये)। इस से स्पष्ट है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि वे ईश्वरोक्त हैं और नित्य हैं। यह विचारणीय है कि नित्य होने से वेद प्रमाण हैं, क्या ऐसा वेदान्त सम्प्रदाय का अभिमत है।

स्वामी दयानन्द ने वेदों की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए प्रसङ्ग से ही वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी विविध मत दिखलाये हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने जो सूत्र या भाष्यादि उद्धृत किये हैं उनकी व्याख्या में स्वामी जी का प्रचलित व्याख्या से कहीं-कहीं मत-भेद दृष्टिगोचर होता है। इस विषय का स्पष्टीकरण तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा रखता है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि स्वामी जी ने वेद-प्रामाण्य के विषय में अपना मत स्पष्टतः प्रकट किया है।

७. स्वामी दयानन्द की दृष्टि में वेदों का स्वतः प्रामाण्य

ग्रन्थों के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य पर विचार करते हुए दयानन्द कहते हैं—"ये स्वतः प्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्ताः"[3] अर्थात् जो स्वतः प्रमाण मन्त्रसंहिता नामक चार वेद कहे गये हैं। स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में वे लिखते हैं—"चारों वेदों (विद्याधर्मयुक्त ईश्वर-प्रणीत संहिता मन्त्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूँ"[4] इन वचनों से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में वेद स्वतः प्रमाण हैं।

स्वामी जी ने यह भी दिखलाया है कि वेदों के स्वतः प्रामाण्य से क्या अभिप्राय है—"वे स्वयं प्रमाण रूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे चारों वेद हैं।"[5] जैसा कि ज्ञानों के प्रामाण्य पर विचार करते हुए ऊपर दिखलाया गया है, प्रामाण्य के निश्चय के लिये अन्य साधन की अपेक्षा न रखना ही स्वतः प्रामाण्य है। वह स्वतः प्रामाण्य वेदों में भी विद्यमान है। स्वामी जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसी भाव को कई स्थलों पर स्पष्ट किया है। वेदनित्यता के सन्दर्भ में वे कहते हैं—

---

१. शास्त्रयोनित्वात्। ब्रह्मसूत्र, १.१.३; अत एव च नित्यत्वम्। वही, १.३.२९।
२. वही, वेदनित्यत्व, पृ० ३९।
३. ऋग्वेदादि०, ग्रन्थप्रामाण्य०, पृ० ३११।
४. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, २।
५. वही, २।

वेद के प्रामाण्य की सिद्धि के लिये अन्य प्रमाण का ग्रहण नहीं किया जाता। किन्तु अन्य शास्त्रों के प्रमाण को साक्षी के समान समझना चाहिये। क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण है, सूर्य के समान; जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशित होता हुआ संसार के बड़े या छोटे पर्वत आदि से लेकर त्रसरेणु पर्यन्त पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही वेद स्वयं प्रकाश होकर सब (सत्य) विद्याओं को प्रकाशित करता है।[1] यही भाव ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य के प्रसङ्ग में भी प्रकट किया गया है। वहाँ सूर्य के साथ-साथ प्रदीप का दृष्टान्त दिया गया है और अपने मन्तव्य को दृढ़तापूर्वक इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है—"तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यम् स्वीकार्यं सूर्यप्रदीपवत्"[2]—वेदों में वेदों का ही प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिए, सूर्य और प्रदीप के समान। सूर्य और प्रदीप के दृष्टान्त से स्वामी जी दो तथ्यों को प्रकट करते हैं। एक यह कि वेद स्वयं प्रकाश हैं उनके प्रकाश के लिये अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं और दूसरा यह कि वे अन्य सभी विद्याओं के प्रकाशक हैं।[3]

वेदों को स्वतः प्रमाण मानने में हेतु है—उनका भ्रान्तिरहित होना। जैसा कि उपर्युक्त स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश के वचन से विदित होता है, स्वामी जी के मत में चारों वेद निर्भ्रान्ति हैं, अतः स्वतः प्रमाण हैं। कुछ प्रसङ्गों से ऐसा भी प्रतीत होता है कि स्वामी जी ईश्वरोक्त होने से वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हैं। किन्तु यदि ईश्वरोक्त होने से वेदों को प्रमाण माना जाये तो वे स्वतः प्रमाण कैसे हो सकते हैं? फिर तो उनका प्रामाण्य आप्तोक्त होने के कारण ही होगा और नैयायिक के समान परतः प्रामाण्य ही होगा। अतः वेद निर्भ्रान्ति होने से स्वतः प्रमाण हैं, यह स्वामी जी का मन्तव्य प्रतीत होता है।

ठीक है, कि कुछ सन्दर्भों में स्वामी जी ने ईश्वरोक्त होने से या नित्य होने से वेदों को स्वतः प्रमाण बतलाया है, जैसे वेदनित्यता के प्रसङ्ग में वे कहते हैं—"अतः ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतः प्रामाण्यम्"[4]—इसलिये ईश्वरोक्त होने से तथा नित्य होने से वेद स्वतः प्रमाण हैं। ऐसे सन्दर्भों में यह मानना युक्तियुक्त है कि स्वामी जी वेदों के स्वतः प्रामाण्य के हेतु का हेतु बतला रहे हैं। भाव यह है कि वेदों का स्वतः प्रामाण्य तो निर्भ्रान्ति होने के कारण है, और वेद

---

१. ऋग्वेदादि०, वेदनित्यत्व, पृ० ३६ (सं०)।

२. वही, ग्रन्थप्रामाण्य०, पृ० ३११।

३. तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति। वही, पृ० ३११।

४. वही, वेदनित्यत्व, पृ० ३६।

निर्भ्रान्त हैं इसमें दो हेतु हैं—एक तो उनका ईश्वरोक्त होना और दूसरा नित्य होना।

वैदिक दर्शनों में परस्पर मत-भेद है, इस दृष्टि के आधार पर ऐसा समझ लिया जाता है कि न्याय-मत में वेद आप्तोक्त होने से प्रमाण हैं, अतः उनका प्रामाण्य परतोग्राह्य है, और पूर्वमीमांसा के अनुसार वेद नित्य हैं, अपौरुषेय होने से दोष रहित हैं, अतः उनका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। किन्तु ऋषि दयानन्द तो षड्दर्शन का समन्वय करते हैं। उनकी पैनी दृष्टि में षड्दर्शन में मत-भेद नहीं है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी उन्होंने इसी दृष्टि से समन्वय किया है। उनकी दृष्टि में नैयायिक भी ईश्वरोक्त होने से वेदों की निर्दोषता सिद्ध करता है, वस्तुतः वेद निर्दोष होने से ही प्रमाण हैं। अपने अभिमत को स्पष्ट करते हुए दयानन्द कहते हैं—जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ हैं उन्हें स्वतः प्रमाण मानना उचित है जो जीवोक्त हैं वे परतः प्रमाण के योग्य हैं। ईश्वरोक्त होने से चारों वेद स्वतः प्रमाण हैं। क्यों? ईश्वर की वाणी में भ्रम आदि दोष नहीं हो सकते, वह तो सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिमान् है।[1] इस प्रकार दयानन्द की दृष्टि में ईश्वरोक्त होने से तथा नित्य होने से वेद भ्रमादि दोष रहित हैं अतः स्वतः प्रमाण हैं। वेद ईश्वरोक्त होने पर भी नित्य किस प्रकार हैं; इसका अन्यत्र विवेचन किया जा चुका है। न्याय तथा वेदान्त के ग्रन्थों में इस विषय का विशद निरूपण उपलब्ध होता है।

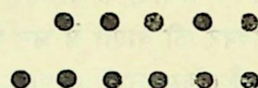
यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि न्याय और मीमांसा में जो वेदों के प्रामाण्य के विषय में मतभेद दृष्टिगोचर होता है वहाँ दृष्टिमात्र का ही भेद है तथ्य का भेद नहीं। न्यायमत में गुणों को प्रामाण्य का निमित्त माना गया है। यहाँ आप्तोक्त या ईश्वरोक्त होने से यह सिद्ध किया जाता है कि आप्तजन पदार्थों का साक्षात्कार करके प्राणियों पर दयादृष्टि रखते हुए उनके हित-प्राप्ति तथा अहितपरिहार के उपायों का उपदेश करते हैं। इस प्रकार आप्तोक्त होने से किसी वचन में यथार्थता गुण का समावेश हो जाता है और वह प्रमाण होता है। मीमांसा की दृष्टि में कोई भी ज्ञान या वचन प्रमाण होता है यदि उसमें दोष न हो। यदि किसी वचन का वक्ता कोई पुरुष होता है तो उसमें दोषों की आशङ्का हो सकती है। दोषाभाव से ही कोई वचन प्रमाण हुआ करता है। वेद तो नित्य हैं किसी ने उन्हें नहीं बनाया, वेद अपौरुषेय हैं अतः उनमें पुरुषकृत दोषों की शङ्का भी नहीं हो सकती, दोषरहित होने से वेद प्रमाण हैं। दोषरहित होना प्रामाण्य का निमित्त तो है किन्तु वह तो अभावरूप है, भावरूप नहीं। और, जहाँ प्रामाण्य के निश्चय के लिये ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न किसी भावरूप साधन की

---

१. वही, ग्रंन्थप्रामाण्य०, पृ० ३११ (सं०)।

अपेक्षा नहीं होती, वहीं ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य माना जाता है। अतः मीमांसक के मत में वेद स्वतः प्रमाण है। दयानन्द ने इस मन्तव्य को अत्यधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है—"वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं"[1]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है—प्राचीनकाल से वेदों की प्रामाणिकता के विषय में वैमत्य होता रहा है। वेद-विरोधियों ने वेद की प्रामाणिता का अनेक युक्तियों से खण्डन किया है। स्वामी जी ने वेद-विरोधियों के आक्षेपों का युक्ति और तर्क के आधार पर निराकरण किया है। साथ ही, भारतीय दर्शन के ग्रन्थों में जो वेद के स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य-सम्बन्धी दो मत उपलब्ध होते हैं उनका समन्वय किया है और अपनी रीति से वेद के स्वतः प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है।



१. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, २।

उपसंहार

१. 'वेद-प्रामाण्य-मीमांसा तथा ऋषि दयानन्द' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ में वेद की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। यद्यपि वेद शब्द का वाच्य क्या है? इस विषय में मत-भेद हैं तथापि यहाँ इस पर ध्यान न देकर यह विचार करना अभीष्ट रहा है कि वेद के अनुयायियों एवं विरोधियों ने वेद-प्रामाण्य के पक्ष या विपक्ष में किन युक्तियों द्वारा क्या मत प्रकट किया है।[1]

२. प्रामाण्य का अर्थ है—प्रामाणिकता या यथार्थता। ज्ञानों की यथार्थता तथा अयथार्थता का विचार प्रामाण्यवाद के नाम से प्रसिद्ध रहा है। इसे प्रामाण्य-मीमांसा भी कहा जा सकता है। ज्ञानों के प्रामाण्य के विषय में भारतीय दर्शन में गहन विचार किया गया है और दार्शनिकों के विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें संक्षेप में दो रूपों में रक्खा जा सकता है—प्रामाण्य का स्वतस्त्व और परतस्त्व।[2]

३. सम्भवतः प्रामाण्य-मीमांसा का उद्‌भव वेद-प्रामाण्य के विवाद से ही हुआ होगा। न्यायमञ्जरी के अनुशीलन से यही प्रतीत होता है। आगे चलकर ज्ञानों के प्रामाण्य पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जाने लगा और प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने प्रामाण्यवाद-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन किया। उसी दृष्टि से वेदप्रामाण्य का भी विचार किया गया। प्रामाण्य के विषय में पूर्व कोटि है कि ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते हैं और अपर कोटि है कि ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः होते हैं। इन दोनों कोटियों के मध्य में ही अन्य मतों का समावेश हो जाता है।[3]

४. वेद-प्रामाण्य का अर्थ है वेदवचन प्रमाण है अथवा वेद से प्राप्त ज्ञान प्रमाण है। वेद-प्रमाण है या नहीं यह विवाद नया नहीं है। हाँ, वेद-प्रामाण्य का सुव्यवस्थित विवेचन दर्शन के क्षेत्र में ही हुआ है। भारतीय दर्शन के विविध प्रस्थानों में इस विषय पर युक्तियों तथा प्रमाणों के आधार पर विचार किया गया

---

१. द्र०, यही, १.१।
२. द्र०, यही, १.२।
३. द्र०, यही, १.३।

है। यह विचार उत्तरोत्तर विशद से विशदतर होता गया है। फिर भी वेद-विरोधी या वेद-वादी की युक्तियों पर अग्रिम अनुसन्धान अपेक्षित है।[१]

५. वेद-प्रामाण्य-मीमांसा-सम्बन्धी इस ग्रन्थ में वेदों से लेकर आधुनिक युग तक के वेद-प्रामाण्य-विषयक वचनों एवं विचारों को दृष्टि में रक्खा गया है, वेद-प्रामाण्य-विषयक युक्तियों एवं प्रतियुक्तियों का विवेचन किया गया है; किन्तु उनकी समीक्षा नहीं की गई। वस्तुतः वादी-प्रतिवादियों की युक्तियों में ही एक दूसरे की आलोचना एवं प्रत्यालोचना उपलब्ध हो जाती है। उसी के आधार पर अपने विवेक से वेदों की प्रामाणिकता का निर्धारण करना युक्तिसंगत है।[२]

६. वैदिक वाङ्मय के तीन भाग माने जाते हैं मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यक एवं उपनिषद्। इन तीनों के आधार पर वेद-प्रामाण्य पर पृथक्-पृथक् विचार करना उचित प्रतीत होता है।[३]

७. वेद-मन्त्रों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि यहाँ मन्त्रों को विविध अर्थों का बोधक बतलाया गया है। वेदप्रतिपादित अर्थ को जानने योग्य कहा गया है और वेदोक्त कर्म को कर्त्तव्य रूप में कहा गया है। इससे परिणाम निकलता है कि मन्त्रों में वेद की प्रामाणिकता की ओर संकेत किया गया है। हाँ, इस विषय का व्यवस्थित विवेचन नहीं किया गया।[४]

८. ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऋग्वेद आदि की प्रामाणिकता स्वीकारी गई है। ऐतरेय तथा गोपथ ब्राह्मण में स्पष्टतः मन्त्रों की सार्थकता का उल्लेख किया गया है। शतपथ के अनेक सन्दर्भों से विदित होता है कि यहाँ विविध यज्ञों तथा अन्य कार्यों में ऋग्वेद आदि की महत्ता स्वीकार की गई है। शतपथ के कुछ स्थलों में 'तदेतदृचाभ्युक्तम्' इस प्रकार अपने कथन का समर्थन करने के लिये वेद को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है। सामवेद-सम्बन्धी ब्राह्मणों में कतिपय प्रसङ्ग ऐसे हैं जिनमें वेद-प्रामाण्य के सङ्केत देखे जा सकते हैं और अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में भी वेदों के ज्ञान, वेद-प्रतिपादित कर्म आदि की महत्ता का वर्णन है। इन सन्दर्भों से विदित होता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार ऋग्वेद आदि भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के हेतु हैं। ये विशेष कर्त्तव्यों के बोधक हैं। यह तभी सम्भव है जब इन्हें प्रमाण माना जाये।[५]

---

१. द्र०, यही, १.४।
२. द्र०, यही, १.५।
३. द्र०, यही, २.१।
४. द्र०, यही, २.२।
५. द्र०, यही, २.३।

९. उपनिषदों में विविध आख्यायिकाओं द्वारा आत्मविद्या का प्रतिपादन करते हुए स्थान-स्थान पर मन्त्रों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है। अपने कथन के समर्थन के लिये भी 'तदेष श्लोकः', 'तदेतदृचाभ्युक्तम्' आदि कहकर मन्त्रों को उद्धृत किया गया है। मन्त्रों को प्रमाण रूप में उद्धृत करने से यह स्पष्ट है कि उपनिषद् के ऋषि मन्त्रों को प्रमाण मानते हैं। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में वेद को विविध अर्थों का बोधक भी बतलाया गया है। फलतः उपनिषदों की दृष्टि में वेद प्रमाण हैं, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं। हाँ, भारतीय दर्शन के स्रोत रूप उपनिषदों में भी यह नहीं बतलाया गया कि वेद की यह प्रामाणिकता किस आधार पर है।[1]

१०. वेदों के शब्द तथा अर्थ का ठीक ज्ञान कराने के लिये वेदाङ्गों का प्रणयन किया गया है। वेदाङ्ग छः हैं— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः और ज्योतिष। ये सभी वेद के विविध पक्षों को लेकर प्रवृत्त हुए हैं; अतः स्पष्ट ही है कि इनके कर्त्ता वेद को प्रमाण मानते हैं। इसके अतिरिक्त वेदाङ्गों के ग्रन्थों में वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी कतिपय सन्दर्भ भी मिलते हैं।[2]

११. वेद का वह अङ्ग शिक्षा कहलाता है जिसमें वर्ण, स्वर, मात्रा आदि के उच्चारण का प्रकार बतलाया गया है। आज शिक्षा के नाम से अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थों में वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी चर्चा कम दिखलाई देती है। कुछ विद्वानों ने शिक्षा के प्रसङ्ग में प्रातिशाख्यों का भी उल्लेख किया है। वेद-प्रामाण्य के विषय में वहाँ भी चर्चा नहीं की गई है। हाँ, ये सभी ग्रन्थ वेद को प्रमाण मानकर ही प्रवृत्त हुए हैं।[3]

१२. कल्पग्रन्थ वेद-विहित कर्मों का स्पष्ट निरूपण करते हैं। इन ग्रन्थों की रचना सूत्रशैली में की गई है। कल्पग्रन्थ कई प्रकार के हैं; जैसे— श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र आदि। चारों वेदों के पृथक्-पृथक् सूत्र ग्रन्थ हैं। ये वेदों को प्रमाण मानकर ही प्रवृत्त हुए हैं। कतिपय स्थलों पर किसी कर्म का विधान करके वेद को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं, साथ ही यहाँ यज्ञ आदि में मन्त्रों का विनियोग भी दिखलाया गया है। किन्हीं सन्दर्भों में स्मृति की अपेक्षा श्रुति के प्रामाण्य को प्रबल बतलाया गया है। इससे यह विदित होता है कि कल्पसूत्रों में अनेक प्रकार से वेदों की प्रामाणिकता प्रकट की गई है;

---

१. द्र०, यही, २.७।
२. द्र०, यही, ३.१।
३. द्र०, यही, ३.२।

किन्तु यह प्रामाणिकता उन्होंने किस आधार पर स्वीकार की है ? इसका विवेचन वहाँ नहीं किया गया।[1]

१३. वेदाङ्गों में पाणिनि-व्याकरण को रक्खा जा सकता है। यहां वेदों की रक्षा करना व्याकरण का मुख्य प्रयोजन माना गया है और वैदिक शब्दों की व्याकृति भी की गई है; साथ ही विद्वद्वर्ग के लिये वेदाध्ययन को धर्म बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त व्याकरण-विषयक किन्हीं शङ्काओं का समाधान करने के लिये महाभाष्यकार ने वैदिक प्रयोगों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ वेद को प्रमाण माना गया है।

व्याकरण-दर्शन को व्यवस्थित करने वाले भर्तृहरि ने तो अनेक प्रकार से वेद प्रमाण हैं या वेद स्वतः प्रमाण हैं, इस मन्तव्य को प्रकट किया है। उदाहरणार्थ उनकी दृष्टि में स्मृतियों का आधार वेद ही हैं। वेद और तदाश्रित स्मृतियाँ ही धर्म की बोधक हैं। वेद आध्यात्मिक तत्त्वों का भी बोधक है। इस प्रकार के मन्तव्यों से यह स्पष्ट ही है कि भर्तृहरि की दृष्टि में वेद परम प्रमाण है। उन्होंने कई स्थलों पर वेद को अनादि, नित्य और अकर्तृक भी कहा है; किन्तु इन सब मन्तव्यों का विशद विवेचन नहीं किया।[2]

१४. निरुक्तकार यास्क ने मन्त्र सार्थक हैं, यह प्रतिपादन करते हुए मन्त्रों के कई प्रकार के अर्थ दिखलाये हैं। निरुक्त के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि यास्क की दृष्टि में वेद के मन्त्रों में मनुष्य के विविध कर्त्तव्यों और अधिकारों को स्पष्ट रूप में कहा गया है, मन्त्रों में ब्रह्मविद्या का भी प्रतिपादन है। इस विषय में मत-भेद हो सकता है अतः अग्रिम अनुसन्धान अपेक्षित है।

यास्क की किन्हीं निरुक्तियों से यह विदित होता है कि मन्त्र किसी विशेष अर्थ का बोध कराते हैं। यास्क वेद-मन्त्रों के अर्थ में भासित होने वाले विरोधों को भी दूर करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि वेद के वचन से विरोधाभासों का भी निराकरण हो जाता है। इस प्रकार उन्होंने अनेक प्रकार से वेद की प्रामाणिकता दिखलाई है; किन्तु वेद प्रामाणिक क्यों है ? यह नहीं दिखलाया।[3]

१५. छन्दः शास्त्र वेदाध्ययन के लिये प्रवृत्त हुआ है। इससे यह विदित

---

१. द्र०, यही, ३.३।
२. द्र०, यही, ३.४।
३. द्र०, यही, ३.५।

होता है कि वहाँ वेद की प्रामाणिकता स्वीकारी गई है। हाँ, छन्दः शास्त्र के ग्रन्थों में वेद के प्रामाण्य का उल्लेख नहीं मिलता।[1]

१६. ज्योतिषशास्त्र को वेद का चक्षुः कहा गया है। सूर्यसिद्धान्त में इसे वेदाङ्गों में श्रेष्ठ बतलाया गया है। इससे यह तो स्पष्ट है कि यह शास्त्र वेद को प्रमाण मानकर प्रवृत्त हुआ है, किन्तु यहाँ वेदप्रामाण्य का विश्लेषण नहीं किया गया।[2]

१७. वेदाङ्गों के पश्चात् इतिहास, पुराण, आयुर्वेद, राजनीति, अर्थशास्त्र नाट्यविद्या आदि के ग्रन्थों में वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी सन्दर्भों का अनुसन्धान किया जा सकता है। यहाँ स्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराण, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भरत का नाट्यशास्त्र आदि के आधार पर यह विवेचन किया गया है। क्रम के विषय में सामान्य बुद्धि का ही आश्रय लिया गया है, काल-क्रम आदि का नहीं।[3]

१८. स्मृतियाँ वेद को प्रमाण मानकर प्रवृत्त हुई हैं। वेदप्रतिपादित अर्थ का विश्लेषण करने के कारण ही स्मृतियों को प्रमाण माना जाता है। मनुस्मृति आदि में बतलाया गया है—वेद हीं धर्म का मूल है, यही धर्म में परम प्रमाण है, श्रुतिप्रामाण्य से विद्वान् अपने धर्म का अनुष्ठान करें, इत्यादि। यहाँ वेद का विरोध करने वाले की निन्दा की गई है और वेदाध्ययन पर बल दिया गया है, वेद को सकल पुरुषार्थ-सिद्धि का साधन कहा गया है, और बतलाया गया है कि यह अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों का द्वार है। इस प्रकार वेद की प्रामाणिकता का अनेकशः निरूपण करते हुए भी मनुस्मृति में यह नहीं दिखलाया गया कि वेद-प्रामाण्य का आधार क्या है।

अन्य स्मृतियों में याज्ञवल्क्य स्मृति प्रमुख है। यहाँ वेद को सभी शास्त्रों का स्रोत कहा गया है और धर्म-ज्ञान का प्रमुख आधार भी; साथ ही वेदाध्ययन की महत्ता दिखलाई गई है। यहाँ भी यह नहीं बतलाया गया कि वेद को क्यों प्रमाण माना जाये? अन्य स्मृतियों में भी वेद की महिमा, वेदाध्ययन की प्रेरणा, वेदोक्त कर्म के आचरण की महत्ता आदि का कथन किया गया है और स्मृति तथा पुराण आदि की अपेक्षा वेद को बलवत् प्रमाण माना गया है। फिर भी

---

१. द्र०, यही, ३.६।

२. द्र०, यही, ३.७।

३. द्र०, यही, ४.१।

स्मृतिकारों ने यह नहीं विचार किया कि यह प्रामाण्य किस आधार पर है। सम्भवतः परम्परागत धारणा का ही यहाँ निरूपण किया गया है।[१]

१६. वाल्मीकि रामायण को आदिकाव्य माना जाता है, साथ ही इसे इतिहास आदि में भी प्रमुख स्थान दिया जाता है। इसके विविध सन्दर्भों से विदित होता है कि रामायण काल में सभी प्रकार के व्यक्तिगत तथा सामाजिक कर्त्तव्यों के ज्ञान के लिये वेदों का आश्रय लिया जाता था। किसी विशिष्ट विषय के ज्ञान के लिये भी विशेष वेद का महत्त्व समझा जाता था। वेद-ज्ञान की प्रामाणिकता स्वीकारी जाती थी। फिर भी वेद को क्यों प्रामाणिक माना जाता था? इसका विवेचन वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध नहीं होता।[२]

२०. महाभारत में वेद-विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। इसके अनुसार अर्थज्ञानपूर्वक वेदाध्ययन करना ही उपयोगी है। यहाँ वेद के प्रतिपाद्य विषय का विचार करते हुए कहा गया है कि वेदों में विविध विषयों का प्रतिपादन है। महाभारत का वचन है—'वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्'। यहाँ अनेक रूपों में वेद की प्रामाणिकता दिखलाई गई है; जैसे वेद की महत्ता का निरूपण करके, वेद को प्रमाण न मानने वालों की निन्दा करके तथा महाभारत को वेद के तुल्य बतलाकर। कहीं-कहीं तो स्पष्ट कहा गया है कि वेद प्रमाण हैं—'वेदाः प्रमाणं लोकानाम्'। वेद क्यों प्रमाण हैं? इसकी ओर भी अस्पष्ट-सा संकेत किया गया है, फिर भी यहाँ वेद की प्रामाणिकता का आधार क्या था? वेद का विरोध क्यों किया गया था? इसका स्पष्ट विवेचन दृष्टिगोचर नहीं होता।[३]

महाभारत का विशिष्ट रत्न जो श्रीमद्भगवद्गीता है, उसमें भी अनेक स्थलों पर वेदसम्बन्धी विचार प्रकट हुए हैं जिनसे प्रतीत होता है कि यहाँ वेदों की प्रामाणिकता स्वीकारी गई है। हाँ, कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी हैं जिनसे यह समझा जा सकता है कि यहाँ वेदों का तिरस्कार किया गया है। वस्तुतः ऐसे प्रसङ्गों में ज्ञान और भक्ति आदि की महत्ता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करना ही ग्रन्थकार का उद्देश्य है।[४]

२१. श्रीमद्भागवत आदि पुराण भी वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करते ही हैं। यहाँ वेद के आख्यानों की व्याख्या की गई है, वेदमत प्रस्तुत किये

१. द्र०, यही, ४.२।
२. द्र० यही, ४.३।
३. द्र०, यही, ४.४।
४. द्र०, यही, ४.४।

गये हैं, वेद को विद्वानों का नेत्र भी कहा गया है। साथ ही पुराणों का महत्त्व दिखलाने के लिये उन्हें वेदों की आत्मा कहा गया है। पुराणों में वेदों तथा वेदोक्त धर्मों की प्रशंसा भी की गई है। इसके विपरीत वहाँ कुछ ऐसे भी सन्दर्भ हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वहाँ वेदों की निन्दा की जा रही है; किन्तु इसका आधार साम्प्रदायिक दृष्टिकोण कहा जा सकता है अथवा वेद-बाह्य दृष्टि से ही ऐसा किया गया है। वस्तुतः पुराणों में वेद को धर्माधर्म में परम प्रमाण तथा सब शास्त्रों का मूल माना गया है। सम्भवतः, परम्परा का अनुसरण ही इसका आधार है।[1]

२२. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा गया है कि त्रयी (ऋक्, यजुस्, साम) में धर्म और अधर्म की व्यवस्था की गई है। वहाँ वर्णों के कर्त्तव्यों एवं राजा और राजा के सहायकों के कार्य-संचालन में भी वेदोक्त ज्ञान को उपयोगी बतलाया गया है। इस प्रकार के सन्दर्भों से यह विदित होता है कि अर्थशास्त्र में वेदों को प्रमाण माना गया है।[2]

२३. चरक-संहिता में अनेक दैनिक कार्यों में वेद का उपयोग दिखलाया गया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार की दृष्टि में वेद विविध ज्ञानों का स्रोत है। वहाँ सत्-असत् की परीक्षा के चार साधनों (आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति) का निरूपण करके बतलाया गया है कि आप्तागम तो वेद है। इससे स्पष्ट है कि चरक में वेद की प्रामाणिकता मानी गई है। इसी प्रकार सुश्रुत के भी कतिपय सन्दर्भों से इसका ज्ञान होता है।[3]

२४. भरत के नाट्यशास्त्र को वेद के तुल्य तथा पञ्चम वेद कहा गया है। इसका स्रोत वेदों को ही बतलाया गया है। यहाँ किन्हीं सन्दर्भों में वेद का प्रमाण रूप में उल्लेख किया गया है। एक सन्दर्भ में तो वेद को तीन प्रकार के प्रमाणों में से एक कहा गया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्रकार की दृष्टि में वेद प्रमाण है, इसमें सन्देह नहीं।[4]

फिर भी इस प्रकार के ग्रन्थों में वेद-प्रामाण्य के लिये युक्तियाँ नहीं प्रस्तुत की गईं। यह कार्य तो दर्शन के क्षेत्र में ही हुआ।

---

१. द्र०, यही, ४.५।
२. द्र०, यही, ४.६।
३. द्र०, यही, ४.७।
४. द्र०, यही, ४.८।

२५. भारतीय दर्शन को दो वर्गों में रक्खा जा सकता है—एक वैदिक और दूसरे अवैदिक। जो दर्शन-प्रस्थान वेद को प्रमाण मानते हैं, उन्हें वैदिक दर्शन के वर्ग में रखना उचित है; जैसे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा। जो वेद को प्रमाण नहीं मानते, वे अवैदिक दर्शन कहे जा सकते हैं।[1]

२६. अवैदिक या वेद-विरोधी दर्शनों में चार्वाक प्रमुख है। चार्वाक ने अनेक युक्तियों से वेद-प्रामाण्य का विरोध किया है। उसका कहना है कि वेदों में अश्लील एवं असामाजिक कार्य करने का विधान किया गया है, मृतक श्राद्ध जैसे युक्तिविरुद्ध तथा पशुबलि जैसे घृणित एवं नृशंस कार्यों का विधान है, साथ ही वेदवचन अस्पष्ट तथा निरर्थक भी हैं अतः वेद प्रमाण नहीं हो सकते। वेद के अनुयायी दार्शनिकों ने अपने ढंग से इन आक्षेपों का निराकरण किया है। स्वामी दयानन्द की इस विषय में कुछ नवीन धारणाएँ हैं, जिनका यथास्थान निरूपण किया गया है।[2]

जयराशिभट्ट का तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ, जो आज उपलब्ध है, लोकायत (चार्वाक) सम्प्रदाय का ग्रन्थ माना जाता है। वस्तुतः यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें सभी प्रमाणों तथा प्रमेयों का खण्डन किया गया है। फलतः यहाँ वेद को प्रमाण मानने वाले विविध मतों का भी विस्तार से खण्डन मिलता है। यहाँ दिखलाया गया है कि जो न्याय-वैशेषिक आदि वेद को आप्तोक्त होने से प्रमाण मानते हैं (परतः प्रमाण), और जो मीमांसक आदि उसे स्वतः प्रमाण मानते हैं दोनों का मत ही युक्तियुक्त नहीं है।[3]

२७. आज जिन ग्रन्थों में बुद्ध के उपदेशों का संकलन माना जाता है, उनमें कुछ स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि वेद की महत्ता स्वीकारी गई है। अन्य स्थलों पर कथाओं द्वारा यह प्रकट होता है कि परम प्राचीन काल में यज्ञों में हिंसा नहीं होती थी फिर हिंसा होने लगी। यज्ञ में पशुबलि अनुचित है। कुछ कथाओं से यह भी जाना जाता है कि बुद्ध की दृष्टि में केवल वेद को ही सत्य कहना अन्धपरम्परा है, ब्राह्मण होने के लिये वेद में पारङ्गत होना अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि बुद्ध ने वेदों की प्रामाणिकता के विषय में स्पष्टतः न कहकर भी अपना मत प्रकट कर दिया।[4]

---

१. द्र०, यही, ५.१।
२. द्र०, यही, ५.२ (क)।
३. द्र०, यही, ५.२ (ख)।
४. द्र०, यही, ५.३ (क)।

बुद्ध के अनुयायियों ने तो स्पष्ट रूप में वेद की प्रामाणिकता का विरोध किया ही है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में बतलाया है कि वेद अपौरुषेय नहीं हो सकते और यदि उन्हें अपौरुषेय मान भी लिया जाये तो इससे वे प्रमाण नहीं हो सकते। वस्तुतः वेद के अर्थ का निश्चय ही नहीं हो सकता; फिर वेद प्रमाण कैसे होंगे? वेदोक्त किसी एक बात को सत्य देखकर समस्त वेद की प्रामाणिकता का अनुमान करना तो अनुमानाभास मात्र है। तथ्य तो यह है कि वेद-प्रतिपादित अर्थ मिथ्या देखे जाते हैं अतः वेद प्रमाण नहीं।[1]

शान्तरक्षित ने तत्त्वसङ्ग्रह में बौद्ध के मन्तव्य को और अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने वेद-प्रामाण्य-साधक युक्तियों का खण्डन करते हुए बतलाया है कि अपौरुषेय या नित्य होने से वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती; क्योंकि उनकी अपौरुषेयता या नित्यता ही असिद्ध है। किञ्च, वेद में मिथ्याचार का उपदेश है, प्राणिहिंसा का विधान है; अतः उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है। वेदों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये जो अन्य युक्तियाँ दी गई हैं, उनका भी शान्तरक्षित तथा कमलशील ने खण्डन करने का प्रयास किया है। साथ ही वेद के स्वतः प्रामाण्य का भी निराकरण किया है।[2]

२८. जैन मत के प्रवर्तक महावीर स्वामी के उपदेशों में वेद-प्रामाण्य का निरूपण नहीं मिलता। जैन दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थों में भी यह दृष्टिगोचर नहीं होता। सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार में जो प्रमाणों का लक्षण किया गया है उसकी व्याख्या के प्रसङ्ग में शान्ति नामक आचार्य ने वेद-प्रामाण्य का विवेचन अवश्य किया है। वहाँ बाधवर्जित ज्ञान को प्रमाण माना गया है; किन्तु वेद-प्रतिपादित ज्ञान को बाधवर्जित नहीं स्वीकारा गया। अन्य कुछ आचार्यों ने भी वेद-प्रामाण्य पर विचार किया है।[3]

आचार्य अकलङ्क ने वेद की प्रामाणिकता का खण्डन किया है और दिखलाया है कि अपौरुषेय या नित्य होने से वेद प्रमाण नहीं हो सकते।[4]

प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र में वेद-प्रामाण्य पर विस्तार से विचार किया है। मीमांसक ने जो उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति में वेद का स्वतः प्रामाण्य दिखलाया है, प्रभाचन्द्र ने उसका पैने तर्कों से खण्डन किया है।

---

१. द्र०, यही, ५.३ (ख)।
२. द्र०, यही, ५.३ (ग)।
३. द्र०, यही, ५.४ (क)।
४. द्र०, यही, ५.४ (ख)।

उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि वेदों को अपौरुषेय नहीं माना जा सकता और यदि किसी प्रकार अपौरुषेय मान भी लिया जाये तो भी स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता। उन्होंने युक्तियों द्वारा वेद की अप्रामाणिकता सिद्ध की है और इस विषय में अनुमान भी प्रस्तुत किया है।[1]

वादिराज सूरि ने वेद की अपौरुषेयता और नित्यता का खण्डन किया है और वेद के प्रामाण्य तथा स्वतः प्रामाण्य का विविध युक्तियों द्वारा निराकरण किया है।[2]

मल्लिषेण सूरि ने ईश्वरप्रणीत होने से वेद प्रमाण हैं, इस मत का निराकरण किया है। उन्होंने वेदोक्त अर्थों में विरोध दिखलाया है, नृशंसता दिखलाई है और वैदिकी हिंसा को दोषयुक्त सिद्ध किया है। उन्होंने स्पष्ट बतलाया है कि वेद न अपौरुषेय हैं, न ही सर्वज्ञप्रणीत हैं अतः वे प्रमाण नहीं हो सकते।[3]

२९. न्याय-वैशेषिक के वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करने के लिये न्यायसूत्र-परम्परा और वैशेषिकसूत्र तथा प्रशस्तपाद-भाष्य की परम्परा में लिखे गये ग्रन्थों का अनुशीलन करना आवश्यक है। न्याय-वैशेषिक के स्वतन्त्र ग्रन्थों में भी इस विषय का निरूपण किया गया है। इन सभी के आधार पर काल-क्रमानुसार विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि न्याय-वैशेषिक-परम्परा में वेद प्रामाण्य-सम्बन्धी विवेचन किस प्रकार होता रहा है।[4]

३०. न्यायमत के अनुसार जो चार प्रमाण हैं, उनमें आप्तों के उपदेश को शब्द प्रमाण कहा गया है। शब्द प्रमाण दो प्रकार का होता है—दृष्टार्थक तथा अदृष्टार्थक। जिस उपदेश के अनुसार इसी लोक में अर्थ की प्राप्ति हो जाती है, वह दृष्टार्थक है और जिसके अनुसार अन्य लोक में अर्थ की प्राप्ति होती है वह अदृष्टार्थक है। आप्त, दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक शब्दों की व्याख्या कालक्रम से परिष्कृत होती रही है।[5]

३१. अदृष्टार्थक शब्द की प्रामाणिकता में पूर्वपक्षी की ओर से आक्षेप किया गया है। यह अदृष्टार्थक शब्द शास्त्रवचन है, या केवल वेदवाक्य। इसमें

१. द्र०, यही, ५.४ (ग)।
२. द्र०, यही, ५.४ (घ)।
३. द्र०, यही, ५.४(ङ)।
४. द्र०, यही, ६.१।
५. द्र०, यही, ६.२।

पूर्वपक्षी ने तीन दोष दिखलाये हैं—अनृत, व्याघात और पुनरुक्ति। अनृत का अर्थ है मिथ्या होना। पूर्वपक्षी ने वेद में मिथ्यात्व दोष दिखलाया है। व्याघात का अर्थ है परस्पर-विरुद्ध कथन। ये व्याघात अनेक स्थलों पर दिखलाये गये हैं। पुनरुक्ति का अर्थ है पहले कहे गये शब्द या अर्थ का पुनः कहना। यह भी शास्त्र-वचनों में दिखलाया गया है। पूर्वपक्षी के इस प्रकार के आक्षेपों की टीका-ग्रन्थों में विशद व्याख्या की गई है।[1]

३२. न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य तथा इसकी टीकाओं में पूर्वपक्षी के आक्षेपों का विस्तारपूर्वक निराकरण किया गया है। भाव यह है कि शास्त्र मिथ्या नहीं है, जहां कहीं शास्त्र के वचनानुसार फल नहीं देखा जाता वहाँ कर्त्ता या यज्ञ आदि कर्म में कोई दोष होता है। शास्त्र में व्याघात भी नहीं है। और, जिसे पूर्वपक्षी पुनरुक्ति समझता है, वह वस्तुतः अभ्यास है जो सप्रयोजन है।[2] आक्षेपों का निराकरण करते हुए आचार्यों ने वेद की प्रामाणिकता का आधार भी दिखलाया है।

३३. आप्तप्रणीत होने से वेद प्रमाण हैं, आप्तोक्त होने से वेद की प्रामाणिकता सिद्ध की जाती है। इस प्रकार वेद का प्रामाण्य अनुमान से सिद्ध होता है और वेद परतः प्रमाण हैं। न्यायभाष्य में आप्त की विशेषताएँ बतलाई गई हैं। न्यायवार्त्तिक में दिखलाया गया है कि वेद का कर्त्ता जो आप्त है वह पुरुष-विशेष है—वेद पुरुषविशेष द्वारा प्रणीत हैं अतः प्रमाण हैं। परवर्ती व्याख्याओं से स्पष्ट है कि वह पुरुषविशेष ही ईश्वर है।[3]

३४. अपने मत को प्रकट करते हुए न्याय के ग्रन्थों में अन्य मतों का भी निराकरण किया गया है और बतलाया गया है कि वेद नित्य होने से प्रमाण नहीं माने जाते, अपितु वे ईश्वरप्रणीत हैं, ईश्वर आप्त है अतः वेद आप्तोक्त होने से प्रमाण हैं।[4]

३५. जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में आप्त के स्वरूप की व्याख्या करते हुए वेद-प्रामाण्य का विशद विवेचन किया है। उन्होंने वेद की पौरुषेयता एवं ईश्वर-कर्तृकता का विस्तार से वर्णन किया है, वेद-प्रामाण्य के विषय में मीमांसक के मत का निराकरण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि वेद आप्तोक्त होने से ही

---

१. द्र०, यही, ६.३।
२. द्र०, यही, ६.४।
३. द्र०, यही, ६.५।
४. द्र०, यही, ६.६।

प्रमाण हैं, नित्य होने से नहीं। वेद-प्रामाण्य पर किये गये आक्षेपों का भी उन्होंने निराकरण किया है। किसी मन्तव्य की स्पष्ट एवं विशद व्याख्या करके न्याय के सिद्धान्त को प्रकट कर देना उनकी अपनी विशेषता है।[1]

३६. वैशेषिक-सूत्र में भी कुछ सन्दर्भों में वेद-प्रामाण्य पर विचार किया गया है; जैसे–'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वै० सू०१.१.३), 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै० सू० ६.१.३) और अन्तिम आह्निक के 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वै०सू० १०.२.६) में। इन सूत्रों के उपस्कार भाष्य से यह स्पष्ट है कि यहाँ वेद प्रामाण्य की चर्चा की गई है।

प्रशस्तपादभाष्य में भी वेद-प्रामाण्य के सङ्केत उपलब्ध होते हैं। वैशेषिक-सूत्र तथा प्रशस्तपादभाष्य से यह सङ्केत मिलता है कि यहाँ वेदों का प्रामाण्य अनुमान द्वारा ही माना गया है।[2]

३७. प्रशस्तपादभाष्य के टीकाकारों ने वैशेषिक के मत को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यद्यपि व्योमशिव, श्रीधर तथा उदयन आदि की व्याख्या में कुछ भेद प्रतीत होता है तथापि सभी की दृष्टि में वेद का प्रामाण्य अनुमान से निश्चित किया जाता है। अतः वेद परतः प्रमाण हैं, स्वतः प्रमाण नहीं।[3]

३८. न्यायवैशेषिक के स्वतन्त्र ग्रन्थों में भी वेद-प्रामाण्य का निरूपण किया गया है। भासर्वज्ञ के न्यायसार में आप्तवचन होने से अनुमान के द्वारा ही वेद-प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। उनके विवेचन में किसी अंश में मीमांसा का प्रभाव परिलक्षित होता है। उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि में महाजनों द्वारा गृहीत होने के कारण वेद की प्रामाणिकता दिखलाई है। कुसुमाञ्जलि की विविध टीकाओं में इसकी विशद व्याख्या की गई है। गङ्गेश उपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि में आप्तोक्त होने से ही वेद-प्रामाण्य की सिद्धि की है और विस्तार से वेद-नित्यता का निराकरण किया है। केशवमिश्र ने तर्कभाषा में न्याय-वैशेषिक के मत का सारांश मात्र दिया है। विश्वनाथ ने न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में तात्पर्यज्ञान को भी शाब्दबोध का कारण माना है और वेद में ईश्वर का तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध का निमित्त होता है, यह बतलाया है।[4]

---

१. द्र०, यही, ६.७।
२. द्र०, यही, ६.८।
३. द्र०, यही, ६.६।
४. द्र०, यही, ६.१०।

३९. सांख्य में आज दो परम्पराएँ प्रचलित हैं—एक सूत्र-परम्परा और दूसरी कारिका-परम्परा। सांख्य-सूत्र तथा उस पर उपलब्ध व्याख्याओं में वेद-प्रामाण्य का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। कारिका-परम्परा में कुछ टीकाकारों ने आप्तवचन की व्याख्या के प्रसङ्ग में वेद-प्रामाण्य का उल्लेख किया है। योग-सूत्र की परवर्ती व्याख्याओं में वेद-प्रामाण्य की अधिक चर्चा है। सांख्य-योग के स्वतन्त्र ग्रन्थों में इसका निरूपण कम हुआ है।[1]

४०. सांख्य-सूत्र में वेद का स्वतः प्रामाण्य बतलाया गया है। अनिरुद्धवृत्ति में अपौरुषेय होने से वेदवाक्यों को युक्त माना गया है तथा उनकी प्रामाणिकता स्वीकारी गई है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचनभाष्य में सांख्य-सूत्र की विस्तृत व्याख्या की है और दिखलाया है कि वेद किस प्रकार स्वतः प्रमाण है।[2]

४१. सांख्यकारिका में आप्तवचन नामक प्रमाण का उल्लेख तो है; किन्तु वेद-प्रामाण्य की चर्चा नहीं। माठरवृत्ति में दोषरहित होने से वेद-वाक्यों का आप्तवचन में समावेश किया गया है। युक्तिदीपिका में अपौरुषेय होने से वेदवचन को दोष-रहित तथा प्रमाण बतलाया गया है। वाचस्पतिमिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में स्पष्टतः यह उल्लेख किया है कि अपौरुषेय वेद-वाक्यों से जो ज्ञान होता है उसमे दोषों की शङ्का भी नहीं हो सकती है; अतः वह स्वतः प्रमाण है।[3]

४२. योगसूत्र में तीन प्रमाणों में आगम-प्रमाण का भी उल्लेख है। योगभाष्य में आगम-प्रमाण का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साथ ही ईश्वर के निरूपण में वेद-प्रामाण्य एवं उसके आधार की ओर भी कुछ सङ्केत है। उसे स्पष्ट करते हुए वाचस्पतिमिश्र ने ईश्वर-प्रणीत होने से ही वेद की प्रामाणिकता सिद्ध की है। योगभाष्यविवरण से भी यही प्रतीत होता है कि विवरणकार की दृष्टि में ईश्वर-प्रणीत होने से शास्त्र प्रमाण है। इसी प्रकार का अर्थ योगसूत्र की अन्य टीकाओं में उपलब्ध होता है।[4]

४३. सांख्य-योग में वेद को प्रमाण मानते हुए भी वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञानकाण्ड को श्रेयस्कर समझा गया है। 'दृष्टवदानुश्रविकः' इत्यादि की व्याख्या करते हुए प्रायः सभी व्याख्याकारों ने दिखलाया है कि वैदिक कर्मकलाप यज्ञ आदि में हिंसा का अंश होने से वे विशुद्ध नहीं कहे जा सकते, ज्ञान का मार्ग

---

१. द्र०, यही, ७.१।
२. द्र०, यही, ७.२।
३. द्र०, यही, ७.३।
४. द्र०, यही, ७.४।

इस प्रकार के दोष से रहित है; अतः वही कर्मकाण्ड से अधिक अच्छा है। सांख्यसूत्र में यज्ञ की हिंसा को पापजनक बतलाया गया है। इसी प्रकार योगभाष्य में भी यह प्रकट किया गया है कि यज्ञ में की गई हिंसा भी अनर्थकरी होती है।[१]

४४. मीमांसासूत्र, शाबरभाष्य तथा कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्त्तिक और उसकी टीकाओं एवं प्रभाकर सम्प्रदाय के प्रायः सभी ग्रन्थों में वेद-प्रामाण्य की चर्चा उपलब्ध होती है।[२]

४५. मीमांसासूत्रों में वेद-प्रामाण्य किंवा वेद के स्वतः प्रामाण्य का सङ्केत मिलता है। वहाँ वेद की अर्थ-बोधकता, यथार्थ-बोधकता तथा अपौरुषेयता आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। साथ ही वेद-प्रामाण्य पर किये गये आक्षेपों का भी निराकरण किया गया है।[३]

४६. शाबरभाष्य में भी वेद-प्रामाण्य पर किये गये आक्षेपों का निराकरण करके दिखलाया गया है कि वेद-वचन में किसी दोष की शङ्का भी नहीं है; अतः वह प्रमाण है। साथ ही वेद स्वतः प्रमाण है, यह भी बतलाया गया है।[४]

४७. शाबर भाष्य में वृत्तिकार के अनुसार जो कुछ सूत्रों की अन्य प्रकार की व्याख्या दिखलायी गई है उसमें भी सभी ज्ञानों का तथा वेद का स्वतः प्रामाण्य स्वीकारा गया है।[५]

४८. कुमारिलभट्ट ने स्पष्ट किया है कि सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं; किन्तु यदि किसी ज्ञान के विषय में कारण-दोष-ज्ञान या बाध-ज्ञान हो जाता है तो वह प्रमाण नहीं माना जाता। वेद तो अपौरुषेय हैं वहाँ कारण-दोष अथवा बाध की सम्भावना ही नहीं, अतः उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्वतः प्रमाण है। उन्होंने वेद-प्रतिपादित ज्ञान को प्रमाण तथा स्वतः प्रमाण सिद्ध करने के लिये कई अनुमान प्रस्तुत किये हैं।

---

१. द्र०, यही, ७.५।
२. द्र०, यही, ८.१।
३. द्र०, यही, ८.२।
४. द्र०, यही, ८.३।
५. द्र०, यही, ८.४।

प्रभाकरमिश्र ने शाबरभाष्य की व्याख्या करते हुए बृहती नामक टीका में वेद-प्रामाण्य-विरोधी अनुमानों का दोष दिखलाया है और वेद-प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है।[१]

४६. शालिकनाथ ने प्रकरणपञ्चिका में प्रभाकर के मतों का स्पष्टीकरण करते हुए वेद-प्रामाण्य पर भी विचार किया है। उन्होंने वेद-प्रामाण्य पर किये गये आक्षेपों का परिहार किया है, वेद की अपौरुषेयता पर बल दिया है और अपौरुषेय होने से वेद का प्रामाण्य तथा स्वतः प्रामाण्य सिद्ध किया है।[२]

५०. मण्डनमिश्र ने मीमांसानुक्रमणिका नामक ग्रन्थ में मीमांसासूत्रों के अधिकरणों का सारांश संक्षेप में दिया है। यहाँ कुमारिल के मतानुसार वेद-प्रामाण्य का संक्षेप में ही निरूपण किया गया है।[३]

५१. पार्थसारथिमिश्र ने कई ग्रन्थों में वेद-प्रामाण्य का निरूपण किया है। शास्त्रदीपिका में संक्षेप से, किन्तु विशद रूप से वेद-प्रामाण्य-विषयक विचार उपलब्ध होते हैं। यहाँ मीमांसा के द्वितीय सूत्र की व्याख्या में यह दिखलाया गया है कि शास्त्र प्रमाण ही हैं। 'औत्पत्तिकसूत्र' की व्याख्या में वेद का स्वतः प्रामाण्य दिखलाया गया है। इस सन्दर्भ में वेद की अपौरुषेयता, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता का विवेचन भी किया गया है। और, यह भी प्रतिपादन किया गया है कि वेद में किसी प्रकार भी पुरुष-सम्बन्ध की शङ्का नहीं की जा सकती।[४]

५२. मानमेयोदय में अन्य मतों की समीक्षा करते हुए प्रमाण तथा प्रमेय के सम्बन्ध में कुमारिलभट्ट के मतों की स्थापना की गई है। यहाँ शब्द प्रमाण तथा ईश्वर के प्रसङ्ग में वेद-प्रामाण्य का निरूपण किया गया है। न्याय-वैशेषिक और प्रभाकर आदि के मतों की आलोचना करते हुए दिखलाया गया है कि वेद अपौरुषेय हैं, उनमें दोषों की सम्भावना नहीं है; अतः वे स्वतः प्रमाण हैं।[५]

५३. वेदान्त के अनेक अवान्तर सम्प्रदाय हैं। वे सभी प्रस्थानत्रयी का आश्रय लेते हैं। उनमें शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद विशेषरूप से प्रसिद्ध है। उसका

१. द्र०, यही, ८.५।
२. द्र०, यही, ८.६।
३. द्र०, यही, ८.७।
४. द्र०, यही, ८.८।
५. द्र०, यही, ८.९।

साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। यहाँ वेदान्त के प्रमुख सम्प्रदायों के आधार पर वेद-प्रामाण्य का निरूपण करना अपेक्षित रहा है।[१]

५४. ब्रह्मसूत्र में 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र है। इससे यह ज्ञात होता है कि शास्त्रकार किसी रूप में वेद-प्रामाण्य की ओर भी सङ्केत कर रहे हैं। फिर भी वेद-प्रामाण्य के विषय में सूत्रकार ने स्पष्ट विवेचन नहीं किया। शङ्कराचार्य के भाष्य के अनुसार यहाँ 'योनि' शब्द का अर्थ है—कारण जिसका अभिप्राय है—प्रमाण। इस प्रकार भाव यह है कि शास्त्र के प्रमाण से ही जगत् के जन्म आदि का कारण होने वाले ब्रह्म को जाना जाता है। इससे वेद की प्रामाणिकता प्रकट होती है। शङ्कराचार्य के कतिपय कथनों से यह भी प्रकट होता है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं।[२]

५५. शाङ्करभाष्य की विविध टीकाओं से अद्वैतवेदान्त के वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी मत का स्पष्टीकरण हो जाता है। पद्मपादाचार्य की 'पञ्चपादिका' में अनेक शङ्काओं का समाधान करते हुए वेद की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है।[३] 'रत्नप्रभा' में वेद के स्वतः प्रामाण्य का उल्लेख किया गया है और 'न्यायनिर्णय' में भी। इन सभी टीकाओं में कुछ नवीन युक्तियों का भी समावेश किया गया है।[४] वाचस्पतिमिश्र की 'भामती' टीका में, संक्षेप में ही सही, ज्ञानों के स्वतः प्रामाण्य का निरूपण किया गया है। उन्होंने विस्तार से यह सिद्ध किया है कि वेद प्रमाण हैं, साथ ही वेद की नित्यता और अपौरुषेयता का वेदान्त की दृष्टि से क्या अभिप्राय है, इसका भी स्पष्टीकरण किया है। और, अन्त में वेद का स्वतः प्रामाण्य दिखलाया है।[५]

५६. जहाँ तक वेदान्त के स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रश्न है, 'विवरणप्रमेयसंग्रह' में सभी ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध किया गया है और इसी से वेद का स्वतः प्रामाण्य भी दिखलाया गया है।[६] वेदान्त-परिभाषा में संक्षेप में; किन्तु स्पष्टतः प्रामाण्यवाद का विवेचन किया गया है। वहाँ ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य दिखलाया गया है और वेद का भी। उसके विवेचन से प्रकट होता है कि वेद-वाक्यों को इसलिए प्रमाण माना जाता है; क्योंकि उनके तात्पर्य का विषय जो अर्थ है उसका

१. द्र०, यही ६.१।
२. द्र०, यही, ६.२।
३. द्र०, यही, ६.३ (क)।
४. द्र०, यही, ६.३ (ख)।
५. द्र०, यही, ६.३ (ग)।
६. द्र०, यही, ६.४ (क)।

किसी प्रमाण से बाध नहीं होता । वे अपौरुषेय हैं अतः उनमें दोषों की आशङ्का भी नहीं हो सकती । 'वेदान्तपरिभाषा' में वेद-प्रामाण्य के सन्दर्भ में वेदान्त के कतिपय अन्य मन्तव्यों का भी निरूपण किया गया है ।[1]

५७. भास्कराचार्य ने वेद-प्रामाण्य का पृथक् रूप से विशद निरूपण नहीं किया है । फिर भी उनके भाष्य से उनका वेद-प्रामाण्य-विषयक मन्तव्य प्रकट होता ही है । भास्कराचार्य ने प्रमाण तथा प्रामाण्य के स्वतस्त्व आदि का विवेचन करते हुए बतलाया है कि अपौरुषेय होने से वेद दोषों से रहित हैं । अज्ञात अर्थ का बोध कराने से वे प्रमाण हैं तथा अपने अर्थ का बोध कराने में वे किसी की अपेक्षा नहीं रखते अतः स्वतः प्रमाण हैं ।[2]

५८. रामानुज ने स्पष्टतः वेद-प्रामाण्य पर विचार नहीं किया । किन्हीं सन्दर्भों से उनके एतद्विषयक विचार जाने जा सकते हैं । 'श्रीभाष्य' पर लिखी गई 'गूढ़ार्थसङ्ग्रह' नामक व्याख्या से विदित होता है कि आचार्य रामानुज को वेद का अपौरुषेयत्व तथा स्वतः प्रामाण्य अभिमत है । रामानुज ने 'वेदार्थसङ्ग्रह' नामक ग्रन्थ में वेदों की अपौरुषेयता और नित्यता का संक्षेप में विवरण दिया है । साथ ही वेद-प्रामाण्य में किये गये कतिपय आक्षेपों का भी परिहार किया है ।[3]

५९. निम्बार्काचार्य ने अपने मन्तव्यों की सिद्धि के लिए अनेक स्थलों पर श्रुति को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है । उन्होंने श्रुति को प्रत्यक्ष के समान माना है, साथ ही वेद और स्मृति के विरोध में वेद प्रमाण होता है, यह भी दिखलाया है । उन सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि वे वेद की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं और वेद को ही सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं; किन्तु किस आधार पर यह स्पष्ट नहीं ।[4]

६०. मध्वाचार्य के कुछ वचनों से उनके वेद-प्रामाण्य-सम्बन्धी मन्तव्य समझे जा सकते हैं । वे वेद को नित्य मानते हैं और कहते हैं कि इसीलिए उनमें दोषों की कल्पना भी नहीं की जा सकती । वे यह भी कहते हैं कि वेद स्वतः प्रमाण हैं । उन्होंने वेद-प्रामाण्य के विषय में की गई शङ्काओं का समाधान किया

१. द्र०, यही, ६.४ (ख) ।
२. द्र०, यही, ६.५ ।
३. द्र०, यही, ६.६ ।
४. द्र०, यही, ६.७ ।

है। इसी प्रकार उनके टीकाकारों ने भी वेद की अपौरुषेयता, नित्यता तथा स्वतः-प्रामाण्य का विवेचन किया है।[1]

६१. वल्लभाचार्य ने भी प्रसङ्ग से ही वेद-प्रामाण्य के विषय में अपना मत प्रकट किया है। वे कहते हैं कि वेद का प्रामाण्य प्रत्येक तन्त्र में स्वीकार किया गया है अतः उसके विचार की आवश्यकता नहीं। वेद-प्रतिपादित अर्थ में सन्देह अथवा बाध का अवसर नहीं; अतः वेद प्रमाण ही हैं। उनके प्रामाण्य की सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती; अतः वे स्वतः प्रमाण हैं।[2]

इस प्रकार प्राचीन वाङ्मय के आधार पर वेद-प्रामाण्य का विचार करके आधुनिक अनुसन्धानों की दृष्टि से भी इस विषय पर विचार करना उचित है।

६२. १८वीं शताब्दी में पाश्चात्त्य विद्वानों ने वेदों के विषय में खोज करना आरम्भ किया। जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि में वेदों के विषय में अनेक मत प्रकट किये जाने लगे। विभिन्न भाषाओं में वेदों के अनुवाद तथा समीक्षाएँ प्रकाशित की जाने लगीं। वेद-प्रामाण्य के विषय में उनके मत का आकलन करने से पूर्व यह विचार करना आवश्यक है कि वेदार्थ के विषय में उनकी क्या धारणाएं रहीं।[3]

६३. पाश्चात्त्य विद्वानों ने ब्राह्मण एवं निरुक्त से लेकर परवर्ती भाष्यों तक का समीक्षात्मक परीक्षण करने का प्रयास किया। उन्होंने उपलब्ध व्याख्याओं की कमियों की ओर ध्यान दिलाया। उन विद्वानों को तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है। कुछ विद्वानों ने प्राचीन भाष्यकारों को अधिक सम्मान दिया। दूसरों ने तुलनात्मक भाषा-वैज्ञानिक और ऐतिहासिक आधार पर वेदों की व्याख्या करना श्रेयस्कर समझा। अन्य विद्वानों ने मध्यम मार्ग स्वीकार किया। फिर भी, इन सभी का वेदों के विषय में अधिकांश ऐतिहासिक दृष्टिकोण रहा। उन्होंने जो ऐतिहासिक सङ्केत वेदों में पाये उसी दृष्टि से उनके मत में वेदों का प्रामाण्य स्वीकारा जा सकता है।[4]

६४. कोलब्रुक ने 'ऑन दी वेदाज़' नामक निबन्ध में वैदिक युग का परिचय दिया, जिससे पश्चिमी विद्वानों का ध्यान वेद की ओर आकृष्ट हुआ। कोलब्रुक

१. द्र०, यही, ६.८।
२. द्र०, यही, ६.६।
३. द्र०, यही, १०.१।
४. द्र०, यही, १०.२।

की दृष्टि में कुछ ऐतिहासिक राजाओं के नामों की ओर वेद में सङ्केत हैं, वेदों से उस काल के धर्म तथा सामाजिक अवस्था का भी ज्ञान होता है। यह सब बतलाते हुए भी उन्होंने वेद के प्रतिपाद्य विषय पर विस्तृत प्रकाश नहीं डाला।[1]

६५. विलसन ने विशेष रूप से सायण-भाष्य का अनुसरण किया। उनकी दृष्टि में हिन्दुओं की धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं का यथार्थ प्राचीनतम ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऋग्वेद का अत्यधिक महत्त्व है। उन्होंने वेद के देवता और धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक अवस्था का भी वेद के आधार पर उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में वेदों में भेंट, प्रार्थना, स्तुति तथा यज्ञों का वर्णन है; पशु-बलि का भी। वे बतलाते हैं—उस समय के लोगों का कृषि मुख्य व्यवसाय था, शिल्पकला भी कुछ विकसित हुई थी, ग्राम और नगर थे। इस प्रकार वेदों से धार्मिक, सामाजिक आदि विषयों की कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।[2]

६६. फ्रांस के महान्-प्राच्य-विद् बर्नफ ने वैदिक अध्ययन को प्रेरणा दी। फलतः उनके शिष्य रॉथ ने अनेक वेद-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की। वेदों के अर्थ के विषय में उनका विचार था कि भाषा-विज्ञान और तुलनात्मक आलोचना शास्त्र के आधार पर वेदों का अधिक उपयुक्त अर्थ किया जा सकता है। उन्होंने इसी आधार पर ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों का अध्ययन प्रस्तुत किया। उनके शिष्य ग्रासमान ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया।[3]

६७. बर्नफ के दूसरे शिष्य मैक्समूलर ने वेद के विषय में प्रशंसनीय कार्य किया; किन्तु उनका दृष्टिकोण रॉथ से भिन्न रहा। हाँ, उनकी दृष्टि में भी वैदिक साहित्य का उपयोग आर्यों के पूर्वजों और आर्यों के ऐतिहासिक विकास के ज्ञान के लिए आवश्यक है। वेदों से कुछ भौगोलिक, ऐतिहासिक और धार्मिक तथ्यों का ज्ञान होता है। इस प्रकार वेद भूगोल, इतिहास, धर्म और संस्कृति आदि के बोधक हैं।[4]

६८. ग्रिफ़िथ ने सायण-भाष्य आदि का आधार लेते हुए यूरोप के विद्वानों की व्याख्याओं का भी उपयोग किया है। वे मानते हैं कि वेदों से प्राचीन आर्यों के धार्मिक विश्वासों और ऐतिहासिक तथ्यों की कुछ सूचनाएँ मिलती हैं।

---

१. द्र०, यही, १०.३।
२. द्र०, यही, १०.४।
३. द्र०, यही, १०.५।
४. द्र०, यही, १०.६।

उनकी दृष्टि में वेदों से उत्तरोत्तर विकसित होती हुई आर्य सभ्यता का बोध होता है, उनमें आर्यों के विभिन्न कालों के आचरण, विश्वास तथा व्यवहार आदि का वर्णन है। इस प्रकार प्राचीन आर्यों के ऐतिहासिक तथा धार्मिक ज्ञान के लिये ही वेदों का महत्त्व है।[1]

६९. व्हिटनी की दृष्टि में वेदों से प्राचीनकाल की कुछ भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने कतिपय पाश्चात्त्य विद्वानों के वेद-विषयक विचारों की समीक्षा करते हुए वेद के आधार पर आर्यों की प्राचीन सभ्यता और धर्म के विषय में बहुत कुछ बतलाया है। उनके अनुसार प्राचीन भारतीय धर्म के विषय में भी वेदों से बहुत सी सूचनाएँ मिलती हैं, भारत के ही नहीं इण्डो-यूरोपियन लोगों के विषय में भी वेदों से कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।[2]

७०. लुड्विग, पिशल तथा गैल्डनर तीनों जर्मन विद्वानों ने वैदिक अनुसन्धान में मध्यमार्ग का अनुसरण किया है। उनकी दृष्टि में भारतीय परम्परा और पाश्चात्य पद्धति दोनों के आधार पर ही वेदों का यथार्थ तात्पर्य खोजा जा सकता है। वे वेदों से प्रकट होने वाली सभ्यता और संस्कृति को पर्याप्त समुन्नत समझते हैं। इस विचार की विन्टरनिट्ज़ ने समीक्षा की है।[3]

७१. मैक्डॉनल ने वैदिक साहित्य का अनुसन्धान करके अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। वे मानते हैं कि पुरातन युग के धार्मिक विचारों को समझने के लिये ऋग्वेद तथा अथर्ववेद का अत्यधिक महत्त्व है। इनमें भारत के प्राचीनकाल के इतिवृत्त को प्रकट करने वाली प्रचुर सामग्री है। इसी दृष्टि से उन्होंने वेदों में भौगोलिक तथा ऐतिहासिक सन्दर्भ दिखलाए हैं और प्राचीन भारत की सभ्यता तथा धर्म का बोध कराने वाले सन्दर्भों की भी खोज की है। वे वेदों में प्राचीन सभ्यता के विकसित होते हुए स्वरूप की झांकी देखते हैं और कहते हैं—सभ्यता के इतिवृत्त के अध्ययन के लिए ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उपलब्ध होने वाली सामग्री अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।[4]

७२. 'रिलिजन देस वेद' नामक निबन्ध से ओल्डनबर्ग के वेद-विषयक विचारों का बोध होता है। उनकी दृष्टि में भारत के प्रारम्भिक धर्म का स्वरूप असभ्य धर्म का रूप है। वेदों में असभ्य जातियों के विश्वास भी दृष्टिगोचर होते

---

१. द्र०, यही, १०.७।
२. द्र०, यही, १०.८।
३. द्र०, यही, १०.९।
४. द्र०, यही, १०.१०।

हैं। वेद का धर्म और पूजा-पद्धति एक ओर तो अतीत के असभ्य धर्म की ओर सङ्केत करते हैं। दूसरी ओर वे आगे की ओर भी सङ्केत करते हैं। ओल्डनबर्ग के मत की विद्वानों द्वारा समीक्षा भी की जाती रही है।[1]

७३. ब्लूमफील्ड ने भारतीय विद्याओं के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। उन्होंने विशेष रूप से अथर्ववेद के वर्ण्य-विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुसार इस वेद में मङ्गलकारी और विनाशकारी दोनों प्रकार के अभिचार दृष्टिगोचर होते हैं। अथर्ववेद में स्त्री-सम्बन्धी, यज्ञ-सम्बन्धी तथा मनोरञ्जन-सम्बन्धी मन्त्र एवं सूक्त भी हैं। कहीं-कहीं दार्शनिक और आध्यात्मिक सन्दर्भ भी हैं। इस प्रकार ब्लूमफील्ड की दृष्टि में अथर्ववेद में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक सन्दर्भ मिलते हैं।[2]

७४. विन्टरनिट्ज़ ने वैदिक साहित्य का समीक्षात्मक विश्लेषण किया है। उनका विचार है कि भारतीय धर्म के उदय एवं विकास, इण्डो-यूरोपियन जातियों के गाथा-विज्ञान तथा विश्व के प्रागैतिहासिक विचारों को समझने के लिए ऋग्वेद एक प्रमाण-ग्रन्थ है। वे कहते हैं—आर्यावर्त्त के प्राचीन धार्मिक विश्वासों को जानने के लिये वैदिक सूक्तों का अत्यधिक महत्त्व है। उन्होंने वैदिक वर्णनों में अलङ्कारों की सत्ता भी स्वीकार की है। वेदों का सम्वाद साहित्य उनके अनुसार एक वीर-गाथा-काव्य है, वेद में कुछ सामाजिक प्रथाओं के भी सङ्केत मिलते हैं, ऋग्वेद से तत्कालीन दार्शनिक विचारों का भी बोध होता है। इस प्रकार विन्टरनिट्ज़ की दृष्टि में वेद में काव्यात्मकता है, आख्यानात्मकता है, उनसे प्राचीन आर्यों के धार्मिक विश्वासों, संस्कृति और सभ्यता आदि का बोध होता है। इसी प्रकार अन्य वेदों से भी ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा धार्मिक परिस्थितियों को समझने में सहायता मिलती है।[3]

७५. ए०बी० कीथ ने कितने ही शोधपूर्णग्रन्थ लिखे हैं और स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है। उन्होंने भारतीय विद्याओं पर अनेक लेख भी लिखे हैं। वैदिक धर्म एवं दर्शन नामक ग्रन्थ से उनके वेद-विषयक विचारों का बोध होता है। उनकी दृष्टि में वेदों से धार्मिक अवस्था के साथ-साथ सामाजिक अवस्था का भी ज्ञान होता है। वे मानते हैं कि ऋग्वेद एक ऐतिहासिक सङ्कलन है, परवर्ती संहिताओं के समय कर्मकाण्ड का विस्तार होने लगा था, अथर्ववेद में जीवन के

१. द्र०, यही, १०.११।
२. द्र०, यही, १०.१२।
३. द्र०, यही, १०.१३।

विविध पक्षों का विवरण है, इसमें धार्मिक जीवन की अपेक्षाकृत निम्नस्तर की साधनाओं का भी उल्लेख है। इस प्रकार कीथ की दृष्टि में वेदों से ऐतिहासिक, भौगोलिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक विषयों का ज्ञान होता है।[1]

७६. संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि प्रायः सभी पाश्चात्त्य विद्वानों ने ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों का महत्त्व स्वीकार किया है। तत्कालीन इतिहास, भूगोल, धर्म और समाज का वेदों से बोध होता है। इसी अंश में उनका प्रामाण्य स्वीकारा जा सकता है।

७७. स्वामी दयानन्द के समक्ष वेद-सम्बन्धी विविध विचार विद्यमान थे। एक ओर भारत की परम्परा थी, जिसमें वेदों का अप्रामाण्य, परतः प्रामाण्य और स्वतः प्रामाण्य आदि अपनी-अपनी रीति से स्वीकारा गया था। दूसरी ओर नवीन युग के विचार भी थे। उनके सामने समस्या थी कि किन ग्रन्थों को प्रमाण माना जाये और क्यों? इस समस्या का समाधान उन्होंने वेद को स्वतः प्रमाण मानकर किया। साथ ही वेद का अनुसरण करने वाले कुछ अन्य ग्रन्थों का भी प्रामाण्य उन्होंने स्वीकार किया। उनकी जीवनी तथा कृतियों में ऐसे अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, जिनमें वेद-प्रामाण्य का उल्लेख हुआ है।[2]

७८. स्वामी दयानन्द के समक्ष वेद का प्रामाण्य न स्वीकार करने वाली कुछ प्राचीन या मध्यकालीन परम्परायें थीं जिनमें चार्वाक, बौद्ध और जैन विचार-धारा प्रमुख कही जा सकती है। स्वामी जी ने चार्वाक के सन्दर्भ में ही इन सभी के वेद-प्रामाण्य-विरोधी मतों का निराकरण किया है। वे स्पष्टतः कहते हैं कि जिन बुराइयों की प्रतिक्रिया के रूप में इन मतों का प्रादुर्भाव हुआ था, वे बुराइयां वेद के आधार पर नहीं, अपितु वेद के टीकाकारों के आधार पर दिखलाई गई हैं; अतः टीकाकारों का दोष है, वेद का नहीं। वे यह भी कहते हैं कि वेदों की निन्दा करने वाले इन सभी को वेद का अनुशीलन करके उसके सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिये था, केवल टीकाओं के आधार पर ऐसा करना बुद्धिमत्ता नहीं। इस प्रकार चार्वाक आदि ने जो वेदों में अश्लीलता, असंभवविधान, पशु-वलि तथा जीविकार्जन के लिये किये गये अनेक पाखण्ड और मिथ्या विश्वास आदि का दोष दिखलाया था, उसका स्वामी जी ने यह मानकर ही निराकरण कर दिया कि ये सब बातें वेद-प्रतिपादित नहीं हैं।[3]

---

१. द्र०, यही, १०.१४।
२. द्र०, यही, ११.१।
३. द्र०, यही, ११.२।

७९. भ्रान्त वेदार्थ के आधार पर ही वेदों का अप्रामाण्य मान लिया गया, यह बतलाते हुए स्वामी जी ने अनेक स्थलों पर उवट, सायरण, महीधर आदि मध्यकालीन भाष्यकारों की व्याख्या के दोष दिखलाये हैं। कुछ दोषों की ओर सङ्केत करके उन्होंने कह दिया है कि इसी प्रकार अन्य दोष भी उनकी व्याख्या में हैं। उनके दोष दिखलाकर स्वामी जी ने ईश्वर के अनुग्रह से वेदों का ऐसा भाष्य करने का सङ्कल्प किया था जिससे सत्य विद्याओं का प्रकाश हो सके।[1]

८०. स्वामी जी ने भारतीय भाष्यकारों के सामन ही पाश्चात्त्य विद्वानों के वेदार्थ तथा वेद-सम्बन्धी मतों का भी निराकरण किया। उन्होंने बतलाया कि जिस प्रकार सायण, महीधर आदि के भाष्य दोषयुक्त हैं उसी प्रकार उनके आधार पर किये गये विल्सन और ग्रिफ़िथ आदि पाश्चात्त्य विद्वानों के अर्थ भी दोषयुक्त हैं। मैक्समूलर जैसे विद्वानों के भी कई मत उन्होंने प्रस्तुत किये और उनका निराकरण भी किया। उन्होंने कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों के नामों का उल्लेख करते हुए और किन्हीं के नाम लिये विना ही उनके मतों का खण्डन किया है।[2]

८१. स्वामी दयानन्द ने अपने समय के भारतीय विद्वानों के वेद-सम्बन्धी-मतों की भी समीक्षा की है। वेदोत्पत्ति के काल के विषय में पाश्चात्त्यों के मत के साथ तत्कालीन भारतीयों के मत का भी खण्डन किया है। साथ ही 'वेदार्थ-यत्न' नामक तत्कालीन पत्रिका और उस समय के संस्कृत विद्वान् पण्डित गुरुप्रसाद, पण्डित हृषीकेश, पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि के वेद-विषयक विचारों की भी उन्होंने समीक्षा की है।[3]

८२. स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेद-नित्यता का प्रतिपादन करते हुए वैदिक दर्शनों के वेद-प्रामाण्य-विषयक मन्तव्य भी दिखलाये हैं। यद्यपि आधुनिक युग में वेदों की नित्यता और स्वतः प्रामाण्य के विषय में वैदिक दर्शनों का मतभेद समझा जाता है तथापि स्वामी दयानन्द सभी वैदिक दर्शनों का समन्वय करते हैं। अतः उन्होंने वेदों की नित्यता और स्वतः प्रामाण्य के विषय में सभी वैदिक दर्शनों की सहमति दिखलाई है। यहाँ स्वामी जी ने विविध दर्शनों के सूत्र उद्धृत किये हैं, यत्र-तत्र उनके भाष्यों के सन्दर्भ भी प्रस्तुत किये हैं। इन

१. द्र०, यही ११.३।
२. द्र०, यही, ११.४।
३. द्र०, यही, ११.५।

सन्दर्भों में स्वामी जी की व्याख्या प्रचलित व्याख्या से कहीं-कहीं भिन्न प्रतीत होती है। इन सभी प्रसङ्गों में अग्रिम अनुसन्धान अपेक्षित है।[1]

८३. स्वामी दयानन्द वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हैं। उन्होंने 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' तथा 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में इस मत का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में स्वतः प्रामाण्य का अर्थ है—प्रामाण्य के लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न होना। भाव यह है कि जैसे सूर्य या दीपक स्वतः प्रकाश है और पृथिव्यादि का भी प्रकाशक है, इसी प्रकार वेद स्वयंप्रकाश होकर सब सत्य विद्याओं का प्रकाश करते है। इस मत का उन्होंने अनेक स्थलों पर निरूपण किया है।[2]

८४. वेद-नित्यता के प्रसङ्ग में उन्होंने बतलाया है कि ईश्वरोक्त होने से तथा नित्य होने से वेद स्वतः प्रमाण हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी ईश्वरोक्त होने से वेदों को प्रमाण या स्वतः प्रमाण मानते हैं। वस्तुतः उन्होंने स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में स्पष्ट किया है कि वेद निर्भ्रान्त होने से स्वतः प्रमाण हैं और उनकी यह निर्भ्रान्तता ईश्वरोक्त होने के कारण है अथवा नित्य होने के कारण है। इस प्रकार ईश्वरोक्त होने से वेद प्रमाण हैं अथवा नित्य होने से वे प्रमाण हैं, इन दोनों ही मतों का समन्वय हो जाता है।[3]

८५. संक्षेप में वेद प्रमाण है, यह धारणा अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान रही है। इस धारणा को कब चुनौती दी गई, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। उपलब्ध वाङ्मय के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथमतः वेदों की प्रामाणिकता में प्रश्न-चिह्न लगाया गया, तदनन्तर चार्वाक, बौद्ध और जैन आदि की ओर से वेद-प्रामाण्य का विविध युक्तियों से प्रतिवाद किया जाने लगा, वैदिक विधि-विधानों में दोष दिखलाये गये और वेदानुयायियों के आचार को लक्ष्य करके भी उस समय प्रचलित वेदार्थ पर आक्षेप किये गये। वेदानुयायियों ने इस प्रकार की चुनौती का तर्कों और युक्तियों से ही नहीं, कठोर शब्दों से भी सामना किया। उन्होंने वेद के नाम से प्रचलित सभी आचार-विचार का समर्थन करते हुए विरोधियों को नास्तिक आदि उपाधियों से विभूषित किया। इस प्रकार वेदानुयायियों तथा वेद-बाह्यों का संघर्ष तीव्र से तीव्रतर होता गया जो मध्यकाल के दर्शन-वाङ्मय में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस संघर्ष की युक्ति-प्रत्युक्तियों में स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष के विघटन का प्रयास अधिक

---

१. द्र०, यही, ११.६।
२. द्र०, यही, ११.७।
३. द्र०, यही, ११.७।

रहा है। यह समझने का प्रयास भी नहीं किया गया कि वस्तुतः वेद क्या है, वेद में क्या है, क्या वेद के प्रत्येक व्याख्याकार का कथन वेद का ही तात्पर्य है अथवा अपने आप को वेद का अनुयायी कहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का कार्यकलाप वेद-सम्मत ही है। यदि वेदानुयायी और वेद-विरोधी सत्य के अन्वेषण की दृष्टि से इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर खोजते तो सम्भवतः किसी अभीष्ट निर्णय पर पहुँच सकते। वस्तुतः वेद-प्रामाण्य को वेद के स्वरूप, वेद के अर्थ और वेद के प्रतिपाद्य विषय का विचार करके ही समझा जा सकता है।

—: o :—

सहायकग्रन्थों की अनुक्रमणिका

अकलङ्कग्रन्थत्रय	अकलङ्क	सिंघी जैन ज्ञानपीठ, अहमदाबाद, १९३९।
अणुभाष्य (भाष्यप्रकाश सहित)	वल्लभाचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९०५।
अत्रिस्मृति (बीस स्मृतियां, द्वितीय खण्ड)		संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६।
अथर्ववेद	—	परोपकारिणी सभा, वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर, २०१४ वि०।
अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण	ब्लूमफील्ड (हिन्दी अनुवाद सूर्यकान्त)	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी-१, १९६४।
अनाकुलावृत्ति (आपस्तम्बगृह्यसूत्र)	हरदत्त मिश्र	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७१।
अभिधानचिन्तामणि	हेमचन्द्र	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९६४।
अभिनवभारती (दो भाग)	अभिनवगुप्त	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, २०२८,२०३२ वि०।
अमरकोश	अमरसिंह	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी-१, १९७०।
अर्थशास्त्र (हिन्दी अनुवाद सहित)	कौटिल्य	(क) मेहरचन्द लछमनदास, दरियागंज, नई दिल्ली; १९७०। (ख) श्री गीर्वाण वाग्वर्धिनी सभा, सांगवेदविद्यालय, रामघाट, वाराणसी, २०३१ (वि०)।

अर्थसंग्रह	लौगाक्षिभास्कर	(क) मास्टर खिलाड़ीलाल एण्ड सन्स, बनारस, १९५३ ।
		(ख) चौखम्बा ऑरियण्टालिया, दिल्ली; वाराणसी, १९७७ ।
		(ग) चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी, १९७४ ।
अष्टशती	अकलङ्क	निर्णयसागर, बम्बई, १९१५ ।
आपस्तम्बगृह्यसूत्र	—	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७१ ।
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	—	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६९ ।
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (धूर्तस्वामिभाष्य)	—	ऑरियन्टल इन्स्टीटयूट, बड़ौदा, १९५५ ।
आप्तमीमांसा	समन्तभद्र स्वामी	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी, १९०५ ।
आर्षेय ब्राह्मण	(क) स०ए०सी० बर्नल	मंगलौर, १८७६ ।
	(ख) स०बी०आर० शर्मा	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६७ ।
आश्वलायनगृह्यसूत्र	(क) नारायणकृतवृत्ति गृह्यपरिशिष्ट भट्टकुमारिलकारिका	आनन्दाश्रम, पूना, १९७८ ।
	(ख) नारायणकृतवृत्ति	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९७६ ।
	(ग) हरदत्तकृतटीका	त्रिवेन्द्रम, १९२३ ।

आश्वलायनश्रौतसूत्र	(क) नारायणवृत्ति स० गणेश शास्त्री	आनन्दाश्रम, पूना, १९१७।
	(ख) स० विद्यारत्न	कलकत्ता, १८७४।
उज्ज्वलावृत्ति (आपस्तम्बधर्मसूत्र)	हरदत्त मिश्र	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६९।
उद्योत (महाभाष्य)	नागेशभट्ट	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७।
उपनिषत्संग्रह	स० पं० जगदीश शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०।
ऋग्वेद	स० दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
ऋग्वेद (संहिता) (पदपाठ सहित)	स० मोक्षमूलर	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी-१, १९६५।
ऋग्वेदप्रातिशाख्य	(क) उवट, महीधर भाष्य सहित	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी।
	(ख) उवट-भाष्य-सहित	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७०।
ऋग्वेदभाष्य (पाँच भागों में)	सायण	वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३७-१९५१।
ऋग्वेद-भाष्य (नौ भाग)	दयानन्द सरस्वती	(क) वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, १९८९ वि०।
		(ख) (तीन भाग) रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, १९७३।
ऋग्वेदभाष्य-नमूने का अङ्क (दयानन्दीय लघु-ग्रन्थ-संग्रह)	दयानन्द सरस्वती	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत), १९७५।
ऋग्वेदभाष्यभूमिका	सायण	(क) भारतीय विद्याप्रकाशन; वाराणसी, १९६९, १९७२।

		(ख) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७६ ।
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	दयानन्द सरस्वती	(क) वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, २००८ वि० । (ख) रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९६७ ।
ऋजुविमला	शालिकनाथ मिश्र	(द्र०, बृहती) ।
ऋज्वर्था (निरुक्तव्याख्या)	दुर्गाचार्य	भण्डारकर ऑरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९४२ ।
ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन	स० भगवद्दत्त	रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९५५ ।
ऐतरेय ब्राह्मण भाष्य (दो भागों में)	सायण	आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावली, पूना, १९३१ ।
औशनस स्मृति (बीस स्मृतियाँ, प्रथम-खण्ड)	—	संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६ ।
कठोपनिषद् (उपनिषत्-संग्रह)	—	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७० ।
काठकगृह्यसूत्र	स० डॉ० विलियम कालन्द	रिसर्च डिपार्टमेण्ट, डी०ए०वी० कालेज, लाहौर, १९८१ वि० ।
कात्यायन सर्वानुक्रमणी	स० मैक्डॉनल	ऑक्सफोर्ड, १८८६ ।
कात्यायनश्रौतसूत्र (सरलाख्यावृत्ति)	कात्यायन	अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, १९८७ वि० ।
कात्यायनश्रौतसूत्र	स० डा० अल्बैर्त वेबर	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९७२ वि० ।
कात्यायनश्रौतसूत्र (दैवयाज्ञिकपद्धति सहित)	स० विद्याधर शर्मा	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९३१ ।
काशिका (श्लो०वा० टीका)	सुचरित मिश्र	ट्रावनकोर यूनिवर्सिटी, १९४३ ।
काशिका (काशिकावृत्ति)	वामनजयादित्य	(क) स० बालशास्त्री, वाराणसी, १८९८ । (ख) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९६९ ।

किरणावली (प्रशस्तपाद-भाष्य-टीका)	उदयनाचार्य	(क) ऑरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९७१ । (ख) एशियाटिक सोसायटी, १-पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता-१६, १९५६ ।
कूर्मपुराण	स० रामशङ्कर भट्टाचार्य	इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, १९६८ ।
केनोपनिषत् (उपनिषत्-संग्रह)	—	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७० ।
केनोपनिषद् (शाङ्करभाष्य)	—	आनन्दाश्रम, पूना ।
कौषीतकि-गृह्यसूत्र	स०टी०आर० चिन्तामणि	मद्रास, १९४४ ।
खुद्दक निकाय (भाग-१)	—	नालन्दा देवनागरी पालिग्रन्थ-माला, १९५९ ।
गूढार्थसंग्रह	—	(द्र०, श्रीभाष्य) ।
गृह्यशेषसूत्र (बौधायनगृह्यसूत्र)		गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल लाइब्रेरी, मैसूर, १९२० ।
गोपथ ब्राह्मण	स० राजेन्द्र लाल मित्र	(क) कलकत्ता, १८७२ । (ख) इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, देहली, १९७२ ।
गोभिलगृह्यसूत्र	स० सत्यव्रत	शास्त्रप्रकाश भवन, मधुरापुर, विद्वद्पुर बाजार, मुजफ्फरपुर, १९३४ ।
गौडपादभाष्य	गौडपाद	(द्र०, सांख्यकारिका) ।
गौतमधर्मसूत्र	गौतम	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६६ ।
गौतमस्मृति (बीस स्मृतियां, प्रथम खण्ड)	—	संस्कृत संस्थान, बरेली, १९६६ ।
चरक संहिता (दो भागों में)	चरक	मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, १९७५ ।
चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा	सर्वानन्द पाठक	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५ ।
चित्सुखी	चित्सुखाचार्य	उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी, १९५६ ।

छन्दःशास्त्र	पिङ्गलाचार्य	गुरुकुल झज्जर, (रोहतक) २०३२ वि०।
छान्दोग्योपनिषद् (उपनिषत्संग्रह)	—	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०।
जयमङ्गला	—	(द्र०, सांख्यकारिका)।
जैमिनीयन्यायमाला	माधव	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, १९४६।
जैमिनीय ब्राह्मण	स० आचार्य रघुवीर तथा लोकेशचन्द्र	सरस्वती विहार, नागपुर, १९५४।
जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण	स०ए०सी० बर्नल	मंगलौर, १८७८।
जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण	स०बी०आर० शर्मा	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६७।
टुप्टीका (शाबर-भाष्य)	कुमारिल भट्ट	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९३२।
तत्त्वचिन्तामणि	गङ्गेशोपाध्याय	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५७।
तत्त्वदीपिका	त्रिविक्रमपण्डित	(द्र०, ब्रह्मसूत्रभाष्य, आनन्दतीर्थ)।
तत्त्वबोधिनी-बालमनोरमा (सिद्धान्तकौमुदी, टीका)	ज्ञानेन्द्रसरस्वती वासुदेव दीक्षित	मोतीलाल बनारसीदास, १९७६।
तत्त्ववैशारदी (योगभाष्य-टीका)	वाचस्पति मिश्र	(क) सिद्धेश्वर यन्त्र, कलकत्ता, १८९५। (ख) आनन्दाश्रम, पूना, १९७८।
तत्त्वसमाससूत्र	—	भारतीयविद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६।
तत्त्वसंग्रह	शान्तरक्षित	बौद्धभारती, वाराणसी-१, १९६८।
तत्त्वसंग्रहपञ्जिका	कमलशील	बौद्धभारती वाराणसी-१, १९६८।
तत्त्वोपप्लवसिंह	जयराशि भट्ट	गायकवाड ऑरियन्टल सीरीज़, बड़ौदा, १९४०।

तन्त्रवार्त्तिक (शाबर-भाष्य टीका)	कुमारिल भट्ट	आनन्दाश्रम, पूना, १९३१ ।
तर्कभाषा	केशवमिश्र	साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७६ ।
तर्कसंग्रह	अन्नं भट्ट	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २०३३ वि० ।
ताण्ड्यमहाब्राह्मण (सायणभाष्यसहित)	—	चौखम्बा, बनारस, १९३५ ।
तात्पर्यटीका (श्लो०वा० टीका)	भट्टोम्बेक	मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज़, १९४० ।
तात्पर्यदर्शन (आपस्तम्बगृह्य सूत्र-टीका)	सुदर्शनाचार्य	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी-१, १९७१ ।
तात्पर्यदीपिका	सुदर्शन भट्ट	(द्र०, वेदार्थसंग्रह)
तैत्तिरीय ब्राह्मण (सायणभाष्यसहित)	—	आनन्दाश्रम, पूना, १९७९ ।
तैत्तिरीय संहिता (सायणभाष्य)	स० काशीनाथ शास्त्री	आनन्दाश्रम, पूना, १९७८ ।
तैत्तिरीयोपनिषद् (उपनिषत्संग्रह)	—	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७० ।
तैत्तिरीयोपनिषद् (शाङ्करभाष्य सहित)	—	आनन्दाश्रम, पूना, १९७७ ।
द कमेण्टरीज़ आफ दी सांख्यकारिका-ए स्टडी	ईसथर ए० सोलमन	गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद, १९७३ ।
दक्षस्मृति (बीस स्मृतियां, द्वितीय खण्ड)	स० श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६ ।
दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह	स्वामी दयानन्द सरस्वती	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत), १९७५ ।
दर्शन का प्रयोजन	डॉ० भगवानदास	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, तृ० सं०, २०१० वि० ।
देवताध्याय-ब्राह्मण	स० बर्नेल	मंगलूर, १८७३ ।
देवताध्याय-ब्राह्मण (सायण-भाष्यसहित)	—	(क) जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८१ ।

		(ख) केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६५।
देवीभागवतपुराण	—	मोर प्रकाशन, कलकत्ता, १९६०।
धर्मशास्त्र का इतिहास	पी०वी०काणे	हिन्दी भवन, महात्मागांधी मार्ग, लखनऊ, १९७३।
धूर्तस्वामिभाष्य (आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र)	धूर्तस्वामी	ऑरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५५।
नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती सहित)	भरत (स० मधुसूदन शास्त्री)	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, २०२८, २०३२ वि०।
नारदीय पुराण	—	चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९७५।
नारायणपूर्वतापनीयोपनिषद्	—	(द्र०, उपनिषत्संग्रह)
निरुक्त	यास्काचार्य	भण्डारकर प्राच्यविद्या-संशोधन मन्दिर, पूना, १९४२।
निरुक्तशास्त्र	पं० भगवद्दत्त	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत), २०२१ वि०।
न्यायकणिका	वाचस्पतिमिश्र	तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८।
न्यायकन्दली (प्रशस्तपादभाष्य-टीका)	श्रीधर	(क) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९२४।
		(ख) वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६३, १९७१।
न्यायकारिकावली (सिद्धान्तमुक्तावली सहित)	विश्वनाथ न्यायपञ्चानन	(क) निर्णयसागर प्रेस, मुंबई-१, १९५२।
		(ख) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९७२।
न्यायकुमुदचन्द्र	प्रभाचन्द्र	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन सीरीज़, बम्बई, १९३८।
न्यायकुसुमाञ्जलि	उदयनाचाय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९३८।

न्यायचन्द्रिका	आनन्दपूर्ण विद्यासागर	मद्रास गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल सीरीज़, मद्रास, १६५६।
न्यायनिर्णय (शाङ्करभाष्य-टीका)	आनन्दगिरि	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६३४।
न्यायभाष्य (न्यायसूत्र)	वात्स्यायन	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी-१, १६७०।
न्यायमञ्जरी	जयन्तभट्ट	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १६७१।
न्यायमुक्तावली (न्यायसार-टीका)	अपरार्कदेव	गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल मेनुस्क्रिप्ट लायब्रेरी, मद्रास, १६६१।
न्यायरत्नमाला	पार्थसारथिमिश्र	— —
न्यायरत्नाकर (मीमांसा श्लोक वार्त्तिक टीका)	पार्थसारथिमिश्र	(क) चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थ-माला, बनारस, १८६८। (ख) तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १६७८।
न्यायवार्त्तिक	उद्योतकर	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १६२५।
न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका	वाचस्पतिमिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १६२५।
न्यायविनिश्चय	अकलङ्क	(द्र०, अकलङ्कग्रन्थत्रय)
न्यायविनिश्चयविवरण	वादिराजसूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १६४४।
न्यायसार	भासर्वज्ञ	गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल मेनुस्क्रिप्ट, लायब्रेरी, मद्रास, १६६१।
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	विश्वनाथन्यायपञ्चानन	(क) मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १६५३। (ख) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १६७३।
न्यायसुधा (तन्त्रवार्त्तिकव्याख्या)	सोमेश्वर भट्ट	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १६०२।
न्यायसूत्र	गौतम	(क) भारतीय विद्याप्रकाशन, कचौड़ी गली, वाराणसी, १६६६। (ख) चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २०२६ वि०।

न्यायावतारवार्त्तिक-वृत्ति	शान्तिसूरि	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९४९।
न्यायावतारसूत्र	सिद्धसेन दिवाकर	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९४९।
पञ्चपादिका	पद्मपादाचार्य	मद्रास गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल सीरीज़, १९५८।
पञ्चपादिकाविवरण	प्रकाशात्मन्	गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल मेनुस्क्रिप्ट लायब्रेरी, मद्रास, १९५८।
पद्मपुराण		आनन्दाश्रम, पूना, १८९४।
परिभाषासूत्र (बौधायन-गृह्यसूत्र)		गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल लाइब्रेरी, मैसूर, १९२०।
पाणिनीयशिक्षा (सिद्धान्तकौमुदी)		मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७।
पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य-विवरण		(द्र०, भाष्यविवरण)।
पारस्कर गृह्यसूत्र	स० (क) हरिदत्त शास्त्री	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७३।
	(ख) एम० गङ्गाधर	बम्बई, १९१७।
	(ग) गोपाल शास्त्री नेने	बनारस, १९२६।
पाराशरस्मृति (हिन्दी टीका सहित)		काशी संस्कृत बुक डिपो, १९५०।
पाराशर स्मृति (बीस स्मृतियाँ, द्वि०-खण्ड)		संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६।
पुराणगत वेद विषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन	रामशंकर भट्टाचार्य	साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६५।
पूर्णानन्दीया (ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य टीका)	पूर्णानन्द (स० पं० ढुण्ढिराज शास्त्री)	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९२९।
प्रकरणपञ्चिका	शालिकनाथ	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६१।
प्रकाश (न्यायकुसुमाञ्जलिटीका)	वर्धमान उपाध्याय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१, २०१३ वि०।

प्रदीप (महाभाष्य टीका)	कैयट	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७।
प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार	वादिदेवसूरि	(क) यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस, वीर० सं० २४३७। (ख) जैन विकास मण्डल, बम्बई, १९६७।
प्रमाण-परीक्षा	विद्यानन्द	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता।
प्रमाणमीमांसा	हेमचन्द्र सूरि	सिंघी जैन ज्ञानपीठ, कलकत्ता, १९३९।
प्रमाणमीमांसावृत्ति	हेमचन्द्र सूरि	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९३९।
प्रमाणवार्त्तिक	धर्मकीर्ति	बौद्धभारती, वाराणसी, १९६८।
प्रमाणसंग्रह	अकलङ्क	(द्र०, अकलङ्कग्रन्थत्रय)
प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचन्द्र	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४१।
प्रशस्तपादभाष्य	प्रशस्तपादाचार्य	(क) चौखम्बा, वाराणसी, १९६६। (ख) वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी, १९६३, १९७७।
प्रश्नोपनिषद् (शाङ्करभाष्य सहित)		गीताप्रेस, गोरखपुर, २०१३ वि०।
प्रश्नोपनिषद् (उपनिषत्संग्रह)		मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०।
प्राकृत भाषाओं का व्याकरण	आर० पिशल (अनु० हेमचन्द्र जोशी)	बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना-३, १९५८।
प्राचीन भारतीय भाषा और धर्म	ओल्डनबर्ग (अनु० उमेशचन्द्र)	भारतीय विद्या प्रकाशन, १०८, कचौड़ी गली, वाराणसी, प्र० सं० १९७१।
प्राचीन भारतीय साहित्य-१	एम० विन्टरनिट्ज़ (अनु० लाजपतराय)	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना, १९६१।
प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास (भाग-१, खण्ड-१)	विन्टरनिट्ज़ (हिन्दी अनुवाद)	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वि० सं० १९७५।

बीस स्मृतियाँ (दो खण्डों में)	—	संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६।
बृहती (मीमांसा-शाबर-भाष्य, ऋजुविमला सहित)	प्रभाकर मिश्र	(क) मद्रास विश्वविद्यालय, १९३४।
		(ख) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, १९२९।
बृहदारण्यकोपनिषद्	—	(क) आनन्दाश्रम, पूना, १८९४।
		(ख) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०।
बृहन्नारदीय पुराण	—	चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९७५।
बोधनी (न्यायकुसुमाञ्जलिटीका)	श्रीमद् वरदराज	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी-१,२०१३ वि०।
बौद्धधर्म-दर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५६।
बौधायन गृह्यसूत्र	स० आर० एम० शास्त्री	गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल लाइब्रेरी, मैसूर, १९०४।
बौधायन धर्मसूत्र	स० चिन्नस्वामी शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७२।
ब्रह्मसूत्रभाष्य	भास्कराचार्य	चौखम्बा सं० बुक डिपो, बनारस, १९०३।
ब्रह्मसूत्रभाष्य (तत्त्व-दीपिका सहित)	आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य)	अखिल भारतीय मध्व महामण्डल, उडुपी, १९५७।
ब्रह्मसूत्रभाष्य (रत्नप्रभा सहित)	शङ्कराचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९८९ वि०।
ब्रह्मसूत्र-विद्योदयभाष्य	उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद (उ०प्र०), २०२३ वि०।
ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य (भामतीकल्पतरुपरिमल सहित)	शङ्कराचार्य	निर्णयसागर, बम्बई, १९३८।
ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य (रत्नप्रभा, भामती, न्यायनिर्णय सहित)	शङ्कराचार्य	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४।

भागवत पुराण	—	गीता प्रेस, गोरखपुर, २०२१ वि० ।
भाट्टचिन्तामणि	गागाभट्ट (विश्वेश्वर)	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ग्राफिस, बनारस, १६३३ ।
भाट्टदीपिका	खण्डदेव	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६२२ ।
भामती (ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यटीका)	वाचस्पति मिश्र	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६३८ ।
भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-१	सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता	हिन्दी-ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-४, १६७८ ।
भारतीय साहित्य (हिन्दी अनुवाद)	वेबर	किताब महल, इलाहाबाद, १६६८
भारद्वाजश्रौतसूत्र	—	वैदिक-संशोधन मण्डल, पूना, १६६४ ।
भाषापरिच्छेद	—	(द्र०, न्यायकारिकावली)
भाष्यप्रकाश (अणुभाष्य टीका)	—	(द्र०, अणुभाष्य) ।
भाष्य-विवरण (योगभाष्यटीका)	—	गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल मेनुस्क्रिप्ट लायब्रेरी, मद्रास, १६५२ ।
भ्रान्तिनिवारण (दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह)	दयानन्द सरस्वती	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, १६७५ ।
मज्झिमनिकाय (हिन्दी अनुवाद)	—	महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी, १६६४ ।
मत्स्य पुराण	स० रामप्रताप त्रिपाठी	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००३ वि० ।
मनुस्मृति	मनु	(क) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी, १६५२ । (ख) कुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थ-मुक्तावली, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १६७० ।
मनोरथनन्दिवृत्ति (प्रमाणवार्त्तिक)	आचार्य मनोरथ-नन्दी	बौद्धभारती, वाराणसी, १६६८ ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित (दो भागों में)	पं० घासीराम	आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, २०१८ वि० ।
महानारायणोपनिषद्	--	(द्र०, उपनिषत्संग्रह) ।
महाभारत	व्यास	(क) मूल मात्र (द्वितीय, तृतीय भाग) गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१४ वि० । (ख) हिन्दी अनुवाद, गीता प्रेस, गोरखपुर । (ग) भण्डारकर ऑरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९७१-७५ ।
महाभाष्य (प्रदीप और उद्योत सहित)	पतञ्जलि	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७ ।
महासिद्धान्त	आर्यभट्ट	ब्रजभूषण दास एण्ड को०, ठठेरी बाजार, बनारस, १९१० ।
माठरवृत्ति	माठर	(द्र०, सांख्यकारिका) ।
मानमेयोदय	नारायण	(क) अड्यार, मद्रास, १९३३, १९७५ । (ख) उदासीन संस्कृत विद्यालय, वाराणसी, १९७८ ।
मार्कण्डेय पुराण	—	(क) मोर प्रकाशन, कलकत्ता, १९६२ । (ख) संस्कृति-संस्थान, बरेली, १९६७ ।
मार्कण्डेय स्मृति (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड)	स० श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६ ।
मिताक्षरावृत्ति (गौतमधर्मसूत्र)	हरदत्त	(क) आनन्दाश्रम मुद्रणालय, १९५९ । (ख) चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६६ ।
मिताक्षरावृत्ति (याज्ञवल्क्यस्मृति)	विज्ञानेश्वर	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २०३३ वि० ।

मीमांसादर्शन (मीमांसासूत्र)	जैमिनि	(क) शाबरभाष्य, तन्त्रवार्त्तिक आदि सहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९५३ । (ख) शाबर भाष्य, बृहती-पञ्जिका सहित, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, १९३४ ।
मीमांसानुक्रमणिका (मीमांसामण्डनमण्डिता)	मण्डनमिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९०८ ।
मीमांसान्यायप्रकाश	आपदेव	(क) मैडिकल हॉल यन्त्र, काशी, १९२१ । (ख) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, बनारस, १९४९ । (ग) भारतीय प्राच्य-विद्या मन्दिर, मुद्रणालय, पूना, १९३७ ।
मीमांसा परिभाषा	कृष्णयज्वा	निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, १९५० ।
मीमांसा-शाबर-भाष्य (हिन्दी व्याख्या)	स० युधिष्ठिर मीमांसक	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, १९७७, १९७८ ।
मीमांसाश्लोकवार्त्तिक (न्यायरत्नाकर व्याख्या सहित)	कुमारिल भट्ट	(क) चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थ-माला, बनारस, १८९८ । (ख) तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८ ।
मीमांसासूत्र	जैमिनि	(द्र०, मीमांसादर्शन) ।
मुण्डकोपनिषद् (उपनिषत्संग्रह)	—	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७० ।
यजुर्वेदभाष्य (चार-भागों में)	दयानन्द सरस्वती	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, प्र० भाग २०१५ वि०, द्वि० भाग २०३०, तृतीय भाग २०१८, चतुर्थ भाग २०३१ ।
यजुर्वेदभाष्य	उवट	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९ ।

यजुर्वेदभाष्य	महीधर	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई. १९२९।
यजुर्वेद संहिता	स० दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड़, २०२९ वि०।
याज्ञवल्क्य शिक्षा (यजुर्वेद)	—	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७१।
याज्ञवल्क्यशिक्षा (विवृति सहित)	स० अमरनाथ दीक्षित	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी।
याज्ञवल्क्यस्मृति (विज्ञानेश्वरकृत मिताक्षरा व्याख्या सहित)	याज्ञवल्क्य	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २०३३ वि०।
युक्तिदीपिका	—	(क) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७, १९७६। (ख) बालकृष्ण त्रिपाठी, बी-२/२४२, भदैनी, वाराणसी, १९७०।
योगभाष्य (तत्त्ववैशारदी सहित)	व्यास	(क) सिद्धेश्वरयन्त्र, कलकत्ता, १८९५। (ख) आनन्दाश्रम, पूना, १९७८।
योगवार्त्तिक	विज्ञानभिक्षु	भारतीय विद्या प्रकाशन, १९७१।
योगसार-सङ्ग्रह	विज्ञानभिक्षु	थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास, १९३३।
योगसूत्र	पतञ्जलि	आनन्दाश्रम, पूना, १९७८।
योगसूत्र (भोजवृत्ति-आदि सहित)	पतञ्जलि	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९३०।
रत्नप्रभा (शाङ्करभाष्य)	गोविन्दानन्द	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४।
रामायण	वाल्मीकि	(क) गीता प्रेस, गोरखपुर, २०२० वि०। (ख) चौखम्बा, वाराणसी, १९७७।
रामायणतत्त्वदीपिका (वाल्मीकि रामायण-टीका)	महेश्वरतीर्थ	लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर मुद्रणालय, कल्याण-बम्बई, १९९२ वि०।

रामायणभूषण (वाल्मीकि रामायण-टीका)	कौशिक गोविन्दराज	लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर मुद्रणालय, कल्याण-बम्बई, १६६२ वि०।
रुद्रहृदयोपनिषद् (उपनिषत्संग्रह)	--	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७०।
लाट्यायन श्रौतसूत्र (सरला व्याख्या सहित)	—	चौखम्बा, बनारस, १६३२।
लाट्यायन श्रौतसूत्र	स० आनन्दचन्द्र-वेदान्तवागीश	कलकत्ता, १८७२।
लौकिक संस्कृत साहित्य	कीथ (अनु० चारुचन्द्र शास्त्री)	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६६७।
वसिष्ठस्मृति (बीस स्मृतियाँ, प्रथम खण्ड)	स० श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली, १६६६।
वसिष्ठस्मृति (स्मृतीनां-समुच्चयः)	—	आनन्दाश्रम संस्कृत-ग्रन्थावली, पूना।
वाक्यपदीय	भर्तृहरि (स० के० वी० अभ्यंकर तथा वी० पी० लिमये)	भण्डारकर प्राच्य-विद्या मन्दिर, पूना, १६६५।
वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड)	(क) स० रामगोविन्द शुक्ल	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १६७५।
	(ख) स० रघुनाथ शर्मा	वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी-२, १६६३।
वाचस्पतिमिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन	श्रीनिवास शास्त्री	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, १६६८।
वाजसनेयिप्रातिशाख्य (कात्यायन, उवट, अनन्तभट्ट भाष्य सहित)	स० वेंकटराम शर्मा	मद्रास, १६३४।
वामन पुराण	स० आनन्द स्वरूप गुप्त	सर्वभारतीय काशीराजन्यास, रामनगर, वाराणसी, २०२४ वि०।
वाराह श्रौतसूत्र	स० डब्ल्यू० कलन्द (Caland) तथा रघुवीर	मेहरचन्द लच्छमनदास, दिल्ली-६, १६७१।

विद्वत्तोषिणी (सांख्यतत्त्वकौमुदी)	बालरामोदासीन	स्वामी रामस्वरूप गुरुमण्डल, हरिद्वार, १९३० ।
विधिरसायन	अप्पयदीक्षित	चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, काशी, १९०१ ।
विधिविवेक	मण्डनमिश्र	तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८ ।
विवरणप्रमेयसंग्रह	विद्यारण्य	आन्ध्र विश्वकला परिषद्, वाल्टेर, १९४१ ।
विष्णु पुराण	—	गीता प्रेस, गोरखपुर, २००९ वि० ।
वीरमित्रोदय (याज्ञवल्क्यस्मृति-टीका)	मित्रमिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, बनारस सिटी, १९३० ।
वेद तथा ऋषिदयानन्द	श्रीनिवास शास्त्री	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, १९७९ ।
वेदव्यासस्मृति (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड)	स० श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६ ।
वेदव्यासस्मृति (स्मृतीनां समुच्चयः)	—	आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावली, पूना ।
वेदाङ्ग ज्योतिष (संस्कृत टीका तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित)	लगध	गवर्नमेण्ट प्रेस, मैसूर, १९३६ ।
वेदान्तदर्शन का इतिहास	उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, १९७० ।
वेदान्तपरिभाषा	धर्मराज अध्वरीन्द्र	(क) अड्यार लायब्रेरी, मद्रास, १९४२ । (ख) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३ । (ग) संस्कृत परिषद्, लखनऊ, २०२१ वि० ।
वेदान्तपारिजातसौरभ	निम्बार्काचार्य	विद्या विलास यन्त्रालय, वाराणसी, १९६७ वि० ।
वेदार्थसंग्रह (तात्पर्यदीपिका सहित)	रामानुज	तिरुमल-तिरुपति देवस्थान, तिरुपति, १९५३ ।
वेदों का यथार्थ स्वरूप	धर्मदेव विद्या-वाचस्पति	गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार, २०२४ वि० ।

वैखानस श्रौतसूत्र	स० कैलेण्ड	बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता, १९४१।
वैतान श्रौतसूत्र	स० विश्वबन्धु	विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशिआरपुर, २०२४ वि०।
वैदिक देवशास्त्र (वैदिक माइथालॉजी का हिन्दी अनुवाद)	अनु० सूर्यकान्त	श्री भारत भारती (प्राइवेट) लिमिटेड, अनसारी रोड, नया दरियागंज, दिल्ली–६, १९६१।
वैदिक धर्म एवं दर्शन (दो भागों में)	कीथ (अनु० सूर्यकान्त)	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३, १९६५।
वैदिकनामों और विषयों की व्याख्यात्मक अनुसूची (वैदिक इन्डैक्स का हिन्दी अनुवाद)	अनु० रामकुमार राय	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२, १९६२।
वैदिक पुराकथाशास्त्र (वैदिक माइथालॉजी का हिन्दी अनुवाद)	अनु० रामकुमार राय	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१।
वैदिक वाङ्मय का इतिहास (ब्राह्मण तथा आरण्यक)	पं० भगवद्दत्त	प्रणव प्रकाशन, १/१८, पंजाबी बाग, नई दिल्ली, १९७४।
वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथम एवं द्वितीय भाग)	पं० भगवद्दत्त	डी०ए०वी० कालेज, लाहौर, १९३१।
वैदिक व्याकरण (वैदिक ग्रामर का हिन्दी अनुवाद)	अनु० सत्यव्रत शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७१।
वैदिक व्याख्या-विवेचन	रामगोपाल	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९७६।
वैदिक साहित्य और संस्कृति	बलदेव उपाध्याय	शारदा मन्दिर, काशी, द्वि०सं०, १९५८।
वैशेषिकसूत्र	कणाद	लाला मेहरचन्द लक्ष्मणदास, संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर, १९७९ वि०।
वैशेषिकसूत्रोपस्कार	शङ्करमिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९६९।

व्यासभाष्य	व्यास	(द्र०, योगभाष्य)।
व्योमवती (प्रशस्तपाद-भाष्य टीका)	व्योमशिवाचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९२८।
शतपथ ब्राह्मण	स० गंगाप्रसाद उपाध्याय	प्राचीन वैज्ञानिकाध्ययन-अनुसंधान-संस्थान, दिल्ली, १८६८।
शांखायन गृह्यसूत्र	—	मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, १९६०।
शाबरभाष्य (बृहती-ऋजुविमला सहित)	शबर स्वामी	मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, १९३४।
शाबर भाष्य (मीमांसासूत्र)	शबर स्वामी	आनन्दाश्रम, पूना, १९७६।
शारीरक भाष्य (शाङ्करभाष्य)	शङ्कराचार्य	निर्णयसागर प्रेस, १९३८।
शास्त्रदीपिका	पार्थसारथिमिश्र	(क) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९१३। (ख) ७/२३, सकरकन्द गली, वाराणसी, १९७७।
शिक्षा-सूत्राणि	स० युधिष्ठिर मीमांसक	भारतीय प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, अजमेर, २०२४ वि०।
शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य (अनन्तभाष्य, उवट-भाष्य-सहित)	स० वीरेन्द्रकुमार	ज्ञानप्रकाश प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९७५।
शौनकीय बृहद्देवता	शौनक	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६३।
श्रीभाष्य (गूढार्थसंग्रह सहित)	रामानुजाचार्य	श्रीपरकालमुत्त, मैसूर, १९५९।
श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश	स्वामी सत्यानन्द	गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली—६, १९७३।
श्रीमद्भगवद्गीता	—	गीताप्रेस, गोरखपुर, २०१३ वि०।
श्रीमद्भागवत	—	गीताप्रेस, गोरखपुर, १०२१ वि०।
श्रीशङ्कराचार्यग्रन्थावली (प्रथम भाग)	श्रीशङ्कराचार्य	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४।

श्लोकवार्त्तिक	कुमारिलभट्ट	तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८ ।
श्वेताश्वतरोपनिषद् (उपनिषत्संग्रह)	—	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७० ।
षड्विंश ब्राह्मण (सायण भाष्य)	(क) बी०आर० शर्मा	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६७ ।
	(ख) जीवानन्द विद्यासागर	कलकत्ता, १८८१ ।
सत्यार्थप्रकाश	दयानन्द सरस्वती	(क) गोविन्दराम हासानन्द, आर्य साहित्य भवन, नई सड़क, दिल्ली, १९६३ । (ख) रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, १९७२ ।
संवर्तस्मृति (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड)	स० श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६ ।
संस्कृत नाटक	कीथ (अनु० उदयभानुसिंह)	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५ ।
संस्कृत साहित्य का इतिहास	कीथ (अनु० मंगलदेव शास्त्री)	मोतीलाल बनारसीदास, १९६० ।
संस्कृत साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग)	मैक्डॉनल (अनु० चारुचन्द्र शास्त्री)	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९६२ ।
संस्कृतसाहित्यकोश	राजवंशसहाय हीरा	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी-१, १९७३ ।
संस्कृत-हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, तृ०सं०, १९७३ ।
सर्वदर्शनसंग्रह	सायणमाधवाचार्य	(क) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४ । (ख) भण्डारकर ऑरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९५१ । (ग) आनन्दाश्रम, पूना, १९७७ ।

सर्वानुक्रमणी (शुक्ल यजुर्वेद संहिता)	कात्यायन	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७१ ।
सांख्यकारिका (गौडपादभाष्य सहित)	ईश्वरकृष्ण	ऑरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९३३ ।
सांख्यकारिका (माठरवृत्ति एवं जयमङ्गलाटीकोपेता)	ईश्वरकृष्ण	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९७० ।
सांख्यतत्त्वकौमुदी (बालरामोदासीनकृत व्याख्या सहित)	वाचस्पतिमिश्र	स्वामी रामस्वरूप गुरु मण्डल, हरिद्वार, १९३० ।
सांख्यदर्शन (सांख्यसूत्र)	कपिल	(क) वाचस्पत्य यन्त्र, कलकत्ता, १९३६ । (ख) भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७७ ।
सांख्य-दर्शन का इतिहास	पं० उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान, ज्वालापुर, १९५० ।
सांख्यप्रवचनभाष्य	विज्ञानभिक्षु	(क) वाचस्पत्य यन्त्र, कलकत्ता, १९३६ । (ख) भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, १९७७ ।
सांख्यसप्ततिवृत्ति-१	—	गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद-९, १९७३ ।
सांख्यसंग्रह	—	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९६९ ।
सांख्यसार	विज्ञानभिक्षु	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६ ।
सांख्यसूत्र-अनिरुद्धवृत्ति	स० रामशंकर भट्टाचार्य	प्राच्य भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, १९६४ ।
सामवेद	—	स्वाध्याय मण्डल पारडी, सूरत, १९५६ ।
सिद्धान्तकौमुदी (तत्त्वबोधिनी, बालमनोरमा सहित)	भट्टोजिदीक्षित	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६ ।
सिद्धिविनिश्चय (टीका सहित)	अकलङ्क	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५९ ।

सुत्तनिपात (खुद्दक-निकाय)	—	नालन्दा देवनागरी पालिग्रन्थ-माला, १९५९ ।
सुत्तनिपात-अट्ठकथा (भाग-२)	—	नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, १९७५ ।
सुत्तपिटक (दीघनिकाय, भाग-१)	—	नालन्दा ग्रन्थमाला, नालन्दा, १९५८ ।
सुमङ्गलविलासिनी	—	नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, १९७५ ।
सुश्रुतसंहिता	—	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७५ ।
सूक्ति (प्रशस्तपादभाष्य-टीका)	जगदीशतर्कालङ्कार	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९२४ ।
सूर्यसिद्धान्त	—	(क) वेङ्कटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई, १९६३ वि० । (ख) चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७८ ।
सेतु (प्रशस्तपादभाष्य-टीका)	पद्मनाभ मिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९२४ ।
स्कन्द पुराण	स० श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली, १९७० ।
स्मृतीनां समुच्चयः (२७ स्मृतियाँ)	—	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना ।
स्याद्वादमञ्जरी	मल्लिषेण	(क) चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९०० । (ख) भण्डारकर प्राच्य विद्या संस्थान, पूना, १९३३ ।
स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश (सत्यार्थप्रकाश)	दयानन्द सरस्वती	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, १९७२ ।
हारीतस्मृति (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड)	स० श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६ ।
हिन्दी वैशेषिकसूत्रोपस्कार	व्या० आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, आफिस, वाराणसी-१ १९६९ ।

—

[ENGLISH BOOKS]

Ancient India its Language and Religion	H. Oldenberg	Punthi Pustak, Calcutta-4, 1962.
A History of Sanskrit Literature	A.A. Macdonell	Munshiram Manoharlal, Nai Sarak, Delhi-6, 1958.
A History of Sanskrit Literature	A.B. Keith	Oxford University Press, London, 1970.
A Short History of Indian Materialism and Hedonism	दक्षिणारञ्जन शास्त्री	Bookland Private Ltd., Calcutta, 1959.
Atharva-veda Prātiśākhya (Śaunakīya Caturadhyāyikā)	W.D. Whitney	Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1962.
Atharvaveda Saṁhitā	Ed. Roth & Whitney	Berlin, 1856.
A Vedic Grammar for Students	A.A. Macdonell	Oxford University Press, Bombay, 1966.
A Vedic Reader	A.A. Macdonell	Oxford University Press, 1976.
Essays on the Religion and Philosophy of the Hindus	H.T. Colebrooke	Ashok Publications, 548, Moti Bagh, New Delhi-23, Indian Edition, 1976.
F. Max Muller	Nanda Mookerjee	Shakuntala Publishing House, Bombay, 1970.
Hindu Religions	H.H. Wilson	Bharatiya Book Corporation, Delhi, 1977.
History of Indian Literature (Vol.I)	M. Winternitz	Munshiram Manoharlal, Rani Jhansi Road, New Delhi, 1972.
History of the Vedic Texts	W.D. Whitney	Journal of the American Oriental Society, Vol. III & IV.
Indian Studies Abroad	—	Asia Publishing House, New York, 1964.
Introduction to the Grammar of the Sanskrit Language	H.H. Wilson	J. Madden and Co., Leeden Hall Street, London, 1847

Literature and History of the Vedas	Roth	1846.
On the Vedas	H.T. Colebrooke	Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1972.
Ṛgveda (A Critical Edition with Sayana's Commentary)	Ed. F. Max Muller	London, Vol. 1-4, Second Edition, 1890-92.
Ṛgveda Saṁhitā (English Translation Notes and Appendices)	H.H. Wilson	Nag Publishers, Jawahar Nagar, Delhi-7, 1977.
Ṛgvedic Repetitions	M. Bloomfield	Harvard Oriental Series, Vol. xx.
Religious sects of the Hindus	H.H. Wilson	Sushil Gupta, Calcutta, 1859.
Rigveda Brāhmaṇas : The Aitareya and Kauśītaki Brāhmaṇas of the Rigveda	A.B. Keith	Motilal Banarsidass, Delhi, 1971.
Ṛk Prātiśākhya (With translation)	Ed. F. Max Muller	Leipzig, 1856-69.
Śānkhāyana Āraṇyaka	A.B. Keith	The Royal Asiatic Society, 1908.
Sanskrit-English Dictionary	Monior Williams	Motilal Banarsidass, 1976.
Sanskrit Grammar	W.D. Whitney	Harvard University Press, London, 1955.
Sarvānukramaṇī (Critical Edition)	Ed. A.A. Macdonell	Oxford, 1886.
The Aitareya Āraṇyaka	Ed. A.B. Keith	Oxford University Press, 1969.
The Atharva-veda and Gopath Brāhmaṇa	M. Bloomfield	Strassburg Verlag Von Karl J. Trubner, 1899.
The Bṛhad-Devata (Śaunaka, A Critical Edition & Translation)	Ed. A.A. Macdonell	(a) Harvard Oriental Series, 1904. (b) Motilal Banarsidass, 1965.

The Hymns of the Atharvaveda	M. Bloomfield	Motilal Banarsidass, Delhi, 1973.
The Hymns of the Atharva-veda	Ralph T.H. Griffith	Medical Hall, Benares, Second Edition, 1916.
The Hymns of the Ṛgveda	F. Max Muller	Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, Third Edition, 1965.
The Hymns of the Rigveda (Translated with a popular commentary)	Ralph, T.H. Griffith	Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi-1, Fifth Edition, 1977.
The Hymns of the Sāmaveda	Ralph T.H. Griffith	Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, fourth Edition, 1963.
The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads	A.B. Keith	Harvard University Press, London, 1925.
The Religion of the Veda	M. Bloomfield	Indological Book House, Delhi, 1972.
The Texts of the White Yajurveda (Translated with a popular commentary)	Ralph T.H. Griffith	Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi fourth Edition, 1976.
The Vedas	F. Max Muller	Sushil Gupta, Calcutta-12, 1956.
The Vedic Mythology	A.A. Macdonell	Indological Book House, Delhi, Varanasi, 1971.
Veda of Black Yajus School entitled Taittirīya Saṁhitā	Tr. A.B. Keith	Harvard Oriental Series 18, 1967.
Vedic Bibliography	R.N. Dandekar	Bombay, 1946.
Vedic Bibliography (Vol. II)	R.N. Dandekar	University of Poona, 1961.
Vedic Concordance	M. Bloomfield	Harvard Oriental Series, Vol. X, 1906.

Vedic Grammar	A.A. Macdonell	Bhartīya Publishing House, B-9/45, Pilkhana Sonarpur, Varanasi, 1975.
Vedic Hymns	H. Oldenberg	Motilal Banarsidass, Delhi, 1973.
Vedic Index of Names and Subjects	Macdonell & Keith	Motilal Banarsidass, Delhi, 1958.
Vedic Variants	M. Bloomfield & F. Edgerton	Linguistic Society of America University of Pennsylvania Philadelphia, 1930.
Vedische Studien (Vedic Studies)	Pischel & Geldner	Stuttgart, 2 Vols. 1889-1897.
Worterbuch Zum Rigveda	Otto Harrasowitz	Leipzig, 1936.

—

नाम तथा विषयों की वर्णानुक्रमणिका

●

7769—1000—4-2-81—K.U.P.